प्रमुख देशों की विदेश नीतियाँ

(Foreign Policies of U. S. A., U. S. S. R., U. K., China & India)

विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार

(स्व) डॉ मथुरालाल शर्मा
डी. लिट्.
पूर्व कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सम्पादन
शशी के. जैन
बी. ए. ऑनर्स (राजनीति), एम. ए.

कॉलेज बुक डिपो
83, त्रिपोलिया बाजार (आतिश गेट के पास)
जयपुर-2 (राजस्थान)

Published by College Book Depot, 83, Tripolia Bazar, Jaipur-2
Printed at S. L. Printers, Jaipur.

नए संस्करण की भूमिका

'प्रमुख देशों की विदेश नीतियाँ' संशोधित-संवर्धित रूप में पुनः प्रस्तुत है। इसमें विदेश नीति के सैद्धान्तिक-धरातल को पूर्वापेक्षा अधिक विस्तार से स्पष्ट किया गया है, विदेश नीति के तत्वों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में समीक्षा की गई है। तत्पश्चात् अलग-अलग अध्यायों में विश्व के छः प्रमुख राष्ट्रों–ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, रूस, भारत और चीन की विदेश नीतियाँ तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विवेचन है। इस विवेचन में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पहलुओं को स्पष्ट किया गया है। इन देशों की विदेश नीतियों में जो आधुनिकतम प्रवृत्तियाँ उभरी हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर ये देश जो नई भूमिकाएँ निभा रहे हैं, उन सबका विवेचन और मूल्यांकन किया गया है। इन देशों की विदेश नीतियों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में परखा गया है और अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक पक्षों को उजागर किया गया है। 1987 के अन्त तक हुई महत्वपूर्ण घटनाओं का समावेश पुस्तक में है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में जो नए परिवर्तन आए हैं, रूस-अमेरिका-चीन के बीच जो त्रिकोणात्मक सम्बन्ध नए रूप में उभरे हैं, निर्गुट आन्दोलन जो नया मोड ले रहा है, निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में जो नई उपलब्धियाँ हासिल की गई है, सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद क्रमशः यूरी आन्द्रोपोव, चेरनेन्को और फिर गार्बोच्योव ने सोवियत विदेश नीति को जो नए दिशा-संकेत दिये हैं, उन सब पर यथोचित प्रकाश डाला गया है।

आशा है कि विदेश नीति पर यह पुस्तक प्रबुद्ध पाठक-वर्ग को पसन्द आएगी। पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के स्थान पर विषय-सामग्री को ठोस, सुगठित और सारगर्भित रूप में सजोने का विशेष प्रयास रहा है। सुधार के लिए सुझाव सहर्ष आमन्त्रित हैं।

—सम्पादिका

अनुक्रमणिका

APPENDIX

विदेश नीति : एक परिचय

(Foreign Policy : An Introduction)

"हमारे कोई शाश्वत मित्र नहीं हैं और न ही हमारे कोई सदा बने रहने वाले शत्रु। केवल हमारे हित ही शाश्वत हैं और उन हितों का अनुसरण-संवर्द्धन हमारा कर्त्तव्य है।" —लॉर्ड पामर्स्टन

आधुनिक राज्य विश्व-समुदाय का लगभग वैसा ही सदस्य बनता जा रहा है जैसा व्यक्ति अपने समाज का सदस्य होता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह तथ्य विशेष रूप से प्रकट हो रहा है। सम्प्रति संयुक्त राष्ट्र संगठन की सदस्यता राज्य के सम्प्रभु अस्तित्व की एक कसौटी बन गयी है। संयुक्त राष्ट्र किसी मामले में चाहे प्रभावी कार्यवाही करने में अक्षम रहे, किन्तु उसके मंच पर तत्सम्बन्धी होने वाले वाद-विवाद को अनदेखा कोई राज्य सामान्यतः करना नहीं चाहता। इस परिप्रेक्ष्य पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के मूल में निहित सिद्धान्तों एवं उनके व्यवहार का अध्ययन अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। विदेश-नीति राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का मुख्य उपकरण है।[1]

जो नीति राष्ट्र के घरेलू मामलों के सम्बन्ध में अपनाई जाती है उसे गृह नीति की और जो अन्य राष्ट्रों के सम्बन्ध में अपनाई जाती है उसे विदेश नीति की संज्ञा दी जाती है। विदेश नीति के अन्तर्गत वे सभी दृष्टिकोण और कार्य सम्मिलित हैं जो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रों के प्रति करता है। आधुनिक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो औपचारिक या अनौपचारिक, सरकारी या गैर-सरकारी, नियोजित या अनियोजित हो सकते हैं। लेकिन विदेश नीति से इन सभी सम्बन्धों और उनसे प्रेरित व्यवहारों का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि विदेश नीति के अन्तर्गत केवल उन्हीं सम्बन्धों की गणना होती है जो एक राज्य सरकार दूसरे राज्य के साथ सरकारी स्तर पर

1 डॉ. अरविन्द नारायण सिन्हा - राष्ट्र राज्यों की परराष्ट्र नीति, खण्ड-1, पृष्ठ 3.

स्थापित करती है। गैर-सरकारी स्तर पर स्थापित किए गए सम्बन्धों को हम विदेश नीति में सम्मिलित नहीं करते।

अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition)

विदेश नीति को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। जॉर्ज मोडेलस्की के अनुसार "विदेश नीति राज्यों की गतिविधियों का वह व्यवस्थित और विकसित रूप है जिसके माध्यम से वे राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहार को अपने अनुकूल बनाने का अथवा (यदि ऐसा सम्भव न हो तो) अपने व्यवहार को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के अनुरूप ढालने का प्रयास करते हैं।" रोडी एन्डरसन तथा क्रिस्टल ने लिखा है कि "विदेश नीति के अन्तर्गत ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण और कार्यान्वयन सम्मिलित है जो किसी राज्य के व्यवहार को उस समय प्रभावित करते हैं जब वह अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा अथवा संवर्द्धन के लिए दूसरे राज्य से बातचीत चलाता है।"

नोर्मन एल हिल की दृष्टि में "विदेश नीति दूसरे राष्ट्रों के सामने अपने हितों के संवर्द्धन के लिए किए जाने वाले एक राष्ट्र के प्रयासों का सार है।"

इन सभी परिभाषाओं का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि विदेश नीति राज्यों की गतिविधियों का एक व्यवस्थित रूप है जिसका विकास दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर राज्य द्वारा किया जाता है और जिसका उद्देश्य दूसरे राज्यों के व्यवहार अथवा आचरण को अपने हितों के अनुरूप परिवर्तित करना है और यदि यह सम्भव न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का आँकलन करते हुए स्वयं अपने व्यवहार में ऐसा परिवर्तन लाना है जिससे अन्य राज्यों के व्यवहार अथवा क्रिया-कलापों के साथ तालमेल बैठ सके। विदेश नीति, इस प्रकार एक गतिशील तत्त्व है जिसका समय और आवश्यकता के अनुसार तथा परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन-संवर्द्धन होता रहा है। राज्य दूसरे राज्यों के साथ, अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए, व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है और विदेश नीति बहुत-कुछ इन सामान्य सिद्धान्तों का समुच्चय (Group) है। विदेश नीति में केवल सामान्य सिद्धान्त ही सम्मिलित नहीं है वरन् इस बात का भी सक्रिय विचार सन्निहित रहता है कि इन सामान्य सिद्धान्तों को किस प्रकार अथवा किस विधि से व्यवहार में लाया जाए। यह विधि सुनिश्चित, स्थायी और स्थिर नहीं होती, वरन् राष्ट्रीय हितों और लक्ष्यों के अनुरूप आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती है। गृह नीति और विदेश नीति राष्ट्रीय नीति के ही पक्ष हैं जिनमें एक ही सिक्के के दो पहलुओं जैसा सम्बन्ध है। गृह नीति विदेश नीति के लिए वातावरण तैयार करती है और विदेश विभाग की मशीनरी पर घरेलू राजनीति का पर्याप्त नियन्त्रण रहता है। सारांश में, गृह नीति और विदेश नीति राष्ट्रीय हित प्राप्ति के साधन मात्र हैं।

विदेश नीति की प्रकृति
(Nature of Foreign Policy)

विदेश नीति की प्रकृति को निश्चित शब्दों में व्यक्त करना बड़ा कठिन है, क्योंकि इस नीति का स्वरूप आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। कभी बड़े निर्णयों द्वारा बड़े परिवर्तन होते हैं तो कभी साधारण संशोधनों द्वारा नीति में क्रमश परिवर्तन लाए जाते हैं। प्रयत्न और भूल की प्रक्रिया विदेश नीति के निर्माण में अपनी भूमिका निभाती है और विदेश नीति के निर्णयकर्ताओं पर विभिन्न प्रकार की दशाओं का दबाव पड़ता रहता है जिससे उनके निर्णय अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप में प्रभावित होते हैं। विदेश नीति की प्रकृति का वर्णन करने के लिए हम तीन प्रमुख विचारकों के मतों का उल्लेख करेंगे—

(क) विलियम कोपलिन के विचार,
(ख) मोडेलस्की के विचार,
(ग) रोजेनो के विचार।

(क) विलियम कोपलिन के विचार[1]

विलियम कोपलिन ने विदेश नीति की प्रकृति को विदेश नीति निर्णय व्यवहार (Foreign Policy Decision Behaviour) के आधार पर समझाया है। उन्होंने विदेश नीति की प्रकृति का वर्णन करते हुए तीन प्रकार के वैदेशिक निर्णयों की विवेचना की है—

1. सामान्य विदेश नीति निर्णय (General Foreign Policy Decisions)
2. प्रशासनिक निर्णय (Administrative Decisions) एवं
3 संकटकालीन निर्णय (Crisis Decisions)

1 सामान्य विदेश नीति मे नीति सम्बन्धी कथनों (Policy Statements) और सीधी कार्यवाही (Direct Actions) द्वारा अभिव्यक्त निर्णयों की शृंखला विद्यमान रहती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिकी 'अवरोध' की नीति मे सामान्य नीति सम्बन्धी कथन (जैसे अध्यक्षीय भाषण) तथा विशिष्ट कार्यवाहियाँ (जैसे वियतनाम युद्ध) दोनों सम्मिलित थे। विदेश नीति का लक्ष्य सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी हो सकता है जैसा कि 'अवरोध की नीति' (Containment Policy) मे था, अथवा राज्यों का विशिष्ट समूह भी हो सकता है जैसा कि कनाडा के साथ सैनिक तथा आर्थिक सहयोग की अमेरिकी नीति मे था। बहुधा सामान्य नीतियाँ स्वय परस्पर समर्थन करने वाली होती हैं।

राजनीति के क्षेत्र मे सामान्य नीति का स्वरूप निश्चित करना प्राय: कठिन है। गृह नीति सम्बन्धी निर्णयों के विपरीत, विदेश नीति सम्बन्धी अनेक निर्णयों मे केवल सार्वजनिक कथन (Public Statements) और यदाकदा आकस्मिक आयोजन ही शामिल होते हैं। प्राय: नीति-विषयक कथन नीति के वास्तविक रूप, को स्पष्ट नहीं करते, वरन् राज्यों के बीच अन्त क्रियाओं मे नियोजन स्थापित करते

1 *William Coplin* : Introduction to International Politics, 1974, pp. 31-34.

हैं। उदाहरणार्थ, प्रेसीडेंट जॉनसन द्वारा दिए गए नीति-विषयक कथन जिनके द्वारा मध्यपूर्व में इजराइल का समर्थन किया गया था, उस क्षेत्र मे अरब राष्ट्रों के विरुद्ध अमेरिका की किसी सैनिक कार्यवाही के द्योतक नही थे हालांकि नीति विषयक उन कथनो मे इस प्रकार का आशय अवश्य निहित था। कभी-कभी विशिष्ट निर्णयो मे आन्तरिक संगति दिखाई नही देती, चाहे नेतागण स्वय यह सिद्ध करने का प्रयास करते हो कि एक सगत नीति (A Consistent Policy) क्रियाशील है। उदाहरण के लिए 1950 और 1960 के दशको मे सयुक्त अरब गणराज्य के प्रति रूसी नीति मिस्री विस्तार के प्रोत्साहन तथा उस विस्तार को रोकने के बीच अधर में झूलती रही। अत यद्यपि एक राज्य की सामान्य विदेश नीति पर विचार-विनिमय करना लाभदायक है तथापि इसको ठीक तरह पहचानना प्राय कठिन है।

2. विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय का दूसरा प्रकार प्रशासनिक (Administrative) है। यह निर्णय सरकारी नौकरशाही के उन सदस्यो द्वारा लिया जाता है जो राष्ट्र के वैदेशिक मामलो के सचालन के लिए उत्तरदायी होते है। विदेश कार्यालय जो सयुक्त राज्य अमेरिका मे राज्य विभाग (Department of State) कहलाता है, नौकरशाही का प्रारम्भिक सगठन है, किन्तु अन्य सरकारी सस्थाएँ जैसे सेना, खुफिया विभाग तथा वाणिज्य विभाग भी विदेश नीति को प्रभावित करने वाले प्रशासनिक निर्णयो मे सम्मिलित होते हैं। प्रशासनिक निर्णय, निम्नस्तर के सरकारी अधिकारियो द्वारा लिए जाने के अतिरिक्त, आमतौर से स्थान, क्षेत्र तथा काल मे बंधे हुए होते हैं, अर्थात् वे एक विरोधी देश के सम्बन्ध मे किसी खास समस्या के बारे मे एक निश्चित समय हेतु लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ सयुक्त-राज्य मे किसी विशेष वर्ष के लिए एक विशेष देश के छात्रो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध का निर्णय, राज्य विभाग की नौकरशाही द्वारा निम्न स्तर पर लिया गया प्रशासनिक निर्णय होता है।

सामान्य नीति तथा प्रशासनिक नीति के सम्बन्धो तथा उनकी विशिष्टताओं का स्वरूप 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध तथा 1950 के दशक के पूर्वार्द्ध व पश्चिमी जर्मनी के प्रति अपनाई गई अमेरिकी नीति मे दिखाई देता है। सयुक्त राज्य की सामान्य नीति 'अवरोध' (Containment) की थी, इसका अर्थ था पश्चिमी जर्मनी व बर्लिन मे सोवियत सघ के नियन्त्रण के विस्तार को रोकना। इस सामान्य नीति के अधीन कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने होते थे, विशेष रूप से बर्लिन व पश्चिम जर्मनी पर शेष पूर्वी यूरोप से पृथक् करने वाली सीमाओं के पार से आने वाले जन-धन की बहुलता निश्चित करने की विधि के सम्बन्ध मे। चूंकि अवरोध की रणनीति का महत्त्वपूर्ण भाग यह था कि सोवियत सघ को संयुक्त राज्य के दृढ इरादों को बता दिया जाए अत. छोटे से छोटे अमेरिकी निर्णय का दूरगामी परिणाम हो सकता था। इसलिए बहुत-सी सीमावर्ती घटनाओं मे उठने वाले प्रश्नों का समाधान निम्नस्तरीय सैनिक तथा विदेश नीति के अधिकारियों को इस प्रकार करना होता था कि सोवियत सघ को आक्रामकता का नही, वरन् अमेरिकी दृढता का बोध हो जाए।

स्पष्टत. प्रशासन निर्णय राज्य की सामान्य विदेश-नीति द्वारा निश्चित होते है। राज्य A के राजनीतिक नेताओं से राज्य B के प्रति सामान्य नीति निर्धारित करने की अपेक्षा की जाती है तथा नौकरशाही के सदस्यो से परिस्थिति विरोध मे लिए गए निर्णय को लागू करने की आशा की जाती है। दशक 1940 के उत्तरार्द्ध के दरम्यान बर्लिन व पश्चिमी जर्मनी सम्बन्धी अमेरिकी नीति से ऐसा लगता है कि सामान्य विदेश नीति ने अधिकांश प्रशासनिक निर्णयो को नियन्त्रित किया था।

3 तीसरे प्रकार का अर्थात् सकटकालीन निर्णय (The Crisis D.cision) उपरोक्त दोनो प्रकार के निर्णयो का मिश्रण है। राज्य की सामान्य विदेश नीति पर सकटकालीन निर्णय का व्यापक प्रभाव पड़ता है। वह तत्कालीन नीति की पुनः पुष्टि कर सकता है, जैसा कि 1960 तथा 1970 के दशक मे हिन्द-चीन के क्रमिक सकटो मे सयुक्त राज्य के हस्तक्षेप द्वारा हुआ था। सकटकालीन निर्णय विदेश नीति, मे परिवर्तन का संकेत भी दे सकता है जैसा कि 1950 मे हुआ था जबकि सयुक्त राज्य ने दक्षिण कोरियायी जनता के पक्ष मे हस्तक्षेप कर एशिया मे अमेरिकी नीति के सम्बन्ध मे परिवर्तन किया था। सकटकालीन निर्णय अपने विश्वव्यापी प्रभावो के बावजूद विशिष्ट निर्णायक परिस्थितियो की ओर भी परिलक्षित हो सकता है जैसा कि उत्तरी कोरिया द्वारा उत्तर कोरियायी जल-सीमा पार करने पर अमेरिकी खुफिया जहाज 'प्यूब्लो' के जब्त करने के मामले मे हुआ था। इस कार्य 'कोन्सेक्रेटरी ऑफ स्टेट डीन रस्क' ने युद्ध जैसा आक्रमण-कार्य बताया था। साधारणत. सकटकालीन निर्णय प्रत्यक्ष भागीदारी वाले कुछ ही राष्ट्रो तक एव तत्कालीन कार्यवाहियो तक ही सीमित रहते हैं यद्यपि उनके परिणाम दूरगामी हो सकते हैं।

सकटकालीन निर्णय सभी प्रकार के कार्यो मे हो सकते हैं, किन्तु वे विदेश-नीति के क्षेत्र मे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होते है। चूंकि राज्यो के आधारभूत सम्बन्ध सम्मिलित (उभय) सस्थाओ के व्यवहार के तरीके की अपेक्षा पारस्परिक सौदेबाजी पर निर्भर होते है, अतः विदेश नीति विषयक निर्णय लेने मे सकट सामान्य बात होती है चाहे यह एक दल द्वारा जानबूझ कर पैदा किया गया हो अथवा अनजाना प्रभाव हो।

विदेश नीति विषयक सकट (A Foreign Policy Crisis) एक ऐसी स्थिति है जिसमे कम से कम राज्य महसूस करता है कि व्यवस्था (System) के एक या अधिक राज्यों के बीच सम्बन्धो मे सकट बिन्दु उत्पन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त *स्थिति के प्रति अति आवश्यकता का भाव होता है, अर्थात् शीघ्र ही किसी निर्णय* की आवश्यकता की मान्यता। चाहे किसी कार्यवाही का निर्णय नहीं लिया जा रहा हो, सकट की स्थिति ऐसी हालत पैदा कर देती है जो विदेश-नीति-निर्माताओ को विभिन्न विकल्पो पर विचार करने के लिए उत्तेजित करती है।

चूंकि *संकट अपेक्षाकृत विशिष्ट निर्णयो की* स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जो सामान्य विदेश नीति के परिणामो से प्रभावित होते हैं, उनमे भी सामान्यतया निम्न

और उच्च स्तरीय दोनो ही प्रकार के अधिकारी शामिल होते हैं। उदाहरणार्थ क्यूबा के प्रक्षेपास्त्र संकट मे निम्नस्तरीय गुप्तचर अधिकारियों ने ही सर्वप्रथम क्यूबा मे प्रक्षेपास्त्र पहुँचाने की सोवियत संघ की कार्यवाहियो का पता लगाया था। इसकी सूचना उच्चस्तरीय अधिकारियो को प्रेषित की गई थी, किन्तु जिस फुर्ती और सही तरीके से खुफिया अधिकारियो ने यह सूचना भेजी थी वह उस पद्धति का महत्वपूर्ण अंग थी जिससे प्रेसीडेन्ट केनेडी और उनके परामर्शदाताओ ने स्थिति को संभाला था।

स्पष्ट है कि विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लेना, सामान्य नीति, प्रशासनिक तथा संकटकालीन निर्णय लेने का मिश्रण है (Foreign policy decision-making is a mixture of general policy, administrative and crisis decision-making)। सामान्य विदेश नीति सम्बन्धी स्थितियाँ निम्नस्तरीय प्रशासनिक अधिकारियो द्वारा उनके दैनिक कार्यक्रम के अंग के रूप मे की गई कार्यवाहियों का परिणाम होती है ठीक उसी तरह जैसे कि वे संकटकाल मे लिए गए निर्णयो का परिणाम होती हैं। इसके साथ ही सामान्य विदेश नीति प्रशासनिक अधिकारियो के लिए नियमित मामलो में तथा संकट निर्णयकर्ताओ को उनकी आवश्यकता के समय मार्ग-दर्शन का कार्य करती है। प्रशासनिक निर्णय किसी संकटकालीन निर्णय (A crisis decision) को दिशाबोध भी दे सकते हैं—या तो संकट को प्रारम्भ होने से पूर्व ही रोक दिया जाता है या फिर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि जिसमे संकट की सम्भावना बढ़ जाय। अन्त मे, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के असाधारण स्वरूप के कारण, संकट सम्बन्धी निर्णय बहुधा सामान्य विदेश नीति का सम्पूर्ण क्रम ही बदल देते हैं—जैसे कि कोरिया मे हस्तक्षेप के निर्णय मे संयुक्त राज्य के लिए हुआ—तथा उन प्रशासनिक विधियो को रूप देते हैं जिनसे काम लेना है—जैसा कि 1948 मे पश्चिम जर्मनी की संयुक्त-राज्यीय सेनाओ के लिए बर्लिन-नाकाबन्दी के समय हुआ।

(ख) मोडेलस्की के विचार

मोडेलस्की के अनुसार विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य अन्य राज्यो के व्यवहार को परिवर्तित करने का प्रयास है तथा उस व्यवहार मे अभीष्ट परिवर्तन लाने मे सफलता प्राप्त करना है। मोडेलस्की विदेश नीति को एक उद्देश्य के रूप मे स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य के व्यवहार को अपनी इच्छा के अनुरूप ढालना चाहता है। यदि राज्य या राज्यों के व्यवहार मे सम्भव या अभीष्ट परिवर्तन न लाया जा सके तो वे क्रियाएँ विदेश नीति के क्षेत्र के बाहर हैं। मोडेलस्की का यह अभिमत असन्तोषजनक व अपर्याप्त है। हम, उनके इस कथन से तो सहमत है कि प्रत्येक राज्य का यह उद्देश्य हो कि उसकी विदेश नीति अन्य राज्यो के व्यवहार मे परिवर्तन लाने के लिए सफल हो परन्तु इस बात से असहमत है कि जिस व्यवहार को बदला नही जा सकता या जिसे राष्ट्रीय हितो के अनुकूल नही बनाया जा सकता, उसे विदेश नीति के क्षेत्र से ही बाहर रखना चाहिए। विदेश नीति का उद्देश्य प्रमुखतः अपने बल, प्रभाव, सत्ता एवं अन्य साधनो से दूसरे राज्यो के

व्यवहार मे परिवर्तन लाना नही होता। जो राज्य अन्य राज्यो के व्यवहार को अपने ही पक्ष या हित मे परिवर्तन करने का प्रयास करते हैं वे राज्य आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के युग मे नवोदित राष्ट्रो एव विशेष रूप से उन राष्ट्रो का सहयोग प्राप्त नही कर सकते जो 'दवाव राजनीति' (Pressure Politics), 'आर्थिक साम्राज्यवाद' (Economic Imperialism) व 'सशर्त सहयोग' (Qualified Support) एव 'बन्धनयुक्त आर्थिक सहायता' के प्रबल शत्रु हैं।

विदेश नीति का उद्देश्य दूसरे राज्यो के व्यवहार को नियमित करना है। यह नियमन (Regulation) उस राज्य की आवश्यकताओ, अभिलाषाओ, सांस्कृतिक मूल्यो, बौद्धिक परिस्थितियों एव मूल भावनाओ को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। नियमन का अभिप्राय अन्य राज्य के व्यवहार को अपने राष्ट्रीय हितों को दृष्टि मे रखते हुए 'सही बैठाना' (Adjust) है। कभी ऐसा भी होता है जब एक राज्य को अपनी विदेश नीति मे परिवर्तन इस रूप मे करना होता है जिससे दूसरे राज्य का व्यवहार उसके पक्ष मे हो जाए। एक महान् शक्तिशाली देश भी सदैव के लिए सर्वशक्तिमान (Omnipotent) नही रह सकता। विश्व कार्य के ढाँचे (Pattern) में परिवर्तन आने के साथ-साथ उसकी विदेश नीति मे परिवर्तन आना भी अनिवार्य है। यदि इस तथ्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया तो वह राष्ट्र भ्रान्तियो, भय और अस्थिरता का शिकार हो जाएगा। अमेरिका के विदेश मन्त्री डॉ किसिंगर ने वर्तमान पद पर आसीन होने से पूर्व अपने राष्ट्र को चेतावनी दी थी कि अब अमेरिका की विदेश नीति के मापदण्डों (Yardsticks) को बदलना होगा। अमेरिका को 'अभेद्य' (Invulnerable) मानना उसके लिए अत्यन्त घातक होगा। स्थिति की गम्भीरता, परिस्थितियों की जटिलता, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की वास्तविकताओ एव नवोदित राष्ट्रो की सुप्त शक्ति ने अमेरिका को नए सिरे से सोचने के लिए बाध्य कर दिया है।

भारत को कश्मीर के प्रश्न पर सदैव रूस का समर्थन मिलता रहा है परन्तु ब्रिटेन और फ्रांस का दृष्टिकोण भारत के विपक्ष मे रहा है। अत हमे अपनी विदेश नीति मे ऐसे कदम उठाने होंगे जिससे कि असन्तुष्ट और इस ओर से उदासीन राष्ट्रो का सहयोग देश के हित मे प्राप्त किया जा सके। डॉ हेनरी कीसिंगर ने अमेरिका के विदेश नीति-निर्माताओ को सलाह दी थी कि उन्हे निरर्थक रूप से इस बात पर विवाद नही करना चाहिए कि उन्हे कठोर बनना है या लचीला, शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाना है या मित्रतापूर्ण। चूँकि अमेरिका राजनयिक दृष्टि से साम्यवादी देशो के साथ सामना या समझौता करने मे अनिच्छुक रहा है, अत साम्यवादियो को 'शान्ति के समर्थक' के रूप मे प्रकट होने का अवसर मिला है। कहने का तात्पर्य है कि विदेश नीति यथास्थिति (Status-quo) और परिवर्तन (Change) दोनो मे विश्वास करती है। यदि राष्ट्रीय हितो की अधिकतम रक्षा करनी है तो हमे मॉडेलस्की की परिभाषा मे सशोधन करना होगा। राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा की अधिकतम गारन्टी तभी सम्भव हो सकती है जब परिवर्तन या यथास्थिति द्वारा अन्य राज्यों के व्यवहार को नियमित किया जाए।

1. व्यक्तिगत चर समूह (Individual Variables)—व्यक्तिगत चरों के अन्तर्गत नीति निर्माता के समस्त पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है जैसे उसके मूल्य, योग्यता, पूर्व-अनुभव आदि। व्यक्तिगत चरों के उदाहरणों में फॉस्टर के धार्मिक मूल्य (Religious Values), डिगॉल के 'शानदार फ्रांस की दूरदृष्टि' (Vision of Glorious France) और ख्रुश्चेव का राजनीतिक चातुर्य आदि प्रमुख हैं।

2 भूमिका चर (Role Variables)—इसके अन्तर्गत कर्मचारियों का बाह्य व्यवहार आता है जो उनकी भूमिका पर निर्भर करता है। व्यक्तिगत विशेषताएँ चाहे कुछ भी हों परन्तु भूमिका धारणकर्त्ता का बाह्य व्यवहार तो प्रकट अवश्य होगा। उदाहरण के लिए अमेरिका का संयुक्त राष्ट्रसंघ में कोई भी राजदूत हो, उसे सुरक्षा परिषद् और महासभा में अमेरिका के हितों एवं स्थिति की रक्षा करनी होगी।

3. राजकीय चर (Governmental Variables)—विदेश नीति पर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों का प्रभाव राजकीय चरों के कार्य को प्रदर्शित करता है।

4 अराजकीय या समाजीय चर (Non-Governmental or Societal Variables)—इसके अन्तर्गत समाज के अराजकीय पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है जो बाह्य व्यवहार को प्रभावित करते हैं। समाज की राष्ट्रीय एकता का अंश इसके औद्योगीकरण की सीमा आदि समाजीय चर है जो कि राष्ट्र की बाह्य अभिलाषाओं और नीतियों के सार में योग देते है।

5 व्यवस्थित चर (Systematic Variables)—समाज के बाह्य पर्यावरण के किसी मानवहीन पक्ष को इसमें सम्मिलित किया जाता है। 'भौगोलिक वास्तविकताएँ' और अपने प्रभावशाली आक्रांता से 'वैचारिक चुनौतियाँ' (Ideological Challenges) व्यवस्थित चरों के स्पष्ट उदाहरण है जो विदेश नीति के कर्मचारियों के निर्णयों और क्रियाओं को रूप (Shape) प्रदान करते है।

ये विदेश नीति के पूर्व-सिद्धान्त की विशेषताएं हैं। इनका (चरों का) सापेक्षिक महत्त्व एवं प्रभाव है। विश्लेषण के स्तरों में व्यवहार को कोई एक ही चर प्रभावित नहीं करता, बल्कि व्यक्तिगत, राजकीय, समाजीय आदि अनेक चर अपनी भूमिका निभाते हैं। इन विभिन्न प्रकार के चरों के समूहों में किसको कितनी प्राथमिकता दी जाए, इसका पता लगाना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। इस कठिनाई से बचने के लिए रोज़ेनो का मत है कि वास्तविक परिस्थितियों में मस्तिष्क द्वारा कुशलता एवं चतुराई से संचालित चरों पर निर्भर करना होता है। मस्तिष्क में परिस्थिति के अनुसार समीकरण लागू करना होता है। इसके लिए कोई निश्चित सूत्र (Definite Formula) नहीं है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो तो वैसा कदम उठाया जाना चाहिए, अतः इन सबके लिए 'मानसिक कसरत' (Mental Exercise) को विस्तृत करना होता है। जो बाधाएँ आती है उन पर धैर्य और अन्तर्दृष्टि से काबू पाया जा सकता है।

विदेश नीति का विकास
अथवा
विदेश नीति ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में
(Historical Development of Foreign Policy)

विदेश नीति का इतिहास सुदूर अतीत में तब से प्रारम्भ होता है जब राज्य के रूप में सगठित सामुदायिक जीवन अस्तित्व में आ गया था। यद्यपि विदेश नीति का उतना स्पष्ट, विस्तृत और वैज्ञानिक अध्ययन पहले कभी नहीं हो सका था जितना आज हो चुका है, तथापि किसी-न-किसी रूप में विदेश-नीति के विभिन्न पहलुओं पर विचार मथन होता रहा था और कौटिल्य, हेरोडोट्स जैसे प्राचीन चिन्तकों ने विदेश नीति पर बहुत कुछ चर्चा की थी। डॉ अरविन्द नारायण सिन्हा ने अपने लब्ध-प्रतिष्ठित ग्रन्थ में विदेश-नीति के इतिहास को सक्षेप में यों चित्रित किया है—

राष्ट्र राज्यों का विकास यूरोप में मध्य युग के अवसानकाल में हो रहा था। परराष्ट्र-नीति का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना राज्य के रूप में संगठित सामुदायिक जीवन का इतिहास। कौटिल्य और हैरोडोट्स जैसे प्राचीन चिन्तकों ने परराष्ट्र-नीति के आधार, उद्देश्य तथा स्वरूप की चर्चा की है। कौटिल्य ने राज्यों के मण्डलों की चर्चा करते हुए लिखा है कि राज्य के सीमान्तवर्ती पड़ोसी उसके सम्भावित शत्रु तथा उनके सीमान्तवर्ती उसके सम्भावित मित्र होंगे। प्राचीन युग में मिस्र, चीन, भारत, फारस, यूनान, सायराक्युज, कारथेज, रोम आदि में सुसगठित राज्यों तथा साम्राज्यों का उद्भव हुआ था। इनमें कई ने दौत्य सम्बन्ध, सन्धि-व्यवस्थाएँ, कूटनयिक आधार-व्यवहार आदि का पर्याप्त विकास किया था। शक्ति-सन्तुलन जैसे परराष्ट्र-नीति के आधारभूत सिद्धान्तों के कई उदाहरण इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लक्षित होंगे।

किन्तु प्राचीन युग में यातायात तथा सचार की कठिनाइयों एवं कई अन्य कारणों से अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का अधिक विकसित तथा प्रसारित होना कठिन था। अधिकतर राज्य एक-दूसरे को अपना शत्रु समझते थे। दिग्विजय राज्यों के अधिपतियों की सर्वाधिक प्रिय महत्त्वाकांक्षा बनी रहती थी। राजनीति अधिपतियों की आकांक्षाओं की पूर्ति के हेतु सचालित की जाती थी तथा अक्सर उनके या उनके मन्त्रियों के खेल के समान होती थी।

मध्य युग तक स्थिति कुछ ऐसी ही रही। मध्य युग के प्रारम्भिक चरण में पश्चिमी एशिया में इस्लाम का उदय हुआ। कुछेक दशकों के भीतर उसकी वैजयन्ती स्पेन से मिस्र तक फहरा उठी। चीन के 'मेंसरिन्स' साम्राज्य के अधिपति बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे। भारत में विस्तृत सल्तनत एव साम्राज्य स्थापित तथा विघटित होते रहे। बाद में फारस में एक शक्तिशाली साम्राज्य कई सदियों तक फूलता-फलता रहा। इनकी परराष्ट्र-नीति यदा-कदा दौत्य सम्बन्ध तथा साम्राज्य-प्रसार की प्रतिस्पर्धाजन्य कार्यवाहियों तक ही सीमित रह सकती थी।

मध्ययुगीन यूरोप में ईसाई आधिपत्य की भावना का विकास हुआ। ईसाई धर्म का सर्वोच्च धर्माधिकारी रोम का पोप तथा साम्राज्य उदीयमान राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का कुछ अशो तक नियमन करते थे। वैसे उस काल तक केन्द्रीय शक्ति-सम्पन्न राज्य सच्चे अर्थ मे विकसित होने की प्रक्रिया मे ही थे। अधिकतर राज्यो मे सामन्त सरदारो का बोलबाला बना रहता था। उनके आपसी युद्धो का कभी अन्त ही नही होता था। ब्रिटेन का 'वार्स ऑफ द रोजे' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच का शतवार्षिक युद्ध भी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध उतना नही था जितना कि सामन्ती सरदारो का प्रतिस्पर्द्धात्मक सघर्ष। फिर भी पोप का तथाकथित 'पवित्र रोमी साम्राज्य' का अलक्षित किंवा झीना आधिपत्य छोटे-छोटे यूरोपीय राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो पर कुछ हद तक नियन्त्रण तथा निदेशन रखता था, किन्तु धर्मसुधार की बाढ मे यह झीना नियमन भी विलीन हो गया। फ्रांस, आस्ट्रिया, ब्रिटेन स्पेन तथा हालैण्ड नवोदित दुर्विजेय शक्तियो के रूप मे यूरोपीय राजनीतिक आकाश पर तेजी से ऊपर चढ़ने लगे। जर्मनी का तीसवर्षीय युद्ध एव तदुपरान्त वेस्टफालिया की सन्धि के साथ एक युग की समाप्ति तथा दूसरे युग–यूरोपीय राष्ट्र राज्यो के युग का शुभारम्भ होता है। परराष्ट्र-नीति के, आधुनिक अर्थों मे, इतिहास का आरम्भ भी यही से माना जा सकता है। मोटे तौर से यह काल सोलहवी सदी का अन्त तथा सत्रहवी सदी का आरम्भ था। इसके पूर्व पुनर्जागरण, धार्मिक पुनर्सुधार, नई दुनिया की खोज, प्राच्य को जाने वाले समुद्री मार्ग का पता लगने आदि के फलस्वरूप यूरोप के विभिन्न देशो मे राष्ट्रीय चेतना तथा उस पर आधारित प्रतिस्पर्द्धाएँ विकसित होने लगी थी। 'मेरा देश सही या गलत'(माइ कन्ट्री, राइट आर रौंग) की भावना ब्रिटेनवासियो, फ्रांसीसियो, स्पेनियो, डचो आदि में जागृत होने लगी थी। शक्ति-सम्पन्न सम्प्रभु राज्यो (Sovereign States) के उदय से अन्तरराज्य सम्बन्धो (Inter-state Relations) की परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। फलत पश्चिमी यूरोपीय राज्यो पर परराष्ट्र-नीति का सचालन करने हेतु एक पृथक् मन्त्रालय या विभाग का उद्भव होने लगा। धीरे-धीरे प्रत्येक देश मे पेशेवर कूटनयिकों का एक वर्ग विकसित हुआ। अवसर उन्नीसवी सदी के मध्य तक तो अवश्य ही ऐसे राजनयिक (Diplomats) विदेशी सरकारो के द्वारा भी नियुक्त किए जाते थे तथा पूरी निष्ठा के साथ अपना कार्य निष्पन्न करते थे। अधिकतर ऐसे राजनयिक सर्वोच्च नीति-निर्धारक नही हुआ करते थे, फिर भी परराष्ट्र-नीति के सचालन मे तथा नीति-निर्धारण के अनुप्रेरक तत्त्व प्रस्तुत करने मे इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हाथ होता था। पेशेवर एव सुप्रशिक्षित राजनयिको का युग लगभग प्रथम विश्वयुद्ध तक रहा।

विदेश नीति का क्षेत्र
(Scope of Foreign Policy)

विदेश-नीति के दो पक्ष होते हैं—सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत (I) हम उन अनुप्रेरक तत्त्वो का जिनसे किसी देश की *विदेश-नीति*

निर्धारित होती है तथा (2) उसके मूल, गौण एव तात्कालिक लक्ष्यो का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं। इनका व्यावहारिक पक्ष वस्तुत: नीति-निर्धारको द्वारा निर्णीत करना एवं स्वीकृत नीतियो का कार्यान्वयन—विदेश नीति का क्रियात्मक रूप है।[1]

इस प्रकार विदेश नीति के अन्तर्गत वे सभी सिद्धान्त एव आचरण-सहिताएँ आएँगी जिनसे सम्प्रभु सरकारें अन्तरराज्य सम्बन्धो के परिचालन मे निर्देशित होती है। इनके अतिरिक्त तथा कदाचित् अधिक महत्त्वपूर्ण होती है विभिन्न राज्यों के सन्दर्भ मे राज्य सरकारो द्वारा अपने स्वीकृत लक्ष्यो की प्राप्ति के हेतु की जाने वाली विभिन्न कार्यवाहियाँ। अपने सीमान्तों से परे, स्वीकृत लक्ष्यों की उपलब्धि के उद्देश्य से सरकार जो कुछ भी करती है—शान्ति या विग्रह, सहयोग या प्रतिस्पर्द्धा, सौहार्द्र या शत्रुता, सुलह-समझौता या चुनौती देना, पुनर्मेल या तनाव मे वृद्धि—यह सब विदेश नीति के अन्तर्गत आता है। कुल मिलाकर विदेश नीति के अन्तर्गत उसके लक्ष्य, आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश स्थायी एव तात्कालिक अनुप्रेरणाएँ, कार्य-पद्धतियाँ, उपकरण, तरीके, कार्यवाहियाँ तथा परिणाम आदि आ जाते है। एक राज्य अन्य राज्य या राज्यो के सन्दर्भ मे जो निर्णय लेता है एव कार्यवाहियाँ करता है, वे उसकी विदेश नीति के अग होते है। इस सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य पर राज्य सरकारो की विशेष परियोजनाओ, कार्यक्रमो के निर्धारण तथा सचालन के अध्ययन का विशेष महत्व होता है। ये योजनाएँ या कार्यक्रम नर्तक, पर्यटन, गायक आदि के आदान-प्रदान से लेकर सैनिक बातचीत तक हो सकते हैं; विदेश नीति के ये विशिष्ट अग होते है।[2]

विदेश नीति का तुलनात्मक अध्ययन
(Comparative Study of Foreign Policy)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जटिलता-भरे इस युग मे किसी भी एक राष्ट्र की विदेश नीति को हम भली-भाँति तब ही समझ सकते हैं जबकि अन्य राष्ट्रों की विदेश नीतियो के साथ तुलनात्मक रूप से उसका अध्ययन करें। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में जो क्रान्ति आई है उसके कम से कम तीन विशिष्ट पहलू है। प्रथम पहलू सैनिक विज्ञान और तकनीकी मे अप्रत्याशित प्रगति है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष के खतरों को निषेधात्मक रूप से बढा दिया है और राष्ट्रो की विदेश नीति तथा कूटनीति पर भारी बोझ लाद दिया है। दूसरा पहलू अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का है, उसका शताब्दियो पुराने यूरोप-केन्द्रित नमूने से एक ऐसे नमूने अथवा प्रकार (Pattern) मे रूपान्तर है जिसमे प्रभुत्व और पहल अथवा नेतृत्व (Initiative) के मुख्य केन्द्र हैं—सयुक्तराज्य अमेरिका और रूस जिसमे लेटिन अमेरिका, मध्यपूर्व, अफ्रीका, दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया ने पहल के केन्द्रो तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा के लक्ष्यो के रूप मे भारी महत्त्व अर्जित कर लिया है। तीसरा पहलू यह है कि सोवियत सघ आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक

1–2 डॉ अरविन्द नारायण सिन्हा वही, पृष्ठ 3

राष्ट्रीय शक्ति के रूप में ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के माध्यम से विश्व भर में राष्ट्रों की आन्तरिक राजनीति में प्रत्यक्ष घुसपैठ कर ली है।

विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए इन तीन पहलुओं अथवा विकासों के प्रभाव, परिणाम आदि स्वत. स्पष्ट है। विदेश नीति में जो महान् उत्तरदायित्व अन्तर्निहित है उसकी मांग है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याओं, उसके विवादों और प्रभावों को समझने के अपने प्रयासों में पूर्ण सचेतना और त्वरित बुद्धि से काम लें। वर्तमान युग में साम्यवादी शक्तियों और गैर-पश्चिमी क्षेत्रों का जो उदय हुआ है तथा दूसरी ओर यूरोप का जो सापेक्ष पराभव हुआ है उसने यह आवश्यक ठहरा दिया है कि हम पहले के समान केवल अमेरिकन विदेश नीति और यूरोपीय कूटनीति पर ही अपना ध्यान विशेष तौर पर केन्द्रित न रखें। आज हमारे लिए टर्की, संयुक्त अरब गणराज्य, इण्डोनेशिया, बर्मा, भारत, पाकिस्तान आदि की विदेश नीति के व्यवहारों और तत्वों को जानना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना फ्रांस, इटली, जर्मनी, अमेरिका और रूस की विदेश नीति को। इसके अतिरिक्त गैर-पश्चिमी क्षेत्रों के अधिकांश देशों में आज जो राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान है और महाशक्तियाँ जिस प्रकार एशिया और अफ्रीका के देशों में घुसपैठ तथा हस्तक्षेप की नीतियों को अपना रही हैं, उसके प्रकाश में हमारे लिए यह जानना भी समीचीन है कि विश्व के इन विभिन्न देशों की आन्तरिक राजनीति कैसी है। हमें यह देखना होगा कि इन देशों की राजनीतिक सस्थाओं में कितना स्थायित्व है, वहाँ किन आन्दोलनों का प्रभाव है, वहाँ की नीति प्रवृत्तियाँ क्या हैं, वे देश अपनी जनता की अपेक्षाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने तथा साम्यवादी और पूँजीवादी शक्तियों की घुसपैठ का सामना करने में कहाँ तक सक्षम हैं। कहने का आशय यह है कि विदेश नीति के अध्ययन में हमें केवल गैर-पश्चिमी विश्व के नए देशों को ही सम्मिलित नहीं करना है बल्कि उनमें विद्यमान सामाजिक शक्तियों, राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक व्यवहारों और अपेक्षाओं का भी अध्ययन करना है तथा विदेश नीति-निर्णयों और समकालीन कूटनीतिक व्यवहारों के प्रत्यक्ष नमूनों को भी गहराई में पढ़ना है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति के विद्वानों ने इन उपर्युक्त चुनौतियों का मुख्यत तीन रूपों में अध्ययन किया है। प्रथम, उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रक्रिया का कठोर और व्यवस्थित शब्दों में वर्णन किया है। द्वितीय, उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न साधनों के सिद्धान्तों का निर्माण करने का प्रयत्न किया है—विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय संचार और प्रचार के, विदेशी राष्ट्रों की नीतियों को प्रभावित करने वाले आर्थिक साधनों के प्रयोग के, तथा विदेश नीति के संचालन में सैनिक शक्ति के प्रयोगों और उनकी सीमाओं के सिद्धान्त के। तृतीय, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रक्रिया में सम्मिलित देशों की विदेश नीतियों के उनके अध्ययन ने नवीन और उत्पादक अथवा रचनात्मक दिशा ग्रहण की है।

जैसा कि स्पष्ट है, आज तुलनात्मक सरकारों का क्षेत्र पश्चिमी यूरोपीय संकीर्णतावाद से ऊपर उठ चुका है अर्थात् तुलनात्मक सरकारों के आज के अध्ययन में गैर-पश्चिमी देशों का अध्ययन पर्याप्त महत्त्व ले चुका है। आज केवल औपचारिक संस्थावाद (Formal Institutionalism) का ही अध्ययन नहीं किया जाता बल्कि राजनीतिक समुदायों और व्यवहारों का अध्ययन भी बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि राष्ट्रों की नीति-निर्माणकारी प्रक्रियाओं (Policy-Making Processes) पर उनका पूरा प्रभाव रहता है। कूटनीतिक इतिहास के अनुशासन में आज केवल विदेशी कार्यालयों के सरकारी निर्णयों और कूटनीतिज्ञों के सक्रिय कार्यकलापों का ही अध्ययन नहीं किया जाता, वरन् राज्यों की आन्तरिक राजनीति और विदेश तथा गृह राजनीति और नीति के आदान-प्रदान आदि पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है।

आदर्श रूप में यह उचित होगा कि विदेश नीति के तुलनात्मक अध्ययन का मुख्य ध्येय विदेश नीति के पात्रों (Actors) के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकारों और उनके उदय, निरन्तरता और रूपान्तर से सम्बन्धित दिशाओं की खोजबीन करना हो। बनिस्पत इसके कि हम 'महान्' और 'लघु' शक्तियों, 'साम्राज्यवादी' और 'शान्तिपूर्ण' शक्तियों, 'सम्पन्न' और 'विपन्न' राष्ट्रों, 'क्रान्तिकारी' और 'अनुदारवादी' शक्तियों तथा अन्य इसी प्रकार के विवादों के चक्कर में पड़ें, यह अधिक अच्छा है कि हम अपने सिद्धान्त को अनुभववादी अध्ययनों के सारपूर्ण संग्रह पर केन्द्रित करें। तुलनात्मक विदेश नीति-अन्वेषण और विश्लेषण के ऐसे क्षेत्र के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के साधनों के सिद्धान्त की बड़ी उपयोगिता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का किसी भी एक निश्चित समय में चाहे जो भी स्वरूप हो—चाहे वह स्थायी या अस्थायी हो, द्विध्रुवीय हो या बहुध्रुवीय, चाहे वह एकीकृत अन्तर्निर्भर व्यवस्था हो अथवा उसमें न्यूनाधिक स्वायत्त उप-व्यवस्थाएँ सम्मिलित हों—वह स्वतन्त्र राष्ट्रों अथवा पात्रों के उन प्रकारों पर निर्भर होगा जो उस व्यवस्था का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार विदेश नीति के पात्रों का वर्गीकरण और विश्लेषण करने के किसी भी प्रयास में उन विशिष्ट तर्कों का अध्ययन करना होगा जिनके द्वारा विभिन्न राष्ट्र अपने साधनों अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सन्दर्भ में अपने दृष्टिकोणों और व्यवहारों, अपने कूटनीतिक उपायों, अन्तर्राष्ट्रीय संचार के उपायों और अपने सैनिक तथा आर्थिक साधनों के प्रयोग के तरीकों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि तुलनात्मक विदेश नीति के रचनात्मक अथवा उत्पादक अनुशासन का विकास अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में विशेष महत्त्वपूर्ण है। तुलनात्मक सरकारों और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन तो इस दिशा में आवश्यक है ही। संक्षेप में, तुलनात्मक विदेश नीति में अन्वेषण का कोई भी श्रेष्ठ कार्यक्रम केवल राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर ही निर्भर नहीं करता, वरन् इन व्यवस्थाओं की विशेषताओं को अलग-अलग समझना और प्रत्येक व्यवस्था को पूरी तरह हृदयगम करना भी आवश्यक है। विदेश नीति का तुलनात्मक अध्ययन

तुलनात्मक सरकारो के अध्ययन को यदि बहुत कुछ देता है तो उसमे बहुत कुछ लेता भी है।

विदेश नीति की दृष्टि से यदि हम किसी भी देश का अध्ययन करे तो उसमे गेब्रियल ए. आमण्ड (Gabriel A Almond) के अनुसार मुख्यत निम्नलिखित बाते अवश्य सम्मिलित होनी चाहिएँ—(1) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, (2) विदेश नीति-निर्माण-प्रक्रिया की विशेषताएँ, एव (3) उस देश की विदेश नीति का सार जिसमे विदेश नीति के उद्देश्य और उनकी पूर्ति के साधनो का अध्ययन सम्मिलित है।

इन उपर्युक्त तीनो अध्ययनो मे जिन विशिष्ट पहलुओ पर अध्ययन करना अपेक्षित है, उनकी मोटी रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है—

(क) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1 देश का भीतरी और बाहरी इतिहास, विशेष रूप से उन पहलुओ का अध्ययन जिनका समकालीन विदेश नीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है।

2 आर्थिक साधन और आर्थिक क्षमता अर्थात् देश का आर्थिक विकास।

3. सांस्कृतिक और सामाजिक विकास।

4 राजनीतिक ढाँचा और सैद्धान्तिक प्रवृत्तियाँ।

5 देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे होने वाले परिवर्तन।

6 विदेश नीति की मुख्य ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ।

(ख) विदेश नीति-निर्माण

1 सरकारी अभिकरण—कार्यपालिका (प्रधानमन्त्री, सम्बन्धित मन्त्रिगण तथा अन्तर्मन्त्रिमण्डलीय अथवा अन्तर्विभागीय सगठन) एवं व्यवस्थापिका (सम्बन्धित समितियो सहित)।

2 गैर-सरकारी अभिकरण—राजनीतिक दल, हित-समूह, जनमत की विशेषताएँ आदि।

उपर्युक्त सभी उपकरणो की भूमिका और इनकी नीति-प्रवृत्तियो का आवश्यकतानुसार अध्ययन अपेक्षित है। उदाहरणार्थ, यह ध्यान रखना होगा कि मन्त्रियो मे अथवा कार्यपालिका-व्यवस्थापिका मे अथवा राजनीतिक दलो और हित समूहो मे नीति सम्बन्धी प्रवृत्तियो मे क्या अन्तर या मतभेद हैं।

(ग) विदेश नीति का सार

यह भाग अपने दृष्टिकोण मे विश्लेषणात्मक है और समकालीन स्थिति से सम्बन्ध रखता है। इसमे जिन बातो का अध्ययन सम्मिलित है उनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—

1 देश अपनी विदेश नीति के हितो और उद्देश्यो को किस तरह प्रभावित करता है तथा किन साधनो के प्रयोग द्वारा वह उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है?

2. आर्थिक विदेश नीति—आयात-निर्यात कर, व्यापार नियन्त्रण, निवेश, विदेशी सहायता आदि।

3. सांस्कृतिक एवं सैद्धान्तिक विदेश नीति—सांस्कृतिक बन्धन, भाषा और सचार के बन्धन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सैद्धान्तिक गतिविधियाँ।

4 सुरक्षात्मक विदेश नीति—कूटनीतिक बन्धन और उद्देश्य (संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका सहित), सैनिक क्षमता, सैनिक समस्याएँ और लक्ष्य।

यदि विदेश नीति के तुलनात्मक अध्ययन मे उपर्युक्त सभी पहलुओ के विभिन्न पक्षो का सचेत अध्ययन किया जाये तो उद्देश्य मे वांछित सफलता की निश्चित सम्भावना है।

विदेश नीति के दृष्टिकोण
(Approaches to Foreign Policies)

केनेथ डब्ल्यू. थॉम्पसन (Kenneth W Thompson) का अभिमत है कि फ्रेंच क्रान्ति के समय ही पाश्चात्य चिंतन मे विदेश नीति के प्रति निम्नलिखित दो दृष्टिकोणों मे परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रही है—

1. सैद्धान्तिक दृष्टिकोण (Ideological Approach), एव

2. विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (Analytical Approach)।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण (Ideological Approach) के अनुसार राज्यो और उनके सम्मुख अथवा मुकाबले शेष विश्व की नीति (The Policies of States vis-a-vis the rest of the world) केवल प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विश्वासो की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन दृष्टिकोणों की मान्यता है कि विदेश नीतियाँ प्रजातान्त्रिक अथवा सर्वाधिकारवादी, उदारवादी अथवा समाजवादी, शान्तिप्रिय अथवा आक्रामक आदि रूपों मे वर्गीकृत की जाती हैं। इसके विपरीत विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (Analytical Approach) मे यह धारणा सन्निहित है कि विदेश नीति के बहुसंख्यक निर्धारित तत्त्व होते हैं जिनमे राज्य की ऐतिहासिक परम्परा, भौगोलिक स्थिति, राष्ट्रीय हित, उद्देश्य, राष्ट्र की सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ आदि सम्मिलित हैं। किसी देश की विदेश नीति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि अध्येता इन सभी और अन्य तत्त्वो पर विचार और उनका विश्लेषण करें।

केनेथ डब्ल्यू थॉम्पसन ने लिखा है कि 20वी शताब्दी में आलोचको के लिए यह कहना एक सामान्य और आम बात थी कि सयुक्त राज्य अमेरिका अथवा ब्रिटेन या फ्रांस की कोई विदेश नीति नही है अथवा ये राष्ट्र उदारवादी या समाजवादी या अनुदारवादी रूढ़िवादी सिद्धान्तों के प्रति उदासीन रहे हैं। विदेश नीति के बारे मे चिन्तन का बहुत प्राचीन समय से यह एक लोकप्रिय तरीका रहा है और आज भी सम्भवतः एक बडे क्षेत्र मे यह एक प्रचलित दृष्टिकोण है। हम समय-समय पर देश के घरेलू राजनीतिक क्षेत्र मे इस प्रकार के आरोप सुनते रहते हैं कि अमुक राजनीतिक नेता अथवा अमुक राजनीतिक दल अथवा प्रशासन पूर्णतया अवसरवादी है और वैदेशिक मामलो मे अपने राजनीतिक सिद्धान्त अथवा विचारधारा के प्रति उनमे कोई निष्ठा नही है। सरकारों की इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि वे लोकतन्त्र अथवा मुक्त साहस अथवा किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग को समर्थन

नही देती। वास्तव में यह प्रभावशाली सैद्धान्तिक दृष्टिकोण वैदेशिक सम्बन्धों, व्यवहारो अथवा आचरणो को मुख्यत मनोवैज्ञानिक रूप मे स्वीकार करता है। इस दृष्टिकोण के समर्थक नेताओ अथवा सरकारो के सिद्धान्तो और उद्देश्यों की नीति के एक पूर्ण निर्धारक तत्त्व के रूप मे नहीं तो भी आवश्यक तत्त्व के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि एक लोकतान्त्रिक शासन एक विशिष्ट प्रकार की विदेश नीति का अनुसरण करता है तो एक निरकुश तन्त्र दूसरे प्रकार की विदेश नीति का, एक साम्यवादी सरकार तीसरे प्रकार की और एक प्रजातान्त्रिक समाजवादी शासन चौथे प्रकार की विदेश नीति का। चूंकि विदेश नीति के आँकलन का यह एक बडा सीधा फार्मूला है अत- लोग इसे बडी आसानी से समझ लेते है और बडे क्षेत्र मे यह स्वीकार्य भी है। सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक दृष्टिकोण मे विदेश नीति वस्तुत एक सक्रिय राजनीतिक व्यवस्था का कार्य है। विदेश नीति इसके कार्यक्रम को चलाने वाले राजनीतिक नेताओ की आस्थाओं और रुचियो के अनुसार निर्धारित होती है।

लगभग पिछली अढाई दशाब्दियों से चिन्तन के एक बडे क्षेत्र मे विदेश नीति का उपर्युक्त सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण आलोचना का विषय रहा है। उसके स्थान पर विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (Analytical Approach) को अधिकाधिक मान्यता मिलती जा रही है। व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही अधिक उपयुक्त है और आज भी जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था मे हमे 'विदेश नीति के सैद्धान्तिक दृष्टिकोणो का प्रभाव नजर नहीं आता। विदेश नीति का सचालन राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया जाता है। सिद्धान्तवाद की दुहाई दी जाती है लेकिन व्यवहार मे किया वही जाता है जो आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हितो के अनुकूल हो। निष्पक्ष रूप मे देखा जाए तो राष्ट्रीय हितो के अनुकूल वैदेशिक नीति का सचालन अति प्राचीन काल से ही किया जाता रहा है और अधिकांश राष्ट्र अपने हितों की कीमत पर सिद्धान्तो की रक्षा मे अडिग नही रहे है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण आज के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज मे आन्तरिक विरोधाभासो के फलस्वरूप अपना प्रभाव खोता जा रहा है और वह राज्य की नीतियो के उद्देश्यो और लक्ष्यों की निरन्तरताओं का वर्णन करने में असफल रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो पाएँगे कि विभिन्न सत्ताधारी दलो और अपने-अपने निजी अथवा सार्वजनिक दर्शनो के बावजूद ब्रिटिश, अमेरिकन, फ्रेन्च और रूसी विदेश नीति मे अनेक ऐसी एकताएँ विद्यमान हैं जो व्यक्तिगत विश्वासों अथवा सिद्धान्तो का अतिक्रमण करती हैं। युद्धोत्तर काल के प्रारम्भ मे इग्लैण्ड की श्रमिक सरकार ने देश के सारभूत रूप मे उन्हीं हितों के सरक्षण की नीति अपनाई जिनकी सुरक्षा को टोरियो और ह्विगो (*Torries and Whigs*) ने शताब्दियों से आवश्यक माना था। इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका मे डलेस-आइजहॉवर की विदेश नीति ने देश के उन्ही केन्द्रीय लक्ष्यों पर ध्यान दिया जिन पर रूजवेल्ट और ट्रूमैन प्रशासन ने ध्यान दिया था। कहने का तात्पर्य है कि चाहे प्रविधियाँ, उपाय और मापन बदल जाएँ लेकिन एक देश के हित और उद्देश्य सापेक्षिक रूप में

निरन्तर बने रहते हैं और इसलिए विदेश नीति राष्ट्रीय हितो के अनुकूल ही सचालित की जाती है, जिसमे लचीलापन रहता है, सिद्धान्तो पर अडियलपन नही। एक ऐसी अवधारणा को जिसमे विदेश नीति घरेलू राजनीति की एक गौण उपज के सिवाय और कुछ नही है, स्वीकार करना उपयुक्त नही है चूंकि नीति मे निरन्तरता के तत्वो के साथ वह न्याय नही कर सकती। जो राजनीतिज्ञ विदेश नीति का निर्माण करते हैं उन्हे राष्ट्रीय हित का सर्वोपरि ध्यान रखना पडता है और इसलिए अपने विश्वासो, सिद्धान्तों आदि पर उन्हे अकुश लगाना पडता है। यदि राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा की जानी है तो उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका उसके हितो आदि का पूरा ध्यान रखना होगा और अपने सामाजिक दर्शन, धार्मिक दृष्टिकोण तथा सैद्धान्तिक विचारो को गौण मानना पडेगा। राष्ट्रीय हित सदैव स्थायी और एक से ही रहते हो, यह आवश्यक नही है। समय और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हित की जो मांग है, उसी के अनुरूप विदेश नीति का सचालन किया जाना होता है। इसमे भी हितो का एक क्रम अथवा पदसोपान बैठना होता है। प्राथमिक हितो की रक्षा पहले की जाती है, गौण हितो की बाद मे। कुछ ऐसे हित होते है जिनकी हर कीमत पर रक्षा करनी होती है, दूसरे ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा कुछ विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत करनी होती है और कुछ ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा यद्यपि वांछनीय है तथापि उनकी लगभग कभी भी रक्षा नही की जाती। यह विदेश नीति का कार्य है कि वह हितो के इस पदसोपान का उपयुक्त निर्धारण करे और दूसरे राष्ट्रो की विदेश नीतियो के व्यवहारो और सिद्धान्तो से उनकी तुलना और उनका आंकलन करते हुए अपना मार्ग निश्चित करे। हित कभी स्थायी नही होते और इतिहास बताता है कि अनेक बार राष्ट्रीय नेता हितो के पदसोपान के निर्धारण की कसम खा लेते हैं लेकिन बाद मे उन्हे अपनी कसम तोडनी पडती है। सयुक्तराज्य अमेरिका को अपने पूर्व-निश्चय का परित्याग करते हुए द्वितीय महायुद्ध मे कूदना पड़ा था और भारत को न चाहते हुए भी चीन और पाकिस्तान से लडना पडा है। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं कि एक शान्तिप्रिय राष्ट्र को अपनी सुरक्षा और अखण्डता के लिए उत्पन्न खतरो का मुकाबला करने की दृष्टि से सैनिक शक्ति सवर्धन का आश्रय लेना पडता है। भारत इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सैनिक विज्ञान और तकनीक मे प्रगति, आर्थिक समृद्धि अथवा देश के विघटन आदि विभिन्न तत्वो के फलस्वरूप राष्ट्रीय हितों मे सामयिक परिवर्तन आते रहते है और तदनुरूप विदेश नीति को मोड देने होते है।

सारांशतः आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था मे विदेश नीति का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही व्यावहारिक और उपयुक्त है, किन्तु इसका अभिप्राय यह भी नही है कि आदर्शवादी सिद्धान्त को तिलाञ्जलि दे दी जाए। दोनो का समयानुकूल न्यूनाधिक समन्वय सम्भवत एक श्रेष्ठतम मार्ग सिद्ध हो सकता है।

विदेश नीति के तत्त्व
(Elements of Foreign Policy)

केनेथ डब्ल्यू. थॉम्पसन (Kenneth W. Thompson) के अनुसार विदेश

नीति के तत्त्वों पर हम एक केन्द्रीय घेरों अथवा चक्करो (Concentric Circles) को ध्यान मे रखते हुए विचार कर सकते हैं। केन्द्र मे कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो अपनी प्रकृति मे कम या अधिक महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित होते हैं। इनमे से कुछ सापेक्षिक रूप मे स्थायी होते हैं, जैसे भूगोल तथा प्राकृतिक स्रोत। दूसरे तत्त्व परिवर्तन और मानव प्रयासो के अधिक अनुकूल होते हैं, जैसे आर्थिक, औद्योगिक और सैनिक सस्थान। कुछ मानव-तत्त्व होते हैं जो जनसख्या की दृष्टि से अधिकांशत सख्यात्मक (Quantitative) तथा राष्ट्रीय चरित्र, सामाजिक सरचना, राष्ट्रीय मनोबल, राजनीति संस्थाओ और अनुभव तथा कूटनीति की एक प्रभावशाली परम्परा आदि की दृष्टि से गुणात्मक (Qualitative) होते हैं। नीति-निर्माण प्रक्रिया के इन तत्त्वो और साधनो से किसी भी विदेश नीति का सार निकलता है और प्रमुख ऐतिहासिक नीतियो तथा देशो के विस्तृत हितो का उदय होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के छात्र प्राय अपना अधिकांश ध्यान विदेश नीति के तत्त्वो पर केन्द्रित करते हैं। तुलनात्मक राजनीति के लेखको ने विशेष रूप से नीति-निर्माण प्रक्रिया पर, जिसमे राजनीतिक दलो, हित-समूहो, प्रभावकारी राजनीतिक विचारधाराओ और किसी देश की कार्यपालिका-विधायिका के सम्बन्ध आदि शामिल है, विचार किया है। यह अधिक उचित होगा कि इन दोनो ही दृष्टिकोणो को हम अपनी विषय-सामग्री के अध्ययन के लिए सयुक्त करले।

किसी भी देश की विदेश नीति के जो विभिन्न प्रमुख तत्त्व विचारणीय है, उन्हे हम निम्नानुसार व्यक्त कर सकते है—

सापेक्षिक रूप से स्थायी भौतिक तत्त्व
(The Relatively Permanent Material Elements)

सापेक्षिक रूप से स्थायी भौतिक तत्त्वो मे हम भूगोल (Geography) और प्राकृतिक स्रोतो (Natural Sources) को ले सकते है। एक देश की नीतियो के तत्त्वो मे भूगोल सम्भवत. सबसे अधिक स्थायी तत्त्व है। भौगोलिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर बनाई गई विदेश नीति अधिक प्रभावशाली और सफल हो सकती है। अमेरिका का हजारो मील लम्बा समुद्र उसे यूरोप और एशिया से अलग करता है और यूरोप तथा एशिया की शक्तियो के साथ निरन्तर मित्रता मे बहुत कुछ बाधक रहा है। अमेरिका की आधारभूत नीतियाँ उसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति और पाश्चात्य गोलार्द्ध के लिए अनुकूल परिस्थितियों की उपज है। भौगोलिक दृष्टि से संयुक्तराज्य विश्व मे सबसे अच्छी स्थिति ग्रहण किए है, यह दो महासागरो का सामना करता है और इस तरह संसार के दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व्यापार क्षेत्रो से सीधा सम्पर्क रखने मे सफल हुआ है। भौगोलिक और सामरिक रूप से दुनिया मे भारत की जो असाधारण स्थिति है, वही उसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे अधिकाधिक आगे ला रही है। मार्च, 1956 मे इस पर टिप्पणी करते हुए श्री नेहरू ने कहा था—"हम सामरिक दृष्टि से एशिया के अति महत्त्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य में हैं। अतीत और वर्तमान युग मे हमारे सम्बन्ध पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया और

सुदूर पूर्व एशिया के साथ है और यदि हम चाहे तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकते।" हिन्द महासागर मे शक्ति-रिक्तता की समस्या भारत की प्रादेशिक अखण्डता के लिए स्थाई सकट खडा कर सकती है। विदेशो से भारत के व्यापार और वाणिज्य का अधिकांश भाग इसी समुद्र द्वारा होता है, अत इस क्षेत्र मे कोई भी प्रबल विदेशी नौ-शक्ति भारत की अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर सकती है। भारत की हजारो मील लम्बी समुद्री और स्थलीय सीमाएँ विदेश नीति के निर्धारण मे सदा से महत्वपूर्ण योग देती रही हैं। अतीत मे हिमालय हमारी सुरक्षा का शक्तिशाली प्रहरी था, लेकिन बदलती हुई परिस्थितियों मे आवश्यक है कि इधर से अपनी भौगोलिक स्थिति सुरक्षित करने के लिए भारत साम्यवादी देशो से अनुकूल सम्बन्ध बनाए रखने की चेष्टा करे। मध्यकाल से ही ब्रिटिश विदेश नीति ने अपने इन लक्ष्यो की प्रेरणा अपने देश की भौगोलिक स्थिति से ही ग्रहण की कि नौ-शक्ति का विकास किया जाए और यूरोपीय महाद्वीप मे शक्ति-सन्तुलन बनाए रखा जाए।

इसमे सन्देह नही कि यातायात और सचार साधनो के विकास ने तथा आधुनिक युद्ध-तन्त्र ने भौगोलिक स्थिति के उस महत्व मे परिवर्तन ला दिया है जो पहले था, तथापि आज भी छोटे-बड़े सभी देशो की विदेश नीतियो मे भौगोलिक तत्व का विभिन्न रूपो मे महत्व है। सोवियत सघ का जो विशाल क्षेत्रीय विस्तार है अथवा चीन की जो सुविस्तृत भौगोलिक सीमाएँ हैं, उन्होने सैनिक नियन्त्रण की समस्याओं को, आधुनिकतम हथियारो के बावजूद, बड़ा विकट बना दिया है। कोरिया मे सयुक्त राष्ट्रसघ को अपनी नीतियों का संचालन यह ध्यान मे रखते हुए करना पड़ा था कि चीन की मुख्य भूमि उत्तर कोरिया मे मिली हुई थी। रूस की भौगोलिक और सामरिक स्थिति ने ही विश्व की अन्य शक्तियो को इसकी घेरा-बन्दी करने अथवा इसके चारो ओर बाधक राज्य बनाने की नीति पर चलने को विवश किया है।

प्राकृतिक स्रोत भी विदेश नीति को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। प्राकृतिक साधन निश्चित और स्थाई होते हैं, लेकिन ऐसे नही कि परिवर्तित ही न हो सकें। नवीन अन्वेषण और तकनीकी ज्ञान के बल पर एक देश के प्राकृतिक स्रोतो का विकास किया जा सकता है। प्राकृतिक साधनो का विपुल भण्डार होने से ही अमेरिका मे इतना सामर्थ्य है कि वह अपना और दूसरो का निर्वाह कर सके और इसीलिए उसकी विदेशी नीति मे 'विदेशी सहायता' का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राकृतिक स्रोतो के बल पर आर्थिक आत्म-निर्भरता की दृष्टि से सयुक्तराज्य इतना सबल है कि वह सभी खतरो का सामना कर सकता है। कृषि-योग्य भूमि की विशालता के कारण ही सोवियत सघ को अपनी जनसंख्या बहुत बढ जाने पर भी विदेशो से अनाज मँगाने की जरूरत नही पड़ेगी। आधारभूत कच्चे माल की विपुलता से वह विश्व का सर्वाधिक विकसित औद्योगिक राष्ट्र बन सकता है। इस स्थितियो ने उसकी विदेश नीति को बड़ा प्रभावित किया है। भोजन और शक्ति एक राष्ट्र का जीवनदायी रक्त है जिसके बल पर वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का निर्माण कर सकता है। प्रथम

महायुद्ध तक अपने विशाल औद्योगिक उत्पादन और साधन-सामग्री के कारण ही ग्रेट ब्रिटेन विश्व की महाशक्तियों में प्रथम स्थान बनाए रहा। अपने विपुल प्राकृतिक साधनों का समुचित विदोहन करके भारत न केवल पूर्ण आत्म-निर्भर राष्ट्र बल्कि एक प्रमुख निर्यातक देश भी बन सकता है और तब उसकी विदेश नीति अधिक प्रभावशील बन जाएगी तथा गुट-निरपेक्षता की स्थिति अधिक मजबूत हो जाएगी।

कम स्थायी भौतिक तत्त्व
(Less Permanent Material Elements)

अपेक्षाकृत कम स्थायी भौतिक तत्त्वों में हम मुख्यतः औद्योगिक स्रोतों और सैनिक संस्थानों को ले सकते हैं। ब्रिटेन ने जब अपनी औद्योगिक सर्वोच्चता खो दी तो एक सन्तुलन-कर्त्ता (Balancer) के रूप में उसकी सामर्थ्य भी समाप्त हो गई। फ्रांस एक ऐसे राज्य का ज्वलन्त उदाहरण है जिसकी जर्मनी की तुलना में औद्योगिक हीनता का अनिवार्य परिणाम यह निकला कि वह जर्मन-विस्तारवाद का मुकाबला नहीं कर सका। दोनों ही महायुद्धों में 'औद्योगिक क्षमता' ने जय-पराजय के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। संयुक्तराज्य अमेरिका की महान् औद्योगिक क्षमता मित्र-राष्ट्रों को विजय दिलाने में बहुत-कुछ सहायक हुई। अपनी विपुल औद्योगिक क्षमता के बल पर ही संयुक्तराज्य आज विश्व का सर्वाधिक सम्पन्न और शक्तिशाली राष्ट्र बना हुआ है। भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन ने ही उसे अभी तक महाशक्ति बनने से रोके रखा है। यद्यपि भारत के पास कोयले और लोहे के विशाल भण्डार हैं तथा मैंगनीज के उत्पादन में उसका ऊँचा स्थान है तथापि अपने औद्योगिक संस्थान (Industrial Establishment) के स्तर पर वह प्रथम श्रेणी की शक्ति नहीं बन पाया है। भारतीय जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग उद्योगों में लगा हुआ है और अनवरत प्रयासों के बावजूद आज भी भारत के औद्योगिक संस्थान बहुत सीमित हैं। जब भारत अपनी औद्योगिक क्षमताओं का समुचित विकास कर लेगा तो उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जाएँगे।

एक देश की विदेश नीति के तत्त्वों में सैनिक संस्थान बहुत ही प्रभावशाली स्थान रखते हैं। आज महाशक्तियों का खिताब उन्हीं देशों को प्राप्त है जिनकी सैनिक क्षमताओं की कोई थाह नहीं है। शक्ति का युद्धोत्तर विवरण यूरोप में सामरिक केन्द्रों पर लाल सेना की प्रभावशाली उपस्थिति का ही परिणाम था। दो महायुद्धों के बीच जर्मनी की महान् प्रभावशाली कूटनीतिक सफलता का रहस्य प्रत्यक्षतः उसकी महान् सैनिक तैयारियों में निहित था। सोवियत संघ द्वारा आणविक अस्त्रों के परीक्षण ने युद्धोत्तर शीत-युद्ध में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया था। भारत की आज जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा है वह बहुत-कुछ उस सैनिक शक्ति का परिणाम है जो वह 1965 और 1971 में दिखा चुका है। सैनिक तैयारियों के अभाव ने ही 1962 में भारतीय विदेश नीति की प्रतिष्ठा धूल में मिला दी थी। भारत की सैन्य टेक्नोलॉजी ने इसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि की है।

सैनिक-शक्ति में भूगोल और प्राकृतिक स्रोतों जैसे स्थायित्व का स्पष्टतः अभाव होता है। वैज्ञानिक और तकनीकी परिवर्तनों द्वारा एक देश अपनी सैनिक शक्ति का

विकास करता रहता है। युद्ध-क्षेत्र मे जय और पराजय एक देश की सैनिक स्थिति मे परिवर्तन लाती है। द्वितीय महायुद्ध ने इटली, जर्मनी और जापान की सैनिक प्रभुता नष्ट कर दी। पुनश्च, कोई भी राष्ट्र अपने सैनिक संस्थापनों को तभी निरन्तर समुन्नत बनाए रख सकता है जब वह अपनी प्राकृतिक और औद्योगिक क्षमताओं तथा तकनीकी ज्ञान को गतिशील रखे। एक देश की सैनिक क्षमताएँ वहाँ की आर्थिक सीमाओं से प्रभावित होती हैं। पाकिस्तान का सैनिक शक्ति-सचय उसकी अर्थ-व्यवस्था की कीमत पर हो रहा है और यह स्थिति अधिक समय नहीं चल सकती। भारत अपनी आर्थिक और तकनीकी कुशलता के बावजूद अपनी आर्थिक सीमाओं के कारण वह रूस या अमेरिका की तरह आणविक शस्त्रों का सग्रह करने की दिशा मे निकट भविष्य मे आगे नहीं बढ सकता। एक देश को अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए उपयुक्त और समुचित सैनिक कार्यक्रम बनाना चाहिए और तभी उसकी विदेश नीति प्रभावशाली हो सकती है। लेकिन अपनी क्षमताओं की तुलना मे बहुत अधिक महत्त्वाकांक्षी सैनिक कार्यक्रम बनाए गए तो देश की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा जाएगी और न ही इन सैनिक कार्यक्रमो का समुचित निर्वाह हो सकेगा। फिर सैनिक कार्यक्रम यह ध्यान मे रखते हुए बनाने चाहिए कि तकनीकी विकास के फलस्वरूप सम्भव है कि आज के हथियार कल अपनी उपयोगिता ही खो दें।

मानव तत्त्व : सख्यात्मक और गुणात्मक
(Human Elements Quantitative and Qualitative)

विदेश नीति के तीसरे एककेन्द्री घेरे (Concentric Circles) मे हम सख्यात्मक और गुणात्मक दोनो ही मानव तत्त्वों को ले सकते हैं। जनसख्या के गुणात्मक और सख्यात्मक दोनो ही पहलुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मध्य-पूर्व उस क्षेत्र का उदाहरण है जिसके प्रति नीति-निर्माता लोगों की सख्या पर और इस तथ्य पर कि अरब सख्या की दृष्टि यहूदियो की तुलना में बहुत अधिक है, ध्यान देते हैं। द्वितीय महायुद्धोत्तर काल मे चीन और भारत का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व बहुत कुछ उनकी जनसख्या के विशाल आकार पर निर्भर रहा है। मानव स्रोत के अच्छे उपयोग पर राष्ट्रीय शक्ति आधारित होती है जिससे विदेश नीति की प्रभावशीलता मे वृद्धि होती है। सामाजिक और राजनीतिक पद्धतियों को इस प्रकार सगठित किया जाना अपेक्षित है कि वे देश की आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। जनसख्या सामाजिक पद्धति के नियन्त्रण से बाहर हो जाए तो उसका और विदेश नीति का भविष्य उज्ज्वल नहीं होता। जनसख्या के गुणात्मक पहलू का विशिष्ट महत्व है। जनता का तकनीकी ज्ञान, उसकी कूटनीतिक क्षमता और सकटों को धैर्यपूर्वक सहने की सामर्थ्य तथा राष्ट्रीय एकता का विदेश नीति के निर्धारण और सचालन पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है। रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और जापान की विदेश नीति के निर्माण मे जनसख्या के आकार और गुणात्मक विशेषता का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। गुणात्मक विशेषता के बल पर ही जापान, जर्मनी और

ब्रिटेन जैसे भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से छोटे देश भी सम्पूर्ण विश्व को आश्चर्यजनक ढंग से प्रभावित कर सके हैं। भारत यदि अपनी सुविशाल जनसख्या के गुणात्मक स्तर को बढा ले तो विश्व राजनीति मे वह 'आश्चर्य' खड़े कर सकता है। चीन की विदेश नीति के निर्धारण मे यह अनुभूति प्रबल है कि एक पूर्ण आणविक युद्ध भी उसकी सम्पूर्ण जनसख्या का विनाश नही कर सकेगा और इतनी जनसख्या बच ही जाएगी जो अपने प्रभुत्व क्षेत्र का विनष्ट महाशक्तियों की छाती पर तेजी से विस्तार कर सके। कोरिया मे चीन की विपुल सख्या-बल ने ही अमेरिका के मनसूबों पर पानी फेर दिया था। यदि उपयुक्त सख्या बल के साथ गुणात्मक स्तर पर भी समुन्नत हो तो उस देश की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर पूरी तरह छा सकती है।

कूटनीति · राष्ट्रीय उद्देश्य
(Diplomacy National Purposes)

विदेश नीति का दूसरा मानव-तत्त्व राष्ट्र की कूटनीति की कुशलता है। जहाँ एक ओर इसमें राष्ट्रीय उद्देश्यो अथवा हितो की धारणा निहित है वहाँ दूसरी ओर राजतन्त्र के हथियारो का निपुण उपयोग भी शामिल है। यदि भारत अपने राष्ट्रीय हितो की दृष्टि से कूटनीतिक क्षेत्र का निर्धारण नही करता तो उसकी विदेश नीति कभी प्रभावशाली नही बन सकती। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व मे भारतीय कूटनीति ने राष्ट्रीय हितो की जो सुरक्षा की है, उसने विदेश नीति की प्रभावशीलता को कितना बढाया है, कहने की आवश्यकता नही। 1962 और 1972 के भारत मे जो अन्तर है वह राष्ट्र की कूटनीति की निपुणता का प्रमाण है। यदि बगलादेश के सन्दर्भ मे, रूस जैसी महाशक्ति के साथ सम्बन्धो के निर्धारण के क्षेत्र मे, पाकिस्तान के प्रति यथार्थवादी नीति ग्रहण करने के क्षेत्र मे, विश्व के सम्मुख भारत के नैतिक और न्यायसगत दृष्टिकोण के प्रचार के क्षेत्र मे भारतीय नेतृत्व ने—श्रीमती गाँधी ने विशेष कूटनीतिक निपुणता का परिचय न दिया होता तो परिस्थितियाँ इतनी विषम और सकटपूर्ण थी कि भारत को सम्भवत. गहरी कूटनीतिक और सैनिक पराजय का सामना करना पडता। 1972 से विश्व राजनीति मे अमरीकी कूटनीतिक लक्ष्य चीन-रूस मतभेदो का भरपूर लाभ उठाकर अमेरिकी प्रभुत्व का विस्तार रहा है और इसी दिशा मे अमेरिकी विदेश नीति सचालित की जा रही है। पश्चिमी एशिया मे रूसी कूटनीति को जो धक्का पहुँचा है उससे कोई आश्चर्य नही कि रूस पश्चिमी एशिया अथवा अरब जगत् के प्रति अपनी विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन करे। भारत का पाकिस्तान के साथ शिमला समझौता भी 'शक्ति से उत्पन्न उदारता का कूटनीतिक प्रयोग' रहा है जिसकी सफलता भारतीय उप-महाद्वीप में शान्ति और सहअस्तित्व के साथ एक नए युग का सूत्रपात कर सकती है. पाकिस्तान मे लोकतान्त्रिक शक्तियों को सम्बल दे सकती है, विदेशी शक्तियों को यह अनुभव करा सकती है कि वे भारत और पाकिस्तान के मामलो मे

हस्तक्षेप की अपनी परम्परागत नीति का परित्याग कर दें। परन्तु जो घटनाक्रम चला है, पाकिस्तान का जो शत्रुतापूर्ण रवैया है और अमेरिका उसे जिस प्रकार इस उपमहाद्वीप में सामरिक नीति का केन्द्र बना रहा है, वह सब 'उदारता के कूटनीतिक प्रयोग' की असफलता ही उजागर करता है। पाकिस्तान का अनुसूचित पक्षपोषण और भारत को निर्बल बनाने की असफल अमेरिकी कूटनीति ने ही इस उप-महाद्वीप में अमेरिकन विदेश नीति को बे-नकाब कर दिखाया है।

कूटनीति और प्रजातन्त्र
(Diplomacy and Democracy)

कूटनीति में तरीको और तकनीक का चुनाव भी उद्देश्य की स्पष्टता की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि तरीके और तकनीक अधिनायकवादी हुए तो एक लोकतान्त्रिक राष्ट्र की विदेश नीति की तानाशाही प्रवृत्ति को ही प्रदर्शित करेगी। कूटनीतिक लक्ष्य प्रादेशिक विस्तारवाद अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद के हो सकते हैं और ये दोनों ही बातें लोकतन्त्र के विरुद्ध हैं। आरम्भ से ही अमेरिकी कूटनीति का लक्ष्य अपने आर्थिक साम्राज्यवाद के प्रसार का रहा है और यही कारण है कि अमेरिकी विदेश नीति में 'वैदेशिक सहायता' के तत्त्व के पीछे छिपे वास्तविक इरादे अब एशिया और अफ्रीका के देशों को धोखा नहीं दे सकते। चीन की कूटनीति प्रादेशिक विस्तारवाद की रही है जिसका प्रमाण 1962 का भारत पर आक्रमण है। इस चीनी कूटनीति ने चीनी विदेश नीति में 'पंचशील' के आलाप का खोखलापन सामने ला दिया है और एशिया तथा अफ्रीका के छोटे-बड़े राष्ट्र चीनी गणतन्त्र में अन्तर्निहित अधिनायकतन्त्र से आशंकित हैं। लेकिन अमेरिका के प्रति 'प्रगति के लिए मैत्री' की जो कूटनीति स्वर्गीय राष्ट्रपति कैनेडी ने आरम्भ की थी वह एक महान् लोकतान्त्रिक देश के अनुरूप थी, लेकिन जॉनसन और निक्सन युग में लेटिन अमेरिका के प्रति अमेरिकी विदेश नीति उदार नहीं कही जा सकती और रीगनकाल में तो वह अनुदारता की सीमा छूने लगी है। बंगलादेश के लोकतान्त्रिक जन-आन्दोलन को कुचलने में पाकिस्तान के बर्बर नर-संहार को समर्थन देने की अमेरिकी कूटनीति कितनी अलोकतान्त्रिक थी, उसे इतिहास भुला नहीं सकता। लोकतान्त्रिक कूटनीति कुछ गम्भीर सिद्धान्तों पर आधारित होती है और वे सिद्धान्त लोकतान्त्रिक देश की विदेश नीति पर अपना प्रभाव रखते हैं। लोकतन्त्रात्मक कूटनीति अथवा राजनय में नीति निर्माताओं को जनता की रुचि और जनहित का ध्यान रखना होता है तथा अधिनायकवादी राजनयिक प्रवृत्तियों को ठुकराया जाता है। इसमें गुप्त सन्धियों का विरोध और खुली सन्धियों का समर्थन किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देने की नीति अंगीकार की जाती है। आज की महाशक्तियाँ इन बहुचर्चित 'लोकतान्त्रिक आदर्शों' पर कहाँ तक चल रही हैं, यह उनकी विदेश नीति के बहु-रूपी चेहरों से स्पष्ट है।

विदेश नीति के उपकरण[1]
(Instruments of Foreign Policy)

लक्ष्य-निर्धारण के साथ ही उनकी प्राप्ति के हेतु कौन-से उपकरणों का उपयोग किया जाएगा इसकी तलाश तथा निर्णय की बात आती है। कुशल नीति-निर्धारक लक्ष्य, निश्चित करते समय उपलब्ध उपकरणों का ध्यान निश्चय ही रखते हैं। ऐसा न होने पर (और इसके उदाहरणों की कमी दुनिया के इतिहास में नहीं) लक्ष्य की सिद्धि तो नहीं ही होती है, अक्सर बड़े ही अवांछनीय परिणामों का सामना करना पड़ता है।

प्राचीन युग से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मुख्य उपकरण सन्धि वार्ताएँ, सुरक्षा-समझौता, संश्रय, सम्पर्क स्थापना आदि रहे हैं। प्रथम विश्वयुद्ध तक गुप्त सन्धियों की व्यवस्था सर्वाधिक प्रचलित थी। अनेक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा आचार व्यवहार इसके द्वारा नियमित एवं प्रभावित होते थे। उन्नसवीं सदी के अन्तिम तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में एवं विश्वयुद्ध के दरम्यान भी गुप्त संश्रय तथा सन्धियाँ निष्पन्न कराना परराष्ट्र-नीति का प्रमुखतम प्रचलित उपकरण रहा है।

1917 के अन्त में नवोदित सोवियत राष्ट्र ने तथा कुछ ही दिन बाद अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ने गुप्त सन्धियों की व्यवस्था—गुप्त कूटनय—को राष्ट्रों को सर्वनाशी उलझनों में फँसा देने वाला कहकर भर्त्सना की एवं इनका प्रचलन हमेशा के लिए समाप्त करने का आह्वान किया। फलतः राष्ट्रसंघ प्रसंविदा में गुप्त संश्रय व सन्धियों की परम्परा को खतम कर देने की व्यवस्था की गई थी। बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में भी इसे दोहराया गया।

दोनों विश्वयुद्धों के मध्य तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के दरम्यान धुरी राष्ट्रों एवं सोवियत संघ तथा बाद में सोवियत संघ, संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन के नेताओं ने कई गुप्त निर्णय लिए अथवा कई समझौतों में कुछ धाराएँ गुप्त रखीं। सदी के उत्तरार्द्ध में गुप्त सन्धियों, समझौतों व संश्रयों का प्रचलन नहीं देखा जाता, किन्तु द्विपक्षीय शीर्ष सम्मेलनों तथा वार्ताओं में अक्सर कुछ गुप्त निर्णय लिए जाने अथवा समझौता करने की आशंका विभिन्न पक्षों की ओर से व्यक्त की जाती है, यद्यपि प्रत्येक ऐसे अवसर पर वार्ताकारी देशों की ओर से इस शंका के उतने ही जोरदार खण्डन भी किए जाते हैं।

प्रकाश्य सन्धियाँ, समझौते तथा संश्रय परराष्ट्र-नीति के मुख्य उपकरण हैं। सोवियत-चीनी पारस्परिक सुरक्षा सन्धि, (1949 से लेकर 1971 की) भारत-सोवियत मित्रता एवं सहयोग सन्धि तक दर्जनों द्विपक्षीय या बहुपक्षीय सन्धियाँ, समझौते व संश्रय निष्पन्न हुए हैं। इनके मूल में सम्बद्ध राष्ट्रों के राष्ट्रीय लक्ष्य, सुरक्षा-व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण अथवा अन्य हित-सम्वर्द्धन की भावना सक्रिय रही है।

1 डॉ० अरविन्द नारायण सिन्हा वही, पृ 16-21.

तात्कालिक दृष्टि से इन्हें नीति-निर्धारकों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना गया है। उनसे उनके राष्ट्रीय लक्ष्यो की प्राप्ति मे सहायता तो मिलती ही है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद के कुछ वर्षो मे क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धि संगठनो की स्थापना संयुक्त राज्य तथा सोवियत सघ की परराष्ट्र-नीति का सर्वाधिक प्रचलित महत्त्वपूर्ण उपकरण रही है। युद्ध समाप्ति के एक दशक के भीतर ही उत्तर अतलांतिक सन्धि सगठन, ब्रिटेन के नेतृत्व मे बगदाद समझौता (बाद मे सयुक्त राज्य के नेतृत्व मे यह केन्द्रीय सन्धि संगठन बन गया), दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि सगठन; सोवियत सघ तथा उसके अनुवर्ती यूरोपीय राज्यो की वारसा सन्धि सुरक्षा व्यवस्था प्रभृति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सर्वाधिक प्रमुख उपकरण हो गए।

आर्थिक हितो के सम्वर्द्धन के हेतु यूरोपीय साझा मण्डी, यूरोपीय आर्थिक समुदाय प्रभृत्ति कुछ नए प्रयोग किए गए हैं। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विश्वस्त यूरोपीय देशो की अर्थव्यवस्था को पुन. अपने पाँव पर खड़े होने तथा गुरुतर बनने मे इनसे अप्रत्याशित सफलता मिली है। भूतपूर्व चांसलर आडेनावर तथा कुछ अन्य व्यक्ति इनमे अटूट आशा एवं आस्था रखते थे तथा निकट या सुदूर भविष्य मे किसी यूरोपीय (गैर-साम्यवादी) महासघ व सघ के उदय का सपना देखते थे। कम-से-कम दो दशकों तक इनके अन्तर्राज्य सम्बन्धो का तात्कालिक लक्ष्य एवं उपकरण दोनो ही, ये बने रहे। पर द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका एक दु:स्वप्न की तरह ज्यो-ज्यों अतीत के मलवे मे धुँधली पड़ती जाएगी, तथा अन्यत्र की तरह पश्चिमी यूरोपीय देशो मे भी राष्ट्र चेतना अधिकाधिक तीक्ष्ण होगी तब अन्तर्राष्ट्रीयतावाद अथवा अतिरिक्त राष्ट्रीयतावाद के ये प्रयोग नई पीढियो को कहाँ तक ग्राह्य व आकर्षक जान पड़ेंगे, यह कहना कठिन है। फ्रांसीसी राष्ट्रपति डि गॉल इन प्रयोगों की सीमित सार्थकता मे ही विश्वास करता था, फिर भी साझा मण्डी अथवा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य देशो की परराष्ट्र-नीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे इन अभिनव प्रयोगो से अनुरंजित, अनुप्रेरित तथा प्रभावित तो होती ही है।

यद्यपि गुप्त राजनय का युग अब नही रहा, ऐसा कहना फैशन-सा हो गया है, पर सदी के छठे दशक से शीर्ष सम्मेलनो के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का द्विपक्षीय (कभी-कभी त्रिपक्षीय) वार्ताओं द्वारा नियमन किए जाने का प्रचलन बढ़ा है। वैसे यह परम्परा द्वितीय विश्वयुद्ध के दरम्यान तीन महाशक्तियों के राजनयिकों के कतिपय सम्मेलनो से शुरू हुई थी। शीर्षस्थ राजनयिकों—प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि की प्रत्यक्ष भेंट एव वार्ता से अनेक पारस्परिक हित के मामले सुलझाए जाते हैं, अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय किए जाते है तथा अनेक प्रकार के एक-दूसरे के प्रति शका-सन्देह दूर किए जाते हैं। इसे भी परराष्ट्र-नीति का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण कह सकते हैं।

राष्ट्रीय नीति के उपकरण के रूप मे युद्ध की चर्चा पहले की जा चुकी है। आणविक युग मे महाशक्तियो का प्रत्यक्ष सघर्ष तो आत्मघाती होने के कारण जल्दी सम्भव नहीं दीखता, किन्तु सदी के तृतीय चतुर्थक में छोटे-मोटे स्थानीय युद्ध चलते ही रहे हैं, उनकी सख्या बीसियों होगी, केवल भारत पर इस अवधि मे पाँच बार

(पाकिस्तान की ओर से चार तथा चीन की ओर एक बार) युद्ध लादे गए हैं। इनके कारण भारतीय परराष्ट्र-नीति के निर्धारकों को अपनी नीतियों में आमूल परिवर्तन करने को बाध्य होना पड़ा है। पाकिस्तान, इजरायल जैसे कुछ राष्ट्रों ने, ऐसा जान पड़ता है कि, अपनी परराष्ट्र-नीति का एक प्रमुख उपकरण युद्ध ही बना रखा है। पाकिस्तान की सम्पूर्ण परराष्ट्र-नीति (और अधिकांश गृह-नीति भी) भारत के साथ युद्ध शुरू करने की भूमिका बनी रही है। पाकिस्तानी परराष्ट्र-नीति के इस एक लक्ष्य ने उससे अजीबोगरीब कालाबाजियाँ कराई हैं। भारत के साथ युद्ध उसकी नीतियों का सर्वोपरि उपकरण रहा है।

परराष्ट्र-नीति के अन्य उपकरण है—दौत्य सम्बन्धों की स्थापना, नई सरकारों तथा नवोदित देशों को मान्यता प्रदान करना, राजनयिक सम्बन्ध भग करना, विरोध-पत्र तथा चेतावनी देना, अन्तर्राज्य विवादों को पच-फैसला सुपुर्द करना, प्रभृति। किसी नवोदित देश को मान्यता प्रदान करना परराष्ट्र-नीति का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण रहा है। सयुक्त राज्य ने सदी के दूसरे-तीसरे दशकों मे सोवियत संघ को तथा पाँचवें से सातवें दशक तक जनवादी चीनी सरकार को मान्यता न देना अपनी परराष्ट्र-नीति का एक मुख्य मुद्दा बनाए रखा। आठवें दशक मे बंगलादेश को मान्यता देने का प्रश्न, पाकिस्तानी एव भारतीय परराष्ट्र-नीति का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण-सा ही बन गया है जिसके द्वारा महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयत्न किए गए। जनवादी चीन की सरकार ने इस प्रश्न पर कठोर रवैया अपनाना, पाकिस्तान के प्रति अपना सद्भाव एव सुदृढता प्रदर्शित करने का एक साधन बना लिया है। सदी के उत्तरार्द्ध मे उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम, पूर्वी जर्मनी गणराज्य की सरकारों को मान्यता प्रदान करना, विभिन्न देशों की परराष्ट्र-नीति का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण बना रहा, जिसका उपयोग सयुक्त राज्य तथा सोवियत सघ के साथ अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ मे किया जाता है। राजनयिक सम्बन्ध भग करना भी परराष्ट्र-नीति का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण रहा है जिसका प्रयोग राष्ट्रीय हितों के सम्वर्द्धन अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु किया जाता है, 'ऐसे लक्ष्य भी जिनका वस्तुत उस देश से कोई सम्बन्ध नहीं रहता जिसके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न किया गया हो। सोवियत सघ का इजरायल के साथ राजनयिक सम्बन्ध विच्छिन्न करना, वस्तुतः मिस्र, सीरिया आदि अरब राज्यों के साथ अपने सम्बन्ध घनिष्ठ करने की लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप मे ही था।

किसी देश में पूँजी न्यस्त करना, उसके बोण्ड खरीदना, प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान करना, औद्योगीकरण एव पुनर्निर्माण मे प्रभाव सहयोग प्रदान करना सदी के प्रारम्भ से ही परराष्ट्र-नीति के महत्त्वपूर्ण उपकरण रहे हैं। इसका सर्वाधिक प्रयोग फ्रांस तथा जर्मनी उस काल मे कर रहे थे। फ्रांसीसी सरकार की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अनुप्रेरणा से रूसी बोण्ड जब बडी मात्रा मे पेरिस के बाजारों मे बिकने लगे, तो फ्रांस-रूस सम्बन्धों मे एक नए अध्याय का वह प्रारम्भ था। तदुपरान्त रूस मे रेल लाइनें बिछाने, उद्योग-धन्धों की स्थापना करने आदि मे अधिकाधिक फ्रांसीसी पूँजी न्यस्त होती गई। इसी तरह पूँजी न्यस्त करने की नीति सर्बिया, यूनान तथा

रूमानिया आदि मे भी फ्रांसीसी सरकार के संकेत पर चलाई जा रही थी। इन सबके उद्देश्य स्पष्टतः राजनीतिक थे। दूसरी ओर जर्मनी की बगदाद रेलवे योजना उसकी परराष्ट्र-नीति का एक मुख्य उपकरण था। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर वर्षों मे सयुक्त राज्य की मार्शल योजना युद्धध्वस्त यूरोपीय देशो के लिए केवल सहानुभूति व मानवीय उद्देश्यों से अनुप्रेरित नहीं थी, 1972 मे बगलादेश मे राहत पहुँचाने एव उसके पुनर्निर्माण के हेतु सोवियत सघ तथा भारत सहित कई देशों ने जो तुरन्त प्रभावी कदम उठाए—इन सबके राजनीतिक उद्देश्य थे। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे बहुत कम ही ऐसे कार्य होते है जिनका देशो की परराष्ट्र-नीतियो मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो।

अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, खेलकूद सम्बन्धी प्रतिनिधि-मण्डलो के आदान-प्रदान, पर्यटकों को आने-जाने की सुविधा आदि का उपयोग परराष्ट्र-नीति के उपकरण के रूप मे किया जाता है। चीनी पिंगपांग खेल प्रतियोगिता मे भाग लेने को अमेरिकी खिलाड़ियो को आमन्त्रित करना, दोनो देशों के कटु सम्बन्धो के युग को समाप्त करने की दिशा मे पहला कदम था। सोवियत-अमेरिकी सम्बन्धो मे सुधार का आरम्भ भी पर्यटको, पत्रकारो, सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डलो के आदान-प्रदान के साथ हुआ था।

सदी के उत्तरार्द्ध मे सयुक्त राष्ट्रसघ के मचो का उपयोग भी परराष्ट्र-नीति के उपकरण के रूप मे किया जाता है। आदर्श स्थिति मे सभी अन्तरराज्य विवाद सयुक्त राष्ट्र के द्वारा ही सुलझाए जाते है। वैसी स्थिति मे नीति-निर्धारको की निष्ठा सर्वाधिक उसके प्रति रहती तथा अन्तरराज्य विवादो, समस्याओं व उलझनो के सन्दर्भ मे सयुक्तराष्ट्र मे मामला ले जाने के अतिरिक्त नीति-निर्धारको को अन्य कोई काम ही नही रहता। भारत के आदर्शवादी नीति-निर्धारको ने सम्भवत इसी आस्था (या आशा) के साथ 1949 के आरम्भ मे कश्मीर मे बर्बर पाकिस्तानी सैनिक कार्यवाई की शिकायत सयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् मे की होगी, पर विश्व मे अन्तरराज्य विवादो को सुलझाना तो दूर, न्याय तथा निष्पक्षता के साथ किसी विवाद पर विचार-विमर्श करने मे भी अक्षम रहने के कारण यह आशा फलवती नही हुई है। फिर भी सयुक्तराष्ट्र की सदस्य बनाया जाना स्वय ही विश्व समुदाय का सदस्य बनने का प्रमाण माना जाता है। विश्व लोकमत उसके मचो पर व्यक्त होता है। प्रचार की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्व माना जाता है। इन सबके फलस्वरूप आज शायद ही किसी देश की नीति-निर्धारक विश्व-सस्था की उपेक्षा करने को उद्यत हो। भारत के परराष्ट्र मन्त्रालय मे एक सुसगठित तथा समर्थ विभाग सयुक्त राष्ट्र-सघ से सम्बन्धित मामलो की देखरेख करता है तथा उसके सन्दर्भ मे नीतियाँ निर्धारित करने हेतु सामग्रियाँ प्रस्तुत करने का काम करता है।

राजनयिक प्रतिनिधियो पर नीति-निर्धारको के निर्णयों का कार्यान्वयन का भार रहता है। नीति-निर्धारक भी इस भार से मुक्त नही होता। उसकी एक उक्ति,

एक सकेत, एक गलत शब्द देश के परराष्ट्र सम्बन्धो को सांघातिक हानि पहुँचा सकता है। नीति-निर्धारण प्रक्रिया हेतु उपयुक्त तथा पर्याप्त रूप से सूचित रखना भी उनका महत्वपूर्ण कर्त्तव्य होता है। उनकी गलत या पर्याप्त सूचना नीति-निर्धारकों द्वारा गलत निर्णय लिए जाने के कारण हो सकती है।

गुप्तचर विभाग—गुप्तचर विभाग को नीति-निर्धारको का आंख-कान कहा गया है। कई देशो मे इस विभाग के संचालक स्वय भी महत्वपूर्ण कार्यवाहियाँ निष्पन्न करते हैं। इस विभाग को बडे देशो के नीति-निर्धारक कितना अधिक महत्त्व देते हैं, इसका एक आभास राष्ट्रपति आइजनहावर की उस स्वीकृति से मिलेगा जिसमें कहा गया था कि अमेरिकी गुप्तचर विभाग सी आई ए केवल भारतवर्ष मे प्रतिवर्ष, 58,00,000 डॉलर की रकम खर्च कर रहा था।[1] विभिन्न देशो में अपनी नीतियो के पक्ष मे लोकमत अनुकूल करना इस विभाग को सौपे गए अनेक तरह के दायित्वो मे से एक है।

विदेश-नीति और विचारधारा
(Foreign Policy and Ideology)

विदेश नीति मे विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका है। विचारधारा एक बडी सीमा तक विदेश नीति का निर्धारण करती है। इतिहास साक्षी है कि विचारधारा दो या अधिक राष्ट्रो के मध्य सहयोग अथवा विवाद का मूल आधार बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे, विशेषकर विदेश नीति में, विचारधारा को वास्तविक तत्त्व तब माना जाता है जब उसे राष्ट्रीय शक्ति के साथ जोड़ दिया जाता है। जब शक्ति विचारधारा के आधार पर राष्ट्रीय आकांक्षा का साधन बन जाती है तब विचारधारा प्रबल हो उठती है। शक्ति के अभाव में विचारधारा निष्क्रिय है, महत्त्वहीन है और उसे हम केवल मिले-जुले खोखले विचारों की धारा मात्र कह सकते हैं। विश्व में साम्यवादी विचारधारा का भय मार्क्स या लेनिन के विचारो से पैदा नही हुआ बल्कि रूस और चीन की शक्तियो ने, जो साम्यवाद के रक्षण, प्रसार और प्रभुत्व के लिए कृतसंकल्प हैं, इसे एक प्रमुख विचारधारा बना दिया।

विचारधारा का अभिप्राय

पामर एवं पर्किंस का यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है कि यद्यपि विचारधारा सम्बन्धी तत्व शताब्दियो तक सामाजिक और राजनीतिक जीवन के निरन्तर तत्व रहे हैं, लेकिन बीसवीं शताब्दी से पूर्व उनका कदाचित् ही निर्णायक महत्त्व था। आधुनिक युग तो विचारधाराओं का ही युग है। विभिन्न विचारधाराएँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा विश्व-राजनीति में नई जान फूँकने का काम कर रही हैं।

1 17 नवम्बर, 1972 को भारतीय संसद् में एक सदस्य के वक्तव्य से—आकाशवाणी दिल्ली का प्रसारण।

विचारधारा द्वारा एक देश की जनता अपने मूल्यों और दृष्टिकोणों को अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त करती है। पैंडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार, विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना तैयार करती है। स्नाइडर एवं विल्सन ने लिखा है कि "एक विचारधारा जीवन, समाज और सरकार से सम्बन्धित विचारों का वह समूह है जो प्राय. सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक नारों या युद्ध के नारों से उत्पन्न होती है और जिसका लगातार प्रयोग उसे एक विशेष समुदाय, दल या राष्ट्रीयता का प्रमुख विश्वास या सिद्धान्त बना देता है।"[1] श्लीचर के मतानुसार विचारधारा व्यक्ति के अमूर्त विचारों की व्यवस्था है। ये विचार वास्तविकता को स्पष्ट करते है, मूल्यात्मक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते है तथा उस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने और बनाए रखने का प्रयास करते है जिसमें उनके विश्वास के अनुरूप लक्ष्यों को सर्वश्रेष्ठ रूप में साकार किया जा सकता है।[2] इस प्रकार सरकार, अर्थव्यवस्था, समाज या जीवन सम्बन्धी अन्य बातों के निश्चित विचार-समूह को हम विचारधारा कह सकते है। व्यापक अर्थ में विचारधारा के अन्तर्गत वे सभी वाद आ जाते है जिन्हे हम सर्वाधिकारवाद, फासीवाद, नाजीवाद, प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, समष्टिवाद, गाँधीवाद, माओवाद या उदारवाद आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। दुनिया के प्रमुख धर्मों—हिन्दू, इस्लाम, ईसाई—को भी हम विचारधारा मान सकते हैं। स्प्राउट ने विचारधाराओं को दो वर्गों में विभाजित किया है—राजनीतिक विचारधाराएँ और गैर-राजनीतिक विचारधाराएँ। स्प्राउट का मत है कि सांविधानिक जनतन्त्र, साम्यवाद, राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद प्रमुख विचारधाराएँ है। हस जे मार्गेन्थो ने अपने ग्रन्थ 'पालिटिक्स अमंग नेशन्स' मे विचारधाराओ को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँटा है—

1. यथास्थिति (Status-quo) बनाए रखने वाली विचारधाराएँ, जैसे शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून।
2. विस्तारवादी अथवा साम्राज्यवादी विचारधाराएँ जैसे फासीवाद, नाजीवाद, माओवाद आदि।
3. अस्पष्ट तथा अनेकार्थी विचारधाराएँ जैसे आत्मनिर्णय का सिद्धान्त।

अनेक विद्वानो ने विचारधारा का बहुत व्यापक अर्थ लगाया है और एक विचारधारा मे अनेक विचारधाराओ को सम्मिलित किया है। उदाहरण के लिए उदारवाद के अन्तर्गत जनतन्त्र के विभिन्न रूपो और व्यक्तिवादी विचारधाराओ को सम्मिलित किया जाता है तो सर्वाधिकारवाद के अन्तर्गत नाजीवाद, फासीवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओ की गणना की जाती है। विचारधाराओं का वर्गीकरण विवादास्पद है, लेकिन इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता है कि

1 *Snyder and Wilson* : Roots of Political Behaviour, p 511.
2 *Schleicher* : op cit., p 74.

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति दोप्रमुख विचारधाराओं की रंगस्थली है—जनतन्त्र और साम्यवाद। कुछ राष्ट्रों ने दोनों की मध्यवर्ती विचारधारा को 'जनतान्त्रिक समाजवाद' का नाम दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधाराओं के संघर्ष की बात आम हो गई है। राष्ट्रों के मध्य मतभेदों और संघर्षों का एक प्रमुख कारण उनकी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ ही है।

विदेशनीति और विचारधारायें

किसी भी देश की विदेश नीति उसकी राष्ट्रीय शक्ति को सम्बल प्रदान करती है अथवा अप्रतिष्ठित करती है। शक्तिशाली विदेश नीति राष्ट्रीय शक्ति के उत्थान और कमजोर विदेश राष्ट्रीय शक्ति के पतन का प्रतीक मानी जाती है। विचारधारा में वह शक्ति है जो विदेश नीति को मुखर बनाती है, उसकी प्रभावशीलता को बढाती है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को आरोपित करती है। विचारधारा में वह शक्ति है जो एक उत्तेजित और असंगठित गतिविधि को एक सशस्त्र और सगठित राजनीतिक आन्दोलन में बदल देती है। विचारधारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का एक निकाय होती है जो समाज या राष्ट्र के लक्ष्यों को स्पष्ट करती है जिससे जनता का मनोबल ऊँचा उठता है, जनता में लक्ष्य प्राप्ति की प्रबल प्रेरणा जाग्रत होती है और जनता अनुशासन एवं आज्ञापालन की अभ्यस्त हो जाती है। इतिहास बताता है कि जब कभी किसी विचारधारा को जनता ने दृढता से अपना लिया तभी उस विचारधारा ने जनता के व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों को भारी शक्ति प्रदान की, देश में वह फिजा पैदा कर दी जिसने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए, अपने गौरव की रक्षा के लिए अपने राजनीतिक प्रभुत्व की भूख को मिटाने के लिए, राष्ट्रीय शक्ति के प्रसार के लिए अपना सब-कुछ न्योछावर कर दिया।

जिस राष्ट्र की कोई निश्चित विचारधारा नहीं होती अथवा जो राष्ट्र अनेक विचारधाराओं का शिकार होता है, वह सरलता से विदेशी प्रचार-प्रभाव में आ जाता है। ऐसा राष्ट्र अपनी शक्ति का समुचित विकास नहीं कर पाता। जिस विचारधारा को एक देश मानता है उसी विचारधारा को मानने वाले दूसरे देशों की सद्भावना और मैत्री उसके प्रति रहना स्वाभाविक है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में दो अथवा अधिक राष्ट्रों की मैत्री का मार्ग तब अधिक प्रशस्त हो जाता है जब उनके राजनीतिक सिद्धान्त, उनकी विदेश नीतियाँ मिलती-जुलती हों या कम से कम एक-दूसरे की विरोधी न हों। अमेरिका और पश्चिमी जगत् के बहुत से यूरोपीय राष्ट्र लोकतन्त्र के समान आदर्शों से प्रेरित और प्रभावित होकर ही साम्यवादी शक्तियों के विरुद्ध मोर्चा सम्भाले हुए हैं। 'स्वतन्त्र विश्व' और 'साम्यवादी विश्व' के बीच विरोध अथवा संघर्ष की स्थिति इसलिए है कि दोनों पक्षों के राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक आदर्श भिन्न-भिन्न हैं और एक के अहित में दूसरा अपना हित समझता है। विचारधारा का प्रयोग सभी राष्ट्र अपने हितों के संरक्षण-संवर्द्धन में किया करते हैं और विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य भी यही होता है।

विचारधारा और विदेश नीति के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर का एक अच्छा स्पष्टीकरण डॉ गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे ने एक लेख मे किया है। उन्ही के शब्दो में—

"हम विदेश नीति और विचारधारा के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करेंगे। यह कुछ कठिन विषय इसलिए है कि प्रत्येक आदमी, जो एक क्षण विदेश नीति और विचार को परस्परावलम्बित मानता है, तो दूसरे ही क्षण अपने कथन से मुकर जाता है, इससे इन्कार कर देता है। यह अग्रलिखित दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाएगा। विदेश नीति मुख्यतया राष्ट्रीय हित से सम्बद्ध होती है। ऐसा मानने वाले किसी समीक्षक को लीजिए। उसका यह प्रिय आग्रह ठीक है किन्तु वह विदेश नीति की विचारधारा के सन्दर्भ मे टीका करने से कतराता नही। 1971 मे श्रीलंका मे जनता विमुक्ति पेरूमना नामक सगठन जब आन्दोलन के रास्ते पर था तब भारतीय सरकार ने श्रीमती भण्डारनायके की सरकार के प्रति सहानुभूति दिखाई थी। मेरे एक मित्र को जो विदेश नीति और राष्ट्र-हित के परस्पर सम्बन्धो को स्वीकार करते हैं, भारत सरकार की यह भूमिका पसन्द नही आई। मैंने उनसे कहा कि हमारी सरकार को महसूस हुआ कि जनता विमुक्ति मोर्चे की शक्ति बढाने से भण्डारनायके सरकार खतरे मे पड़ जाएगी जो भारत के राष्ट्र-हितो के प्रतिकूल होगा। तब वे इसे गलत क्यो मानते हैं?

वे मेरे प्रश्न का उत्तर देने मे (प्रश्न ज्यादा कठिन नही था) जरा गड़बड़ाए और मुझसे ही पूछने लगे कि भण्डारनायके सरकार के पतन से क्या बिगड़ने वाला है? इसी बात को इतने विस्तार से लिखने का कारण यह है कि हर आदमी राष्ट्रीय हितो की व्याख्या अपनी विचारधारा के अनुरूप करने लगता है। समाजवादियो, इन्दिरा गांधी पन्थियो, जन-संघियो और साम्यवादियो के राष्ट्रीय हित के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण हैं। सक्षेप मे यह है कि विचारधारा से परे कोई देखना नही चाहता था।

लोगो का मत है कि विदेश नीति के सम्बन्ध मे विचारधारा का प्रश्न प्रमुखतः साम्यवादी राष्ट्रो मे उपस्थित होता है। साम्यवादी नेता उठते-बैठते अन्तर्राष्ट्रीयवाद का उद्घोष करते हैं इसलिए यह धारणा बनने लगती है। इसलिए उनके सन्दर्भ मे यह प्रश्न निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है परन्तु श्रीलका-भारत के उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया है कि यह प्रश्न उन तक ही मर्यादित नही है, इसलिए विचार और विदेश नीति के परस्पर सम्बन्ध को समझना महत्त्वपूर्ण है।

विदेश नीति पर जरा बारीकी से विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसमे विचारधारा का प्रश्न कैसे घुस जाता है। विदेश नीति के अन्य कोई भी हेतु हों, उनका एक हेतु विचारधारा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। कोई भी सरकार आर्थिक और सामाजिक तन्त्र की सुरक्षा को विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य मानती है। साधारणतया सरकार उस तन्त्र को खतरे मे नहीं डालेगी। उस तन्त्र की सुरक्षा को मद्देनजर रखकर ही सरकार समस्याओ से निपटती है।

विकसित राष्ट्रो मे विभिन्न राजनीतिक दलो के बीच स्थूल रूप से विदेश नीति सम्बन्ध मतैक्य होते है। अमेरिका के डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दलो मे नीति-विषयक कोई सुनिश्चित और परस्पर भिन्न मत होने की सम्भावना नही होती किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वहाँ विदेश नीति सम्बन्धी कोई मतभेद नही होते परन्तु सामान्यत ये मतभेद विवरण विषयो और नीतियो के क्रियान्वयन सम्बन्धी होते हैं। वियतनाम जैसे मसले पर जो तीव्र मतभेद थे वे किसी विशिष्ट राजनीतिक तत्त्वज्ञान की उपज नही थे। अनेक बार तो इन मतभेदो का राजनीतिक दलो से कोई सम्बन्ध भी नही होता।

इससे भिन्न दशा भारतीय उपमहाद्वीप के विकासशील देशो की है। इस फर्क के क्या कारण है। इसका स्पष्ट उत्तर है विचारधारा। अमेरिका जैसे देश मे प्रचलित आर्थिक और सामाजिक तन्त्र मे दोनो पक्षो के स्वार्थ परस्पर गुँथे हुए हैं। उस तन्त्र में किसी भी प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का वायदा कोई दल नहीं करता। इसके विपरीत दशा हमारे देश की है इसलिए हमारे यहाँ विदेश नीति विषयक इतने तीव्र मतभेद है। इन मतभेदो की जड से हमारे आर्थिक और सामाजिक तन्त्र का निर्माण और विकास होता है।

विचारधारा और विदेश नीति के बाबत दूसरा प्रश्न साम्यवादी राष्ट्रो की विदेश नीति के सम्बन्ध मे उत्पन्न होता है। ये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारावाद का ढोल चाहे जितनी जोर से पीट रहे हो उनकी विदेश नीति बहुत अधिक भिन्न नही होती। जब वियतनाम पर बमबारी हो रही थी तब ब्रेझनेव या माओ, निक्सन के साथ शैंपेन या माओताई (एक प्रख्यात चीनी मद्य) का रसास्वादन कर सकते हैं? तब 'अन्तर्राष्ट्रीयवाद' कहाँ झक मारता है?

फिर भी हमे एक अन्तर ध्यान मे रखना होगा। युद्ध-विराम से पूर्व वियतनाम को सोवियत सघ और चीन की ओर से अविरत सहायता मिलती रही, बल्कि युद्ध-विराम के छ महीने पहले तक परस्पर सन्देह से देखने वाले चीन और रूस जैसे राष्ट्रो ने सहायता कार्य मे परस्पर सहयोग का उपक्रम किया।

जिस प्रकार और जिस वेग से वियतनाम मे मदद पहुँची उस पर विचार करते ही यह सवाल उठ खडा होता है कि चीन और सोवियत सघ मे वास्तव मे कोई संघर्ष है या नही, यहाँ विचारधारा जो भूमिका अदा करती है उसका ख्याल आता है। सोवियत सघ के भय से अमेरिका से सम्बन्ध जोडने वाला चीन और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद आन्दोलन मे चीन ने जो सुप्रसिद्ध क्रान्ति की उसकी ओर शत्रुता से देखने वाला रूस—इन दोनो मे यह सहयोग कैसे सम्भव हुआ? राष्ट्रीय मुक्ति सग्राम के प्रति वैचारिक साम्य का ही परिणाम है, राष्ट्रीय मुक्ति सग्राम मे हमे कोई रुचि नही है। चीन कभी यह स्वीकार नही करेगा कि वह कही भी, किसी भी राष्ट्रीय मुक्ति सग्राम मे सहयोग न देगा इसका कारण भी वैचारिक है।"

सारांश यह है कि विदेश नीति मे सर्वत्र विचारधारा चाहे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो, पर वह एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य घटक है। इसे दृष्टि से ओझल कर देने पर विदेश नीति का विवेचन अपूर्ण और दिग्भ्रमित हो जाता है।

विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(Foreign Policy and International Politics)

विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषयक अनुसन्धान का सम्बन्ध विविध राष्ट्रो तथा उनके सम्बन्ध मे निर्णय लेने वालो के कार्यो से होता है। इसका सम्बन्ध नीति के निर्धारको तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालियो और विशेषत अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षो और उनके समाधान पर पडने वाले उनके प्रभावो से होता है। यद्यपि इस प्रकार के अनुसन्धानो को निश्चित रूप से सामाजिक-मनोवैज्ञानिक ही नही कहा जा सकता, तथापि सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सकल्पनाओ तथा विधियो से इन समस्याओ के समाधान मे विविध प्रकार से सहायता मिल सकती है।[1] विगत कुछ वर्षों मे इस श्रेणी के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के अनुसन्धान कार्य हुए है[2]–

जनमत

विदेश नीति के निर्धारण तथा उसे अमल मे लाने के सन्दर्भ मे सामान्य तथा विशेष, इन दोनो ही प्रकार के प्रश्नो पर जनमत का प्रभाव कहाँ और किस सीमा तक पडता है, इस सम्बन्ध मे, यदि समुचित ध्यान दिया जाए, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के अध्ययन मे, जनमत-अनुसन्धान बहुत कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उन प्रमुख मान्यताओ और उद्देश्यो का विश्लेषण किया जाए, जो विदेश नीति के सन्दर्भ मे उपयोगी सिद्ध होते हैं और जिनके अनुसार *जनमत विभिन्न विकल्पो की सम्भावनाओ को प्रभावित कर सकता है। नीति प्रक्रिया* के क्षेत्र मे जनता के विभिन्न वर्गों का किस प्रकार का क्या योगदान होता है—इसका भी विश्लेषण होना अपेक्षित है।

विदेश नीति के मामलो मे जनता को कितनी रुचि होती है, इस सम्बन्ध में अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योकि उससे यह पता चलेगा कि नीति-निर्धारक, इस सामान्य 'मनोदशा' से किस सीमा तक सहमत है और वे उसे कहाँ तक अपने काम मे लाते हैं। जनमत विषयक अध्ययन और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जैसा कि इस दिशा मे अब भी अधिकाधिक हो रहा है। यदि इस सम्बन्ध मे आंशिक या पूर्ण रूप से, विशिष्ट वर्गों पर ही ध्यान दिया जाए तो निश्चय ही परिणाम बहुत उपयोगी होगे। हाल मे हुए कुछ अध्ययनो मे यह छानबीन विस्तारपूर्वक की गई है कि विदेश नीति सम्बन्धी विशेष प्रश्नो पर, विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों की सम्मति के कौन-से स्रोत होते हैं तथा निर्णयन की प्रक्रिया मे, इस प्रकार की सम्मति का क्या स्थान होता है। मत-अध्ययन के अतिरिक्त, इस सम्बन्ध मे भी कुछ अनुसन्धान हुए हैं कि जनता के भिन्न-भिन्न वर्गो का विदेश नीति के मसलो के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होता है, उदाहरणार्थ विदेशी मामलो सम्बन्धी सूचनाओ, अभिरुचियो तथा कार्यों का आम जनता के बीच प्रसार, सतर्क जनता तथा मत-नियामक नेता कहे जाने वाले व्यक्तियो की विशेषताएँ तथा विदेश-

1-2 एल्जर, हर्ज एव नेन्मेन - अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ 63.

नीति सम्बन्धी प्रश्नो से सम्बन्ध रखने वाले मतो का प्रचार-प्रसार जनता के बीच (अपेक्षाकृत कुछ कम मात्रा मे) किस प्रकार होता है।

विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयो को जनमत कहाँ तक प्रभावित करता है ? इस सम्बन्ध मे और अधिक विस्तार के साथ अनुसन्धान किए जाने की आवश्यकता है। सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अध्ययनो से पता लग सकता है कि वे कौन-सी परिस्थितियाँ है, जो जनमत के बीच एक विशेष प्रकार की मनोदशा को जन्म देती हैं ? यही नही, इससे यह भी ज्ञात होगा कि जनता के विभिन्न वर्ग जिन विकल्पों की कल्पना करते हैं, उनका निर्धारण कौन-सी परिस्थितियाँ करती हैं तथा जन-साधारण के कुछ भागो को भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के लिए वे किस प्रकार प्रेरित कर सकती हैं ? इस प्रकार से अध्ययनो मे निर्णयकर्त्ताओ को केन्द्र बिन्दु बना कर यह मालूम किया जा सकता है कि नीति प्रक्रिया के सन्दर्भ में, जनता के बारे मे निर्णय-कर्त्ताओ की सामान्य धारणाएँ क्या होती है ? किस विशेष स्थिति मे, जनमत के स्वरूप के सम्बन्ध मे ये लोग किस प्रकार से अनुमान लगाते हैं तथा उनके निर्णय सम्बन्धी कार्यों पर इसका क्या प्रभाव पडता है ?

एकाकी मंच-नेता

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो को सकल्पनाओ का रूप देने तथा तत्सम्बन्धी अनुसन्धान किए जाने पर, जिस दिशा मे अनुगमन के लिए हाल मे ही जोर दिया जाने लगा है, वह है उन एकाकी मच-नेताओ के व्यवहार, जो विदेश नीति के निर्धारण और उसे कार्यान्वित करने मे योगदान करते हैं। ऐसे अनुसन्धानो मे परिस्थिति की परिभाषा, प्रक्रिया सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाने, नेतृत्व, कार्य, सचार और प्रभाव की गति जैसे उन बौद्धिक और सगठनात्मक प्रक्रियाओ पर विशेष जोर दिया जाता है, जो उन परिस्थितियो मे अपनी भूमिका अदा करती है, जिनमे जिम्मेदार निर्णयकर्त्ता यह निर्णय करते है कि राज्य किन-किन विकल्पों का आश्रय लेता है। इस प्रकार के अनुसधान का आधार प्राय यही धारणा होती है, फिर भी यह नितान्त आवश्यक नही क्योकि किसी स्थिति विशेष मे, निर्णयकर्त्ता राज्य ही होता है। राज्य के व्यवहार के अध्ययन की सबसे अधिक सरल विधा है, निर्णयन-प्रक्रिया का अध्ययन। इस प्रकार की धारणा, विशेषकर उन स्थितियो मे उचित होती है, जिनमे किसी विशेष प्रकार के बडे-बडे निर्णयो के मामलो पर अनुसन्धान किए जाने पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया जाता है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा कोरिया मे आक्रमण का विरोध करने के निर्णय का विस्तृत रूप मे किया गया अध्ययन।

एक अन्य वर्ग के अनुसन्धानकर्त्ताओं ने अनेक मनोवैज्ञानिक क्षेत्रो के रूप मे सार-विश्लेषण की एक अन्य विस्तृत विधि का विकास कर, अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय के अध्ययन के सम्बन्ध मे एक भिन्न मार्ग का ही अनुसरण किया है। उदाहरणार्थ, 1914 मे युद्धकारी घटनाओ के पुनर्निर्माण के लिए इस विधा का सहारा लिया गया था। इस प्रकार के सार-विश्लेषण मे इस बात पर जोर दिया जाता है कि

नीति सम्बन्धी परिणामो के प्रति, विभिन्न देशो के प्रमुख एकाकी मच-नेताओ के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाओ के बीच किस प्रकार का और कैसा सम्बन्ध होता है, जबकि इसके ठीक विपरीत स्नाइडर के नमूनो मे अन्तर्राष्ट्रीय तथा सस्थागत चरो पर जोर दिया गया है। ये दोनो ही विधाएँ विभिन्न परिस्थितियो मे निर्णयन की प्रक्रिया तथा उसके परिणाम सम्बन्धी प्राक्कल्पनाओ को जन्म देती हैं। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग विशेष निर्णयो के सन्दर्भ के बाहर भी किया गया है; उदाहरणार्थ, एकाकी निर्णय-कर्त्ताओ की उन धारणाओ का प्रत्यक्ष ज्ञान के अध्ययन के सिलसिले मे, जो उनके नीति-निर्धारण पर जोर देते है। यही नही, इसका प्रयोग उन लक्ष्यो और निर्णयो की प्रक्रियाओ के अध्ययन मे भी किया जाता है, जो संस्थागत इकाइयो को विदेश-नीति के दायित्व के साथ जोड़ती हैं।

विदेश नीति की प्रक्रिया मे, एकाकी मच-नेताओ के सम्बन्ध मे, अनुसन्धान की यह विधा राज्यो के व्यवहार की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व तो करती ही है, पर साथ ही साथ इसके जरिये यह भी मालूम करना सम्भव हो जाता है कि राज्यो के कतिपय कार्यो के क्या कारण होते है? कहने का अभिप्राय यह नही है कि जिन व्यक्तियो का अध्ययन किया जाता है, वे ही इस आशय के लिए राज्य का गठन करते है, बल्कि यह है कि वे राज्य के कार्यो मे प्रमुख हिस्सेदार तथा सहयोगी होते हैं। वस्तुत. यह आवश्यक नही कि इस प्रकार का अनुसन्धान प्रमुख निर्णय-कर्त्ताओ के कार्यों पर जोर दे, बल्कि उन राजनयिको तथा अन्य अधिकारियो के कार्यों का भी अध्ययन कर सकें, जो समस्त प्रक्रिया मे, विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश विभाग, राष्ट्रीय विदेश-नीति सगठनों तथा सयुक्त राष्ट्र सघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो की विदेश-नीति प्रक्रियाओ मे भाग लेने वाले व्यक्तियो के सम्बन्ध मे कुछ अनुसन्धान कार्य हुए हैं। इस प्रकार के अनुसन्धान के जो विषय रहे हैं, वे इस प्रकार हैं—सम्बद्ध व्यक्तियो की अपने कार्यो के प्रति कैसी धारणाएँ होती हैं? कार्यो की परिभाषा से उनका क्या आशय होता है? अपने कार्यों के सिलसिले मे उन्हें किन क्रियाओ और पारस्परिक क्रियाओ का आश्रय लेना होता है? किस प्रकार से कार्य, विदेश नीति प्रक्रिया का अग बनते है और किस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे वे विदेश नीति को प्रभावित करते है?

अन्योन्य क्रिया की प्रक्रियाएँ

पिछले कुछ वर्षों मे, जिस अनुसन्धान-क्षेत्र मे प्रगति हुई है, वह है व्यक्तियो या वर्गो की अन्यान्य क्रियाओ का प्रायोगिक अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के सघर्षों, सौदाकारी और प्रतियोगिता तथा सहयोग के बीच की प्रक्रियाओ को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है। इन प्रयोगो के सिलसिले मे प्रयोगशाला मे, ऐसी परिस्थितियो को लाने का यथासाध्य प्रयत्न किया जाता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के ही अनुरूप हो। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो की हू-ब-हू नकल करके यह नही किया जाता, बल्कि उनकी कुछ प्रमुख विशेषताओ को लेकर ही किया जाता है। इसमे कुछ ऐसी अन्यान्य क्रियाओ की प्रक्रियाओं के नियन्त्रित अवलोकन

की सुविधा रहती है, जिससे राष्ट्रो के आपसी सम्बन्धो के विषय मे कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

प्रमुख प्रायोगिक विधाओ मे से एक अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय छद्म विद्या के द्वारा प्रयोगशाला मे, भिन्न-भिन्न विशेषताओं वाले छद्मो द्वारा राष्ट्रो के निर्माण का साहसिक प्रयास किया जाता है। लघु वर्ग-प्रयोगो के समान, विषयो का व्यवहार व्यक्तियो के समान नही होता, बल्कि ये विषय अपने राष्ट्रो का प्रतिनिधित्व करते हुए, अपने क्षेत्रो की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर, निर्णय-कर्ताओ की भूमिका अदा करते हैं। निर्णय-कर्ताओ के विदेश नीति सम्बन्धी अनेक कार्यों (जैसे, शस्त्रीकरण, निरस्त्रीकरण, व्यापार सहायता, सश्रय आदि) तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली सम्बन्धी अनेक परिणामो (सघर्ष स्तर, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सीमित युद्ध या परमाणु युद्ध) का अध्ययन किया जा सकता है। प्रयोगात्मक बाधाओ की शुरूआत तथा प्रक्रिया की स्वाभाविक गति मे परिवर्तन होने से प्रयोगशाला सम्बन्धी छद्मताओ, विभिन्न युद्ध-नीतियो, सैनिक क्रियाकलापो और अन्य परिस्थितियो के प्रभावो तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की स्थिति के सम्बन्ध मे विशिष्ट प्राक्कल्पनाओ के परीक्षणो का प्रबन्ध तो कर ही सकती हैं, साथ ही साथ वे उन विभिन्न मूल्यो के प्रभावो को भी सामने ला सकती हैं, जो निर्णय-कर्ताओ की व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक विशेषताओ मे परिलक्षित होती है।

सिद्धान्त और विधि का निर्माण

परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की ज्ञानशाला मे, ऐतिहासिक वर्णनात्मक तथा आदर्शमूलक पद्धतियो पर जोर दिया जाता है। विगत कुछ वर्षों मे इस क्षेत्र के अनेक विद्वानो ने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के सम्बन्ध मे ऐसे सामान्य प्रस्तावो की ओर अधिकाधिक दिलचस्पी दिखाई है, जिनके आधार आनुभविक प्रेक्षण है। इसके फलस्वरूप सैद्धान्तिक नमूनो का विकास हुआ है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे, सिद्धान्त निर्माण की समस्या और समुचित विधि-विधान की खोज के साथ पारस्परिक सामान्य सम्बन्ध जुड गया है। अनेक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ, अर्थशास्त्र या समाजशास्त्र पर आधारित अन्य पद्धतियो के साथ-साथ इस प्रक्रिया मे सहायक सिद्ध हो रही हैं। इस प्रकार राष्ट्रो तथा विदेश नीति के निर्माण के बीच की अन्यान्य क्रियाओ मे, विविध सामान्य सकल्पनाओ, अभिप्रेरक सकल्पनाओ, प्रत्यक्ष ज्ञान, विश्वास तथा सन्देह, परिस्थिति, बल, सचार, नेतृत्व-प्रभाव, प्रतिमान निर्माण, भूमिका निर्धारण, वर्ग सरचना, निष्ठा आदि का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है। विशेषत इस प्रकार की सकल्पनाओ, एकाकी मच नेताओ की अन्यान्य क्रियाओं तथा उनके व्यवहारो को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाते हैं, जिससे राष्ट्र के व्यवहारो तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के विश्लेषण कार्यो मे अन्वेषकों को यत्किचित् सुविधाएँ मिल जाती है। इसके साथ ही साथ सैद्धान्तिक धरो को कार्यान्वित रूप देने और उनके फलस्वरूप प्रस्तावो के आनुभविक परीक्षणो की भी बहुत सुविधा हो जाती है।

अत: सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सकल्पनाएँ, सर्वेक्षण, अनुसन्धान, गहन साक्षात्कार, व्यवस्थित प्रेक्षण, प्रयोगशाला प्रयोग तथा मनोवैज्ञानिक चरो के रूप मे विषय-विश्लेषण जैसी सामाजिक मनोवैज्ञानिक विधियो के प्रयोगो के साथ जुडी हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे सामाजिक मनोवैज्ञानिक सकल्पनाओ तथा विधियो के कार्यों के सम्बन्ध मे अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका समाधान अभी नही हो पाया है, उदाहरणार्थ, इस क्षेत्र मे विश्लेषण की समुचित इकाई का प्रश्न तथा प्रयोगशाला के साथ वास्तविक जीवन के सामान्यीकरण का प्रश्न। फिर भी वर्तमान सैद्धान्तिक तथा विधि-विधान सम्बन्धी विकास की अवस्था के अध्ययन के लिए ये उपयोगी साधन है।

नीति सम्बन्धी सिफारिशों का निरूपण

मनोवैज्ञानिको तथा व्यवहार वैज्ञानिको ने, ठोस नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर विशिष्ट ज्ञान अथवा विश्लेषणात्मक तरीको का प्रयोग कर विगत कुछ वर्षों मे विदेश नीति प्रक्रिया मे अधिकाधिक सक्रिय भाग लिया है। इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि प्रतिरोध सिद्धान्त तथा वार्ता-कार्य की विधियो जैसी शीत-युद्ध की नीतियो मे अर्न्तनिहित मनोवैज्ञानिक धारणाओ की अनुक्रियाओ मे अवरोध उत्पन्न कर या प्रत्यक्ष तथ्यो को तोड-मरोड कर शीत-युद्ध के तनाव को अधिक बढा कर या शीत युद्ध के तनावों को प्रचलित करने वाले मनोवैज्ञानिक यन्त्र तथा सिविल रक्षा या विदेशी सहायता जैसे विभिन्न प्रकार के विद्यमान या प्रस्तावित कार्यक्रमो के निहितार्थों का नीतिपरक परीक्षण किया जाए। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिको ने, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे, नई पद्धतियो के लिए विशिष्ट सुझावो को प्रस्तुत किया है, जिनका उद्देश्य है–निरस्त्रीकरण के लिए प्रोत्साहन, तनाव की कमी तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा मे प्रगति। आंशिक रूप मे ही सही, पर इन सुझावो का आधार है, तनाव मे कमी। यह द्रष्टव्य है कि निरस्त्र विश्व की सुरक्षा जिन मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक परिस्थितियो पर निर्भर करती है, उन पर भी यहाँ कुछ अश तक प्रमुख रूप से ध्यान दिया गया है।

सामाजिक मनोवैज्ञानिक योगदान का महत्व उस स्थिति मे बहुत कुछ बढ जाता है, जिसमे नीतिगत सिफारिशो को, उस अनुसन्धान का समर्थन प्राप्त हो, जो इसके निहितार्थो को जानने और समझने के लिए किए जाते हैं। नीतिगत कुछ मसलो से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित एकत्र आँकडे भी, सामाजिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान की नीति प्रक्रिया मे सहायक सिद्ध हो सकते है। उदाहरणार्थ, यह निर्णय करने के लिए भी अनुसन्धान कार्य किए जा रहे है कि जनमत विदेश नीति मे किस सीमा तक नवीनता को सहन और ग्रहण कर सकता है। नि.सन्देह नीतिपरक अनुसन्धान कार्य मे अनेक विघ्न आते है, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों के क्षेत्र मे, फिर भी यही वह नींव है जिस पर नीति प्रक्रिया के क्षेत्र मे किया गया अनुसन्धान मनोवैज्ञानिक योगदान अन्ततोगत्वा टिक सकेगा।

से निर्देशित होता है पर जनतन्त्रीय शासन पद्धति का परराष्ट्रनीति-निर्धारण तथा सचालन पर एक अन्य प्रभाव विशेष रूप से लक्षित होता है। सरकार को प्रबल बहुमत का समर्थन नही प्राप्त होने की स्थिति मे परराष्ट्र-नीति भी दुर्बल होती है। परराष्ट्र-नीति पर पार्टी प्रतिद्वन्द्विता तथा वैयक्तिक विद्वेष के एक जबर्दस्त सघात का चरम उदाहरण प्रथम विश्वयुद्धोत्तर युग मे सयुक्त राज्य के सीनेट द्वारा वर्साय-नीति का अस्वीकरण एव राष्ट्रसघ का सदस्य न बनने का सकल्प कहा जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका मे भी तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति को अपने देश की धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध ब्रिटेन, फ्रांस की हर सम्भव सहायता करने की नीति अपनाने के लिए बड़ी ही सतर्कता के साथ एक-एक कदम उठाना पड़ा था।'

परराष्ट्र-नीति एव गृह-नीतियाँ वस्तुत एक-दूसरे की पूरक-अनुपूरक होती है। उनके एक-दूसरी से निरपेक्ष होने अथवा पृथक् रखे जाने की कल्पना नही की जा सकती। दोनो ही राष्ट्रीय नीति के अभिन्न अग होती है, किसी राज्य के द्वारा देश-विदेश मे अपने हितो तथा लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली कार्यवाहियाँ।

दोनो मे सामजस्य

विदेश-नीति देश की आन्तरिक नीतियो का विश्व रंगमच पर विक्षेप है, किसी देश की विदेश-नीति के उद्देश्य पर उसके आन्तरिक (कम-से-कम उसके शासक वर्ग के) उद्देश्य हावी होते है। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक विशेषकर सयुक्त राज्य, ब्रिटेनजैसे जनतन्त्रात्मक देशो मे विदेश-नीति के निर्धारण तथा सचालन का एक पृथक क्षेत्र माना जाता था, जिसके तरीके, उपकरण तथा सचालक आन्तरिक नीतियो के तरीकों, उपकरण एव सचालक से कई बातो मे भिन्न होते थे। विदेश-नीति वस्तुत. कूटनय विशेषज्ञो तथा सेवाओ का अपना खास क्षेत्र मानी जाती थी। विदेश-नीति के हित मे आन्तरिक नीतियों को दिशा-निर्दिष्ट किया जाता था तथा उनमे आवश्यक परिवर्तन किए जाते थे। उन युगो मे विदेश-नीति का सम्बन्ध मूलतः सुरक्षा, साम्राज्य तथा राष्ट्र की प्रतिष्ठा के साथ जुड़ा हुआ माना जाता था अत. इन्हे सर्वोपरिता दी जाती थी। बिस्मार्क से लेकर हिटलर तक के जर्मनी, मुसोलिनी के इटली तथा कुछ हद तक फ्रांस एव जारशाही रूस मे यह प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती थी।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विश्व मे विदेश-नीति तथा आन्तरिक नीतियो के मध्य प्रकट तथा अप्रकट सम्बन्ध बढते रहे है। विकासशील देशो की परराष्ट्र-नीति आन्तरिक नीतियो के पृष्ठपलक, कार्यान्वयन तथा परिणामो से बहुत कुछ अनुप्रेरित होती है। इसका कारण है कि सदी के उत्तरार्द्ध मे विदेश-नीति के मूल लक्ष्यो मे परिवर्तन हुआ है। जापान, पश्चिमी जर्मन सघ राज्य-जैसे देशो की विदेश-नीतियो मे सुरक्षा, साम्राज्य तथा प्रतिष्ठा—जैसे परम्परागत मुद्दों का तत्काल के लिए परित्याग कर दिया गया है। अनेक देशो की विदेश-नीतियो का सम्बन्ध देश की अर्थ-व्यवस्था, विदेश व्यापार आदि के साथ अधिक लक्षित होगा।

संचार तथा यातायात के आधुनिकतम साधनों ने विभिन्न देशों के लोगों को निकटतर कर दिया है। दैनन्दिन आवश्यकता की अनेक वस्तुएँ विदेशों से आयात की जाती हैं। एक देश के कल-कारखाने चालू रहें, बेकारी की समस्या उग्र न हो, इसके लिए अनेक देशों में समृद्धि होनी चाहिए जिसमें उनकी क्रयशक्ति में कमी न हो। एक देश के औद्योगीकरण में अनेक दूसरे देश सहायता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार एक विकसित देश अनेक दूसरे देशों के औद्योगीकरण में सहायक होता है। सदी के अन्तिम चतुर्थक में शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण देश होगा जो यह कह सके कि उसकी अर्थ-व्यवस्था स्वत सम्पूर्ण है अत कुछ अंशों में विदेश-नीति आन्तरिक नीतियों का पूरक बन गई है। क्यूबा को यदि अपने लोगों के जीवन-स्तर का उन्नयन करना है तो उसे अपनी अर्थ-व्यवस्था को संयुक्त राज्य की दमघोंट पकड़ से मुक्त करना होगा, यह तभी सम्भव है जब सोवियत संघ उसकी पीठ पर हो, उसकी विदेश नीति भी तदनुरूप होनी चाहिए। 1956 में मिस्र के आस्वान बाँध बनाने के संकल्प की परिणति स्वेज काण्ड तथा विदेश नीति के सोवियताभिमुखीकरण में हुई। इसी प्रकार सोवियत संघ में अस्तालिनीकरण के क्रम में विदेश नीति में भी यथोचित् परिवर्तन हुए।

वस्तुतः आन्तरिक नीतियाँ विदेश नीति का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनुप्रेरक तत्त्व होती हैं। अपने देश में जीवन-स्तर का उन्नयन करने के कृतसंकल्प शासक उग्र व अग्रगामी विदेश नीति नहीं अपना सकते। सुकार्णो के पतन के उपरान्त इण्डोनेशियाई शासकों ने न केवल अपने देश में कम्युनिस्टों को निर्मूल कर दिया, बल्कि पेकिंग तथा मास्को के प्रति अपनी नीति में भी आमूल परिवर्तन किया।

विदेश नीति और शीत-युद्ध
(Foreign Policy and Cold-War)

विदेश नीति और शीत-युद्ध में कितना गहरा सम्बन्ध है, यह युद्धोत्तरकालीन पूर्वी और पश्चिमी क्षेमे के शीत-युद्ध में उतार-चढ़ाव और तदनुकूल विश्व के छोटे-बड़े राष्ट्रों की विदेश नीतियों में सामयिक परिवर्तनों से स्पष्ट है। एक ओर तो शीत-युद्ध देश के नेतृत्व और लोगों के मस्तिष्कों को प्रभावित करता है और दूसरी ओर देश की विदेश नीति को नए दिशा संकेत देता है। राष्ट्रों की युद्धोत्तरकालीन विदेश नीति विशेषकर रूस और अमेरिका की विदेश नीति तो शीत-युद्ध की लहरों पर उछलती-कूदती रही है। युद्धोत्तरकाल में रूस द्वारा याल्टा समझौतों की अवहेलना ने, टर्की पर रूसी दबाव ने, अमेरिका विरोध प्रचार अभियान ने तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अनेक गम्भीर उल्लंघनों ने तथा दूसरी ओर अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों द्वारा चलाए गए सोवियत विरोधी प्रचार अभियान ने अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने की कार्यवाही ने, सोवियत संघ को 'लैंण्डलीज' मदद बन्द करने की घटना ने, चर्चिल की 'फुल्टन वक्तृता' आदि ने शीत-युद्ध को जन्म देकर जिस तरह उत्तरोत्तर उग्र बनाया, उससे दोनों महाशक्तियों की विदेश

नीति अप्रत्याशित रूप मे प्रभावित हुई और विदेश नीतियों के 'नए-नए मोर्चे' खोले गए। साम्यवाद के विरोध के नाम पर और सोवियत विस्तार को रोकने के लिए 'ट्रूमैन सिद्धान्त', 'आइजनहॉवर सिद्धान्त', 'मार्शल योजना' आदि का सूत्रपात हुआ तो सोवियत संघ ने जवाब मे यूरोप के 9 साम्यवादी देशो का 'कोमिनफार्म' स्थापित किया। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने अपने द्वारा अधिकृत जर्मनी के तीनो पश्चिमी क्षेत्रो का एकीकरण करके 'जर्मनी के सघीय गणतन्त्र' को जन्म दिया तो रूस ने जवाब मे 'जर्मन प्रजातान्त्रिक राज्य' अथवा 'पूर्वी जर्मनी' की स्थापना कर दी। इस तरह पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दो जर्मन राष्ट्र अस्तित्व मे आए।

शीत-युद्ध के झटको ने विदेश नीति के खतरनाक मोर्चे खुलवाए। पश्चिमी शक्तियो ने नाटो की स्थापना की तो रूस ने वारसा पैक्ट किया। कोरियाई युद्ध के समय शीत-युद्ध ने उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध का रूप धारण करके महाशक्तियो की विदेश नीति को प्रभावित किया। शीत-युद्ध के तनावो को कम करने के लिए शीर्षस्थ नेताओ के शिखर सम्मेलन हुए और समयानुसार विदेश नीति को उग्र तथा नरम बनाया जाता रहा। संयुक्त राष्ट्रसघ के मच पर विश्व राष्ट्रो ने जो भूमिकाएँ अदा की उन पर शीत-युद्ध के उतार-चढाव का सदैव स्पष्ट प्रभाव रहा। सोवियत-अमेरिकी वैमनस्य और शीत-युद्ध ने विश्व के राष्ट्रो को तेजी से दो खेमो मे विभाजित कर दिया और उनसे उत्पन्न परिस्थितियों ने गुट-निरपेक्ष की विदेश नीति को प्रोत्साहन दिया। दो खेमो की टक्कर को रोकने और दोनो के बीच पुल का काम करने के लिए असंलग्नता की विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अधिकाधिक सम्मान मिलता गया। पाश्चात्य शक्तियो ने भारत और पाकिस्तान के बीच शीत-युद्ध की आग प्रज्ज्वलित रखी जिससे दोनो देशो के बीच अनेक युद्ध हुए। पाकिस्तान की विदेश नीति मे सैनिक गुटबन्दी का तत्त्व सर्वोपरि रहा और भारत को अपनी अर्थव्यवस्था की कीमत पर सैनिक तैयारियाँ करनी पडी। यही स्थिति आज भी बनी हुई है। शीत-युद्ध के अखाड़े ने ही महाशक्तियो के विदेश नीति रूपी पहलवानो को पश्चिमी एशिया, वियतनाम, दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया, पूर्वी एशिया तथा अफ्रीका मे एक दूसरे के सामने ताल ठोकने को विवश किया है। यह शीत-युद्ध न चले तो विदेश नीति सहयोग और सहअस्तित्व की दिशा मे दौड पड़ेगी इसमें सन्देह नहीं।

सांस्कृतिक सम्बन्ध और विदेश-नीति
(Cultural Relations and Foreign Policy)

सूचना कार्यक्रमो के अतिरिक्त अनेक देश सांस्कृतिक माध्यम से भी अपना प्रचार कार्य संचालित करते हैं। यह कहा जाता है कि ज्ञान के आदान-प्रदान का सर्वाधिक प्रभावी तरीका यह है कि व्यक्ति को अपने साथ बाँध लिया जाए। पश्चिमी शक्तियाँ परस्पर शैक्षणिक सम्बन्धो के माध्य से एक-दूसरे के पर्याप्त निकट आ गई हैं। उन देशो के हजारो छात्र एक-दूसरे के देश मे अध्ययन करते हैं। ग्रेट-ब्रिटेन के अपने उपनिवेशो के साथ सास्कृतिक सम्बन्ध थे, इसीलिए अधिकाश

को शान्तिपूर्वक प्रादेशिक स्वतन्त्रता प्रदान करके राष्ट्रमण्डल के आधार पर उसने इन से सांस्कृतिक सम्बन्ध को कायम रखने की व्यवस्था कर ली। इन देशो के नेताओं को ग्रेट-ब्रिटेन मे प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था, उसके कारण वे यहाँ के मूल्यो तथा मूल राजनीतिक एव कानूनी संस्थाओ की सराहना करते हैं।

फ्रांस वह पहला बडा देश है जिसने सांस्कृतिक सम्बन्धो को सरकारी कर्त्तव्य बना दिया था। फ्रांस के उदाहरण को देखकर 19वी शताब्दी के अन्तिम दिनो मे इंग्लैण्ड तथा जर्मनी ने भी सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिए। ब्रिटेन की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप तथा अमेरिकी सरकार के प्रयास से आज अर्द्ध-विकसित देशो के लगभग दस मिलियन (एक करोड़) से भी अधिक लोग अंग्रेजी पढ़-लिख सकते हैं तथा इनके माध्यम से ये सरकारें इन क्षेत्रो मे आसानी से संचार-व्यवस्था सचालित रख सकती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का सांस्कृतिक कार्यक्रम—अमेरिका मे 1938 मे *राज्य विभाग के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों का एक सम्भाग जोड़ दिया गया।* इसने सबसे पहले लैटिन अमेरिका पर ध्यान आकर्षित किया क्योकि नाजीवाद तथा फासीवाद का प्रभाव वहाँ बढता जा रहा था। सरकारी एवं गैर-सरकारी सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सस्था को विकसित किया गया ताकि विद्यार्थियो का आदान-प्रदान एव विदेशी अध्ययन सम्भव हो सके।

सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा अन्य देशो के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने की दृष्टि से विद्यार्थियों के आदान-प्रदान को प्रोत्साहन दिया गया है। साथ ही पासपोर्ट तथा वीसा के सम्बन्ध मे उदार नीति अपनाकर पर्यटन को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। विकासशील देशो मे प्रशिक्षित मानव-शक्ति का पर्याप्त महत्त्व होता है, इसलिए यहाँ पर विद्यार्थियो एव शिक्षकों द्वारा राजनीति मे महत्त्वपूर्ण रूप से भाग लिया जा सकता है। जो विद्यार्थी अमेरिका मे शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे राजनीति को पर्याप्त प्रभावित करेंगे और हो सकता है कि वे ही नेता बनें। इसी प्रकार अमेरिका के जो विद्यार्थी एव शिक्षक विदेशों मे अध्ययन कार्य मे रत हैं, वे भी उन लोगो पर प्रभाव डालने का पर्याप्त अवसर पाते हैं जो अपने देश मे सम्मान एव उत्तरदायित्व के पद पर हैं अथवा होंगे। *1946* के फुलब्राइट कानून ने विदेशी छात्रो को छात्रवृत्ति देने का प्रावधान रखा तथा 1948 के स्मिथ-मण्ड अधिनियम ने नेतृत्व के आदान-प्रदान का प्रबन्ध किया। इन अधिनियमो ने सघीय सरकार को सांस्कृतिक सम्बन्धों की रचना मे रुचि लेने की ओर अग्रसर किया। व्यक्तिगत निकाय भी अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के आदान-प्रदान के क्षेत्र मे पर्याप्त कार्य करते हैं।

संयुक्तराज्य अमेरिका के करीब दस-पन्द्रह हजार लोग ऐसे हैं जो विदेशों मे रह रहे हैं। इससे अमेरिका को अन्य देशो की जनता से सम्पर्क बनाए रखने

का अवसर प्राप्त होता है। इन अमेरिकी लोगो मे से अधिकांश का सम्बन्ध सशस्त्र सेनाओं में है तथा पाँच लाख से भी अधिक लोग व्यक्तिगत उद्यमो मे मलग्न है। तिवर्ष दस लाख के लगभग अमेरिकी पर्यटक के रूप मे अमेरिका से जाते है। इन सम्पर्कों एव मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों से विदेशो के लोगो के साथ निकटता बढती है, किन्तु इससे एक यह खतरा है कि जाने वाले लोगो ने अमेरिकी जीवन के उत्तम पक्ष का प्रतिनिधित्व न किया तो यहाँ की सस्कृति के प्रति सम्मान पैदा नही किया जा सकता तथा इससे उल्टा प्रभाव पड सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के सांस्कृतिक कार्यक्रम की एक विशेषता यह है कि यहाँ से प्रतिवर्ष कम कीमत की लाखो पुस्तके विदेशो को भेजी जाती हैं।

स्टालिन की मृत्यु के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत सघ के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धों का विकास हो गया है। 1958 से रूस जाने वाले अमेरिकियो की सख्या लगभग दो गुनी हो गई है। इसी प्रकार अमेरिका मे आने वाले रूसियो की सख्या भी बढी है।

सोवियत सांस्कृतिक कार्यक्रम—यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि सोवियत सरकार द्वारा सांस्कृतिक सम्बन्धो की स्थापना के लिए कितना खर्च किया जाता है। 1953 मे सोवियत सरकार इस कार्य पर दो बिलियन डॉलर प्रति वर्ष खर्च करती थी। इसके बाद इम खर्च मे वृद्धि ही हुई है। कुछ लेखको का अनुमान है कि सोवियत संघ इस कार्य पर जितना धन व्यय करता है उतना शायद सभी देशो द्वारा मिलाकर भी नही किया जाता।

विकासशील देशो को अपने प्रभाव मे लाने के लिए तथा अपनी सस्कृति का निर्यात करने के लिए सोवियत संघ, शोध कार्य, भाषा एवं अन्य विशेषीकृत प्रशिक्षणो पर धन खर्च करता है तथा प्रकाशित सामग्री वितरित करता है। सोवियत प्रचार, सांस्कृतिक कार्यक्रम, शैक्षणिक कार्यक्रम, सचार-अनुसंधान आदि के द्वारा विदेशों मे सोवियत संघ का जो चित्र प्रस्तुत किया जाता है वह एक शान्तिप्रिय किन्तु शक्ति-सम्पन्न देश के रूप मे होता है जिससे उसने बहुत कम समय मे ही अपनी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के कारण महान् उपलब्धियाँ अर्जित की है। सोवियत संघ में जो विदेशी पर्यटक जाते है उनको सरकारी कर्मचारियो द्वारा निर्देशित किया जाता है तथा जहाँ वे चाहे वही उनको ले जाया जाता है।

सोवियत सघ मे राष्ट्रों का एक मैत्री विश्वविद्यालय (Friendship of Nations University) स्थापित किया गया जो मास्को विश्वविद्यालय से अलग है। यहाँ एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशो के युवको को रूसी भाषा, विज्ञान, कला एव साम्यवाद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इन सम्पर्कों के माध्यम से यह आशा की जाती है कि जब ये युवक अपने देश

को वापस लौटेंगे तो साम्यवाद के हित में कार्य करेंगे। अनेक अमेरिकी शिक्षा-शास्त्रियों ने जब व्यक्तिगत रूप से उच्च सोवियत शिक्षा-शास्त्रियों से बातें की तो उनको यह विश्वास हो गया कि सोवियत संघ विकासशील देशों से अमेरिका को पूरी तरह निकालना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो गया है कि उदार प्रजातन्त्र अपनाने के लिए सांस्कृतिक सम्बन्धों का प्रसार करे तथा विदेशों से आने वाले छात्रों के साथ अधिक नम्रता एवं शिष्टता का व्यवहार करे। यह एक चुनौती है जिसका सामना करना जरूरी हो गया है।

प्रचार और विदेश नीति

(Propaganda and Foreign Policy)

राष्ट्रीय हित साधन के रूप में प्रचार एक बहुत ही प्रभावशाली शस्त्र है। इसका दो रूपों में महत्व है। प्रथम तो यह कि प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधन जैसे कूटनीति, आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद युद्ध को अधिक सफलतापूर्वक तथा अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। दूसरे, प्रचार स्वयं में भी इतना सक्रिय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला होता है कि बिना इसके शक्तिशाली स्वरूप के कोई भी देश प्रगति नहीं कर सकता और न वह विश्व, समाज में उच्च स्तर ही प्राप्त कर सकता है। आज के प्रजातन्त्र के युग ने भी प्रचार के महत्त्व को कई गुना कर दिया है क्योंकि वर्तमान युग में अपनी नीतियों के प्रति दूसरे देशों की सक्रिय सद्भावना प्राप्त करने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि आप उस देश के कुछ व्यक्तियों को प्रसन्न करके अपने पक्ष में कर लें वरन् प्रचार के समस्त साधनों द्वारा उस देश की जनता को प्रभावित किया जाता है। अपने देश की नीतियों के पक्ष में जनमत तैयार करके ही उस देश की सरकार को अपने पक्ष में किया जा सकता है। साम्यवादी देशों द्वारा प्रचार के साधनों का उपयोग पूरी शक्ति द्वारा किया जाता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि वर्तमान व्यवस्था को परिवर्तित करके एक नई व्यवस्था कायम करने वाले देशों को प्रचार के हथियार की अधिक आवश्यकता पड़ती है। कारण यह है कि उनका कार्य वस्तु-स्थिति को कायम रखने वालों की अपेक्षा दुगुना है। एक ओर तो उन्हें यह सिद्ध करना पड़ता है कि वर्तमान स्थिति की क्या बुराइयाँ हैं तथा इसे किस प्रकार बदला जा सकता है और दूसरी ओर उन्हें अपनी आदर्श योजना का चित्र भी खींचना होता है। इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साम्यवादी देश प्रचार के प्रभावशाली यन्त्रों का प्रयोग करते हैं।

प्रचार यन्त्र को राज्य विदेश-नीति के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं। आज की विश्व-राजनीति में गुटबन्दी का जाल बिछा हुआ है और प्रत्येक गुट अपने हितों की प्राप्ति के लिए प्रचार-साधनों का प्रयोग करता है। संक्षेप में, दूसरे गुट को कमजोर बनाने के लिए, उसके सहयोगियों को तोड़ने के लिए, अपने पक्ष को मजबूत बनाने के लिए, अधिकाधिक देशों को अपने पक्ष की ओर खींचने के

लिए, अपनी विदेश-नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए, अपनी शान्तिप्रियता का सिक्का बैठाने के लिए प्रचार तकनीको को विभिन्न रूपो में प्रयोग में लाया जाता है। प्रचार के माध्यम से विदेश नीति के लक्ष्यो को परिभाषित किया जाता है। आज सभी देश प्रचार साधनों का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं। सभी प्रचार असत्य हो, यह आवश्यक नही है। प्रचार का उद्देश्य किसी राज्य की सरकार को गिराना या दबाना भी हो सकता है और नही भी, सत्य बात को सामने रखना भी हो सकता है और गलत बातो को सही रूप में पेश करना भी। यह अपनी-अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है कि कुछ राज्य प्रचार में नैतिक बल का अश अधिक रखते हैं और कुछ नैतिकता-अनैतिकता जैसी बातो की कोई परवाह नही करते। अपनी बात से मुकर जाने में उन्हें जरा भी सकोच नही होता।



1 संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति

(Foreign Policy of U.S.A.)

द्वितीय महायुद्ध जिन मुद्दों पर लड़ा गया वे मानव-जाति के लिए इतने बुनियादी और महत्त्वपूर्ण थे, उसमें जिस प्रकार के शस्त्रास्त्र का प्रयोग हुआ कि वे तकनीकी दृष्टि से इतने उन्नत तथा भिन्न प्रकार के थे, तथा वह इतना व्यापक था कि उसने समूची समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को जड़मूल से हिला दिया तथा वह काल-चक्र का एक ऐसा चरण बन गया जिसके साथ ही विश्व-इतिहास के एक युग का अन्त हो गया। एक नूतन युग का सूत्रपात हुआ जिसमें अनेक नए स्वतन्त्र राज्य उभरे, नई महाशक्तियों का उदय हुआ, प्रभुत्व-क्षेत्र बदले, नई प्रवृत्तियों, आर्थिक तथा वैज्ञानिक विधियों, प्रौद्योगिकी, तकनीकी और संस्कृति एवं नए राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ, तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक विश्व-इतिहास का निर्माता यूरोप था परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद का यूरोप एक 'समस्या-प्रधान यूरोप' (A Problem Europe) बन गया। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए तथा ब्रिटेन और फ्रांस तृतीय श्रेणी के राष्ट्र बन गए तथा विश्व-नेतृत्व यूरोप के हाथों से निकलकर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के हाथों में आ गया। महायुद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महाशक्तियाँ रह गई हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ। अब ये दोनों ही देश प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उदित हुए और युद्धोत्तर विश्व तेजी से इनके प्रभाव-क्षेत्रों में बँटने लगा। दोनों राष्ट्र मानव-चिन्तन की दो विरोधी विचारधाराओं के प्रतीक बन गए। सोवियत संघ साम्यवादी विचारधारा का प्रतिनिधि बना तो संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतन्त्रवादी आकांक्षाओं का पक्षधर बन गया। दो आर्थिक शिविर संगठित हुए—संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी शिविर और सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी शिविर।

युद्धोत्तर युग में अभी तक अमेरिका की बागडोर आठ राष्ट्रपतियों के हाथ में रही है—हैनरी ट्रूमैन, ड्वाइट डी. आइजनहावर, जॉन एफ. कैनेडी, लिण्डन बी. जॉनसन, रिचर्ड निक्सन, जेराल्ड फोर्ड, जिम्मी कार्टर और रोनाल्ड रीगन। प्रत्येक राष्ट्रपति ने अमेरिकी विदेश-नीति के आधारभूत तत्त्वों की रक्षा करते हुए अपने कार्यकाल में समयानुकूल परिवर्तन किए। अमेरिकी विदेश-नीति के विकास का इतिहास इन राष्ट्रपतियों के कार्यकाल के अनुसार विभाजित किया जा सकता है।

ट्रूमैन युग (1945–1952)

द्वितीय महायुद्ध के बाद 1952 तक के अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति की जो आधारशिलाएँ रखी, वे आज भी महत्वपूर्ण बनी हुई हैं। भावी राष्ट्रपतियों ने अपनी विदेश नीतियों को समयानुकूल नए मोड़ दिए, लेकिन ट्रूमैन कालीन तत्व आज भी सजीव है। साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का जो दृढ़ निश्चय राष्ट्रपति ट्रूमैन ने व्यक्त किया था, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपतियों ने किया और साम्यवाद के प्रसार पर अंकुश रखने के लिए अभिनव कदम उठाए। विश्व-राजनीति में अमेरिकी नेतृत्व को सर्वोच्चता देने का जो प्रयत्न ट्रूमैन ने किया, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपति भी करते रहे हैं। ट्रूमैन काल में अमेरिका यह मानकर चला कि सोवियत संघ उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है और अमेरिका का भावी इतिहास भी यही बताता है कि सोवियत संघ को प्रमुख लक्ष्य मानकर ही अमेरिका की विदेश नीति बहुत कुछ संचालित होती रही है।

ट्रूमैन के कार्यकाल में अमेरिकी विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

ट्रूमैन युग में अमेरिकी विदेश नीतियों में जिन प्रवृत्तियों अथवा तत्वों पर जोर दिया गया उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. अमेरिका विश्व-राजनीति में खुलकर भाग लेने लगा। यूरोप तो उसकी दिलचस्पी का प्रधान केन्द्र बना ही, विश्व के अन्य क्षेत्रों में भी अमेरिका की महत्वाकांक्षा स्पष्ट हो गई। एक महाशक्ति के रूप में अपना नेतृत्व स्थापित करने के लिए अमेरिका ने एक के बाद एक अनेक कदम उठाए।

2. महायुद्ध के बाद अगस्त, 1946 के आसपास तक ट्रूमैन ने 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' (Policy of Co-operation and Accomodation) का अनुसरण किया। अमेरिकी विदेश नीति के निर्माता यह मानकर चले कि युद्ध-काल में मित्रराष्ट्रों में जो सहयोग था वह युद्ध के बाद भी कायम रहेगा। 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' के इस काल को 'मधु-रात्रि काल' (The Honey-Moon Period) भी कहते हैं।

3. अमेरिका का यह प्रयत्न रहा कि तनाव का क्षेत्र समाप्त करने के लिए महायुद्ध में पराजित राष्ट्रों के साथ शीघ्र से शीघ्र शान्ति सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ।

4. सोवियत संघ के साथ सहयोग की नीति असफल होते देखकर ट्रूमैन ने अगस्त, 1946 में अमेरिकी विदेश नीति को एक नई दिशा प्रदान की। ऐसी नीति के अनुसरण का निश्चय किया गया जिससे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप से तुरन्त 'अवरुद्ध' कर दिया जाए। चूँकि यह पिछली नीति को त्यागकर एक नई दिशा की ओर मुड़ने का निश्चय था, अतः अगस्त, 1946 से जून, 1950 तक की अवधि को 'नवीन दिशान्वेषण काल' (Period of New Departure) कहा जाता है। इस युग में साम्यवाद के प्रति कठोरतापूर्वक प्रसार-निरोध की नीति अपनाई गई, अतः इसे 'प्रसार-निरोध नीति का काल' (Period of the Policy of Containment) भी कहते हैं। फिर भी राष्ट्रपति ट्रूमैन और उपराष्ट्रपति हैनरी

वैलास का यह मत रहा कि अमेरिका और सोवियत संघ का मूल हित इसी बात में है कि शान्ति कायम रखी जाए ताकि विश्व के सभी देश पुनर्निर्माण-कार्यों में सफल हों। यह विचार व्यक्त किया गया कि सोवियत संघ भयभीत है और पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है।

5. सोवियत संघ जैसे-जैसे शक्तिशाली होता गया स्टॉलिन अधिकाधिक उग्र होता गया। तब 1950 में अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के निरोध का प्रयत्न आरम्भ किया। इस नीति के अनुसार 'नाटो' (NATO) की स्थापना की गई। इसे 'प्रसार निरोध रण नीति' (The Strategy of Containment) की संज्ञा दी गई। ज्यों-ज्यों साम्यवाद का खतरा बढ़ता गया, अमेरिका सैनिक सन्धियों और प्रतिरक्षा संगठनों के निर्माण की ओर उन्मुख होता गया। 1950 में ही उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। उत्तर कोरिया की पीठ पर साम्यवादी शक्तियाँ थीं। अमेरिका ने दक्षिण कोरिया का पक्ष लेकर इस साम्यवादी आक्रमण को विफल कर देने का सकल्प किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं के रूप में अमेरिकी सेनाएँ युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़ीं। कोरिया का युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चला और इस अवधि को अमेरिकी विदेश नीति के इतिहास में 'खुले संघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) कहा जाता है।

6. ट्रूमैन-युग में अमेरिका की यह नीति थी कि वह अणु-शक्ति का एकछत्र स्वामी बना रहे। अणु-शक्ति के नियन्त्रण की योजनाएँ भी बनाई गईं।

सारांश रूप में ट्रूमैन युग में विदेश नीति के मुख्य चरण ये रहे—'सहयोग और अनुकूलता की नीति' 'निरोध नीति', 'सैनिक सन्धियों की नीति' और 'खुले संघर्ष का काल'।

सहयोग और अनुकूलता की नीति (अगस्त, 1945–अगस्त, 1946)

प्रारम्भ में अमेरिका ने यह सोचा कि मित्रराष्ट्रों का युद्धकालीन सहयोग शान्तिकाल में भी बना रहेगा, अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सहयोग और अनुकूलता की नीति (Policy of Co-operation and Accomodation) का अनुसरण किया। अमेरिका ने चाहा कि युद्धकालीन विनाश के चिह्नों को शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाए, पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ और चारों ओर शान्ति का वातावरण सम्पन्न किया जाए। अमेरिका ने यह भी चाहा कि किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता को भंग न किया जाए और कोई भी विदेश-शक्ति किसी देश में बलपूर्वक किसी शासन-व्यवस्था को न थोपे। अमेरिका ने युद्धोत्तरकालीन सभी समस्याओं का निदान मिल-जुलकर करने का निश्चय किया परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अमेरिका ने सभी काम पूरी ईमानदारी के साथ किए। प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानता है और अमेरिका की विदेश नीति भी इसी लक्ष्य से संचालित हुई कि सोवियत संघ की तुलना में अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता जाए।

'बारह सूत्री' उद्देश्यों की घोषणा, 1945—सहयोग और अनुकूलता की नीति की व्याख्या करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 28 अक्तूबर, 1945 को 'बारह सूत्री' (Twelve Points) उद्देश्यों की घोषणा की। ये उद्देश्य संक्षेप में इस प्रकार थे—

1 अमेरिका प्रादेशिक विस्तार नहीं चाहता, वह किसी देश पर आक्रमण नहीं करेगा।

2 अमेरिका का मत है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुता के अधिकार बल-पूर्वक छीन लिए गए थे, वे उन्हें वापस किए जाने चाहिए।

3. अमेरिका किसी मित्रदेश में जनता की स्वतन्त्र सहमति के अभाव में किए गए प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेगा।

4. अमेरिका का यह विश्वास है कि स्वशासन में समर्थ देशों को बिना किसी विदेशी हस्तक्षेप के अपने शासन का स्वरूप निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यह सिद्धान्त यूरोप, एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध में समान रूप से लागू होता है।

5. अमेरिका का लक्ष्य अपने साथियों के प्रति सहयोग करते हुए पराजित देशों में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना करना है।

6. अमेरिका विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश में बलपूर्वक थोपी गई सरकार को मान्यता नहीं देगा।

7. सब देशों को अनेक देशों में से होकर गुजरने वाली नदियों तथा समुद्रों में आवागमन की निर्बाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

8 विश्व में कच्चे माल की प्राप्ति तथा व्यापार में सब देशों की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

9 अमेरिका का मत है कि पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों को इस गोलार्द्ध के बाहर की किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना पड़ोसियों की भाँति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

10. अमेरिका चाहता है कि समूचे विश्व में दरिद्रता और अभाव को दूर करने तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सब देशों में पूर्ण आर्थिक सहयोग हो।

11. अमेरिका विश्व में विचार-अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता के विस्तार के लिए प्रयत्न रहेगा।

12. अमेरिका का दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रों में शान्ति स्थापित रखने के लिए ऐसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की आवश्यकता है जिसके सदस्य शान्ति-प्रेमी हों और शान्ति-स्थापना के लिए आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हों।

सैनिक संख्या में कमी—विश्व-शान्ति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए अमेरिका ने अपने सैनिकों की संख्या में कमी करना शुरू कर दिया।

लगभग दो वर्ष के अन्तर्गत ही सैनिको की संख्या 1 करोड 20 लाख से घटाकर 15 लाख कर दी गई। अमेरिका की आशा थी कि रूस भी सहयोग करेगा और अनुकूल उत्तर देगा लेकिन यह आशा गलत सिद्ध हुई। अमेरिका तत्कालीन विश्व-राजनीति के दो महत्वपूर्ण पहलुओ को समझने मे भूल कर बैठा—प्रथम, सोवियत सघ की आक्रमणकारी चालें; एवं द्वितीय, एशिया महाद्वीप में क्रान्ति।

सोवियत संघ से उग्र मतभेद और सहयोगपूर्ण नीति का परित्याग—कुछ ही समय मे सभी क्षेत्रो में यह प्रकट हो गया कि रूस और अमेरिका परस्पर-विरोधी है और विश्व की हर समस्या पर दोनों मे उग्र मतभेद है। दोनो शक्तियो में किसी प्रकार का समझौता और सहयोग सम्भव नही है। विशेषत. पाँच क्षेत्रो में सोवियत अमेरिकी मतभेद अत्यधिक उग्र हो गए—

(i) जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न,

(ii) पोलेण्ड मे रूस द्वारा याल्टा सम्मेलन मे किए गए वचनो के उल्लंघन की अमेरिकी शिकायत,

(iii) इटली, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियों का प्रश्न,

(iv) संयुक्त राष्ट्रसघ तथा उसमे रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग का प्रश्न, तथा

(v) ईरान, तुर्की और यूनान मे महत्वाकांक्षाओं का प्रश्न।

इन उग्र मतभेदो और अन्य असहमतियो के कारण दोनो शक्ति गुटों में 'शीतयुद्ध' आरम्भ हो गया। रूसी चालो मे बाध्य होकर अमेरिका के विदेश-नीति निर्माताओं ने सहयोग और अनुकूलता की नीति का परित्याग कर दिया।

प्रसार-निरोध नीति (अगस्त, 1946—जून, 1950)

अब अमेरिका ने यह निश्चय कर लिया कि साम्यवादी प्रसार को अविलम्ब अवरुद्ध किया जाए। इस निश्चय के साथ ही 'प्रसार-निरोध नीति' (Policy of Containment) पर अमल किया जाने लगा।

इस सम्बन्ध मे अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य तत्व इस प्रकार रहे—

ट्रूमैन सिद्धान्त—मध्यपूर्वी क्षेत्र मे यूनान, तुर्की, ईरान आदि देशो मे साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए ट्रूमैन ने इन्हे आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई। इसी नीति को 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहा जाता है। महायुद्ध के बाद चारो ओर आर्थिक सकट उत्पन्न हो गया। यूनान, तुर्की और ईरान मे साम्यवादी आन्दोलन ने विशेष जोर पकड लिया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई भारी अमेरिकी आर्थिक सहायता के बल पर 1950 के अन्त तक यूनान और तुर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

'ट्रूमैन सिद्धान्त' के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति का कार्यक्षेत्र विश्व-व्यापी हो गया। इस सिद्धान्त ने अमेरिका की विदेश नीति मे मौलिक परिवर्तनो को जन्म दिया, उसे विकास की एक नई दिशा दी। माइकेल डोनेलन के शब्दो मे,

'ट्रूमैन सिद्धान्त' निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो सिद्धान्त था। इसने पुराने सिद्धान्त को नई परिस्थितियों के साथ आवश्यकतानुसार समायोजित कर दिया और पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओं का विस्तार स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक कर दिया। ट्रूमैन सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका अब पृथकतावादी नीति का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की समस्याओं के प्रति सक्रिय बन गया है। यह रूस की उसकी विस्तारवादी चेष्टाओं के विरुद्ध एक चेतावनी थी, मास्को के प्रति सहयोग की नीति का परित्याग था। यह सिद्धान्त इस तथ्य की स्वीकृति थी कि भू-मध्य सागर और मध्यपूर्व में उत्पन्न हुई 'शक्ति शून्यता' का रूस द्वारा लाभ उठाए जाने से पूर्व अमेरिका लाभ उठाने का इच्छुक है। इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य बल्कान प्रायद्वीप में रूसी प्रसार को रोकने के लिए और साथ ही रूस को घेरने के लिए यूनान और टर्की को महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप में सुरक्षित रखना तथा मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डार को अपने अधिकार में रखना था। यह सिद्धान्त सोवियत साम्यवाद के प्रति अमेरिकी वैमनस्य की स्थूल अभिव्यक्ति था। अमेरिका विश्व को लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित करना चाहता था।

ट्रूमैन सिद्धान्त को कटु आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। आर्थिक और सामरिक सहायता देने की अमेरिका की नीति को नव साम्राज्यवाद तथा नव उपनिवेशवाद कहा गया। ट्रूमैन सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति को आघात पहुँचा क्योंकि यूनान और टर्की को संघ के माध्यम से नहीं बल्कि पृथक् रूप से सहायता दी गई। स्वयं अमेरिकी जनता की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का ही विकसित रूप था।

मार्शल योजना—'प्रसार-निरोध की नीति' का दूसरा चरण मार्शल योजना (Marshall Plan) थी। अमेरिका के विदेश मन्त्री मार्शल ने मास्को के शान्ति-सम्मेलनों में देखा कि रूसी हर बात में अड़ंगेबाजी की नीति अपनाकर शान्ति-सन्धियों में विलम्ब लगा रहे हैं। मार्शल शीघ्र ही समझ गया कि सोवियत संघ द्वारा सन्धि चर्चा में देर लगाने का परिणाम यूरोप में साम्यवाद की स्थापना होगी जिससे कि सोवियत संघ के मनोनुकूल समझौते में कठिनाई न हो। मार्शल ने इस बात पर बल दिया कि यदि यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के अविलम्ब प्रयास नहीं किए गए तो वह साम्यवादी हो जाएगा। प्रकट रूप में उन्होंने यही कहा कि उनके देश की नीति किसी देश अथवा सिद्धान्त विशेष से संघर्ष की नहीं वरन् भूख, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्था का सामना करने की है। पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए सोवियत संघ को भी आमन्त्रित किया गया, परन्तु मास्को और उसके साथी राज्यों ने इस प्रस्ताव को अमेरिकी नव साम्राज्यवाद की एक नई चाल बताकर ठुकरा दिया। पश्चिमी राष्ट्रों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों (इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, नीदरलैण्ड और टर्की, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड और पुर्तगाल) के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European

Economic Co-operation) की स्थापना की गई। यूरोपीय पुनरुद्धार का चार-वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट दी जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि 13 अरब डॉलर की राशि खर्च करने को तैयार हो तो 1951 तक एक आत्मनिर्भर यूरोपीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। 'मार्शल योजना' को जो अधिकृत रूप से 'यूरोपीय राहत कार्यक्रम' (European Relief Programme) कहलाई, कांग्रेस ने अप्रैल, 1948 में पास कर दिया।' योजना को क्रियान्वित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for European Economic Co-operation) की स्थापना की गई।

'मार्शल योजना' से सोवियत संघ और पश्चिम के बीच विरोध पहले की अपेक्षा और अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947-1951) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डालर की सहायता दी। इस योजना के बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका का पाश्चात्य जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोप के देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों से साम्यवादी तत्वों का उन्मूलन कर देंगे। 'मार्शल योजना' एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी। 'मार्शल योजना' का प्रत्युत्तर रूस ने सितम्बर, 1947 में 'कोमिनफोर्म' की स्थापना के रूप में दिया। आर्थिक स्तर पर साम्यवाद प्रसार निरोध की नीति के अनुसार अमेरिका ने जर्मन अर्थव्यवस्था को भी पुनर्गठित करने का प्रयास किया।

चारसूत्री कार्यक्रम—चीन में साम्यवाद की विजय से अमेरिका को यह आशंका हो गई कि विश्व के अल्प-विकसित देश साम्यवादी प्रसार के उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। अतः ऐसे प्रदेशों में साम्यवाद प्रसार रोकने के लिए 20 जनवरी, 1949 को ट्रूमैन ने 'चारसूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की—

(i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन,
(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य चालू रखना,
(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना एवं
(iv) अल्प-विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिकी सहायता।

कांग्रेस ने 1950 के अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिंस के शब्दों में, "यह कानून अमेरिकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था।" इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थी तथा इसके द्वारा अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की सिद्धि होती थी।

आलोचकों द्वारा चार-सूत्री कार्यक्रम को शीतयुद्ध का ही अस्त्र माना गया। कहा गया कि यह अल्प-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनसे आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है।

नाटो : प्रसार निरोध की रणनीति (NATO, The Strategy of Containment)—राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के विरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का तरीका अपनाया जो अमेरिकी विदेश नीति में एक नवीन प्रयोग था। सैनिक प्रसार-निरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका द्वारा नाटो का सगठन किया गया और 4 अप्रैल, 1949 को संयुक्तराज्य, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच यह प्रथम सैनिक सन्धि सम्पन्न हो गई। उत्तरी अटलांटिक सन्धि अनेक तरह से एक 'नया परिवर्तन' (Innovation) थी। यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वय को वचनबद्ध किया। इसी के साथ यूरोपीय देशों की सामरिक शक्ति बढ़ाने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम भी अपनाया गया।

संयुक्तराज्य अमेरिका को तेजी से सैनिक सन्धियों के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उत्तरदायी एक और महत्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने 1949 में ही अणु बम (Atom Bomb) के रहस्यों को खोज निकाला था जिन्हें संयुक्त-राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ से सर्वथा गुप्त रखा था। रूस की इस खोज से संयुक्तराज्य अमेरिका के अणुशक्ति पर एकाधिकार (Monopoly) का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया।

खुले संघर्ष का काल (जून, 1950—जुलाई, 1953)

साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यों बढ़ता गया संयुक्त राज्य अमेरिका महत्वपूर्ण सैनिक सन्धियों और प्रतिरक्षा संगठनों की ओर उन्मुख होता गया। जून, 1950 में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से जिसमें संयुक्त राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत अमेरिकी सेनाओं ने ही लगभग पूर्ण युद्ध लड़ा, अमेरिकी विदेश नीति में सैनिक शक्ति का महत्व द्विगुणित हो गया। श्लीचर (Schleicher) के शब्दों में, "अमेरिकी सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तिगुने से भी अधिक हो गया, यूरोप को दिए जाने वाले सहयोग की अपेक्षा सैनिक शक्ति पर जोर दिया जाने लगा तथा मार्शल योजना की मदें 'सुरक्षा समर्थन की मदें' बन गईं।"

कोरिया युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 53 तक चालू रहा। यह अवधि शीतयुद्ध के स्थान पर खुले संघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की थी, इसलिए अमेरिकी युद्धोत्तर विदेश नीति के इतिहास में यह एक प्रकार का 'खुले संघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) रहा। इस अवधि में अवरोध-नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हुए 30 अगस्त 1951 को अमेरिका ने फिलिप्पीन्स के साथ एक प्रतिरक्षा समझौता किया, 1 सितम्बर,

1951 को आस्ट्रेलिया एव न्यूजीलैण्ड के साथ एजुस समझौता किया और इसी तरह 8 सितम्बर, 1951, को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा-सन्धि की।'

स्पष्ट है कि अमेरिकी प्रशासन मे सैनिक शक्ति के उपयोग एव सैनिक तथा प्रतिरक्षा समझौतो के महत्त्व की विचारधारा बलवती हुई। इस तरह अमेरिका अपनी विदेश नीति मे अब आर्थिक और सैनिक दोनो ही तत्त्वो को प्रधानता देने लगा। ये दोनो ही तत्त्व आज भी अमेरिकी विदेश नीति के प्रधान अग बने हुए हैं।

आइजनहॉवर-युग
(1953-1961)

जनवरी, 1953 मे जनरल आइजनहॉवर ने ह्वाइट हाउस मे प्रवेश किया। इसके पूर्व मार्च, 1953 मे सोवियत अधिनायक स्टॉलिन की मृत्यु हो चुकी थी। आइजनहॉवर-काल मे सोवियत नेतृत्व मे दो परिवर्तन हुए—स्टॉलिन के तुरन्त बाद मॉलेकोव रूस के प्रधान मन्त्री बने और फरवरी, 1955 मे उनके पतन के बाद ख्रुश्चेव युग (1955–1963) प्रारम्भ हुआ।

आइजनहॉवर-काल मे अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु

आइजनहॉवर-युग मे अमेरिकी विदेश नीति मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए केवल कुछ सामायिक परिवर्तन किए गए और ट्रूमैन-सिद्धान्त की भाँति ही मध्यपूर्व के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया। आइजनहॉवर-काल मे अमेरिकी विदेश नीति का स्वरूप निम्नानुसार रहा—

1. यथासम्भव युद्ध का बहिष्कार किया गया।

2 दूसरे देशो के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई, लेकिन कहीं भी दुर्बलता प्रकट नहीं की गई। आइजनहॉवर के समय अमेरिका ने कही भी तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) नही अपनाई।

3. साम्यवाद के प्रसार को सीमित या समाप्त करने के लिए आर्थिक और सैनिक सहायता की नीति जारी रखी गई। मैत्रीपूर्ण सैनिक सन्धियो की नीति भी चालू रही।

4. अमेरिकी सेनाओ का आधुनिकीकरण किया गया, लेकिन विश्व के देशों को यह आश्वासन दिया गया कि अमेरिका अपनी सैन्य-शक्ति का दुरुपयोग नही करेगा।

5. विश्व के उत्पादन और लाभपूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई गई।

6. यूरोपीय एकता को प्रोत्साहन दिया गया और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशो के साथ अधिकाधिक सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया।

7. सयुक्त-राष्ट्रसघ का समर्थन करते रहने और इसका साम्यवाद के विरुद्ध एक साधन के रूप मे प्रयोग मे लाने की नीति अपनाई गई।

8. यात्रा-कूटनीति का अधिक विस्तार किया गया।

आइजनहॉवर युग · विदेश नीति की मुख्य घटनाएँ

साम्यवाद के साथ शक्ति-परीक्षण, कोरिया-युद्ध की समाप्ति—1949 में सोवियत संघ द्वारा अणुबम के रहस्य को खोज निकालने और अमेरिका के आणविक एकाधिकार को समाप्त करने के बाद से ही संयुक्तराज्य अमेरिका में विशेष चिन्ता व्यक्त हो गई थी। इसीलिए यह निश्चय किया गया कि सोवियत संघ के अधिक शक्तिशाली होने से पहले ही उसको युद्ध मे फँसाकर कमजोर बना दिया जाए तथा उसकी सामरिक शक्ति का विनाश कर दिया जाए। यह 'युद्ध-निरोधक युद्ध' (Preventive War) की भावना थी। जून, 1950 मे छिड़ने वाला कोरियाई युद्ध इसी नीति का परिणाम था। आइजनहॉवर द्वारा एक ओर तो पूरी शक्ति के साथ युद्ध करने की ओर दूसरी ओर समझौते के द्वार खुले रखने की नीति अपनाई गई। जुलाई, 1953 मे कोरिया मे युद्ध-विराम हो गया, लेकिन यह भी स्पष्ट हो गया कि साम्यवादी-विश्व से खुली टक्कर मे निर्णायक विजय प्राप्त करना अमेरिका के लिए असम्भव है।

पश्चिमी यूरोप के एकीकरण, अणुशक्ति पर नियन्त्रण आदि [redacted] प्रयत्न—मई, 1953 मे फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका का शिखर-सम्मेलन हुआ। पश्चिमी-यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्न किए गए। 1954 में इतने अधिक सम्मेलन हुए कि विदेश-सचिव जॉन फोस्टर डलेस को प्रवासी राज्य-सचिव की संज्ञा दी जाने लगी। पश्चिमी-यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्नो के फलस्वरूप इसी वर्ष पश्चिमी यूरोपीय संघ (Western European Union) की स्थापना की गई और जर्मनी को नाटो सदस्य बना लिया गया। सोवियत संघ द्वारा 1953 मे हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर लेने के बाद दिसम्बर, 1953 मे आइजनहॉवर ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा मे अणु-शक्ति पर नियन्त्रण और उसका शान्ति के लिए प्रयोग का प्रस्ताव रखा।

साम्यवाद के अवरोध के लिए सीटो तथा बगदाद-पैक्ट की स्थापना—1954 मे साम्यवादी चीन की सहायता से साम्यवादी छापामारो द्वारा हिन्द चीन में गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी गई। फलस्वरूप जुलाई मे हिन्द चीन, फ्रांस, साम्यवादी चीन, रूस और ब्रिटेन के प्रतिनिधियो ने जेनेवा सम्मेलन मे हिन्द चीन को विभाजित करने का निर्णय लिया। इसके उत्तरी भाग मे वियतमिन्ह (बाद मे उत्तर वियतनाम) का, साम्यवादी राज्य बनाया गया और दक्षिणी भाग को लाओस, कम्बोडिया और दक्षिण वियतनाम के तीन गैर-साम्यवादी राज्यो मे विभाजित कर दिया गया। इस घटना-चक्र ने संयुक्तराज्य अमेरिका को साम्यवादी चीनी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए दृढ संकल्प बना दिया। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सितम्बर, 1954 मे थाइलैण्ड, फिलिप्पीस, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ 'दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा सन्धि' पर हस्ताक्षर कर सीटो (SEATO) की स्थापना की।

इसी प्रकार पश्चिमी एशिया के देशों को साम्यवाद से रक्षा के लिए 1955 में बगदाद समझौते (Bagdad Pact) का सूत्रपात हुआ। इस सैनिक सन्धि में अमेरिका सहित ब्रिटेन, तुर्की, ईरान, पाकिस्तान आदि सम्मिलित हुए।

पश्चिम एशिया और आइजनहॉवर सिद्धान्त—1956 में स्वेज के प्रश्न पर मिस्र पर असफल आक्रमण के बाद ब्रिटेन और फ्रांस के पश्चिम एशिया से हट जाने से वहाँ 'शक्तिरिक्तता' पैदा हो गई। यह आशंका हुई कि इससे रूस अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा अत. अमेरिका ने इस 'शक्तिरिक्तता' को भरना चाहा। इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए जनवरी, 1957 में आइजनहॉवर सिद्धान्त (Eisenhover Doctrine) की घोषणा की गई जिसके आधार पर 1958 में एक कानून द्वारा अमेरिकी राष्ट्रपति को पश्चिम एशिया के किसी भी देश में अपनी विवेक बुद्धि से साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने और सैनिक कार्यवाही करने का व्यापक अधिकार मिल गया। कांग्रेस ने आइजनहॉवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकी सहायता के इच्छुक पश्चिम एशियाई देशों की सहायता के लिए 20 करोड़ डॉलर की विशाल धनराशि स्वीकृत की।

आइजनहॉवर सिद्धान्त के प्रति मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हुई—जॉर्डन, लेबनान, ईराक, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया जबकि मिस्र, सीरिया आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बतलाया। उन्होंने आरोप लगाया कि अमेरिका अरब-राष्ट्रवाद को कुचलने और इजरायल को अरबों पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहता है। सोवियत संघ ने इस सिद्धान्त को अमेरिका की आक्रामक नीति की एक कड़ी माना। भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने इसे विदेशी हस्तक्षेप और सकट की संज्ञा दी।

आइजनहॉवर सिद्धान्त की घोषणा के बाद शीघ्र ही अमेरिका के सामने ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब उसे इस सिद्धान्त के प्रयोग का मौका मिला। लेबनान और जॉर्डन में इस सिद्धान्त का प्रयोग हुआ, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक सफल नहीं हो सका। वास्तव में 'आइजनहॉवर सिद्धान्त को इस क्षेत्र में साम्यवादी प्रभाव का प्रसार रोकने में सफलता नहीं मिली, उल्टे लेबनान और जॉर्डन में सैनिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप पश्चिमी विरोधी तत्वों की प्रधानता हो गई। ईराकी क्रान्ति के फलस्वरूप मास्को का प्रभाव क्षेत्र बढ़ा।" आईजनहॉवर सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ को निर्बल बनाने वाला सिद्ध हुआ। इजरायल के विरुद्ध अरबों के तीव्र विरोध ने भी सिद्धान्त की सफलता के मार्ग में बाधा डाली।

शीत-युद्ध में शिथिलता (1959–60)—आइजनहॉवर सिद्धान्त के कारण शीतयुद्ध तीव्र हो गया, लेकिन सितम्बर, 1959 में जब अमेरिकी राष्ट्रपति के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की राजकीय यात्रा की, तो वातावरण में सुधार हुआ। दोनों नेताओं ने यह निर्णय लिया कि पारस्परिक मतभेदों के प्रश्नों पर वार्ता के लिए अमेरिका, रूस, ब्रिटेन फ्रांस का एक शिखर

सम्मेलन आयोजित किया जाय। अमेरिकी राष्ट्रपति ने 1960 के वसन्त काल में रूस की यात्रा का निमन्त्रण स्वीकार किया।

शिखर-सम्मेलन की असफलता—काफी विचार-विमर्श के बाद शिखर-सम्मेलन 16 मई, 1960 को होना निश्चय हुआ। सम्मेलन के पूर्व ही मुख्य रूप से दो अपशकुन हो गए—

(i) जर्मनी से सम्बन्धित विवाद, एवं (ii) यू–2 विमान काण्ड।

(i) पहला अपशकुन जर्मनी के सम्बन्ध में हुआ। *14 जनवरी, 1960* को पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर अदेनावर ने आरोप लगाया कि सोवियत संघ बर्लिन पर हमला कर रहा है तथा शिखर-सम्मेलन का मुख्य विषय जर्मनी के स्थान पर निःशस्त्रीकरण का प्रश्न होना चाहिए। ख्रुश्चेव ने धमकी दी कि "यदि पूर्व और पश्चिम की वार्ता से बर्लिन की स्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ तो सोवियत संघ पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा और पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण कर देगा।"

फरवरी, 1960 में रूस ने बर्लिन में एक नया संकट पैदा कर दिया। पूर्वी जर्मनी में विद्यमान पश्चिमी देशों के सैनिक मिशनों को दिए जाने वाले वीसा पूर्वी जर्मन सरकार के नाम से जारी कर दिए गए जबकि अब तक वे पूर्वी जर्मनी के सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किए जाते थे। इस नई व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रूस इस प्रकार पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को 'तथ्यतः मान्यता' (Defacto Recognitino) दिलवाना चाहता था। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के दृढ़ विरोध के पश्चात् अन्त में, 14 मार्च, 1960 को सोवियत रूस इस बात पर सहमत हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियों को पूर्वी जर्मनी की यात्रा के लिए जो वीसा दिए जाएँगे उन पर सोवियत अधिकार-क्षेत्र (Zone of Soviet Occupation) अंकित रहेगा।

इसके बाद फिर तनाव पैदा हुआ। 16 मार्च को पश्चिमी जर्मन-चान्सलर ने घोषणा की कि 16 मई को शिखर-सम्मेलन होने से पहले ही पश्चिमी बर्लिन में इस बात पर जनमत संग्रह लिया जाए कि लोग बर्लिन में यथास्थिति बनाए रखने के पक्ष में हैं अथवा नहीं। इसके विरोध में दूसरे पक्ष की ओर से कहा गया कि इस प्रकार का जनमत संग्रह बर्लिन के दोनों भागों में होना चाहिए।

स्पष्ट हो ऐसे वातावरण में दोनों पक्षों में एक-दूसरे के प्रति सन्देह पूर्वापेक्षा अधिक बढ़ गया जिसका कुप्रभाव-सम्मेलन पर पड़ा।

(ii) शिखर-सम्मेलन के मार्ग में दूसरा सबसे बड़ा अपशकुन यू–2 विमान-काण्ड हुआ। 5 मई, 1960 को सोवियत प्रधानमन्त्री ने रोषपूर्ण शब्दों में घोषणा की कि रूस के हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू–2 अमेरिकी विमान को 1 मई, 1980 को रॉकेट द्वारा नीचे गिरा दिया गया है। रूस ने अमेरिका पर कटु-प्रहार किए और बाद में राष्ट्रपति आइजनहॉवर की घोषणा ने आग में घी का काम किया कि "अमेरिका की जासूसी उड़ानें न्याय-संगत हैं और पर्लहार्बर

पुनरावृत्ति रोकने के लिए उड़ानें आवश्यक हैं।" सोवियत रूस ने आइजनहॉवर के इस चुनौती भरे शब्दो को अपना राष्ट्रीय अपमान समझा।

यू-2 विमान काण्ड से दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव चरम सीमा पर पहुँच गया और शिखर-सम्मेलन की सफलता की आशा धूमिल हो गई, लेकिन ख्रुश्चेव की इन घोषणाओं से फिर भी आशा बनी रही कि "अन्तर्राष्ट्रीय दबाव कम करने के प्रयत्नो मे शिथिलता नही आने देनी चाहिए और शिखर सम्मेलन मे यू-2 का विषय नहीं उठाया जाएगा।"

लेकिन जब 16 मई, को शिखर-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो सोवियत प्रधान मन्त्री ने अचानक ही यू-2 काण्ड के लिए अमेरिका की निन्दा करते हुए निम्नलिखित माँगें पेश करदी—

(क) अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए क्षमा माँगनी चाहिए, इस कार्य को बन्द करना चाहिए, और इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियो को दण्डित करना चाहिए।

(ख) यदि ऐसा नही किया जाता तो रूस की दृष्टि मे शिखर-सम्मेलन मे अमेरिका के साथ बातचीत करना व्यर्थ है और वह इसमे भाग नही ले सकता।

ख्रुश्चेव ने यह भी कहा कि सम्मेलन को 6 या 8 महीने के लिए स्थगित कर दिया जाए ताकि अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनावो के बाद जनवरी, 1961 मे यह आयोजित हो सके। आइजनहॉवर द्वारा जासूसी उडानों को भविष्य मे स्थगित कर देने के आश्वासनो के बावजूद ख्रुश्चेव अपनी माँग पर अड़े रहे। 17 मई को सम्मेलन प्रारम्भ होने पर ख्रुश्चेव जब नही आए तो यह घोषणा कर दी गई कि "ख्रुश्चेव द्वारा अपनाए गए रुख के कारण शिखर-सम्मेलन प्रारम्भ करना सम्भव नही है।"

कैनेडी-युग
(1960-1963)

नवम्बर, 1960 मे जॉन एफ कैनेडी अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राष्ट्रपति पद पर कैनेडी की विजय डिमॉक्रेटिक दल की विजय थी।

विदेश नीति को नया मोड

कैनेडी ने कुछ दृष्टियो से अमेरिका की विदेश नीति को नया मोड दिया, नई गति दी। विदेश नीति के पुराने तत्त्व भी कैनेडी-युग मे अधिक प्राणवान बन गए। *मूल सिद्धान्तों में परिवर्तन चाहे न हुए हो, किन्तु कैनेडी के समय वे इतने* सजीव बन गए कि ऐसा लगने लगा मानो विदेश नीति मे एक नई जान आ गई हो। कैनेडी-युग की अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु ये थे—

1 समझौतो और वार्ताओ द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदो को कम किया जाए पर साथ ही साम्यवादी खतरे के विरुद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए।

2. विश्व मे साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य तानाशाहियाँ भी शत्रु हैं। विश्व की परेशानियों का कारण केवल साम्यवाद ही नही है और अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ-साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

3. विश्व मे डॉलर का मूल्य सुरक्षित रखा जाए तथा इसकी साख मे कमी न होने दी जाए।

4. ऐसे प्रयत्न बराबर किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक-दूसरे के निकट आएँ तथा एक-दूसरे को समझें।

5. दोनो गुटो के बीच विचारों के स्पष्ट आदान-प्रदान द्वारा सन्देहो को मिटाया जाए।

6. साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहाँ तक कि लौह-दीवार के अन्दर के प्रदेशो को भी राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियो का क्षेत्र बनाया जाए।

7 यथा-साध्य सह-अस्तित्व की प्रणाली पर बल दिया जाए।

कैनेडी-युग मे विदेश नीति सम्बन्धी मुख्य घटनायें

कैनेडी शासन-काल मे अमेरिकी विदेश नीति का विश्लेषण निम्नलिखित सन्दर्भों मे किया जाना उपयुक्त होगा—

मानव-अधिकार और कैनेडी—कैनेडी ने मानव-अधिकारों के प्रति दृढ निष्ठा व्यक्त की और इसे अमेरिकी विदेश नीति की प्रेरक शक्ति बताया। 20 सितम्बर, 1963 को उन्होंने नागरिक अधिकारों के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसघ मे विचार-विमर्श किया और आशा प्रकट की कि अमेरिका सहित विश्व के सभी राष्ट्र वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि को मिटाकर सभी व्यक्तियो को कानून के समक्ष समान सुरक्षा प्रदान करेंगे।

शान्ति और सह-अस्तित्व में विश्वास—10 जून, 1963 को अपने भाषण मे कैनेडी ने शान्ति और सह-अस्तित्व मे विश्वास प्रकट किया। कैनेडी ने शान्ति और नि:शस्त्रीकरण के प्रति रूसी रवैये को कोसा नही बल्कि उसकी दिशा मे रूस के प्रयासो की सराहना की।

पुराने मित्रों के प्रति वफादारी—रूसी साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सह-अस्तित्व का नारा बुलन्द करने के साथ ही कैनेडी ने वफादार मित्रो के प्रति निष्ठा बनाए रखने का वचन भी दिया। उन्होंने नाटो का आर्थिक और राजनीतिक आधार मजबूत करने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम उठाए तथा जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इन्कार कर दिया। जून, 1961 मे जब ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक् सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी तो कैनेडी के नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों ने रूस को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि रूस की एकपक्षीय कार्यवाही उन्हें किसी भी अवस्था मे मान्य नही होगी। इस दृढ़ता का परिणाम यह हुआ कि रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नहीं किया।

क्यूबा संकट और कैनेडी—क्यूबा के सकट द्वारा कैनेडी की विदेश नीति की दृढ़ता स्पष्ट रूप से उभरी। क्यूबा 1959 मे फिडेल कास्त्रो द्वारा सत्ता सम्भालने के समय से अमेरिका विरोधी बन गया था, 1962 के इस सोवियत घोषणा ने दोनो देशों के सम्बन्धो में गहरा तनाव पैदा कर दिया कि वह साम्राज्यवादियो से रक्षा के लिए क्यूबा को शस्त्रास्त्रों की पूर्ण सहायता देगा। गुप्त सूचनाओ के बल पर राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि रूस ने क्यूबा को प्रक्षेपणास्त्रों, पनडुब्बियो तथा रॉकेट आदि से सज्जित किया है जिससे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है। '16 सितम्बर, 1962 को कैनेडी ने क्यूबा की हवाई जाँच-पड़ताल के आदेश दिए जिससे पुष्टि हो गई कि वहाँ भारी मात्रा मे प्रक्षेपणास्त्र लगाए जा रहे है। 23 अक्तूबर को कैनेडी ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि सोवियत शस्त्रवाही जहाज अमरीकी युद्धपोतो से लोहा लिए बिना क्यूबा नही पहुँच सकते। तनाव की इस घडी मे सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने भी दूरदर्शिता से काम लिया और 23 अक्तूबर को यह घोषणा कर दी कि रूस अपने प्रक्षेपणास्त्र क्यूबा वापस मँगाने की आज्ञा दे रहा है और वह क्यूबा पर स्थित अपने सभी प्रक्षेपणास्त्र अड्डो को सयुक्त राष्ट्रसघ की देख-रेख मे तुडवा देने को सहमत है। कैनेडी ने इस घोषणा का स्वागत किया और कहा कि "यह एक सच्चे नेता सरीखा निर्णय है।"

कैनेडी की दृढ़ता और तत्परता तथा ख्रुश्चेव के विवेक और संयम के फलस्वरूप क्यूबा संकट से उत्पन्न परमाणु युद्ध की आशका टल गई, तथापि क्यूबा सकट के व्यापक परिणाम हुए—(1) रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद बढ गए। चीन ने आरोप लगाया कि रूस अमेरिका से डर कर पीछे हटा है। (2) क्यूबा संकट ने भारत पर चीन के आक्रमण को प्रेरित किया। चीन ने सोचा कि अमेरिका और रूस एक-दूसरे के भयवश सघर्ष मे नही उलझेगे तथा भारत को सहायता नही मिल सकेगी और इस तरह उसे भारत के एक बडे भू-भाग पर कब्जा करने का अवसर मिल जाएगा। (3) क्यूबा संकट के अनुभव के कारण अमेरिका ने भारत को तेजी से सहायता पहुँचाई तथा गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को बल मिला।

परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, 1963—कैनेडी और ख्रुश्चेव की संयमपूर्ण नीतियो के फलस्वरूप महाशक्तियो के बीच के तनाव में कमी आई और 1963 मे परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सधि से मास्को तथा वाशिंगटन के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण पैदा हुआ। कैनेडी ने नि शस्त्रीकरण के लिए भरसक प्रयास किए। सधि से कुछ ही दिवस पूर्व 15 अप्रैल, 1963 को अमेरिकी और सोवियत राष्ट्राध्यक्षो के बीच सीधी टेलीफोन लाइन और रेडियो सम्पर्क (हॉट लाइन) स्थापित करने का भी समझौता हुआ।

लेटिन अमेरिका और कैनेडी कैनेडी ने लेटिन अमेरिका के प्रति उदार और मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। मार्च, 1961 मे उन्होने प्रगति के लिए 'मैत्री' नामक

प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार अन्य स्वतन्त्र देशो, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ और व्यक्तिगत पूंजीपतियो के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका ने लेटिन अमेरिका के आर्थिक विकास एव जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 20 अरब डॉलर की सहायता तथा ऋण देने की पेशकश की । इस नीति के फलस्वरूप मध्य और दक्षिण अमेरिका के देश आर्थिक और सामाजिक विकास की दिशा मे प्रगति करने लगे ।

भारत-पाक सम्बन्ध तथा कैनेडी—कैनेडी ने भारत के प्रति सदाशयता रखते हुए भी दबाव डालने की नीति का परित्याग नही किया । जब भारत द्वारा भारत के पुर्तगाली उपनिवेशो को पराधीनता से मुक्त कराया गया तो सुरक्षा परिषद् मे भारत के विरुद्ध निन्दा-प्रस्ताव लाया गया । अमेरिका ने भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता पर भी रोक लगा दी । कश्मीर के प्रश्न का भी भारत के विरुद्ध उपयोग करने का प्रयत्न किया गया । इस सबके बावजूद कैनेडी का रुख अपने पूर्ववर्ती अमेरिकी राष्ट्रपति की तुलना मे भारत के प्रति अधिक उदार रहा और 1962 में चीनी आक्रमण के समय उन्होने भारत को बिना शर्त सैनिक सहायता भेजना स्वीकार किया ।

कैनेडी और वियतनाम—कैनेडी ने दक्षिण वियतनाम को उत्तर वियतनाम के विरुद्ध युद्ध मे सक्रिय मदद देने का निश्चय किया । 1961 मे दक्षिणी वियतनाम मे लगभग 700 अमेरिकी सैनिक थे जिनकी सख्या बढाकर 1963 मे 16500 कर दी गई तथा भारी मात्रा मे धन और अस्त्र-शस्त्र भी सहायता के रूप मे दिए गए ।

जॉनसन-युग (1964-1968)

21 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उप-राष्ट्रपति लिण्डन बी जॉनसन संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने और 1964 के निर्वाचन मे विजय प्राप्त करने पर पुनः राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए । जॉनसन एक ओर तो शीत-युद्ध के विस्तार को रोकने का नाटक करते रहे और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण अपनाए गए ।

जर्मन एकीकरण और बर्लिन सम्बन्धी प्रश्न—जर्मनी और बर्लिन के प्रश्नों पर युद्ध के बाद से ही अमेरिका और सोवियत सघ के बीच गम्भीर मतभेद चले आ रहे थे । जॉनसन के प्रशासन-काल मे भी अमेरिका की नीति लगभग पहले जैसी ही रही । *अमेरिका का कहना था कि जर्मनी के दोनो भागों और बर्लिन में स्वतन्त्र* मतदान द्वारा विधान-निर्मात्री सभा की स्थापना की जाए और यह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे जो द्वितीय महायुद्ध की विजेता-शक्तियों के साथ सन्धि करे जिसमे कि पोलैण्ड एव रूस द्वारा हथियाए गए प्रदेशो की समस्या का समाधान हो । सोवियत दृष्टिकोण भी पहले के समान ही था कि पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी को पहले प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के रूप मे स्वीकार कर लें और फिर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दोनो गणराज्य एकीकरण के लिए परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता कर

साम्यवादी चीन को मान्यता का प्रश्न—राष्ट्रपति जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को अमेरिकी मान्यता देने से इन्कार कर दिया। वह यह मानते रहे कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का आश्रय लिया है, संयुक्त राष्ट्रसंघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है, उसे संघ में प्रवेश के योग्य शान्तिप्रिय राष्ट्र नहीं माना जा सकता, अतः अमेरिका उसे मान्यता नहीं दे सकता।

निःशस्त्रीकरण का प्रश्न—जॉनसन के शासन-काल में परमाणु-सन्धि परीक्षण रोकने की सन्धि के पश्चात् निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

यूरोपीय सुरक्षा का प्रश्न—यूरोपीय सुरक्षा की दृष्टि से जॉनसन के शासन-काल में अमेरिकी विदेश नीति को काफी क्षति उठानी पड़ी। जनरल डिगॉल के नेतृत्व में फ्रांस अमेरिका के प्रभाव से निकल गया जिसके फलस्वरूप विवश होकर अमेरिका को नाटो का मुख्यालय पेरिस से हटाकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स स्थानान्तरित करना पड़ा।

वियतनाम का प्रश्न—जॉनसन के शासन-काल में वियतनाम-युद्ध को अमेरिका ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और उत्तर-वियतनाम पर अधिकाधिक उग्र एवं विनाशकारी बमवर्षा की गई। मार्च, 1968 तक जॉनसन-प्रशासन वियतनाम-समस्या पर झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। 1968 के प्रारम्भ से ही जब उत्तर वियतनामी सेना तथा वियतनामी छापामारों के हाथों अमेरिकी सेना को अपमानजनक पराजय सहनी पड़ी और अमेरिका सहित विश्व के विभिन्न भागों में युद्ध का तीव्र विरोध होने लगा, तो 31 मार्च, 1968 को जॉनसन ने राष्ट्र के नाम अपने एक सन्देश में यह नाटकीय घोषणा की कि वियतनाम में शान्ति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्तर वियतनाम पर आंशिक रूप से बमबारी बन्द कर देने के आदेश दे दिए गए हैं और आगामी चुनावों में वह राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशी नहीं बनेंगे। यद्यपि इस घोषणा से शान्ति स्थापना के लिए हनोई की शर्तें पूरी नहीं हुईं, तथापि इससे राजनीतिक वातावरण में एक निश्चित परिवर्तन आया।

लेटिन अमेरिका सम्बन्धी नीति—जॉनसन प्रशासन लेटिन अमेरिका के सन्दर्भ में 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Agreement) कार्यक्रम को प्रभावी रूप में कार्यान्वित करने में असफल रहा। उसकी मौलिक नीति यही रही कि अपने *राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों-सोवियत संघ और चीन से लेटिन अमेरिका की भौगोलिक* दूरी का लाभ उठाकर अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र में रखा जाए। कैनेडी क्यूबा से चोट खा चुकने के बाद यह नहीं चाहते थे कि लेटिन अमेरिका में साम्यवाद पनपे, उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जॉनसन ने इस लक्ष्य की स्थिति के लिए उदार नीति छोड़कर कठोर रवैया अपनाया। लेटिन अमेरिका के प्रति उनकी नीति 'कथनी और करनी' में भिन्न रही।

कोरिया और प्यूब्लो-काण्ड—जॉनसन ने 'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' की नीति को न केवल जारी रखा वरन् उसका कार्यक्षेत्र और भी बढ़ा दिया जिसके कारण एक ऐसा संकट पैदा हुआ जिसमें अमेरिका को अपमानित होना पड़ा। 23 जनवरी, 1968 को उत्तरी कोरिया ने अमेरिका का एक जासूसी पोत प्यूब्लो अपनी प्रादेशिक जल-सीमा में पकड़ लिया और अन्त में अमेरिका को लिखित क्षमा याचना करनी पड़ी।

पश्चिमी एशिया का संकट—जून, 1967 के अरब-इजराइल संघर्ष में जॉनसन-प्रशासन ने पूर्णतः अरब-विरोधी रुख अपनाया। अमेरिका ने इस तथ्य की ओर से आँख मूँद ली कि आक्रमणकारी कौन है? इतना ही नहीं, सुरक्षा परिषद् में अमेरिका ने यह प्रस्ताव रखा कि अरब-क्षेत्र से इजरायली सेना की वापसी सशर्त हो। अमेरिका को सोवियत रूस का यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ कि इजराइल अरब-क्षेत्रों से वापस हटे और इजरायली आक्रमण की निन्दा की जाए।

इस नीति के फलस्वरूप अमेरिका ने अरब-राज्यों की नाराजगी मोल ले ली। अरब-देशों ने अमेरिका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिए और देश में रहने वाले अमेरिकी नागरिकों को अविलम्ब स्वदेश लौटने के आदेश दे दिए। परन्तु इस सबसे जॉनसन-प्रशासन के अरब-विरोधी रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। 25 नवम्बर, 1968 को अमेरिका ने इजरायल को अमेरिकी हथियार बेचने का निर्णय ले लिया।

भारत-विरोधी दृष्टिकोण—जॉनसन ने भारत के प्रति वह उदार दृष्टिकोण छोड़ दिया जो कैनेडी ने अपनाया था। 1964 में भारतीय प्रतिरक्षा मन्त्री चह्वाण जब अमेरिका गए तो उन्हें कहा गया कि भारत को अपनी प्रतिरक्षा-क्षमता अवश्य ही बढ़ानी चाहिए, लेकिन आर्थिक विकास को बलि चढ़ाकर कुछ नहीं किया जाना चाहिए। भारत को तो यह सीख दी गई और पाकिस्तान को इसके विपरीत पूर्ण रूप से शस्त्र-सज्जित किया जाता रहा। जॉनसन वियतनाम में अमेरिकी बमबारी के बारे में भारत की आलोचना सहन न कर सके और प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री की अमेरिकी यात्रा स्थगित कर दी गई। पाकिस्तान ने कच्छ के रन के युद्ध और फिर 1965 के युद्ध में अमेरिकी हथियारों का भारत के विरुद्ध खुलकर प्रयोग किया, लेकिन जॉनसन-प्रशासन का वरदहस्त पाकिस्तान के सिर पर बना रहा। 1967 में विद्रोही नागा नेता फिजो को अमेरिका में शरण दी गई और 1968 में भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता पुनः घटा दी गई। अमेरिका के भारत-विरोधी रवैये से भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी इतनी क्षुब्ध हुईं कि वे अक्तूबर, 1968 में संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन के लिए न्यूयार्क गईं तथा वाशिंगटन गए बिना ही दिल्ली वापस आ गईं।

जॉनसन-शासनकाल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अमेरिकी नीति के कारण अमेरिका की काफी हानि हुई तथा उसे अपनी लोकप्रियता से भी हाथ धोना पड़ा। इस तथ्य को स्वयं जॉनसन ने स्वीकार किया।

निक्सन युग
(1969-अगस्त, 1974)

20 जनवरी, 1969 को रिचार्ड निक्सन संयुक्तराज्य अमेरिका के 37वें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। निक्सन का कार्यकाल अमेरिकी विदेश नीति के इतिहास मे 'क्रान्तिकारी' माना जाएगा क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत् के प्रति अमेरिका की नीति को एक नई दिशा प्रदान की थी तथा और भी अनेक दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे अमेरिकी विदेश नीति को मुखर बनाया। सुदीर्घ-कालान्तर से चला आ रहा वियतनाम युद्ध इन्ही के कार्यकाल मे समाप्त हुआ (यद्यपि कालान्तर में यह पुनः भड़क उठा) और महाशक्ति रूस के साथ नि.शस्त्रीकरण वार्ताओं मे काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत् में 'सह-अस्तित्व' की सम्भावनाओं को जितना अधिक बल निक्सन के कार्य-काल मे मिला उतना पहले कभी नही मिला था।

यूरोप की सद्भावना यात्रा—राष्ट्रपति बनने के लगभग छः सप्ताह बाद ही निक्सन ने यूरोप की सद्भावना यात्रा की जिसका उद्देश्य 'नए यूरोप' की खोज करना था। निक्सन यूरोपीय देशो के नेताओं के साथ वियतनाम, पश्चिमी एशिया आदि समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान करना चाहते थे तथा अमेरिका के दृष्टिकोण को व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुत कर उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहते थे। निक्सन की यात्रा पर यूरोप ने कोई विशेष उत्साह नही दिखाया। फ्रांस मे तीव्र विरोध हुआ तो पश्चिमी जर्मनी परमाणु-प्रसार-निरोध-सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नहीं हुआ। बेल्जियम को छोड़ अन्य राष्ट्रों मे अमेरिका-विरोधी नारों की गूँज सुनाई दी। निक्सन समझ गए कि शीतयुद्ध मे पश्चिमी यूरोप अब संयुक्त-राज्य अमेरिका को अपना पूरा समर्थन नही देगा।

उत्तरी कोरिया में अमेरिकी जासूस—'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' की नीति निक्सन-प्रशासन ने भी जारी रखी जिसके फलस्वरूप अप्रेल, 1969 में उत्तरी कोरिया ने अमेरिका के जासूसी विमान ई. सी. 121 को मार गिराया। अमेरिका का कहना था कि जहाज उत्तरी कोरिया की सीमा में प्रविष्ट नहीं हुआ, जबकि उत्तरी कोरिया का आरोप था कि विमान उसकी सीमा में प्रवेश कर जासूसी कर रहा था। कुछ समय बाद ही निक्सन-प्रशासन ने घोषणा की कि दक्षिणी कोरिया तथा प्रशान्त महासागर में अमेरिका के हितो की रक्षा और उत्तरी कोरिया की सैनिक तैयारियों से अवगत रहने के लिए अमेरिका इस प्रकार की जासूसी कार्यवाही जारी रखेगा।

जर्मन समझौते की दिशा में अमेरिकी नीति—निक्सन ने जर्मनी के एकीकरण की समस्या पर यद्यपि वही रुख अपनाया जो जॉनसन ने अपनाया था, तथापि 3 सितम्बर, 1971 को 'चतुर्शक्ति बर्लिन समझौता' (The Four Power Berlin Settlement) सम्पन्न हो गया जिससे बर्लिन-समस्या का एक उत्साहवर्द्धक समाधान निकल आया। यह समझौता मुख्यतः इसीलिए हो सका क्योंकि सोवियत

संघ बढती हुई चीनी-अमेरिकी मैत्री से आशंकित था कि कहीं इसका लाभ उठाकर चीन रूस पर अपना दबाव बढाने का प्रयत्न करके युद्ध का संकट पैदा न कर दे। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के बीच सम्पन्न हुए इस समझौते के अनुसार पश्चिमी तथा पूर्वी बर्लिन के बीच आवागमन की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई और यह निश्चय किया गया कि इस क्षेत्र मे विवादो का शान्तिपूर्ण ढग से समाधान किया जाएगा। सोवियत संघ को पश्चिमी बर्लिन में राजनयिक प्रतिनिधित्व दिया गया जिसके अनुसार उसने वहाँ अपना महावाणिज्य दूतावास खोला। समझौते में यह भी घोषणा की गई कि पश्चिमी-बर्लिन पश्चिमी जर्मनी का मूल भाग नही है, दोनो क्षेत्रो के बीच सम्बन्ध विकसित किए जाएँगे। बर्लिन-समस्या का समाधान अमेरिकी विदेश नीति की सफलता का उतना द्योतक नही था जितना सोवियत संघ की अपनी पश्चिमी सीमाओ को सुरक्षित करने की चिन्ता से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा का। जर्मन-समस्याओ पर महाशक्तियों ने जो सहयोगपूर्ण रुख अपनाया उसका एक शुभ परिणाम यह निकला कि दोनो जर्मन राज्यो (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) के संयुक्तराष्ट्र संघ में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हो गया और दोनो राज्यों को विश्व-संस्था की सदस्यता भी प्राप्त हो गई।

निक्सन-प्रशासन और वियतनाम—राष्ट्रपति निक्सन ने प्रारम्भ में वियतनाम युद्ध को समेट कर अमेरिकी सैनिको को काफी बडी संख्या में स्वदेश बुला लिया, किन्तु दक्षिणी वियतनाम में अमेरिकी तकनीकी सामरिक शक्ति को इस ढग से कायम रखा कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर हावी न हो सके। परन्तु कुछ समय बाद ही निक्सन का रुख अधिक कठोर हो गया और दिसम्बर, 1971 में अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम पर व्यापक हवाई आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। निक्सन की नीति यह थी कि एक ओर समझौता-वार्ता के लिए द्वार खुले रखे जाएँ और दूसरी ओर सैनिक शक्ति से उत्तर वियतनाम को समझौता करने के लिए विवश किया जाए। वियतनाम उत्तरी अमेरिकी हवाई हमलो के आगे नही झुका और 26 अप्रैल, 1972 को निक्सन ने घोषणा की—"हम पराजित नही होंगे और न ही हम अपने मित्रो को साम्यवादी आक्रमण के समक्ष घुटने टेकने देंगे।" उत्तरी वियतनाम की राजधानी हनोई भी अमेरिकी हवाई हमले के घेरे में आ गई। संघर्ष और वार्ता का दौर चलता रहा और आखिर 27 जनवरी, 1973 को वियतनाम मे युद्धबन्दी-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। निक्सन-प्रशासन द्वारा दक्षिणी वियतनाम को प्रचुर आर्थिक सहायता दी जाती रही। वियतनाम युद्ध विराम स्थाई नहीं रह सका और निक्सन के जाने के कुछ ही माह बाद युद्ध पुन. भड़क उठा।

भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश के प्रति निक्सन का दृष्टिकोण— निक्सन-प्रशासन काल मे अमेरिका का भारत-विरोधी रुख विशेष रूप से उग्र रहा और निक्सन के समय दोनो देशो के बीच सम्बन्ध जितने कटु रहे उतने पहले कभी नहीं रहे थे। निक्सन ने भारत को न केवल आर्थिक सहायता ही रोकी, बल्कि सैनिक सामग्री देना भी बन्द कर दिया और हर तरह से भारत के प्रति अमैत्री प्रदर्शित की।

बंगलादेश के मुक्ति आन्दोलन को कुचलने मे तत्कालीन पाकिस्तान सरकार को अमेरिका और चीन का प्रोत्साहन मिला। भारत-पाक युद्ध छिड़ने और चीन द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र की सहायता देने पर भी निक्सन-प्रशासन ने भारत को सहायता देने मे असमर्थता तो प्रकट की ही, बगाल की खाडी मे अपना शक्तिशाली नौ-बेडा भेज कर भारत को डराने-धमकाने की कोशिश भी की।

निक्सन और पश्चिमी एशिया—पश्चिमी एशिया-सकट पर निक्सन का दृष्टिकोण अरब-विरोधी और इजरायल समर्थक रहा। अक्तूबर, 1973 के अरब-इजरायल युद्ध मे अमेरिका ने इजरायल का समर्थन किया तथापि दोनो महाशक्तियो की कूटनीतिक सरगर्मी के कारण युद्ध-विराम हो गया।

इजरायल के समान ईरान को भी युद्ध-सामग्री से लैस करने की नीति अपनाई गई। ईरान के माध्यम से अमेरिकी शस्त्रास्त्रो का भण्डार पाकिस्तान पहुँचने का कूटनीतिक खेल खेला गया। वाशिंगटन-पिण्डी पेंकिंग धुरी के समान ही वाशिंगटन-तेहरान-पिण्डी धुरी का निर्माण किया गया।

निक्सन और चीन—अमेरिका के शत्रु चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढाकर निक्सन ने सिद्ध कर दिया कि राजनीति मे स्थायी मित्र और शत्रु नही होते। अमेरिकी कूटनीति और विदेश-नीति ने इस प्रकार एक क्रान्तिकारी मोड लिया। प्रारम्भ में निक्सन ने चीन को कुछ व्यापारिक रियायतें प्रदान की। एकपक्षीय सुविधाओ द्वारा निक्सन-प्रशासन ने चीन के साथ पहली किस्त मे व्यापारिक सम्बन्ध और दूसरी किश्त मे राजनीतिक मैत्री स्थापित करने की नीति अपनाई।

अक्टूबर, 1971 मे सयुक्त राष्ट्र महासभा ने ताइवान की कथाकथित राष्ट्रवादी चीन सरकार को चीन की अधिकृत सरकार के रूप मे अपनी मान्यता वापस ले ली तथा अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतो से स्वीकार करके बीजिंग की जनवादी सरकार को चीन की अधिकृत सरकार के रूप में मान्यता दे दी। 26 अक्टूबर, 1971 का महासभा का यह निर्णय अमेरिका की विदेश नीति और कूटनीति मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का द्योतक था। अमेरिका और चीन दोनो ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे एक-दूसरे के निकट आने की नीति अपनाई। बगलादेश के मुक्ति आन्दोलन और भारत-पाक सघर्ष के समय, दोनों राष्ट्रो ने सयुक्त राष्ट्रसघ मे और उसके बाहर कूटनीतिक स्तर पर और सामरिक सहायता द्वारा पाकिस्तान का समर्थन किया।

मार्च, 1972 मे निक्सन चीन की राजकीय यात्रा पर गए। चीन-अमेरिकी गठबन्धन का पहला शिकार ताइवान बना जिसे अमेरिका के साथ दोस्ती का दम्भ था। निक्सन ने यह स्पष्ट सकेत दे दिया कि यदि चीनी नेता अमेरिका से सहयोग करें तो वह ताइवन की समस्या के हल में रुकावट नही डालेगा। ताइवान को चीन का एक हिस्सा मानकर तथा ताइवान स्थित अमेरिकी फौजो और फौजी अड्डो को धीरे-धीरे हटाने की इच्छा व्यक्त करके और 'ताइवान समस्या को स्वय सुलझाएँ' कहकर निक्सन ने चीन के प्रति अपनी भावी नीति स्पष्ट कर दी। सयुक्त विज्ञप्ति

मे कहा गया कि हिन्द-चीन, कोरिया और वियतनाम के प्रश्न पर दोनों देशो मे मतभेद ज्यो के त्यो बने हुए हैं। विज्ञप्ति मे न केवल भारत और पाकिस्तान को समान स्तर पर रख कर उनसे कश्मीर मे अपनी-अपनी सेनाओ को युद्ध-विराम रेखा तक लौट जाने का आग्रह किया गया, बल्कि भारत के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने की भी कोशिश की गयी। चीन ने जम्मू-कश्मीर के लोगो के आत्म-निर्णय के अधिकार की दुहाई दी। मतैक्य का एक मुद्दा यह भी था कि दोनो ही देश बगलादेश के बारे मे मौन रहे मानो उसका विश्व-शान्ति और मानव अधिकारो की समस्या से कोई सम्बन्ध ही नही था।

प्रश्न यह उठता है कि लगभग 23 वर्षों से सम्पूर्ण विश्व मे चीन के विरुद्ध मोर्चाबन्दी करने वाले अमेरिकी प्रशासन के मन मे चीन के प्रति मैत्री की भावना क्यो प्रबल हुई, चीन उसकी तरफ क्यो झुका और आज भी यही प्रवृत्ति क्यो है ? इस प्रश्न के उत्तर मे निम्न बातो का उल्लेख किया जा सकता है—

1. सोवियत सघ के बढते हुए सैनिक और राजनीतिक प्रभाव ने अमेरिका को विवश किया कि वह चीन को अपने समीप लाए।

2 चीन और सोवियत संघ के सम्बन्ध पिछले कुछ वर्षों से काफी तनावपूर्ण हो चुके थे, अत अमेरिका ने यह उचित समझा कि रूस से निबटने के लिए चीन को मोहरा बनाया जाए। चीन ने भी रूस के साथ अपनी प्रतिद्वन्द्विता मे अमेरिका के सहयोग को लाभदायक समझा।

3 अमेरिका दक्षिण-पूर्व एशिया से स्वय हटकर वहाँ चीन की उपस्थिति के अधिक पक्ष मे है क्योकि चीन महाशक्ति नही है। कम से कम चीन और अमेरिका दोनों ही इस बात पर तो सहमत हैं कि दक्षिण पूर्व एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत संघ द्वारा नही होनी चाहिए।

4. चीन को यह विश्वास हो रहा है कि पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थायी है क्योकि जापान शक्तिशाली होकर वहाँ स्थायी रूप से छा जाने की कोशिश कर रहा है। ऐसी स्थिति मे अमेरिका ही सन्तुलन कायम रख कर सोवियत सघ के मुकाबले पूर्वी एशिया मे चीन की सैनिक उपस्थिति की सम्भावनाओ को दृढ कर सकता है। चीन और अमेरिका ने यह भी सोचा कि वे मिलकर भारत पर अधिक दबाव बनाए रख सकते हैं।

5. सयुक्त राज्य अमेरिका के उद्योगपति, व्यवसायी तथा अर्थशास्त्री उस पर यह दबाव डालते रहे हैं कि 70 करोड़ की आबादी वाले चीन जैसे बडे देश को अमेरिकी व्यापार क्षेत्र से बाहर रखना अमेरिकी हित मे नही। यह भावना तब और भी जोर पकड गई है जब यह आभास मिलने लगा कि चीन अमेरिकी माल खरीदने के लिए उत्सुक है।

निक्सन और सोवियत संघ—साम्यवादी विश्व के साथ सह-अस्तित्व की अमेरिकी नीति का बहुत कुछ श्रेय निक्सन को है। निक्सन ने मई, 1972 मे

मास्को की यात्रा की। उस अवसर पर जारी संयुक्त घोषणा में दोनों देशों ने 'शान्तिपूर्ण सम्बन्ध' विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया। यह भी कहा गया कि संकट से बचने और परमाणु युद्ध से दूर रहने का भरसक प्रयत्न किया जाएगा। आपसी हितों के मामले पर विचार-विनिमय की परम्परा जारी रहेगी तथा शस्त्र-परिसीमन की नई सम्भावनाएँ खोजी जाएँगी। दोनो देशों ने कहा कि वे सभी राज्यों की प्रभुसत्ता को समानता का दर्जा देते है। दोनों देशों के बीच शस्त्र-परिसीमन पर एक ऐतिहासिक सन्धि हुई। अन्तरिक्ष अभियान-सहयोग सन्धि द्वारा निश्चय किया गया कि दोनो के अन्तरिक्ष-यात्री मिलकर अन्तरिक्ष अनुसन्धान और उपलब्ध जानकारी का आदान-प्रदान करेंगे। एक अन्य सैनिक सन्धि के द्वारा अमेरिका ने रूस की बढ़ी हुई नौसैनिक शक्ति को स्वीकार किया।

जून, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव ने अमेरिका-यात्रा की और दोनो देशो मे कुछ सन्धियाँ हुई। एक सन्धि द्वारा दोनो देशों ने सकल्प किया कि वे परमाणु युद्ध नही करेंगे। दूसरी सन्धि परमाणु शस्त्रास्त्र-परिसीमन और परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। इसके पश्चात् दोनो देशो के बीच 3 जुलाई, 1974 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र-प्रणालियों तथा आक्रामक परमाणु अस्त्रों को और अधिक सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। दोनो देशों के बीच एक महत्त्वपूर्ण 10 वर्षीय व्यापार समझौता भी हुआ जिसे 1972 के व्यापार समझौते का पूरक बताया गया।

वास्तव में निक्सन तीन मुख्य उद्देश्य लेकर सोवियत सघ की यात्रा पर निकले थे—(1) विश्व की दो महान् शक्तियो के बीच द्विपक्षीय सम्बन्धो का विकास, (2) विश्व के कुछ भागो मे महाशक्तियो के बीच संघर्ष की सम्भावनाएँ घटाना एव (3) परमाणु शस्त्रास्त्र परिसीमन के क्षेत्र मे प्रगति। कम से कम पहला उद्देश्य प्राप्त करने मे वे बहुत कुछ सफल हुए। शेष दोनो उद्देश्यो की दिशा मे भी उत्साहवर्द्धक प्रगति हुई। शिखरवार्ता मे पश्चिमी एशिया, भारत के परमाणु परीक्षण, यूरोप मे सेनाओ मे कटौती, यूरोपीय सुरक्षा आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भी निक्सन और ब्रेझनेव के बीच विचार-विमर्श हुआ, किन्तु इसके निष्कर्षों को गोपनीय रखा गया।

फोर्ड युग
(अगस्त, 1974–1976)

वाटरगेट काण्ड मे लिप्तता के कारण निक्सन को राष्ट्रपति पद छोड़ना पड़ा तथा 9 अगस्त, 1974 को उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने अमेरिका के 38वें राष्ट्रपति के रूप मे शपथ ली। उनके राष्ट्रपतित्व काल मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमच पर अमेरिका की भूमिका इस प्रकार रही—

पश्चिमी-एशिया—अरब-इजरायल समस्या के समाधान के लिए अमेरिका के विदेश मन्त्री डॉ. कीसिंगर अपने कूटनीतिक प्रयासों द्वारा 4 सितम्बर,

1975 को मिस्र और इजरायल के बीच एक अन्तरिम समझौता करने में सफल हुए। पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापना के लिए अमेरिकी कूटनीति में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ यह परिलक्षित हुआ कि इजरायल को पूरा-पूरा समर्थन देते हुए भी उसने अरब राष्ट्रों को सोवियत संघ से विमुख कर अपने विश्वास में लेने की नीति अपनाई। इस नीति की स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जब 2 नवम्बर, 1975 को अमेरिका ने मिस्र को परमाणु भट्टी देने के निश्चय की घोषणा की। 6 मार्च, 1976 को अमेरिका ने इजरायल से आग्रह किया कि उसे पूरा सिनाई क्षेत्र खाली कर देना चाहिए। अमेरिकी कूटनीति की एक बड़ी विजय यह थी कि 15 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति सादात ने सोवियत संघ के साथ मिस्र की मैत्री-सन्धि को रद्द कर दिया। अरब-देशों के प्रति अमेरिका ने उदार रुख तो अपनाया, लेकिन जब सुरक्षा-परिषद् में इजरायल-विरोधी प्रस्ताव लाया गया तो 26 मार्च, 1976 को अमेरिका के नए प्रतिनिधि विलियम स्क्रेटन ने उसके विरुद्ध अमेरिका के निषेधाधिकार का प्रयोग किया। 30 मई, 1976 को मिस्र और अमेरिका के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार अमेरिका ने मिस्र को 10 करोड़ 20 लाख डालर की सहायता देने का निश्चय किया।

वियतनाम—वियतनाम में फोर्ड-प्रशासन निक्सन के पदचिह्नों पर चलता रहा तथापि स्थिति उसके हाथ से निकलती चली गई और 30 अप्रेल, 1975 को अमेरिका-समर्थित दक्षिण वियतनाम सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। वियतनाम युद्ध समाप्त हो गया। जन-धन के भारी बलिदान के बावजूद अमेरिका को वियतनाम से हटना पड़ा। महायुद्धोत्तर इतिहास में अमेरिकी विदेश-नीति की यह सबसे गम्भीर और लज्जाजनक पराजय थी। वियतनाम के प्रति अमेरिका का आक्रोश मिटा नहीं और अगस्त, 1975 में उसने सुरक्षा-परिषद् में निषेधाधिकार का प्रयोग करके उत्तर वियतनाम तथा दक्षिण वियतनाम का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश रोक दिया। हिन्द-चीन पर साम्यवादियों का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद अमेरिका की एक विशेष उपलब्धि यह मानी जाएगी कि वह हनोई और वाशिंगटन के बीच किसी न किसी स्तर पर सम्बन्ध बनाए रखने में सफल रहा।

पाकिस्तान को हथियार—भारत के प्रति फोर्ड-प्रशासन का दृष्टिकोण निक्सन-प्रशासन से भी अधिक कठोर रहा। फरवरी, 1975 में अमेरिकी सरकार ने पाकिस्तान को हथियारों की सप्लाई पर 10 वर्ष से लगी पाबन्दी को हटाने के अपने निर्णय की सूचना औपचारिक रूप से भारत सरकार को दे दी। भारत में तीखी प्रतिक्रिया हुई और भारतीय विदेश मन्त्री ने अपनी प्रस्तावित अमेरिका यात्रा स्थगित कर दी। इन व्यवधानों के बावजूद भारत सरकार का यह प्रयत्न रहा कि अमेरिका के साथ सम्बन्ध सुधारे जाएँ अतः अक्टूबर, 1975 में भारत के विदेश मन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की। भारत सरकार ने अमेरिका को स्पष्ट किया कि पाकिस्तान को उन्नत किस्म के अमेरिकी हथियार मिलने से शिमला समझौते के

अन्तर्गत सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया पर बुरा असर पड़ सकता है और इस क्षेत्र मे हथियारो की होड बढ सकती है।

कम्पूचिया—अप्रेल, 1975 मे कम्पूचिया (कम्बोडिया) युद्ध समाप्त हो गया। अमेरिका यहाँ भी पिटा, उसे किसी प्रकार अपनी इज्जत बचाने की ही चिन्ता रही। वह पराजित सरकार को गुमराह करने वाले आश्वासन देता रहा।

महाशक्तियों के बीच सुधरते सम्बन्ध—1972 (22 से 30 मई) मे रिचर्ड निक्सन की सोवियत सघ की पहली यात्रा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नई दिशा मिली थी। उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति फोर्ड ने भी शिखर-कूटनीति को जारी रखा और रूस के साथ सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्न चालू रखे। 23-24 नवम्बर, 1974 को फोर्ड की सोवियत नेता ब्रेझनेव से पहली भेंट ब्लाडीवोस्टक में हुई। इस शिखर-वार्ता के दौरान आणविक अस्त्र-परिसीमन के लिए समझौते के दूसरे चरण की रूपरेखा तैयार की गयी और डॉ. कीसिंगर ने कहा कि जून, 1975 में ब्रेझनेव की अमेरिका यात्रा के समय प्रस्तावित समझौते पर हस्ताक्षर हो जाएँगे। नया समझौता 1977 में प्रथम समझौते की (जो 1972 मे हुआ था) अवधि समाप्त होने पर लागू होगा और सन् 1985 तक लागू रहेगा।

सोवियत सघ और अमेरिका के अधिकारियों मे विभिन्न स्तरो पर बातचीत का सिलसिला चलता रहा—कभी मास्को में और कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन-स्थलो पर। जुलाई-अगस्त 1975 मे हेलसिंकी सम्मेलन को सफल बनाने मे रूस और अमेरिका ने एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने की कोशिश की। जुलाई, 1975 मे अन्तरिक्ष यात्रियों का मिलन वास्तव मे रूस और अमेरिका के मध्य बढती हुई सद्भावना का परिचायक था। इस सफल सयुक्त परियोजना से परस्पर मैत्री की भावना दृढ हुई और यह आशा की जाने लगी कि दो महाशक्तियों के बढते हुए सहयोग से विश्व-राजनीति मे व्याप्त तनाव कम होगा। 9 अप्रेल, 1976 को अमेरिका और सोवियत सघ आणविक परीक्षणों का निरीक्षण करने पर सहमत हो गए और 13 मई, 1976 को शान्ति के लिए परमाणु विस्फोट के आकार आदि पर दोनो पक्षों मे एक समझौता हुआ। दोनो महाशक्तियों के आर्थिक सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर सुधरते गए। 1976 के मध्य तक उनके बीच व्यापार में चार सौ प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि आँकी गई।

अमेरिका-चीन सम्बन्ध बदलते पहलू—निक्सन ने चीन की ओर अमेरिकी दोस्ती का हाथ बढाया। फोर्ड ने अगस्त 1974 में सत्तारूढ होते ही नवम्बर, 1974 मे विदेशमन्त्री डॉ. कीसिंगर को पुन: चीन यात्रा पर भेजा। यह उनकी सातवीं पीकिंग यात्रा थी। लेकिन इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि अमेरिका और चीन के सम्बन्ध ठण्डे हो चले हैं। वास्तव मे चीन को यह अच्छा नहीं लगा कि अमेरिका रूस के अधिक निकट आए। फोर्ड-ब्रेझनेव वार्ता के लिए ब्लाडीवोस्टक के चुनाव से चीन की भावनाओं को विशेष ठेस पहुँची क्योंकि यह स्थान कभी चीन का भाग था। चीन ने सोचा कि उसे चिढाने के लिए ब्लाडीवोस्टक को वार्ता-स्थल चुना गया

है। चीन के आक्रोश का एक कारण यह भी था कि अमेरिका ने ताइवान के प्रश्न पर शघाई-समझौते पर अमल नही किया जो साल भर पहले डॉ कीसिंगर की छठी यात्रा के समय दोनो पक्षों के बीच हुआ था। चीन के नये विदेशमन्त्री चिआओ कुआनहुआ ने भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन की सराहना की और कहा कि उन्होंने चीन-अमेरिका सम्बन्ध सुधारने मे भारी योग दिया था। इस सराहना के माध्यम से चीनी नेताओं ने राष्ट्रपति फोर्ड को जता दिया कि अब अमेरिका की ओर से चीन को कुछ अनिश्चितता महसूस होने लगी है। चार-दिन के प्रवास के बाद कीसिंगर खाली हाथ लौट गए।

डॉ. कीसिंगर की आठवी चीन यात्रा (19–23 अक्तूबर, 1975) के दौरान भी चीन के नेताओं ने ठण्डे दिल से अमेरिकी विदेश मन्त्री का स्वागत किया। अध्यक्ष माओ ने भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की प्रशसा की और उनसे पुन: मिलने की इच्छा प्रकट करके यह सकेत दिया कि चीन को फोर्ड की नीति पसन्द नही है। माओ और अन्य चीनी नेता तो यह चाहते थे कि निक्सन ने चीन-अमेरिका सम्बन्धों में सुधार की प्रक्रिया जहाँ पर छोडी थी फोर्ड वही से उसे आगे बढाएँ। लेकिन फोर्ड के सामने नई परिस्थितियाँ थी और वे निक्सन का अन्धानुकरण नही कर सकते थे। डॉ कीसिंगर के फीके स्वागत के बावजूद राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 मे चीन की यात्रा की। वह 1 से 4 दिसम्बर तक राजधानी बीजिंग मे रहकर इण्डोनेशिया और फिलिप्पीन होते हुए स्वदेश लौट गए। फोर्ड की चीन-यात्रा फीकी रही। यात्रा की समाप्ति पर कोई सयुक्त वक्तव्य प्रसारित नही किया गया। चीनी नेताओं ने इस विवेकशील गोपनीयता को 'एक नई शैली' की सज्ञा दी। अमेरिकी राष्ट्रपति के फीके स्वागत के बावजूद चीन-अमेरिका मे वार्ता टूटने की नौबत नही आई। फरवरी, 1976 मे भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन की यात्रा की जहाँ उन्हे राज्याध्यक्ष जैसा सम्मान दिया गया। रिचर्ड निक्सन के इस सम्मान द्वारा चीनी नेताओ ने अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड को यह संकेत दे दिया कि 'चीन को फोर्ड नही निक्सन चाहिए'। 15 अगस्त, 1976 को अमेरिका ने ताइवान की अपेक्षा चीन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय व्यक्त किया।

अमेरिका और जापान—18 नवम्बर, 1974 को फोर्ड जब जापान की राजकीय यात्रा पर राजधानी टोकियो पहुँचे तो वहाँ अमेरिका-विरोधी भावना काफी उग्र थी। फोर्ड का स्वागत कड़ी सुरक्षा के अन्तर्गत किया गया। उनकी अगवानी के लिए हवाई अड्डे पर न तो सम्राट पहुँचे, न प्रधानमन्त्री। जापान को इस बात से गहरी नाराजगी थी कि एक तो ओकीनावा द्वीप बहुत ही विलम्ब और भारी हीले-हवाले के बाद लौटाया गया और दूसरे चीन की ओर अपनी दोस्ती का हाथ बढाने से पहले अमेरिका ने जापान को विश्वास मे भी नही लिया। वार्ता के दौरान जापान ने अमेरिका से अनाज की माँग की जो अमेरिका ने स्वीकार कर ली। 1969 की सुरक्षा सन्धि को दोनो देशो के मैत्री सम्बन्धो के लिए पुन: महत्वपूर्ण बताया गया।

लेटिन अमेरिका : क्यूबा के प्रति नीति-परिवर्तन—लेटिन अमेरिकी राज्यो मे यह मांग जोर पकडती जा रही थी कि अमेरिका क्यूबा के खिलाफ प्रतिबन्धात्मक नीतियाँ समाप्त करे। अमेरिका क्यूबा को अन्य देशो से अलग रखने के प्रयास मे असफल रहा था। क्यूबा के साथ सम्बन्ध सुधारने का दौर निक्सन काल से ही शुरू हो गया और फोर्ड के शासनकाल मे अमेरिकी राज्यो के 21 सदस्यीय सगठन के जुलाई, 1975 के इस प्रस्ताव का अमेरिका ने समर्थन किया कि क्यूबा पर लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्धो को समाप्त कर दिया जाए।

फोर्ड और फ्रांस—फ्रांस ने तेल सकट के समाधान के लिए अरब देशो पर सयुक्त दबाव डालने की बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग बढाने की नीति अपनाई थी, किन्तु आगे चलकर 1974 के अन्तिम चरण मे जब राष्ट्रपति फोर्ड की फ्रांसीसी राष्ट्रपति गिस्तांग से भेंट हुई तो फ्रांस ने भी तेल-उपभोक्ता देशो के साथ सहयोग करने के लिए सहमति व्यक्त कर दी।

हिन्द महासागर में अमेरिका—हिन्द महासागर क्षेत्र मे अमेरिका अपने सैनिक साम्राज्यवाद का प्रसार करता है। सभी विरोधो के बावजूद डियागोगार्सिया का सामरिक अड्डे के रूप मे विकास किया गया।

अमेरिका 'मुक्ति संघर्षों के विरुद्ध' . यथास्थितिवाद का समर्थक—अमेरिका की विदेश नीति का यह एक खेदजनक पहलू है कि उसने विश्व के राष्ट्रीय आन्दोलनो और मुक्ति सघर्षो को कभी खुले दिल से समर्थन नही दिया। फोर्ड भी इसी नीति पर चले। अमेरिका रोडेशिया और दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद-समर्थक सरकारो का पक्ष लेता रहा। 30 अक्टूबर, 1974 को सयुक्त राष्ट्रसंघ से दक्षिणी अफ्रीका को निष्कासित करने के प्रस्ताव पर अमेरिका ने वीटो का प्रयोग किया।

कार्टर युग
(1977–1980)

20 जनवरी, 1977 को डिमॉक्रेटिक पार्टी के जेम्स अर्ल कार्टर (जिम्मी कार्टर) ने अमेरिका के 39वे राष्ट्रपति के रूप मे शपथ ली। कार्टर के कार्यकाल मे अमेरिका की विदेश नीति को कोई भी नए आयाम प्राप्त नही हुए।

नए रिश्तों की शुरुआत—उपराष्ट्रपति वाल्टर मौन्डेल को 23 जनवरी से 31 जनवरी, 1977 तक सात देशो की यात्रा पर और सयुक्तराष्ट्र मे स्थाई प्रतिनिधि एण्ड्र यग को 3 से 12 फरवरी को तजानिया तथा नाइजीरिया की दस दिवसीय यात्रा पर भेजा गया। एण्ड्र यग ने तजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्यूरेरे को विश्वास दिलाया कि हम अमेरिकी अपने प्रभाव और शक्ति के प्रयास से दक्षिण अफ्रीका भर मे बहुमत्यक और बहुजातीय शासन की सम्भावनाओ पर विचार कर सकते हैं। दरअसल, दक्षिण अफ्रीका की समस्याओ का समाधान अफ्रीकियो द्वारा स्वय होना चाहिए, हम लोग तो केवल सहायता कर सकते हैं। यंग ने अफ्रीकी नेताओ को विश्वास दिलाया कि वह बायरडं संशोधन मे परिवर्तन कराकर रोडेशिया

से क्रोम का आयात बन्द करने की सिफारिश करेंगे। उपराष्ट्रपति वाल्टर मोन्डेल ने बेल्जियम, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की नौ दिवसीय यात्रा में इन देशों के पारस्परिक सम्बन्धों का जायजा लिया। उन्होंने इटली की जर्जर अर्थव्यवस्था में सुधार का आश्वासन दिलाया और नाटो के प्रति अमेरिका की प्रतिबद्धता व्यक्त की। पश्चिम जर्मनी के नेताओं से द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते पर वार्ता तथा ब्राजील को परमाणु जानकारी देने के बारे में विशेष विचार हुआ।

पश्चिमी एशिया और कार्टर प्रशासन—कार्टर प्रशासन ने पश्चिम एशिया की समस्या के निदान के लिए पूर्वापेक्षा अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। 1977 में अपनी अमेरिका यात्रा पर अनवर सादात ने राष्ट्रपति कार्टर को यह बात स्पष्ट रूप से बता दी कि जब तक फिलिस्तीनियों का पृथक् राज्य नहीं बन जाता तब तक अरब-इजरायल संघर्ष पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकता। यह काम केवल अमेरिका ही कर सकता है। राष्ट्रपति सादात और राष्ट्रपति कार्टर ने 1977 के उत्तरार्द्ध में जेनेवा सम्मेलन आयोजित करने के प्रयास करने की बात दोहराई। इसके बाद ही पश्चिमी एशिया की राजनीति में तेजी से नए मोड़ आए। अक्तूबर, 1977 में अमेरिका, सोवियत संघ, अरब देश और इजरायल के बीच एक अनौपचारिक समझौता हुआ जिसने उस गतिरोध को समाप्त कर दिया जो पिछले एक लम्बे समय से जिनेवा सम्मेलन बुलाने में बाधक बना हुआ था। इजरायल इस बात पर सहमत हो गया कि अरब देशों के प्रतिनिधिमण्डल में फिलिस्तीनियों का प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो सकता है। कार्टर में विश्वास रखते हुए भी सादात ने समझौते के लिए इजरायल की यात्रा का ऐतिहासिक निर्णय लिया। राष्ट्रपति कार्टर दोनों पक्षों में समझौते के लिए विशेष प्रयत्न करते रहे और उन्होंने अमेरिका में कैम्प डेविड में सितम्बर, 1978 में सादात-बेगिन-कार्टर शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। 13 दिनों का शिखर सम्मेलन 18 सितम्बर को समाप्त हुआ जबकि एक ऐतिहासिक समझौते पर कार्टर-सादात और बेगिन ने हस्ताक्षर कर दिए। समझौते की क्रियान्विति नहीं हो सकी क्योंकि दोनों पक्षों में कुछ मुद्दों पर मतभेद पैदा हो गए। कार्टर की प्रतिष्ठा दाँव पर लग गई और अन्त में 26 मार्च, 1979 को उनकी उपस्थिति में वाशिंगटन में सादात और बेगिन के हस्ताक्षरों के साथ मिस्र और इजरायल में एक शान्ति-सन्धि सम्पन्न हुई। यह शान्ति-सन्धि सम्पन्न कराने में सफलता प्राप्त कर अमेरिका ने वास्तव में सोवियत संघ को एक करारी कूटनीतिक मात दी। जनवरी, 1980 में अमेरिका द्वारा मिस्र को 35 करोड़ डॉलर की सहायता देने का वायदा किया गया और इस प्रकार कार्टर-प्रशासन ने राष्ट्रपति सादात के प्रति अपना समर्थन जताया। मई, 1980 के प्रारम्भ में फिलिस्तीनियों के अधिकार सम्बन्धी प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग किया गया।

अमेरिका और क्यूबा—अमेरिका और क्यूबा मे पहले से ही चली आ रही तनातनी 1979 के मध्य क्यूबा मे रूसी सैनिको की उपस्थिति को लेकर अचानक ही विस्फोटक स्थिति मे जा पहुँची। राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन मे एक अग्रिम सेना (टास्क फोर्स) तैनात करने की घोषणा कर दी। इसके साथ ही कार्टर ने कुछ नए रक्षा उपायो की भी घोषणा की। क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्ट्रो ने कहा कि क्यूबा मे रूसी सैनिको की उपस्थिति को लेकर अमेरिका के साथ हमारे जो भी विवाद है, हम उन पर बातचीत करने को तैयार हैं। कास्ट्रो ने कहा कि क्यूबा मे जो सोवियत सैनिक हैं उनकी जानकारी तो अमेरिका को पिछले 17 वर्षों से है। सोवियत सघ ने भी अमेरिका को चेतावनी दी कि क्यूबा की बात को अनावश्यक तूल देकर राष्ट्रपति कार्टर आग से खेलने की जोखिम मोल न लें। स्वय अमेरिका मे भी कार्टर-प्रशासन के रुख की काफी आलोचना हुई। अन्त में कार्टर को झुकना पड़ा। कार्टर ने स्वीकार किया कि रूस और अमेरिका के बीच टकराव की स्थिति दोनो देशो की सुरक्षा के लिए जबरदस्त खतरा है और क्यूबा मे 2–3 हजार रूसी सैनिको की उपस्थिति अमेरिका के लिए कोई खतरा नही बन सकती।

अमेरिका और वियतनाम—कार्टर के राष्ट्रपतित्व-काल के प्रारम्भिक कुछ महीनो मे ही वियतनाम के प्रति अमेरिका का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक बन गया। अप्रेल-मई, 1977 मे पेरिस वार्ता का दौर चला। अमेरिका के रिचर्ड होलब्रुक ने विश्वास दिलाया कि अमेरिका अब वियतनाम के सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनने मे बाधा न डालेगा। पिछली चार बार अमेरिका ने सयुक्त राष्ट्रसंघ मे अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर वियतनाम को विश्व-सस्था का सदस्य नहीं बनने दिया था। पेरिस वार्ता मे अमेरिका ने वियतनाम मे अपने दूतावास स्थापित करने की बात उठाई। वियतनाम ने दो मुख्य बातो पर जोर दिया। पहली, अमेरिका 1973 के अमेरिका-वियतनाम समझौते की 29वी धारा के अनुसार युद्ध मे आहत देश के पुनर्निर्माण मे अधिक सहायता दे और दूसरी, अमेरिका वियतनाम के साथ व्यापार करने पर लगाए गए सब प्रतिबन्धो को तुरन्त हटा ले। 20 सितम्बर, 1977 को सयुक्त राष्ट्र महासभा का 32वाँ अधिवेशन विश्व सस्था मे दो नए सदस्यों के प्रवेश के साथ आरम्भ हुआ। ये सदस्य थे—वियतनाम और जिबूती।

कार्टर और भारत—जनता पार्टी के शासनकाल मे भारत-अमेरिका सम्बन्धो मे कुछ सुधार परिलक्षित हुआ। जनवरी, 1978 के प्रथम सप्ताह मे भारत-यात्रा के दौरान कार्टर ने यह घोषणा की कि उन्होंने तारापुर परमाणु बिजली सयन्त्र के लिए श्रेष्ठ यूरेनियम का एक और खेप भेजने का प्राधिकार दे दिया है। दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि वे दूसरो के साथ अपने विवाद सौहार्दपूर्ण ढग से निपटाएँगे तथा परमाणु शस्त्रो के फैलाव के खतरे को रोकने के लिए और उनमे कमी करते हुए अन्तत उन्हे समाप्त करने के लिए कार्य करेंगे। जून, 1978 मे भारत के प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई सयुक्तराज्य अमेरिका की यात्रा पर गए। अमेरिका के उप-विदेशमन्त्री श्री वारेन के नेतृत्व मे आए प्रतिनिधि मण्डल ने

फरवरी–मार्च, 1979 मे भारतीय अधिकारियो के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धो और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर लाभदायक विचार-विमर्श किया। भारतीय विदेश मन्त्री ने 20 से 25 अप्रेल, 1979 तक सयुक्तराज्य अमेरिका की यात्रा की। कुछ मसलो पर विशेषतया तारापुर सयन्त्र के परमाणु ईंधन की सप्लाई के बारे मे दोनो देशो में मतभेद बने रहे। भारत ने कहा कि सयुक्त राज्य को अपने सविदात्मक दायित्व का सम्मान करना चाहिए। यह भी स्पष्ट किया गया कि यद्यपि परमाणु हथियारो के प्रसार के निषेध के विषय में सयुक्तराज्य अमेरिका के उद्देश्य से भारत सहमत है, लेकिन भारत का दृढ विचार है कि यदि इन सुरक्षा सम्बन्धी उपायो का उद्देश्य वस्तुत इन हथियारों के प्रसार को रोकना है तो इसे ऊँचाई तथा विस्तार दोनो प्रकार के प्रसारो पर लागू करना होगा। इससे सुरक्षा सम्बन्धी उपाय परमाणु हथियार-विहीन राज्यो के साथ-साथ उन राज्यो पर भी लागू होगे जिनके पास ये हथियार हैं। भारत ऐसे किसी भी उपाय को कभी भी स्वीकार नही करेगा जो दबावपूर्ण हो। संयुक्त राज्य अमेरिका को पाकिस्तान पर अपनी ओर से पूरी तरह से दबाव डालना चाहिए कि वह इस क्षेत्र में परमाणु हथियारों की होड शुरू करने से बाज आए। यह भी बता दिया गया कि हिन्द महासागर मे सयुक्तराज्य अमेरिका की नौ-सैनिक शक्ति की बढोत्तरी के कारण निश्चित रूप से इस क्षेत्र मे अन्य देशो की नौ-सैनिक उपस्थिति मे वृद्धि होगी। अफगानिस्तान के मसले पर दोनो देशो के दृष्टिकोणो मे अन्तर बना रहा। 24 नवम्बर, 1980 को अमेरिकी सीनेट ने भारत को परमाणु ईंधन देने का प्रस्ताव पारित करके कार्टर प्रशासन की कार्यवाही का समर्थन किया। कुल मिलाकर कार्टर युग मे भारत-अमेरिका सम्बन्ध सामान्य बने रहे।

कार्टर-प्रशासन और चीन : बदलते समीकरण—कार्टर प्रशासन चीन के साथ सम्बन्ध सुधार के लिए प्रयत्नशील रहा। अगस्त, 1977 मे विदेशमन्त्री साइरस वान्स ने चीन की यात्रा की किन्तु ताइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग के विभिन्न मुद्दो पर मतैक्य नही हो सका। अमेरिका ताइवान से सम्बन्ध तोडने को तैयार नही हुआ और चीन के विरोधी रवैये के कारण कार्टर ने यहाँ तक कह दिया कि चीन को पूर्ण मान्यता देने मे अभी वर्षों लगेंगे। वान्स की यात्रा की समाप्ति पर सयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित नही की गई। फिर भी ऐसा वातावरण दिखाई देने लगा कि दोनो पक्ष अन्तत. ताइवान पर समझौता कर लेंगे। वान्स के बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिस्की ने पीकिंग की यात्रा की। चीन के प्रति नीति मे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए कार्टर ने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारो तथा विद्युत आणविक उपकरणो के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धो मे ढील देने का निश्चय किया। अब तक ये हथियार आम तौर पर निर्यात नही किए जाते थे। ताइवान के प्रश्न पर अमेरिका और चीन के बीच मतभेदो की दूरी कम होती गई और मार्च, 1978 के प्रारम्भ मे चीन ने अमेरिका को परामर्श दिया कि वह ताइवान से सम्बन्ध विच्छेद कर ले। 15 दिसम्बर, 1978

को राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने जनवरी, 1979 से चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। कार्टर ने अपने वक्तव्य मे यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है। कार्टर ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है। ये क्षेत्र सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि हो सकते हैं। चीन के साथ अमेरिका के राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय विश्व की महत्त्वपूर्ण घटना मानी गई। ताइवान के साथ अमेरिका का कोई भी सम्बन्ध चीन को नागवार था। अक्तूबर, 1980 मे अमेरिका और ताइवान के बीच बढते सम्बन्धो की चीन द्वारा पुनः आलोचना की गई। कुल मिलाकर कार्टर के शासनकाल मे अमेरिका और चीन एक-दूसरे के अधिक निकट आए। अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप का विरोध अमेरिका और चीन ने एक स्वर से किया। जापान के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री ओहरा की स्मृति के लिए जब विभिन्न देशो के प्रमुख नेता टोकियो मे एकत्रित हुए तो 10 जुलाई, 1980 को कार्टर और चीनी प्रधानमन्त्री हुआ के बीच प्रथम बातचीत हुई। अफगानिस्तान मे रूसी हस्तक्षेप, कम्पूचिया (कम्बोडिया) पर वियतनाम का अधिकार आदि प्रश्नो पर दोनो देशो ने सहमतिपूर्ण चिन्ता व्यक्त की। कार्टर ने एक दूरदर्शन भेंटवार्ता मे कहा कि रूसी सैनिक शक्ति का मुकाबला करने के लिए अमेरिका, चीन और जापान को एक हो जाना चाहिए।

' अमेरिका और रूस—कार्टर प्रशासन, बावजूद सामयिक उतार-चढाव और उत्तेजनाओ के सोवियत सघ के साथ अपने देश के उत्तरोत्तर सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष्ट रहा। कार्टर ने अपने कार्यकाल के कुछ ही महीनो मे रूस-अमेरिका सम्बन्धो का समीकरण बदल दिया। अब तक सोवियत सघ यह मानकर चल रहा था कि वह परमाणु अस्त्रो से अग्रता प्राप्त कर लेगा और अपने यहाँ के असन्तुष्टो का अमेरिका की प्रसन्नता के बिना दमन कर सकेगा। उसे आशा थी कि इस सबके बावजूद अमेरिका के आर्थिक सहयोग से लाभान्वित होता रहेगा। कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया कि परमाणु अस्त्रो के बारे मे वह उचित समानता चाहेगा और अमेरिका से आर्थिक सहयोग स्थापित रखने के लिए सोवियत सघ को घर मे और बाहर अपना आचरण बदलना होगा। कार्टर की इस नीति ने सोवियत सघ को दुविधा मे डाल दिया। निःशस्त्रीकरण पर कुछ सैद्धान्तिक सहमतियो के बावजूद दोनो पक्षो मे गम्भीर मतभेद बने रहे। अन्त मे जून, 1979 मे साल्ट–2 समझौता हो गया जिसे राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र-परिसीमन की दिशा में एक सीमित, पर महत्त्वपूर्ण सन्धि मानी गई है। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप को लेकर रूस-अमेरिका के बीच सुधरते सम्बन्धो मे कुछ तनाव आ गया तथापि इस स्थिति से दोनो ही महाशक्तियाँ बचने का प्रयत्न करती रही जिसमें कोई सशस्त्र टकराव न हो जाए। जून, 1980 मे सोवियत सघ ने यह आरोप लगाया कि पश्चिमी देशो की अडगेबाजी के कारण साल्ट-वार्ता की गति बहुत धीमी हो गई है।

कुल मिलाकर विदेश नीति के क्षेत्र में कार्टर अपने देश के लिए स्तुति योग्य

उपलब्धियां हासिल नहीं कर सके और फलस्वरूप नवम्बर, 1980 के राष्ट्रपति पद के चुनावों में उन्हें रोनाल्ड रीगन के हाथों पराजित होना।

रोनाल्ड रीगन की विदेश नीति
(20 जनवरी, 1981 के उपरान्त)

अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति के तौर पर 70 वर्षीय रोनाल्ड विलसन रीगन ने 20 जनवरी, 1981 को अपने पद की शपथ ग्रहण की। अपने प्रथम सन्देश में नए राष्ट्रपति ने अमेरिका के मित्रों को आश्वासन दिया—"हम अपनी मित्रता अपनी सार्वभौमिकता पर नहीं थोपेंगे, क्योंकि हमारी अपनी सार्वभौमिकता बिक्री के लिए नहीं है।" रीगन ने अमेरिका के प्रतिद्वन्द्वियों से कहा—"शान्ति में उनका यकीन है, शान्ति स्थापना के लिए वह बातचीत कर सकते हैं, बलिदान कर सकते हैं, लेकिन आत्मसमर्पण कभी नहीं करेंगे।" जब रीगन अपना सन्देश समाप्त कर चुके तभी ईरान में अमेरिकी बन्धकों की रिहाई का समाचार प्राप्त हुआ। कार्टर अपने शासनकाल में किए गए अथक् प्रयासों का फल सत्ता में रहते ही देख सके—बन्धकों को रोनाल्ड रीगन के शपथ ग्रहण से 25 मिनट पहले रिहा किया गया। रोनाल्ड रीगन ने नवम्बर, 1984 में पुनर्विजयी होकर 20 जनवरी, 1985 को अगले चार वर्षों के लिए पुन राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण की।

रोनाल्ड रीगन की विदेश नीति प्रारम्भ से कठोर, विस्तारवादी और सैनिक मनोवृत्ति की रही है। रीगन की अब तक की विदेश नीति के मुख्य पक्ष इस प्रकार रहे—

रीगन और रूस।

रीगन ने सोवियत रूस के प्रति प्रारम्भ से ही कठोर रवैये का संकेत दे दिया। मार्च, 1981 में रीगन ने कहा कि सोवियत संघ को अपने प्रभाव और हस्तक्षेप के दायरे पर अंकुश लगाना चाहिए। उन्होंने कहा—"जिस प्रकार लीबिया के मुअम्मर गद्दाफी चड में क्यूबा के सैनिक अगोलो में क्यूबा और पूर्वी जर्मनी के सैनिक इथोपिया और दक्षिण यमन में तथा अब पश्चिमी गोलार्द्ध में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा रहे है उस पर रोक लगाना आवश्यक है।"

रीगन ने सोवियत संघ के एस एस.–20, एस एस.–4 और एस. एस.–5 प्रक्षेपास्त्रों का मुकाबला करने के लिए न्यूट्रान बम्ब के निर्माण का फैसला किया। इस विनाशकारी निर्णय से सारे विश्व का स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक था। सोवियत संघ पर रीगन के इस निर्णय की बहुत तीखी प्रतिक्रिया हुई। नवम्बर, 1981 के अपने भाषण में राष्ट्रपति रीगन ने सोवियत नेता ब्रेझनेव को अपनी चार सूत्री नि शस्त्रीकरण योजना भेजने का उल्लेख किया। अमेरिका की 'शस्त्रीकरण की नीति' के प्रति यूरोप में जो असन्तोष बढ रहा था उसे शान्त करने के लिए रीगन ने यह भाषण देने की कूटनीति अपनाई थी। रूस ने रीगन के नि.शस्त्रीकरण प्रस्ताव को 'प्रचारवादी हथकण्डा' बताकर ठुकरा दिया। रीगन प्रशासन द्वारा

शस्त्रीकरण को बढ़ावा देने की नीति पर प्रहार करते हुए नवम्बर, 1981 मे सोवियत सघ ने अमेरिका पर परमाणु युद्ध की तैयारी का आरोप लगाया।

पोलैण्ड की घटनाओ को लेकर भी अमेरिका और सोवियत सघ के बीच तनाव बढ़ गया। 24 दिसम्बर, 1981 को सोवियत सघ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की चेतावनी दी। रीगन का सोवियत विरोधी रवैया 1982 के मध्य अमेरिकी विदेशमन्त्री अलेक्जेण्डर हेग के त्यागपत्र के मसले को लेकर भी सामने आया। रीगन और हेग के बीच मतभेद का एक महत्त्वपूर्ण मसला सोवियत गैस पाइप लाइन का था। इस समूची योजना का समर्थन अमेरिका को सभी यूरोपीय सहयोगी करते रहे हैं क्योकि इससे ऊर्जा के नए साधनो के साथ-साथ रोजगार के अवसर भी व्यापक हो जाएँगे। इस सम्बन्ध मे तत्कालीन विदेश मन्त्री हेग ने सभी यूरोपीय नेताओ को आश्वासन दे दिया था कि अमेरिका इस विशाल योजना-कार्य का पूरा लाभ उठाने को तैयार है, लेकिन रीगन के कुछ दक्षिण पथी समर्थक इस समूची योजना के विरोधी थे। उनकी आपत्ति थी कि इस पाइप लाइन से सोवियत अर्थव्यवस्था को जबरदस्त प्रोत्साहन मिलेगा और समूचा यूरोप ऊर्जा के मामले मे प्रभावग्रस्त रहकर सोवियत सघ का मोहताज बन जाएगा।[1]

अरब-इजराइल के बीच कुछ बातो पर सहमति का वातावरण तैयार करने के प्रयत्नो मे अमेरिकी विदेश नीति का एक मुख्य लक्ष्य रहा है कि सोवियत संघ वहाँ किसी भी तरह का हस्तक्षेप न कर सके। रीगन प्रशासन का रूस विरोधी रवैया तब भी स्पष्ट हो गया जब 9 मई, 1982 को रीगन ने रूस के विरुद्ध चीन से एकता की अपील की।

11 नवम्बर, 1982 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव का देहान्त हो गया और कुछ दिनो बाद यूरी आन्द्रपोव उनके उत्तराधिकारी बने। रीगन प्रशासन ने नए रूसी नेतृत्व के साथ भी असहयोगी रवैया अपनाया। दोनो महाशक्तियो मे तनाव बढ़ता गया जिसकी चरम परिणति उस समय देखने को मिली जब रूस द्वारा अपने सीमा-क्षेत्र मे दक्षिण कोरियाई यात्री विमान को गिराए जाने पर रीगन-प्रशासन ने रूस को नीचा दिखाने और उसकी निन्दा करने में कोई कसर नही छोड़ी। 1 सितम्बर, 1983 को विमान-काण्ड होने के साथ ही दोनो महाशक्तियो के बीच शीतयुद्ध का दौर फिर शुरू हो गया। अमेरिका ने विमान-काण्ड को इस प्रकार लिया मानो उस पर ही सीधा हमला किया गया हो। अमेरिका ने सोवियत एयरलाइन 'एयरफ्लोट' की उड़ानो पर 60 दिन के लिए प्रतिबन्ध लगाने की घोषणा की और अधिसंख्यक पश्चिमी देशो ने उसका अनुकरण किया। अमेरिका और सोवियत सघ के बीच चल रही कुछ छोटी-मोटी वार्ताएँ भी रद्द कर दी गईं। किन्तु महाशक्तियाँ जेनेवा मे अस्त्र-परिसीमन वार्ता जारी रखने को सहमत रहीं। यह एक अभूतपूर्व घटना थी कि अमेरिका ने सोवियत विदेशमन्त्री आन्द्रेई ग्रोमिको

1 दिनमान, जुलाई, 1982, पृ 31

का विमान उतरने पर भी इस बहाने प्रतिबन्ध लगा दिया कि व्यापक जनरोष को देखते हुए सोवियत विदेश मन्त्री का विमान अमेरिकी अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डो पर उतरने देना सुरक्षात्मक नही है। प्रतिक्रियास्वरूप सोवियत सघ ने भी न केवल श्री ग्रोमिको की न्यूयार्क यात्रा रद्द कर दी बल्कि यह प्रश्न उठाया कि "ऐसी स्थिति मे न्यूयार्क मे सयुक्त राष्ट्रसघ के मुख्यालय को बनाए रखना कहाँ तक उचित है ?"

जेनेवा मे अस्त्र-परिसीमन वार्ता यद्यपि शुरू हो गई लेकिन कोई परिणाम नही निकला और दोनो ही महाशक्तियाँ एक-दूसरे के प्रस्तावो को अमान्य करती रही। दोनो देशो के बीच कटुता तब और भी उभरी जब सोवियत सघ ने 12 सितम्बर, 1983 को एक अमेरिकी राजनयिक और उसकी पत्नी को जासूसी के आरोप में अपने देश से निष्कासित कर दिया। सुरक्षा परिषद् मे अमेरिका और उसके समर्थक देशो द्वारा यात्री विमान गिराने के लिए सोवियत सघ की कटु आलोचना की गई। 13 सितम्बर, 1983 को सोवियत संघ ने दक्षिण कोरियाई विमान गिराए जाने सम्बन्धी सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव पर 'वीटो' कर दिया। 25 अक्तूबर, 1983 को अमेरिका और छः कैरेबियाई देशो द्वारा ग्रेनाडा पर हमले की विश्व के अन्य देशो के साथ ही सोवियत सघ ने भी तीव्र निन्दा की। जेनेवा मे दोनो महाशक्तियो के बीच अस्त्र-परिसीमन सम्बन्धी जो वार्ता चल रही थी उसे सोवियत सघ ने 8 सितम्बर, 1983 को स्थगित कर दिया। वास्तव मे अमेरिका के दुराग्रही रवैये से सोवियत सघ क्षुब्ध हो गया। 5 जनवरी, 1984 को सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको द्वारा नाटो से अस्त्र-सन्धि का प्रस्ताव किया गया जिसका कोई परिणाम नही निकला। 25 जनवरी, 1984 को सोवियत राष्ट्रपति आन्द्रोपोव ने परमाणु अस्त्रो का उत्पादन बन्द करने का एक प्रस्ताव राष्ट्रपति रीगन के समक्ष रखा जिसका भी कोई परिणाम नही निकला। 30 जनवरी, 1984 को सोवियत सघ ने अमेरिका पर शस्त्रास्त्र समझौते के उल्लघन का आरोप लगाया। 10 फरवरी, 1984 को सोवियत नेता यूरी आन्द्रोपोव का देहान्त हो गया और 13 फरवरी को चेरनेन्को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव निर्वाचित हुए और 11 अप्रेल को वे सोवियत सघ के राष्ट्रपति भी निर्वाचित हो गए। नए नेता ने 27 फरवरी, 1984 को पश्चिमी देशो के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि समस्याओं को सुलझाने के लिए मिल-बैठकर विचार किया जाए। नए नेता ने परमाणु हथियारो की रोक पर अमेरिका से वार्ता करने का प्रस्ताव किया जिस पर 19 अप्रेल, 1984 को रीगन ने सहमति व्यक्त की, पर दोनो महाशक्तियों के बीच कूटनीतिक दावपेच चलता रहा और 5 मई, 1984 को चेरनेन्को द्वारा पश्चिमी देशो के मध्य यूरोप मे शस्त्रो की कटौती सम्बन्धी प्रस्तावो को ठुकरा दिया गया। 30 जून, 1984 को सोवियत संघ द्वारा अस्त्रों की कटौती पर अमेरिका से वार्ता पर असहमति व्यक्त की गई। 27 जुलाई, 1984को सोवियत सघ ने अन्तरिक्ष मे शस्त्रास्त्र के प्रतिबन्ध का अमेरिकी सुझाव अस्वीकार कर दिया। सितम्बर, 1984 मे रूसी विदेशमन्त्री ग्रोमिको संयुक्त

बावजूद अमेरिका यह आरोप दोहराए जा रहा है कि वही आतंकवाद के लिए दोषी है। 1986 के प्रारम्भ में गोर्वाच्योव ने तीन चरणों में निरस्त्रीकरण करने की जो दीर्घकालीन समयबद्ध योजना प्रस्तावित की उसे अमेरिका ने रचनात्मक तो बताया पर स्पष्ट रूप से वह स्टार वार कार्यक्रम पर सौदेबाजी को तैयार न था। अमेरिका सोवियत संघ के रचनात्मक रवैये का कोई अनुकूल उत्तर नहीं दे रहा था।

1986 के अन्त में रेक्याविक शिखर-सम्मेलन भी विफल रहा तथा रीगन और गोर्वाच्योव नि:शस्त्रीकरण की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाए। 1987 में पुन: यूरोप महाद्वीप से मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र हटाने के लिए द्वि पक्षीय वार्ताओं का एक लम्बा दौर चला। अक्तूबर के अन्त में अमेरिकी विदेशमन्त्री शुल्ज की मास्को-यात्रा के बाद कहा गया कि वार्ता में गतिरोध आ गया है। अन्ततः सोवियत विदेश-मन्त्री वाशिंगटन गए तथा वहाँ राष्ट्रपति रीगन ने उनके साथ चर्चा के बाद घोषणा की कि 7 दिसम्बर, 1987 को वाशिंगटन में रीगन-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता होगी जिसमें यूरोप से मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र हटाने में एक सन्धि की सम्भावना है तथा इस शिखर वार्ता में पूरे परमाणविक-नि:शस्त्रीकरण पर व्यापक चर्चा हो सकती है।

रीगन और चीन

रीगन के कार्यकाल के प्रथम वर्ष में अमेरिका और चीन के सम्बन्धों में तनाव उभरा। 16 नवम्बर, 1981 को चीन ने स्पष्ट शब्दों में धमकी दी कि यदि अमेरिका ने ताइवान को हथियार दिए तो वह अमेरिका से अपना राजदूत वापस बुला लेगा। ताइवान को हथियार देने के प्रश्न पर अमेरिका और चीन के बीच मतभेद चलते रहे जिससे तत्कालीन चीन-अमेरिका सम्बन्धों को ठेस पहुँची। इस मतभेद को तय करने के सिलसिले में मई, 1982 में अमेरिकी उपराष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने पीकिंग-यात्रा के दौरान चीनी नेताओं से लम्बा विचार-विमर्श किया, लेकिन कोई सुखद परिणाम नहीं निकले। चीन के अनुरोध पर पिछले काफी समय से रीगन-प्रशासन ने ताइवान को हथियारों की सप्लाई तथा हथियारों के पुर्जे आदि देना यद्यपि स्थगित कर रखा था, लेकिन चीन की यह बात बिल्कुल भी नहीं मानी कि अमेरिका हथियारों की सप्लाई रोक देने की अन्तिम तारीख निश्चित कर दे। रीगन ने राष्ट्रपति पद का कार्यभार सम्भालते ही अमेरिकी समर्थन मिलते रहने का वायदा कर दिया।

ताइवान को अमेरिकी हथियारों की सप्लाई के प्रश्न को लेकर चीन और अमेरिका के बीच मतभेद भले ही कम न हुए हों लेकिन चीनी नेताओं ने राष्ट्रपति रीगन के इस अनुरोध पर सहमति दिखाई कि सोवियत संघ के विरुद्ध उनमें सहयोग होना चाहिए। इस आशय का अनुरोध राष्ट्रपति रीगन ने चीनी नेताओं के नाम अपने तीन पत्रों में किया जो उपराष्ट्रपति जॉर्ज बुश अपने साथ पीकिंग ले गए थे।

रीगन ने चीनी नेताओं से कहा कि सोवियत संघ दोनों देशों और समूचे विश्व के लिए खतरा है इसलिए अमेरिका और चीन में सहमति होनी चाहिए और दोनों के बीच सहयोग और बढ़ना चाहिए। रीगन ने अपने इन पत्रों में विश्वास व्यक्त किया कि इस प्रश्न पर सहमति को रखते हुए दोनों देशों के बीच मतभेद वाले अन्य सवाल भी तय हो सकते हैं। रीगन ने अपने पत्र में अमेरिका की चीन सम्बन्धी नीति को स्पष्ट करते हुए यह साफ कह दिया कि चीन तो एक ही है और हम चीन की इस बात को मानते हैं कि शान्तिपूर्ण तरीकों से ताइवान चीन की मुख्य भूमि के साथ मिल जाए तो अच्छा है। तथापि अमेरिका ने ताइवान को हथियार देना जारी रखा और चीन यह मांग करता रहा कि अमेरिका ताइवान को हथियार देना बन्द कर दें। अप्रैल, 1903 को इस ममले को लेकर दोनों देशों के बीच कुछ तनाव भी पैदा हो गया। फरवरी, 1983 में अमेरिकी विदेशमन्त्री जॉर्ज शुल्ज के पीकिंग-यात्रा समाप्त करते ही चीनी समाचार एजेंसी की एक टिप्पणी में ताइवान को अमेरिकी हथियार उपलब्ध कराने की अमेरिकी नीति की निन्दा की गई और यह भी कह दिया गया कि "अमेरिकी विदेशमन्त्री के केवल कह देने भर से ही अमेरिका-चीन सम्बन्धों में सुधार नहीं हो जाएगा, अमेरिका को कुछ करके दिखाना होगा।" 7 अप्रैल, 1983 को चीन द्वारा अमेरिका से सांस्कृतिक समझौते रद्द कर दिए गए तथापि सम्बन्ध-सुधार प्रक्रिया जारी रही और वाशिंगटन-पिण्डी-पीकिंग धुरी मजबूत बनती गई। 31 जुलाई, 1983 को चीन और अमेरिका में एक व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर हुए। एशिया में 'अमेरिका-पाक-चीन धुरी' योजनाबद्ध रूप से सक्रिय है। सितम्बर, 1983 में अमेरिकी प्रतिरक्षा मन्त्री कैस्पर वीनबर्गर ने चीन और पाकिस्तान की यात्रा की।

चीन के प्रधानमन्त्री झाओ जियांग ने 17 जनवरी, 1984 को अपनी 9 दिवसीय अमेरिका यात्रा सम्पन्न की। यह उनकी पहली अमेरिका यात्रा थी। वे राष्ट्रपति रीगन के निमन्त्रण पर वहाँ गए थे। उल्लेखनीय है कि 1970 के बाद चीन व अमेरिका निरन्तर एक दूसरे के निकट आते जा रहे हैं। अपनी यात्रा के दौरान झाओ ने अमेरिका के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध बढ़ाने पर बल दिया। उन्होंने कहा कि चीन अमेरिका के साथ रूस के विरुद्ध कोई गठबन्धन नहीं करेगा परन्तु अफगानिस्तान में रूस की सेनाओं के प्रश्न पर और कम्पूचिया में वियतनाम के हस्तक्षेप के सम्बन्ध में अमेरिका और चीन का समान दृष्टिकोण है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि एशिया में रूसी विस्तारवाद को रोकने में अमेरिका चीन के साथ सहयोग करेगा परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि सोवियत शस्त्रास्त्र के जमाव को वे चीन के लिए खतरा नहीं समझते। यद्यपि झाओ ने अमेरिका-चीन मित्रता पर बल दिया तथापि यह बात भी स्पष्ट कर दी कि अमेरिका के चीन के साथ सम्बन्ध वास्तव में तभी निकट होंगे जब ताइवान की समस्या हल हो जाएगी। चीन यह गारण्टी नहीं देगा कि ताइवान की समस्या को केवल शान्ति के साथ ही हल करेगा। दूसरे शब्दों में, यदि चीन यह समझ लेगा कि ताइवान को मुक्त कराने के लिए बल

का प्रयोग आवश्यक है तो वह ऐसा करने का अधिकार सुरक्षित रखेगा। भाओ ने अमेरिका से अपील की कि वह ताइवान के प्रश्न पर व्यावहारिक रवैया अपनाए। अमेरिका को चीन व ताइवान के एकीकरण में बाधा नहीं डालनी चाहिए। भाओ की यात्रा से अमेरिका को कोई अप्रत्याशित लाभ नहीं मिला। रीगन समझते थे कि वे रूस के विरुद्ध अपने अभियान में चीन को भी शामिल कर लेंगे, परन्तु भाओ ने स्पष्ट कर दिया कि चीन किसी गुट में नहीं है। वह हर प्रश्न पर अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने को कृतसकल्प है। भाओ जियांग ने हांगकांग के बारे में चल रही अफवाहों का भी निराकरण किया। उन्होंने आश्वासन दिया कि हांगकांग को जब चीन अपने हाथ में ले लेगा तो पूंजीवादी व्यवस्था बनाई रखी जाएगी। हांगकांग का प्रशासन वहाँ के लोग चलाएँगे और यह व्यवस्था कम से कम 50 वर्ष तक रहेगी।

अप्रेल, 1984 के अन्त में राष्ट्रपति रीगन ने पीकिंग की 5 दिवसीय यात्रा की। रीगन ने वहाँ एक समारोह में कहा कि अमेरिका को चीन के साथ अपने सम्बन्धों पर गर्व है। यद्यपि दोनों देशों के बीच अनेक प्रश्नों पर मतभेद हैं तथापि वे पिछले 14 वर्ष से उत्तरोत्तर एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। इस यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच परमाणु सहयोग बढ़ाने के एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। अरबों डालर के मूल्य के परमाणु बिजलीघर के लिए तो परिष्कृत यूरेनियम देने को सहमत नहीं हैं, परन्तु वही चीन को देने को तैयार हैं। रीगन की यात्रा का एक अन्य उद्देश्य चीन में अमेरिकी उत्पादों की खपत को बढ़ाना है। चीन अभी औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा देश है। रीगन की यात्रा के समय चीनी समाचार-पत्रों ने अमेरिका की ताइवान नीति की आलोचना की। एक समारोह के समय रीगन की उपस्थिति में ही भाओ जियांग ने ताइवान को आश्वासन दिया कि यदि वह चीन में सम्मिलित हो जाए तो साम्यवादी सरकार उसे भी वही सुविधाएँ देने को तैयार है जो 1997 के बाद हांगकांग को दी जाएँगी। दूसरे शब्दों में वहाँ, पूंजीवादी व्यवस्था बनी रह सकती है।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि संयुक्त राज्य अमेरिका व चीन सामरिक क्षेत्र में जो सहयोग कर रहे हैं, उसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू दोनों देशों को खुफिया सगठनों में उच्च स्तर पर गोपनीय जानकारियों का आदान-प्रदान है। इन जानकारियों के आदान-प्रदान का भविष्य में भारत सहित अन्य एशियाई देशों की प्रतिरक्षा पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। यद्यपि यह सहयोग मूलत. सोवियत संघ के विरुद्ध बढ़ाया जा रहा है तथापि इस बात की पूरी सम्भावना है कि इनका उपयोग पश्चिम, दक्षिण एशिया व हिन्द महासागर में भी किया जा सकता है।

दिसम्बर 1984 में चीन ने अमेरिकी नौ-सेना के जहाजों को अपने बन्दरगाहों में आने की अनुमति देने की घोषणा की। यह पहला अवसर है जब चीन ने अमेरिका को ऐसा अवसर दिया है। अमेरिकी नौसेना के जहाज अब प्रशान्त महासागर में रूस के नौ-सैनिक जहाजों पर नजर रख सकेंगे। चीन-

वियतनाम तनाव एवं रूस द्वारा वियतनाम की सहायता व उसके बन्दरगाहो के प्रयोग से चीन चिन्तित था। उसने इस स्थिति का सामना करने के लिए अमेरिकी नौ-सेना के युद्धपोतो को यह सुविधा प्रदान की है। चीन ने यह शर्त अवश्य लगाई है कि चीन की पूर्व स्वीकृति से ही अमेरिका ऐसा करेगा। रूस के सरकारी क्षेत्रो ने चीन की इस कार्यवाही पर गहरा रोष व्यक्त किया है और कहा कि जहाँ एक ओर सामान्य सम्बन्ध बनाने के लिए रूस-चीन वार्ता चल रही है, वही चीन के शासको ने अमेरिका को यह सुविधा प्रदान करने का शत्रुतापूर्ण कार्य किया है। फरवरी-मार्च, 1985 मे यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि अमेरिका चीनी नौ-सेना के आधुनिकीकरण के लिए शस्त्रास्त्र तथा अन्य उपकरण उपलब्ध कराने को तैयार हो गया है।

जुलाई, 1985 मे चीन के राष्ट्रपति ली सियेन नियेन अमेरिका की राजकीय यात्रा पर गए। यह किसी चीनी राष्ट्रपति की प्रथम अमेरिका यात्रा थी। अनेक विषयो पर वार्ता हुई किन्तु दोनो देशों के बीच अधिकांश पर गम्भीर मतभेद बने रहे। चीन ने अमेरिका की ताइवान-नीति के प्रति नाराजगी व्यक्त की, तथापि दोनो देश आर्थिक एव सांस्कृतिक सम्बन्ध बढाने को सहमत हो गए। दोनो देशो ने एक परमाणु समझौते पर भी हस्ताक्षर किए जिसके अन्तर्गत चीन अमेरिका से परमाणु रिएक्टर खरीद सकेगा।

यद्यपि अमेरिका और चीन मे अनेक क्षेत्रो मे सहयोग बढ रहा है तथापि अभी तक 'एक चीन' के विचार को अमेरिका ने व्यावहारिक रूप प्रदान नही किया है। 'ताइवानीज एक्ट' अभी भी कायम है और अमेरिका ताइवान को अरबो डालर के शस्त्र दे रहा है। चीन और अमेरिका के बीच मतभेद का मुख्य मुद्दा ताइवान ही है। अमेरिका रूस और चीन के पारस्परिक सम्बन्धो के सुधार की प्रक्रिया से भी चिन्तित है।

रीगन और पाकिस्तान

भारतीय उप-महाद्वीप पर पाँव जमाने के लिए अमेरिका ने पाकिस्तान को चुना है। रीगनयुगीन अमेरिकी विदेश नीति की नीति भी यही है कि पाकिस्तान को अमेरिका-समर्थक एक प्रमुख और सुदृढ सैनिक शक्ति के रूप मे खडा किया जाय। रीगन ने सत्तारूढ होने के कुछ ही समय बाद 22 अप्रेल, 1981 को लगभग अढाई अरब डालर के शस्त्र तथा आधुनिकतम एफ–16 विमान देने का निर्णय किया। रीगन प्रशासन पाकिस्तान का आधुनिकतम स्तर पर सैन्यकरण कर रहा है। कहा जाता है कि पाकिस्तान को अमेरिका से गुप्त नौ-सैनिक शस्त्र प्राप्त हो रहे हैं। पाकिस्तान ने अमेरिका को अपने यहाँ अनेक सैनिक सुविधाएँ दे रखी हैं। दोनो देशो के बीच गोपनीय रीति से आदान-प्रदान हो रहा है। अमेरिका ने पाकिस्तान को परमाणु सरक्षण देने का प्रस्ताव भी किया है। रीगन प्रशासन अरबो रुपये की युद्ध सामग्री पाकिस्तान को दे रहा है जिनमे 500 प्रक्षेपास्त्र भी शामिल हैं।

1986–87 में पाकिस्तान को अमेरिका से लगभग 3 अरब 60 करोड़ डालर की सहायता का आश्वासन मिला। पाकिस्तान ने माँग की कि 1987 से 1993 तक दी जाने वाली आर्थिक और सैनिक सहायता बढ़ाकर 5 अरब डालर कर दी जाए। रीगन का तर्क है कि अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप को देखते हुए रूस की ओर से पाकिस्तान को सम्भावित खतरे का मुकाबला करने के लिए अमेरिका उसे हथियार दे रहा है। लेकिन इससे वास्तविक खतरा भारत के लिए पैदा हो गया है क्योंकि अतीत में पाकिस्तान ने अमेरिकी शस्त्रास्त्र का उपयोग भारत पर आक्रमण के लिए किया है। जुलाई-अगस्त, 1987 के समाचारों के अनुसार रीगन प्रशासन ने पाकिस्तान को 4 2 अरब डालर के अत्याधुनिक हथियार देने की सिफारिश को अन्तिम रूप दे दिया है। अमेरिका का कहना है कि वह पाकिस्तान की रक्षा-क्षमता को सुधारने और उसे आधुनिक बनाने के लिए ही इन हथियारों की बिक्री कर रहा है।

अमेरिका हिन्द महासागर में अपनी स्थिति दृढ़ करने में लगा है और पिछले कुछ अरसे से इस दिशा में अमेरिका-ओमान-पाकिस्तान का एक नया त्रिकोण उभरा है। अमेरिका ने ओमान, सोमालिया और कीनिया में अड्डों का निर्माण कर लिया है तथा वह खाड़ी संघर्ष में इन अड्डों का प्रयोग कर रहा है। यह भी पता चला है कि पाकिस्तान ओमान में अमेरिकी नौ-सैनिक तथा सैनिक अड्डों के विस्तार कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने जा रहा है। इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ डिफेन्स स्टडीज एण्ड एनेलेसिस के विशेषज्ञों के अनुसार इस बात के संकेत मिल रहे हैं कि ओमान के मसेहरा अड्डे तथा पाकिस्तान के बलूचिस्तान स्थित ग्वादर बन्दरगाह की गतिविधियों में समन्वय स्थापित किया जा रहा है।

अमेरिका परमाणु विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में पाकिस्तान की हर तरह से सहायता कर रहा है, तथापि वह चाहता है कि पाकिस्तान परमाणु तकनीक का उपयोग केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करे। परन्तु पाकिस्तान ने परमाणु बम बनाने की क्षमता भी अर्जित कर ली है। अमेरिकी संसद् इस पर चिन्तित है। मार्च, 1986 में पाकिस्तान के कहूटा स्थित परमाणु संयंत्र के प्रमुख डॉ॰ अब्दुल कादर खाँ ने एक बयान में कहा कि पाकिस्तान परमाणु बम बना चुका है। अमेरिकी गुप्तचर सूत्रों का भी विश्वास है कि पाकिस्तान ने परमाणु बम सम्बन्धी सभी प्रयोग खण्डों में पूरे कर लिए हैं। दूसरी ओर पाक सरकार का कहना है कि उसके परमाणु कार्यक्रम का उद्देश्य पूर्ववत् शान्ति के लिए है। वह परमाणु ऊर्जा का प्रयोग केवल शान्ति के कार्यों में करने में लगा है। पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम से भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक है। 1987 के मध्य में पाकिस्तान द्वारा अमेरिका में परमाणु हथियारों के निर्माण में प्रयोग होने वाली परमाणु सामग्री की तस्करी के प्रयास के बाद विनियोग समिति की सिफारिश पर अमेरिका ने पाकिस्तान को दी जाने वाली 54 करोड़ डालर की सैनिक एवं आर्थिक सहायता तथा छः वर्ष की अवधि में दी जाने वाली 4 अरब 20 करोड़ डालर की सहायता

पर 15 जनवरी, 1988 तक रोक लगा दी। यह सहायता 1 अक्तूबर, 1987 से आरम्भ होने वाली थी। प्रतिनिधि सभा की विनियोग समिति की सिफारिश मानने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति अमेरिकी कानून के अन्तर्गत बाध्य हैं। पाकिस्तान के विरुद्ध अमेरिका द्वारा की गई यह कार्यवाही 1979 के बाद की सबसे बड़ी कार्यवाही मानी गई है। लेकिन रीगन प्रशासन किसी प्रकार इस बाधा को दूर कर पाकिस्तान को शस्त्र सज्जित करने को कटिबद्ध है। अमेरिकी ससद (कांग्रेस) द्वारा आर्थिक सहायता पर रोक लगाये जाने पर राष्ट्रपति रीगन ने अपने अधीन सयुक्त राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विकास अभिकरण के कोप में से पाकिस्तान के प्रेस क्लब, जनसंख्या एव कल्याण सगठनो तथा खेल-परिषदों को 4 करोड़ डालर की सहायता देने का प्रस्ताव रखा है, परन्तु शर्त यह है कि अमेरिका यह सहायता पाकिस्तान सरकार के मार्फत नही वरन् सीधे ही देगा। इस पर पाकिस्तान में तूफान उठ खड़ा हुआ है कि अमेरिका पाकिस्तान की भूमि पर अपने कानून लागू करना चाहता है। अमेरिका को पाकिस्तान के परमाणु बम से भारी परेशानी का सामना करना पड़ रहा है। अमेरिका मे इजरायल-समर्थक राजनीतिज्ञों के मन मे यह आशका उत्पन्न हो गई है कि पाकिस्तानी परमाणु बम वास्तव में इस्लामी बम है, इसके लिए आर्थिक साधन लीबिया के राष्ट्रपति कद्दाफी ने जुटाये हैं तथा पाकिस्तान परमाणु बम बनाकर लीबिया तथा फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे को देगा तथा वे उन शस्त्रों का प्रयोग इजरायल पर दबाव डालने के लिए करेंगे। साथ ही भारत-समर्थक राजनीतिज्ञ मानते हैं कि पाकिस्तानी परमाणु आयुध भारत को परमाणु शस्त्रास्त्र बनाने के लिए विवश कर देंगे तथा इस प्रकार दक्षिण-एशिया में परमाणु शक्तियाँ उठ खड़ी होंगी। ये दोनो दबाव-समूह अमेरिकी कांग्रेस पर दबाव डाल रहे हैं कि वह पाकिस्तान की आर्थिक सहायता रोक कर उसे परमाणु-आयुध कार्यक्रम के परित्याग के लिए विवश करे। परन्तु रीगन-प्रशासन की कठिनाई यह है कि उसने पाकिस्तान की सैनिक सरकार ने अमेरिकी वायुसेना और नौ-सेना के अड्डे बनाने के लिए मकरान-क्षेत्र तथा ग्वादार बन्दरगाह इसी शर्त पर प्राप्त किए हैं कि अमेरिका पाकिस्तान को 4·2 अरब डालर की आर्थिक सहायता देगा। अमेरिका ग्वादार बन्दरगाह के विकास और मकरान क्षेत्र में सडक, भवन एव एक दर्जन हवाई अड्डो के निर्माण पर लगभग एक अरब डॉलर खर्च कर चुका है तथा वह वहाँ अपनी मध्यवर्ती कमान (CENTCOM) का मुख्यालय बना रहा है। ऐसी स्थिति में वह पाकिस्तान को 4 2 अरब डालर की सहायता देने के लिए विवश होगा।

परमाणु आयुध प्रसार निरोध सम्बन्धी बाधा से बचने के लिए अमेरिका भारत पर दोष मढने की चेष्टा कर रहा है। उसका तर्क यह है कि भारत को सयुक्तराष्ट्र द्वारा प्रस्तावित परमाणु आयुध प्रसार निरोध सन्धि पर हस्ताक्षर करके पाकिस्तान को निरापद करना चाहिए। जाहिर है कि भारत इस चाल में नही फसेगा और पाकिस्तान परमाणु बम तो बनाएगा ही, अमेरिकी सहायता भी प्राप्त

करेगा, मगर इसके साथ ही वह एक लम्बे समय के लिए अमेरिका की सैनिक छावनी भी बन जाएगा।

रीगन और भारत

रीगन प्रशासन का रवैया शुरू से ही भारत-विरोधी रहा है। प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की अमेरिका यात्रा (जून, 1985) के बाद से दोनो देशो के बीच सम्बन्ध सुधार की प्रक्रिया अवश्य कुछ तेज हुई किन्तु थोड़े ही समय के अन्तराल के बाद फिर तनाव बढ गए।

अफगानिस्तान के प्रश्न पर दोनो देशो के बीच मतभेद है। 1981 में भारत ने विदेश मन्त्रालय के सचिव ऐरिक गोनसाल्वेज को संयुक्त राज्य भेजा। भारत ने अपना यह मत व्यक्त किया कि सोवियत सेनाओं की वापसी के लिए सही वातावरण तैयार करने की दृष्टि से वार्ता के जरिए राजनीतिक समाधान का रास्ता खोजना होगा। भारत प्रारम्भ से ही राजनीतिक समाधान के पक्ष मे है। भारत ने बार-बार कहा है कि अफगानिस्तान की समस्या का कोई सैनिक हल नही हो सकता और अफगानिस्तान के मसले को लेकर पाकिस्तान का सैन्यकरण करने की अमेरिकन नीति दक्षिण एशिया के शक्ति सन्तुलन के हित मे नही है।

रीगन प्रशासन ने तारापुर के लिए परमाणु ईंधन की सप्लाई पर रोक लगाई। 1983 मे प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी अमेरिका की यात्रा पर गईं। परन्तु इस यात्रा की वास्तविक उपलब्धियां फीकी रही।

1984 मे अमेरिकी उप-राष्ट्रपति बुश ने भारत की यात्रा की। इस यात्रा के परिणाम भी निराशाजनक ही रहे तथा भारत और अमेरिका के मतभेद यथापूर्व बने रहे। बुश ने एक ओर भारत की प्रशंसा की और उसकी एकता तथा अखण्डता को महत्त्वपूर्ण बताया, दूसरी ओर अमेरिका की नीति के समर्थन मे कहा कि पाकिस्तान अमेरिकी शस्त्रो का प्रयोग भारत के विरुद्ध नही करेगा। बुश की यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच आर्थिक सहयोग बढाने पर भी विचार से चर्चा हुई परन्तु विकासशील देशो को अधिक सहायता देने और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था को सुधारने के प्रश्न पर अमेरिका का रवैया न्यायसंगत नही था। अक्तूबर, 1984 के चौथे सप्ताह मे अमेरिका के उप-विदेशमन्त्री रिचर्ड मर्फी ने भारत की यात्रा की। यह यात्रा उस समय हुई जब अमेरिका के पाक स्थित राजदूत के इस बयान से भारत मे काफी तनाव था कि यदि भारत ने पाकिस्तान पर आक्रमण किया तो वह तटस्थ नही रहेगा। पाकिस्तानी समाचार पत्रों मे यह खबर भी प्रकाशित हो चुकी थी कि राष्ट्रपति रीगन ने पाकिस्तान को अमेरिकी परमाणु संरक्षण देने की पेशकश की है। मर्फी ने इस बात से इन्कार किया कि अमेरिका पाकिस्तान को परमाणु संरक्षण देना चाहता है। उन्होंने यह भी कहा कि अमेरिका समझता है कि भारत पाकिस्तान पर आक्रमण नही करेगा।

भारत मे आठवें आम चुनावों के बाद अमेरिका ने उस पी. एल. 480 समझौते को पुनर्जीवित कर दिया जो भारत-पाक युद्ध के बाद से ही मृत पड़ा हुआ

था। नई सरकार ने, भारत मे ग्रमेरिकी पूँजी को ग्रामन्त्रित किया। मई, 1985 के ही एक समझौते के अनुसार ग्रमेरिका भारत को ग्राधुनिकतम तकनीक देने पर सहमत हो गया। जून, 1985 मे प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ग्रमेरिका गए जिसके फलस्वरूप दोनो देशो के बीच सम्बन्ध-सुधार-प्रक्रिया कुछ तेज हुई तथा पारस्परिक सहयोग के कुछ क्षेत्रो का विस्तार हुग्रा। ग्रमेरिका ने भारत के ग्रार्थिक विकास मे विश्व बैंक तथा सहयोगी सस्थाग्रो को समर्थन देने पर सहमति व्यक्त की। ग्रमेरिका ने भारत को सशर्त नए शस्त्र देने का प्रस्ताव भी किया जो भारत को मान्य नही था।

भारत के विदेश मन्त्री ने फरवरी, 1986 मे वाशिंगटन में व्यापक विचार-विमर्श किया ग्रौर ग्रक्टूबर, 1986 में ग्रमेरिका के रक्षा मन्त्री ने भारत की यात्रा की। दोनो देशो के बीच ग्रार्थिक सम्पर्क बढा। प्रौद्योगिकी-हस्तान्तरण सम्बन्धी समझौता हुग्रा। सम्बन्धो मे सामान्य सुधार ग्रवश्य हुग्रा तथापि ग्रमेरिका की पाकिस्तान नीति के कारण भारत-ग्रमेरिका सम्बन्धो मे तनाव का वातावरण बना रहा। 9 ग्रक्टूबर, 1987 को दोनो देशो के बीच सुपर कम्प्यूटर के समझौते पर हस्ताक्षर हुए। ग्रमेरिका भारत का सबसे बडा व्यापारिक सहयोगी बना हुग्रा है। दोनो देशो के बीच लगभग 4 ग्ररब डॉलर का व्यापार होता है। भारत के प्रधान मन्त्री राजीव गाँधी 20 ग्रक्टूबर, 1987 को वाशिंगटन मे राष्ट्रपति रीगन से मिले। दोनो देशो मे प्रतिरक्षा-सहयोग बढाने पर सहमति हुई। 21 ग्रक्टूबर, 1987 को वाशिंगटन मे ही श्री गाँधी ने कहा कि पाकिस्तान के प्रति ग्रमरीकी नीति मे परिवर्तन ग्राया है ग्रौर वह इस्लामाबाद को ग्रपने सैनिक सहायता कार्यक्रम पर पुनर्विचार के लिए राजी हो गया है। उन्होने यह भी कहा कि ग्रमेरिका ने भारत को नई टेक्नोलॉजी देने की पहल की है। श्री गाँधी का ग्राशावाद ग्रौर नया मूल्यांकन कहाँ तक सही उतरेगा, यह तो समय ही बताएगा।

रीगन ग्रौर लेटिन ग्रमेरिका

राष्ट्रपति रीगन ने यह बात तो दो टूक कह दी कि कम्युनिस्टो को लेटिन ग्रमेरिका मे ग्रपनी गतिविधियो को सीमित करने के लिए एक रेखा खींचनी होगी, लेकिन इस बात को नजरअन्दाज कर दिया कि स्वय ग्रमेरिका लेटिन ग्रमेरिकी देशो मे हस्तक्षेप बढा रहा है। जुलाई, 1979 मे सम्पन्न हुई निकारागुग्रा की सान्दिनिस्ता क्रान्ति ने ग्रास-पास के पडोसी राष्ट्रो मे एक नया जागरण पैदा किया ग्रौर ग्रलसाल्वाडोर मे भी विद्रोह की ग्राग भडक उठी। यह घटना ग्रमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए एक जबरदस्त चुनौती थी। कार्टर प्रशासन ने निकारागुग्रा क्रान्ति की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दुलार-पुचकार की कूटनीति का सहारा लिया ग्रौर रीगन सरकार ने ग्रलसाल्वाडोर को विदेश नीति का प्रथम परीक्षण स्थल बनाया। ग्रमेरिकी विदेश मन्त्रालय ने घोषणा की कि ग्रलसाल्वाडोर को क्यूबाई ग्रौर सोवियत समर्थित ग्रातकवादी षड्यन्त्र का शिकार नही होने दिया जाएगा। 23 फरवरी, 1981 को ग्रमेरिकी विदेश-विभाग ने एक श्वेत-पत्र मे यह दावा किया कि ग्रलसाल्वाडोर के छापामारो को क्यूबा, सोवियत सघ, निकारागुग्रा, वियतनाम

ग्रोर इथियोपिया से सैनिक सहायता मिल रही है। इस प्रकार रीगन सरकार ने ग्रलसाल्वाडोर मे ग्रपने हस्तक्षेप का ग्राधार तैयार कर लिया। वास्तव मे रीगन सरकार मध्य अमेरिका को साम्यवादी खतरे से बचाने के लिए 'मुनरो सिद्धान्त' की पक्षधर है। वह यह जरूरी मानती है कि क्यूबा को इस इलाके मे मनमानी करने की ग्राजादी दी जाए। 3 जून, 1981 को अमेरिका कॉग्रेस में एक वक्तव्य देते हुए अन्तर-ग्रमेरिकी मामलो के उप-विदेशमन्त्री टामस एण्डरसन ने मध्य ग्रमेरिका मे क्यूबाई खतरे का मुकाबला करने के लिए चार कदमो की घोषणा की—(1) ग्रमेरिका सकटग्रस्त राष्ट्रो को निजी सुरक्षा के लिए हर प्रकार की सहायता करेगा, (2) इन राष्ट्रो का ग्रपने ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकारो को सुरक्षित रखने मे मदद देगा, (3) उन्हे ग्रार्थिक सफलता प्राप्त करने मे सहायता प्रदान करेगा एव (4) ग्रमेरिका वर्तमान सकट के स्रोत पर ग्राक्रमण करेगा। ग्रमेरिका ने मध्य ग्रमेरिका ग्रौर कैरिबियाई राष्ट्रो के ग्राथिक पुनरुत्थान के लिए एक 'लघु मार्शल योजना' की भी घोषणा की ग्रौर इन राष्ट्रो को यकीन दिलाया कि निजी लागत तथा पूंजीवादी ग्रर्थव्यवस्था के जरिए बेहतर आर्थिक विकास सम्भव है। वस्तुत रीगन की मध्य ग्रमेरिकी ग्रौर कैरिबियाई नीति इस धारणा पर आधारित है कि समस्त लैटिन ग्रमेरिका उसके प्रभाव क्षेत्र मे है। ग्रत इन इलाको मे किसी भी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप या प्रभाव को ग्रमेरिका बर्दाश्त नही करेगा। यह नीति 1923 मे जेम्स मुनरो द्वारा प्रतिपादित की गई थी जिसका सार यह था कि "ग्रमेरिका, ग्रमेरिका के लिए है।" रीगन सरकार इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित करना चाहती है, तभी उसने मध्य ग्रमेरिका मे ग्रपनी सारी शक्ति लगा दी है।

ग्रमेरिकी विदेश नीति का मूल्यांकन

ग्रमेरिकी विदेश नीति का वास्तविक उद्देश्य समूचे विश्व पर ग्रपना सामरिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रभाव स्थापित करना है। इसके लिए ग्रमेरिका ने निम्न मार्ग ग्रपनाए हैं—

(क) सम्पूर्ण विश्व मे सामरिक ग्रड्डो का विस्तार, (ख) थल, जल एव ग्रन्तरिक्ष मे गुप्तचर तन्त्र का जाल, (ग) विश्वव्यापी सचार तन्त्र पर प्रभाव, (घ) द्विपक्षीय ग्रथवा बहुपक्षीय सामरिक, आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी समझौते की भरमार, (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाग्रों पर नियन्त्रण, (च) साम्यवाद का विस्तार रोकने के नाम पर विश्व भर मे सैनिक गुटबन्दी तथा दूसरे राष्ट्रो के ग्रान्तरिक मामलो मे परोक्ष रूप से हस्तक्षेप का प्रयास, (छ) मानवीय ग्रधिकारो की रक्षा एव स्वहित-रक्षण की ग्राड मे छोटे देशो पर ग्रपनी चौधराहट जमाने की कोशिश।

राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ग्रव्यावहारिक आदर्शों की दुहाई देकर ग्रमेरिकी विदेश नीति के इस लक्ष्य को दृष्टि से ग्रोझल नही करते कि ग्रमेरिका को ग्रजेय महाशक्ति होना चाहिए। उनके इस सकल्पवादी ग्रौर स्पष्टतावादी व्यक्तित्व ने ग्रमेरिकी विदेश नीति को ये ग्रायाम प्रदान किए हैं—

(1) प्रबल सामरिक शक्ति का विकास,
(2) सोवियत पूँजीवादी व्यक्तित्व का निखार,
(3) गुट का खुला विरोध और अपने मित्र-देशों का अन्ध समर्थन,
(4) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं पर नियन्त्रण,
(5) स्व-हित रक्षण के लिए कुछ भी करने की तैयारी,
(6) विश्व शान्ति एवं नि शस्त्रीकरण के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण।

प्रबल सामरिक शक्ति का विकास

अमेरिका आज अतुलनीय सामरिक शक्ति से सम्पन्न है। अपने परमाणु आयुधों को अमेरिका ने विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित कर रखा है। उसने यूरोप और पूर्वोत्तर अफ्रीका पर साम्यवादी विस्तार रोकने के लिए अटलांटिक महासागर व भूमध्य सागर में अपने नौसैनिक बेड़े स्थापित किए हैं। इस क्षेत्र में अमेरिकी हितों को सरक्षण देने के लिए मिस्र, सोमालिया, इजराइल, जोर्डन आदि के साथ उसके सैनिक समझौते हैं। उसने इजराइल के साथ नई सैनिक सन्धि करके वहाँ आधुनिक आयुधों का भण्डार बनाने की सुविधा प्राप्त कर ली है और वह इस क्षेत्र पर निरन्तर निगरानी रखता है। मिस्र और इजराइल की सेनाओं के साथ उसके युद्धाभ्यास भी होते रहते हैं। पश्चिम एशिया, उत्तरी व पूर्वी अफ्रीका के देश अमेरिका के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो इस क्षेत्र के तेल पर अमेरिका तथा पश्चिमी जगत के अन्य देशों का जीवन निर्भर है, दूसरी ओर, यह क्षेत्र हिन्द महासागर व अटलांटिक महासागर को जोड़ता है। हिन्द महासागर में स्थित अमेरिका का डियागोगार्सिया नौ-सैनिक अड्डे तक जाने का मार्ग यहीं से है। अमेरिका नाटो सन्धि द्वारा पश्चिमी यूरोप से जुड़ा है। पश्चिमी जर्मनी व तुर्की के अड्डे तो अमेरिकी शक्ति के प्रतीक हैं ही, इनके अतिरिक्त ब्रिटेन, इटली, ग्रीस, नीदरलैण्ड, ग्रीनलैण्ड आदि में भी अमेरिकी आयुध विद्यमान हैं। कैरेबियन सागर के द्वीप तथा अधिसख्य मध्य एवं दक्षिण अमेरिकी देश अमेरिकी सैन्य शक्ति से जुड़े हैं। सोवियत संघ को अफगानिस्तान से आगे न बढ़ने देने के लिए वह पाकिस्तान को अपनी छावनी बना रहा है। अमेरिका का सातवाँ नौ-सैनिक बेड़ा प्रशान्त महासागर में है। परमाणु शस्त्रों से युक्त वह बेड़ा सम्पूर्ण पूर्वी एशिया व प्रशान्त में अमेरिकी हितों का संरक्षक है। दक्षिण प्रशान्त अथवा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के क्षेत्र में भी इसके युद्धपोत गश्त लगाते रहते हैं। इधर चीन ने भी अमेरिका को अपने बन्दरगाहों पर युद्धपोत लाने की सुविधा दी है। ताइवान, दक्षिण कोरिया और जापान के बन्दरगाहों पर तो अमेरिकी युद्धपोतों का आवागमन बना ही रहता है।

दक्षिण एशिया में अमेरिकी विदेश नीति का सबसे बड़ा शिकार भारत हुआ है। अमेरिका ने भारत के चतुर्दिक बसे छोटे-छोटे देशों को अपने वैभव-जाल में फांस रखा है। पाकिस्तान को अमेरिका से सर्वाधिक आर्थिक और सामरिक सहायता मिली है। श्रीलंका में भी अमेरिकी ट्रांसमीटर कार्यरत हैं। बंगलादेश ने भी

उसे बन्दरगाह की सुविधा देना स्वीकार किया है। इस प्रकार अमेरिका ने भारत के चतुर्दिक अपना जाल बिछा रखा है। चीन के साथ अमेरिका के आणविक समझौते के बाद और अक्साई चिन मार्ग के माध्यम से इस्लामाबाद एवं चीन के सिंकियांग प्रान्त के मिल जाने से भारतीय सीमा पूरी तरह घिर जाती है। चूँकि चीन और पाकिस्तान दोनों ही अमेरिका के मित्र देश हैं। इसका सामना भारत को स्वय ही करना है, इसी से भारत की शक्ति बढेगी।

अमेरिका के पूँजीवादी व्यक्तित्व का निखार

रोनाल्ड रीगन के कार्यकाल में अमेरिका का पूँजीवादी व्यक्तित्व निखरा है। अमेरिका में मुद्रास्फीति कम करने के नाम पर राष्ट्रपति रीगन ने जन-कल्याणकारी योजनाओं में कटौती की है। विकासशील देशो के निर्यात के विरुद्ध व्यापार-सरक्षणवाद को प्रोत्साहन देकर भुगतान सन्तुलन का अन्तर बढा दिया गया है। अमेरिका ने विश्व की वित्तीय सस्थाओं को दिए जाने वाले अपने अश में भारी कटौती की है। विकासशील देश अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियो के शोषण के शिकार हो गए है। अमेरिका ने अगर किसी मद में सर्वाधिक व्यय किया है तो वह है शस्त्रास्त्र का उत्पादन और उनके लिए वैज्ञानिक शोध। रीगन ने चीन को आणविक सयन्त्र बेचने के सौदे किए हैं तथा अन्य सामरिक साज-सामान और आधुनिकतम टैक्नोलॉजी उसे दी जा रही है। भारत भी अमेरिकी निजी-कम्पनियों से आधुनिकतम टैक्नोलॉजी खरीदने को विवश है। चूँकि अमेरिका ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सगठनों मे अपने अश कम कर दिए हैं, अत विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास-सघ और भारतीय सहायता क्लब से जितनी मदद की आशा थी, उतनी मदद नही मिल सकी है। चीन के अतिरिक्त पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों मे भी अमेरिका अपनी पूंजी लगा रहा है। यह साम्यवाद के दुर्ग में पूँजीवाद की सेंध है।

अमेरिका ने यूनेस्को छोड़कर अपने पूंजीवादी चरित्र का ही परिचय दिया है। दूसरी ओर पाकिस्तान, इजराइल, चीन, मिस्र आदि देशों में अमेरिकी पूँजी का बडे पैमाने पर विनियोग हो रहा है। अमेरिका ने सिद्ध किया है कि पूँजीवाद साम्यवाद की अपेक्षा अधिक सक्षम और गतिशील होता है।

सोवियत-गुट का विरोध एवं मित्र देशो का अन्ध समर्थन

अमेरिका के कई राष्ट्रपति जैसे—आइजनहावर तथा रिचर्ड निक्सन अपनी अनुदारता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं किन्तु राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने उनको भी पीछे छोड़ दिया है। रीगन सरकार ने 1982 के अप्रेल में मालविनास द्वीप (फाकलैण्ड) पर ब्रिटिश हमले का समर्थन किया। उसी वर्ष जून मे लेबनान पर इजराइली हमले को भी तत्कालीन अमेरिकी विदेशमन्त्री अलेक्जेण्डर हेग का मौन समर्थन था। नामीबिया को मुक्त कराने के लिए सघर्षरत 'स्वापो' के कार्यकर्ताओं के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका को रीगन प्रशासन ने पूरी तरह समर्थन दिया। दक्षिण अफ्रीका के

विरुद्ध आंशिक प्रतिबन्ध लगाकर भी रीगन ने गुप्त रीति से उसकी सहायता करने का मार्ग खोल रखा है।

दूसरी ओर अमेरिका अफगानिस्तान, कम्पूचिया, निकारागुआ आदि देशों में छापामार युद्ध करने वालों को खुलेआम सहायता करता है। पाकिस्तान को जो आर्थिक और सामरिक मदद दी गई उसका कारण रूस के विस्तार को रोकना बताया गया। ईराक के आणविक मयत्र पर इजरायली हमला, ट्यूनिशिया के फिलिस्तीनी मुख्यालय का इजरायली बमों का निशाना बनाया जाना, भूमध्यसागर में युद्धाभ्यास करके लीबिया को भयभीत करने का प्रयास अथवा लीबिया के विरुद्ध जनवरी 1968 में लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्ध आदि अमेरिका की कट्टरपंथी नीतियों के जीते-जागते प्रमाण हैं। इसी प्रकार पहले भी रूस को पाइपों की बिक्री पर रोक, पोलैण्ड के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध, यूरोपीय देशों में पर्शिंग-2 और क्रूज मिसाइलों की सफल स्थापना, ईरान को प्रत्येक क्षण धमकी, श्रीलंका को त्रिकोमाली बन्दरगाह में सामरिक सुविधा के लिए पुरस्कृत किया जाना, कम्पूचिया के छापामारों को थाइलैण्ड के माध्यम से सहायता आदि कार्य इसी श्रेणी में आते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं पर नियन्त्रण

राष्ट्रसघ की स्थापना में अमेरिका का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और उसमें सम्बद्ध महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय के विकास में भी अमेरिकी सहयोग उल्लेखनीय रहा है। दूसरी ओर, राष्ट्रसघ की विफलता के लिए भी अमेरिका कम उत्तरदायी नहीं है। आज राष्ट्रसघ अमेरिका और सोवियत गुटों का अखाड़ा बना हुआ है। चूंकि रूस कई दृष्टियों से राष्ट्रसघ को उस तरह प्रभावित नहीं कर सकता जिस रूप में अमेरिका कर सकता है। अतः प्रायः अमेरिका की इच्छानुसार ही राष्ट्रसघ से सम्बन्धित सगठन चलते हैं। इसी प्रकार अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों जैसे विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ, विश्व खाद्य सगठन, यूनीसेफ, यूनिडो, यूनेस्को आदि को भी अमेरिका सर्वाधिक प्रभावित करता है।

स्वहित रक्षण के लिए कुछ भी करने की तैयारी

विश्व के सभी देश अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए अन्य देशों में जासूसी करते हैं, लेकिन अमेरिका की सेन्ट्रल इटेलीजेंस एजेन्सी (सी. आई ए) तो अन्य शब्दों में हत्याएँ कराने, सरकारें उलटने तथा स्वर्ण, सुरा और सुन्दरी के माध्यम से अमेरिकी हितों की रक्षा के लिए अमानवीय हथकण्डे अपनाने के लिए कुख्यात है। अमेरिका उपग्रहों के माध्यम से भी जासूसी करता है। कभी-कभी शिक्षा, पर्यटन, धर्म, आदि का सहारा लेकर सी आई ए दूसरे देशों में अपना जाल फैला लेती है।

विश्व-शान्ति व नि.शस्त्रीकरण के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण

विश्व-शान्ति, शास्त्र परिसीमन, नि शस्त्रीकरण, आदि के नारे लगाने में अमेरिका को भी रूस के पीछे चलना पड़ा है किन्तु इस मामले में उसका दृष्टिकोण

व्यावहारिक रहा है। वह विश्व-शान्ति के लिए शक्ति सन्तुलन को अनिवार्य मानता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह अपनी शक्ति की भूमिका और उसके महत्व पर बल देता है।

आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा अमेरिका ने अपने लिए एक विशाल प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने की चेष्टा की है जिसमें वह काफी हद तक सफल हुआ है। अमेरिका इस बात से परिचित है कि आज के युग में युद्ध पूर्व साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम नहीं किया जा सकता किन्तु वह अपने आर्थिक साम्राज्य के प्रसार तथा दुनिया भर में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने को प्रयत्नशील रहता है। अमेरिका विश्व का एक महान् लोकतन्त्रात्मक देश है लेकिन यूरोप, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के नस्लवादी तथा सैनिक-तानाशाही-मूलक शासन-व्यवस्थाओं वाले राष्ट्रों को उसका पूरा समर्थन प्राप्त होता रहा है। संसार के तटस्थ और गुट-निरपेक्ष राष्ट्र उसे खटकते हैं और वह अपनी अपार आर्थिक सम्पदा के बल पर उन्हें खरीदने की कोशिश करता है।

अमेरिका की विदेश नीति को काल्पनिक आदर्शों की दृष्टि से देखने की बजाए यदि राष्ट्रीय हितों की सिद्धि तथा शक्ति-सम्पन्नता की कसौटियों पर कसा जाए तो वह मोटे तौर पर अमेरिका के लिए खरी उतरती है। दूसरे देशों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, यह एक सर्वथा भिन्न बात है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक मन्दराचल है जिससे दो महाशक्तियाँ शेष (विश्व के शेष राष्ट्र) की रस्सी के द्वारा शक्ति मन्थन कर रही हैं। इस प्रक्रिया में शेष विष रहा है पर उसकी किसे चिन्ता है।



2

सोवियत संघ की विदेश नीति

(Foreign Policy of U. S. S. R.)

89175

1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप वर्तमान साम्यवादी रूस अस्तित्व मे आया। रूस के नए शासन ने अपने देश को महायुद्ध से पृथक् कर दिया। दो महायुद्धो के बीच की अवधि में रूस उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता गया। द्वितीय महायुद्धकालीन घोर विनाश के बावजूद अन्त मे सोवियत रूस ने महान् राजनीतिक और प्रादेशिक लाभ अर्जित किए। महायुद्ध के उपरान्त सयुक्तराज्य अमेरिका की टक्कर का यदि कोई देश था तो वह सोवियत सघ ही था, किन्तु आणविक शक्ति पर एकाधिकार के कारण रूस की अवहेलना करना अमेरिका के लिए आसान था। यह स्थिति कुछ ही वर्ष बाद पलट गई क्योंकि रूस भी अणु-शक्ति का स्वामी बन गया। आज स्थिति यह है कि अमेरिका और रूस दोनो लगभग सम्मान टक्कर की महाशक्तियाँ हैं। धन-सम्पन्नता मे अमेरिका अग्रणी है, सैनिक दृष्टि से भी कुछ राष्ट्र अमेरिका को उच्चतर समझते हैं, लेकिन यह कहना वस्तुत: कठिन है कि सोवियत शक्ति अमेरिका की तुलना मे कहाँ तक कम है। दोनो महाशक्तियाँ एक-दूसरे के सम्पूर्ण विनाश मे समर्थ हैं और इसलिए विगत कुछ वर्षों से दोनो सह-अस्तित्व की दिशा मे अग्रसर हुए हैं। *चीन और भारत दो महान् सन्तुलनकारी शक्तियाँ है* जिनमे चीन अमेरिका के पक्ष मे झुकता जा रहा है और भारत तथा रूस घनिष्ठ मित्रता के मार्ग पर अग्रसर हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत सघ की विदेश नीति को दो प्रमुख भागो में बाँटा जा सकता है—

(क) उग्रवादी नीति का स्टालिन युग (1945–1953)

(ख) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का स्टालिनोत्तर युग (1953 से अब तक)—मैलेंकोव काल (1953–54), ख्रुश्चेव काल (1954–64), ब्रेझनेव-कोसीगिन काल (1964–79), ब्रेझनेव तिखोनोव काल (1980-82), यूरी-आन्द्रोपोव काल (1982–84), चेरनेन्को काल (1984–85), गोर्बाच्योव काल (मार्च, 1985 से)।

स्टालिन युग
(1945–1953)

महायुद्ध-काल मे स्टालिन ने मित्र-राष्ट्रो को पूर्ण सहयोग दिया, लेकिन महायुद्ध के बाद पश्चिम के प्रति शकालु होकर उसने अत्यन्त उग्र हठी विदेश नीति अपनाई। स्टालिन ने शीतयुद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। पामर एव पर्किस के शब्दो मे, "युद्धोत्तर सोवियत नीति कम से कम 8 वर्ष अर्थात् 1953 तक पश्चिम के प्रति शत्रुता, असहयोग और अलगाव की ओर बढती हुई प्रवृत्तियाँ, सोवियत प्रभाव-क्षेत्र के दृढीकरण तथा सामान्य हठधर्मिता की विशेषताओ से युक्त रही थी।"[1] जिन प्रमुख कारणो से स्टालिन ने उग्रवादी नीति अपनाई, वे ये थे—

1 महायुद्ध-काल मे ही पश्चिमी राष्ट्रो ने सोवियत साम्यवाद के विरुद्ध विषैला प्रचार शुरू कर दिया था।

2. पश्चिमी देशो ने रूस को सैनिक सहायता बहुत कम दी। स्टालिन के मन मे यह बात बैठ गई कि पश्चिमी राष्ट्र वास्तव मे यह चाहते थे कि रूस जर्मनी के साथ सघर्ष मे बिलकुल कमजोर हो जाए।

3 अमेरिका ने अणु-बम के आविष्कार को सोवियत रूस से गुप्त रखा और स्टालिन ने इसे विश्वासघात माना।

4 युद्ध के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सोवियत-सघ को 'लैण्ड-लीज एक्ट' के अन्तर्गत दी जाने वाली आर्थिक सहायता भी एकाएक बन्द कर दी।

5 युद्ध के बाद अमेरिका और उसके साथी पश्चिमी राष्ट्रो ने जो नीति अपनाई उससे यही प्रतीत हुआ कि सोवियत सघ के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे है।

6 युद्ध की समाप्ति कर सोवियत सघ की स्थिति सामरिक और अन्य दृष्टियो से बहुत अच्छी थी। रूसी सेनाएँ मध्य यूरोप तक के प्रदेश पर अधिकार जमाए बैठी थी। पश्चिमी यूरोप आर्थिक सकट मे था और साम्यवाद के प्रसार के लिए वहाँ अच्छी सम्भावनाएँ थी। एशिया और अफ्रीका मे यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध असन्तोष का सागर उमड रहा था। अत स्टालिन ने सोचा कि चारो ओर स्थितियाँ ऐसी है कि साम्यवाद अपने पैर जमा सकता है। यदि पश्चिमी देशो और अमेरिका के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई तो रूस लूट-खसोट और जोर-जबरदस्ती द्वारा राजनीतिक और प्रादेशिक लाभ उठाने से वचित रह जाएगा।

इन अनुकूल परिस्थितियो मे स्टालिन ने यही उपयुक्त समझा कि पश्चिम पर आरोप लगाए जाएँ, पुरानी बातो को कुरेदा जाए, शीतयुद्ध को तीव्र कर पश्चिम के प्रस्तावो के प्रति अडगेबाजी की नीति से अधिकाधिक लाभ उठाया जाए। 6 नवम्बर, 1947 को तत्कालीन रूसी विदेशमन्त्री मोलोटोव ने कहा—"हम ऐसे युग मे रह रहे है जिसमे सब सडकें साम्यवाद की ओर जाने वाली है।"

1 *Palmer and Perkins* : International Relations, p 659.

विदेश नीति के मुख्य तत्त्व व विशेषताएं

स्टालिन युग मे सोवियत विदेश नीति के निम्नलिखित तत्त्व थे—

1. पूर्वी यूरोप मे सोवियत प्रभाव का विस्तार किया जाए।

2 विश्व मे साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार किया जाए।

3 पश्चिमी राष्ट्रो के प्रति विरोधी रुख अपना कर शीतयुद्ध को तीव्र बनाकर अधिकाधिक राजनीतिक लाभ उठाया जाए।

4 लौह-आवरण की नीति को अपनाकर ऐसी व्यवस्था की जाए कि साम्यवादी जगत् मे पश्चिमी राष्ट्रो का प्रचार प्रवेश न कर सके।

5 एशिया, अफ्रीका आदि मे उपनिवेशवाद का विरोध किया जाए और शान्तिवादी आन्दोलन छेड़ दिया जाए।

6. सयुक्त राष्ट्रसघ को शीतयुद्ध का मच बना दिया जाए, तथा वहाँ बाधा उपस्थित कर राजनीतिक हितो की रक्षा की जाए। सुरक्षा-परिषद् मे वीटो के प्रयोग से पश्चिमी राष्ट्रो के प्रस्तावो को निरस्त किया जाए।

सोवियत विदेश नीति के इन तत्त्वों से ऐसा प्रतीत होता है मानो स्टालिन ने ही अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को गन्दा बनाया और पश्चिमी देशो के न्यायपूर्ण रुख को ठुकराया, पर वास्तव मे बात ऐसी नही थी। स्टालिन के सामने रूसी हित तो सर्वोपरि थे ही, पश्चिमी देशो का रवैया भी इस प्रकार का रहा कि स्टालिन को उन पर विश्वास नही हुआ। स्टालिन की जगह यदि किसी अन्य व्यक्ति के हाथ मे नेतृत्व होता तो वह भी तत्कालीन परिस्थितियो मे पश्चिमी देशो के साथ सहयोग न कर पाता। विजय के नशे मे फूले हुए अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रो ने निरन्तर सोवियत रूस को दबाए रखने की नीति अपनाई तथा साम्यवाद के विनाश की चालें खेली। बाध्य होकर सोवियत सघ ने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया। स्टालिन अपने शासन काल मे सदैव कठोर और निर्मम रहा था, अत उससे यह आशा नही की जा सकती थी कि वह पश्चिमी देशो के प्रति उदार होगा।

स्टालिन की नीतियों को समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यो का अनुशीलन करना होगा—

1 **सोवियत रूस के युद्धोत्तर उद्देश्य**—द्वितीय महायुद्ध मे सोवियत सघ के उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित थे। अधिकांश रूप से वे रूस के ऐतिहासिक उद्देश्य थे। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर जार-शासित रूस अपने उद्देश्य प्राप्त नही कर सका जबकि द्वितीय महायुद्ध मे साम्यवादी रूस अपने अधिकांश लक्ष्य प्राप्त करने में सफल रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से रूस तीन दिशाओ मे विस्तार का आकांक्षी था—पश्चिम की ओर यूरोप मे, दक्षिण की ओर पूर्वी भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेश मे तथा पूर्व में प्रशान्त महासागर की ओर। रूसी विस्तार के इस प्रत्यक्ष क्षेत्र के अतिरिक्त दीर्घकाल से रूस ने यूरोप के अपने पड़ोसी देशो पर भी इस आधार पर प्रभाव जमाना चाहा कि वे प्रायः आक्रामक रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध में सोवियत रूस ने अपनी ऐतिहासिक विस्तार प्रक्रिया का अनुसरण किया और जब

महायुद्ध का अन्त हुआ तो वह उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर चुका था। रूस ने अपनी सीमा मे इतिहास मे पहली बार सभी रूसी आबादी वाले क्षेत्रो को सम्मिलित किया, पूर्वी यूरोप मे अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया और सुदूरपूर्व मे अपनी स्थिति सुदृढ रखी। यह सब कुछ प्राप्त करने पर भी पूर्व भूमध्य सागर के सम्बन्ध मे रूस अपने ऐतिहासिक लक्ष्य प्राप्त नही कर सका।

2. पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—सोवियत सेना ने नाजी सेना को पराजित करके पूर्वी यूरोप के लगभग सभी देशो पर अधिकार कर लिया था। इन देशों की साम्यवादी पार्टियो ने जर्मनी के विरुद्ध छापामार सघर्षों का नेतृत्व किया था। युद्धोपरान्त इन देशो की राजनीतिक सत्ता सोवियत सघ ने इन्हीं साम्यवादियों के हाथो मे सौपी। इस प्रकार सोवियत रूस के लिए इस क्षेत्र मे अपने प्रभुत्व के विस्तार का मार्ग सरल हो गया। युद्ध के उपरान्त 1948 तक की तीन वर्ष की अल्पावधि मे ही यूरोप के सात देशो मे सोवियत सघ ने साम्यवादी सरकारें स्थापित कर दी। उसने 1947 और 1948 की सन्धियो द्वारा फिनलैण्ड को भी अपने नियन्त्रण मे ले लिया। फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता तो कायम रही लेकिन उसे वह वचन देना पडा कि वह सोवियत विरोधी विदेश नीति नही अपनाएगा। स्टालिन ने इस प्रकार सोवियत राष्ट्रीय सुरक्षा पक्ति को सुदृढ बनाया। इन देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्धो के विकास के लिए भी समझौते किए गए। 1947 की *'मोलोटोव योजना'* मे पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशो के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उनके औद्योगीकरण पर बल दिया गया। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हगरी के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गई। पूर्वी यूरोप के देशो के साथ आर्थिक सहयोग को घनिष्ठ बनाने के लिए 1949 मे पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् स्थापित की गई। यह 'काम-कान' पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme E. R P.) की एक प्रकार से जवाबी कार्यवाही थी। सोवियत सघ मे पूर्वी यूरोप के देशो के साथ सैनिक सन्धियाँ युद्धकाल मे ही की जा चुकी थी। इसके बाद मार्च 1946 से अप्रेल, 1949 तक 17 द्विपक्षीय सन्धियाँ की गई। आगे चलकर मई, 1955 मे इन देशो ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार ये देश सोवियत सघ के साथ और भी अधिक सुदृढता से बँध गए।

रूस का प्रादेशिक प्रभुत्व विस्तार वस्तुत आश्चर्यजनक था। 1939 मे रूस ने अपने क्षेत्र मे लगभग 27 करोड 40 लाख वर्गमील की वृद्धि कर ली, साथ ही लगभग 36 करोड वर्गमील क्षेत्र के सात राज्य मास्को के समर्थक बन गए। इन देशो के अतिरिक्त अधिकृत पूर्वी जर्मनी भी रूसी सरक्षण में ही था और वहाँ समाजवाद के सिद्धान्तो पर आधारित शासन प्रणाली कायम की जा चुकी थी।

3 विश्व मे साम्यवादी क्रांति का प्रसार—द्वितीय महायुद्ध के बाद मास्को ने साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति का अनुसरण आरम्भ कर दिया।

साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशो मे फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व मे सोवियत संघ द्वारा सभी प्रकार के उपायो का सहारा लिया गया। यूनान के गृहयुद्ध में यूनानी साम्यवादियो को पडोसी साम्यवादी देशो—अल्बानिया, बल्गेरिया और यूगोस्लाविया द्वारा सहायता पहुँचाई गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International विश्वव्यापी क्रान्ति के कार्यों को प्रतिरुद्ध करने के लिए 1947 मे वारसा में एकत्रित यूगोस्लाविया, बल्गेरिया, रूमानिया, हगरी, पौलैण्ड, रूस, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया और इटली की साम्यवादी पार्टियो के नेताओं ने बेलग्रेड में 'साम्यवादी सूचना सस्थान' या कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau : Cominform) की स्थापना की। इस सस्थान की स्थापना के घोषणा-पत्र में कहा गया था कि "सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा पिछला युद्ध विश्व मण्डियों मे प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए लडा गया था, किन्तु रूस ने यह युद्ध यूरोप में लोकतन्त्र के पुनर्निर्माण और उसे सुदृढ बनाने के लिए लड़ा था।" कोमिनफोर्म का उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस ने ऐसी नीति का अनुसरण किया जिससे पूर्व और पश्चिम में रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यों की सरकारें स्थापित हो, पुराने बुर्जुआ साम्राज्यो का विनाश हो और इस साम्यवादी विचारधारा के आधार पर नवीन सोवियत साम्राज्य का निर्माण हो। अपने इन्ही उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्टालिन ने युद्धोत्तर विश्व समस्याओं के समाधान में शीघ्रता नही की। वह अडगेबाजी द्वारा शान्ति-व्यवस्था में विलम्ब करना चाहता था ताकि ससार की स्थिति सोवियत सघ के लिए और भी अनुकूल बन जाए।

4 तुर्की, ईरान, यूनान और यूगोस्लाविया पर सोवियत दबाव—स्टालिन काल में सोवियत सघ और पूर्वी यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धो में जहाँ हर प्रकार से सफलता का पलडा रूस के पक्ष मे भारी रहा, वहाँ रूस को तुर्की, ईरान, यूनान और यूगोस्लाविया के सम्बन्ध मे निश्चित असफलताओ का सामना करना पड़ा। सोवियत दबाव की नीति अन्ततोगत्वा सफल न हो सकी।

(क) **तुर्की**—पूर्वी यूरोप के देशो को अनुगामी बनाकर रूस पश्चिम से होने वाले सम्भावित आक्रमणो के प्रति तो सुरक्षित हो गया, लेकिन रूस के विरुद्ध युद्ध करने का दूसरा पुराना मार्ग अभी खुला था और यह मार्ग पूर्वी भूमध्यसागर तथा फारस की खाडी के निकटवर्ती देशो—यूनान, तुर्की और ईरान से होकर था। दक्षिण से होने वाले आक्रमण के विरुद्ध सोवियत सुरक्षा की मुख्य समस्या बोसफोरस और डार्डनलीज जलडमरुमध्य पर नियन्त्रण की थी। सोवियत नेताओ ने द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ होते ही इस समस्या पर विचार किया और समय के साथ अपनी योजना को व्यावहारिक रूप देना शुरू कर दिया। युद्धकाल मे रूस ने जलडमरुमध्य की सयुक्त सुरक्षा के लिए तुर्की से सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति चाही, लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस को अपनी पीठ पर देखकर तुर्की ने सोवियत मांग ठुकरा दी। यद्यपि

फरवरी, 1945 में तुर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर मित्रराष्ट्रों का साथ दिया, लेकिन 'देरी से अपनाए गए इस रुख के कारण' वह सोवियत दबाव से मुक्त नहीं रह सका। रूसी समाचार-पत्रों ने तुर्की के विरुद्ध अपना अभियान छेड़ा, लेकिन तुर्की दबाव में नहीं आया—क्योंकि एक तो ब्रिटेन और फ्रांस का उसे समर्थन प्राप्त था और दूसरे तुर्की में साम्यवादी दल के रूप में 'पचमार्गी तत्व' नहीं थे जो रूस के पक्ष में तुर्की सरकार पर दबाव डालते। युद्ध के उपरान्त जब 'शीत-युद्ध' आरम्भ हुआ तो पश्चिमी राष्ट्रों ने दृढ़ता से तुर्की का समर्थन किया। अक्तूबर, 1946 में सोवियत-तुर्की समझौता-वार्ता भंग हो गई, परन्तु तुर्की रूसी दबाव के सामने झुका नहीं।

(ख) ईरान—1941 में रूस और ब्रिटेन की संयुक्त सेना ने ईरान पर अधिकार कर लिया था। युद्ध-काल में रूस ने अपने अधिकृत प्रदेश में एक गुप्त साम्यवादी दल 'तुदेह दल' को प्रोत्साहित किया जिसने रूसी अजरबेजान के निकट ईरानी अजरबेजान के पृथक्करण के लिए आन्दोलन किया। युद्धोपरान्त 1946 के प्रारम्भ में अमेरिका और ब्रिटेन की सेनाओं ने ईरान खाली कर दिया, लेकिन सोवियत सेना डटी रही। मामला सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत हुआ लेकिन सोवियत संघ ने ईरान से सेना नहीं हटाई। अन्ततः प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा 24 मार्च, 1946 को दोनों देशों देशों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें रूस ने उत्तरी ईरान में तेल सम्बन्धी सुविधा प्राप्त कर अपने सैनिकों को ईरान से हटाना स्वीकार कर लिया। सोवियत सेना के लौट जाने के बाद ईरानी सैनिकों ने अजरबेजान-प्रदेश में प्रवेश किया और पृथकतावादी आन्दोलन को समाप्त कर दिया। इसके बाद ही ईरान की ससद् ने सोवियत रूस को दी गई तेल सम्बन्धी सुविधा को स्वीकृत करने से इन्कार कर दिया। रूस ने ईरान के विरुद्ध प्रचार-अभियान छेड़ा और ईरान में उसी हस्तक्षेप का खतरा पैदा हो गया, लेकिन अमेरिका ने, जो 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अनुसार पहले से ही यूनान और तुर्की को सैनिक तथा आर्थिक सहायता दे रहा था, ईरान को 2 करोड़ 50 लाख डॉलर की सैनिक सहायता और ईरानी सेना को संगठित करने के लिए सैनिक प्रतिनिधि मण्डल भेजने का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ईरान में रूसी हस्तक्षेप का संकट टल गया।

(ग) यूनान—यहाँ भी साम्यवादी शासन की स्थापना के रूसी प्रयत्न असफल रहे। 1944 में चर्चिल और स्टालिन ने मास्को में यह स्वीकार किया था कि यूनान ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में रहेगा, लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद मित्र-राष्ट्रों का सहयोग बिखर गया। सम्भवतः रूसी स्वीकृति से मई, 1946 में साम्यवादियों ने पूरी शक्ति से गृह-युद्ध छेड़ दिया और ब्रिटिश सरकार ने, जो यूनान सरकार को निरन्तर सहायता दे रही थी, अमेरिका को सूचित किया कि वह यूनान को और अधिक सहायता देने में असमर्थ है और अमेरिका ने 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अन्तर्गत यूनान को सहायता देने का निश्चय किया। पर सहायता से पूर्व ही अमेरिका का एक सैनिक प्रतिनिधि-मण्डल यूनान पहुँच गया ताकि यूनानी सेना की सहायता की जा

सके। साम्यवादियों ने एथेंस की सरकार को अमेरिकी साम्राज्य की कठपुतली कहकर निन्दा की और एक अस्थाई मुक्त-यूनान सरकार का गठन कर लिया, लेकिन धीरे-धीरे एथेंस सरकार ने अमेरिकी सरकार की सहायता से अपनी सेना को सुसगठित कर लिया और अक्तूबर, 1949 मे साम्यवादी प्रतिरोध ठडा हो गया।

(घ) यूगोस्लाविया—सोवियत सघ को सबसे बडी असफलता यूगोस्लाविया के मामले मे प्राप्त हुई। कुछ समय तक रूसी गुट मे बने रहने के बाद यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो ने रूस के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और जून, 1948 मे यूगोस्लाविया रूसी गुट से पृथक् हो गया। स्टालिन ने मार्शल टीटो पर हर प्रकार से दबाव डालने की कोशिश की, किन्तु वह टीटो को अपने नियन्त्रण मे नही ला सका। टीटो को यह बिलकुल पसन्द नही था कि यूगोस्लाविया स्थित सोवियत सेना यूगोस्लाविया के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करे, अत उसने सोवियत नागरिक और सैनिक अफसरो पर कडी निगरानी रखते हुए स्टालिन से स्पष्ट शब्दों मे माँग की कि रूसी फौजे यूगोस्लाविया क्षेत्र से हटा ली जाएँ।

स्टालिन और टीटो के मतभेद बढते गए। फलस्वरूप 28 जून, 1948 को कोमिनफार्म (Communist Information Bureau : Cominform) ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी पर यह आरोप लगाकर उसे अपनी सदस्यता से वचित कर दिया कि उसकी नीतियाँ मार्क्सवाद एव लेनिनवाद के सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। प्रस्ताव मे कुछ और भी आरोप लगाए गए। 29 जून को यूगोस्लाव नेताओं ने कोमिनफार्म द्वारा लगाए गए आरोपो को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद सोवियत सघ और यूगोस्लाविया के बीच शीत-युद्ध की स्थिति पैदा हो गई जो स्टालिन की मृत्युपर्यन्त (मार्च, 1953) चालू रही। वास्तव मे स्टालिन ने टीटो को अपने समकक्ष मानने से इन्कार कर दिया और उनके प्रति पूर्ण विरोध की नीति अपनाई।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के 'भाईचारे' के विरुद्ध किए गए टीटो के इस विद्रोह का पश्चिमी देशों ने स्वभावत मुक्त कठ से स्वागत किया। इस विद्रोह को 'सोवियत साम्राज्यवाद के विरुद्ध पूर्वी यूरोप के विद्रोह का सूचक' समझा गया। जुलाई, 1948 मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने यूगोस्लाविया की 6 करोड डॉलर की सम्पत्ति उसे लौटा दी। यूगोस्लाविया ने भी अमेरिका को 1 करोड 80 लाख डॉलर का भुगतान दिया। अन्य पश्चिमी देशो के साथ भी इसी तरह के सद्भावनापूर्ण और लेन-देन की भावना के समझौते किए गए। मार्शल टीटो ने सोवियत रूस से क्षुब्ध होकर पूर्वी यूरोप के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा पश्चिमी देशो के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु यह सदैव ध्यान रखा कि उनका राष्ट्र पूर्णत सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से मुक्त एक स्वतन्त्र राष्ट्र रहे।

5 पश्चिम का विरोध और शीतयुद्ध की उग्रता—सोवियत रूस द्वारा पूर्वी यूरोप के देशो मे साम्यवादी शासन की स्थापना के प्रयत्नो और पश्चिमी शक्तियो द्वारा रूसी प्रभाव के प्रसार को रोकने की चेष्टाओ के कारण सोवियत सघ और पश्चिम की 'विचित्र मैत्री' का अन्त हो गया तथा युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष के

अन्दर ही दोनो गुटो मे उग्र शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया। पराजित राज्यो के साथ सन्धियो की शर्तें, इटली के उपनिवेशो तथा राष्ट्रसंघ के मेन्डेट वाले प्रदेशो का विभाजन, जर्मनी का निःशस्त्रीकरण और एकीकरण, पश्चिमी देशो तथा रूस के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारो मे मौलिक अन्तर, क्षतिपूर्ति, मध्यपूर्व मे प्रभुत्व के लिए तीव्र प्रतियोगिता आदि के सम्बन्ध मे दोनो पक्षो मे शीतयुद्ध की तीव्रता बढी। पश्चिमी राष्ट्र कौमिनफोर्म की गतिविधियो और स्टालिन की हठधर्मी से आशकित हो गए। उधर सोवियत सघ का यह विश्वास दृढ होता गया कि पश्चिमी राष्ट्र उसके उन्मूलन का षड्यन्त्र रच रहे हैं। रूस की दृष्टि मे ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान व जर्मनी का पुन. शस्त्रीकरण, शूमैन एव प्लेवन योजनाएँ, कोरिया युद्ध आदि शत्रुतापूर्ण कार्य थे।

स्टालिन ने अपनी नीति को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का जामा पहनाया, परन्तु उसकी कार्यवाहियो से यह स्पष्ट हो गया कि 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की नीति से उसका अभिप्राय केवल इतना ही था कि दोनो पक्षो मे सशस्त्र युद्ध नही होना चाहिए। एक प्रचारात्मक वाग्युद्ध और कोरिया जैसे स्थानीय युद्धो को वह इस नीति के विरुद्ध नही समझता था। स्टालिन की इस नीति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियो मे तनाव बढता चला गया।

6 लौह आवरण की नीति—महायुद्ध के उपरान्त स्टालिन ने 'लौह-आवरण' (Iron Curtain) की नीति अपनाई ताकि साम्यवादी जगत् को सभी प्रकार के पाश्चात्य प्रभावो से मुक्त रखा जा सके। अमेरिका और उसके पश्चिमी मित्रराष्ट्रो ने साम्यवादी देशो के आसपास अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित करके साम्यवाद के विरुद्ध जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। इन रेडियो स्टेशनो के नाम 'आजाद हगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गए। स्टालिन समझ गया कि पश्चिमी देश साम्यवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते है, अत उसने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशो और रूस के चारो ओर कठोर प्रतिबन्धो की ऐसी व्यवस्था की कि उनके भीतर अमेरिका एव अन्य पश्चिमी राष्ट्रो का प्रचार न पहुँच सके। स्टालिन ने निर्णय कर लिया कि वह रूस एव पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत् को गैर-साम्यवादी देशो के सम्पर्क से पृथक् रखेगा। 1945 से ही ऐसे कानून बनाए जाने लगे जिससे बाह्य जगत् के साथ रूसियो का सम्पर्क रुक जाए। एक कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस म आए हुए विदेशी सैनिको के साथ जिन रूसी स्त्रियो ने विवाह किया था वे अपने पतियो के साथ विदेश नही जा सकेगी। एक अन्य कानून द्वारा विदेशियो के साथ सोवियत नागरिको के विवाहो को निषिद्ध ठहरा दिया गया। विदेशी राजदूतो तथा पत्र-प्रतिनिधियो के साथ भी बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। विदेशो म स्थित सोवियत राजदूतो पर कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाए गए तथा रूसी प्रेस पर भी कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया।

7. अफ्रीका तथा एशिया के प्रति सोवियत नीति एवं शान्ति आन्दोलन—अफ्रीका एवं एशिया के प्रति स्टालिन की नीति विवेकपूर्ण किन्तु अनुदार थी। उसने मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव में वृद्धि करने की चेष्टा और दक्षिणी कोरिया को साम्यवादी बनाने के लिए कोरिया युद्ध की प्रेरणा दी। यद्यपि स्टालिन कम साम्राज्यवादी था, तथापि उसने एशिया और अफ्रीका में पराधीन राष्ट्रों के स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन किया और साम्राज्यवाद की निन्दा की। पश्चिमी राष्ट्रों का दृष्टिकोण ऐसा था जिससे एशिया और अफ्रीका की जनता को यह महसूस हुआ कि ये राष्ट्र अप्रत्यक्ष रूप में उपनिवेशवाद का समर्थन कर रहे हैं।

साम्राज्यवाद विरोधी नीति के साथ ही सोवियत संघ ने 'शान्ति-आन्दोलन' (Peace Offensive) प्रारम्भ किया और पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War-Monger) कह कर बदनाम करने की चेष्टा की। स्टालिन का 'शान्ति-आन्दोलन' एक चातुर्यपूर्ण और सफल चाल सिद्ध हुई। सोवियत संघ की प्रेरणा पर 1950 में स्टॉकहोम में विश्व-शान्ति सम्मेलन की बैठक हुई जिसमें आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील की गई। अपील में कहा गया—

"हम इस बात की माँग करते हैं कि मानव-जाति के सामूहिक उन्मूलन और आतंक के अस्त्र के रूप में आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। हम यह माँग करते हैं कि इस पर कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाए। हम उस सरकार को युद्ध-अपराधी समझेंगे जो किसी देश के विरुद्ध इस शस्त्र का प्रयोग करने में पहल करेगी।"

प्रचार की दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत सफल और लोकप्रिय सिद्ध हुआ। अपील पर कुछ समय में ही लगभग 50 करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त किए गए। शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बहुत प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत रूस को पश्चिम की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय और उपनिवेशवाद-विरोधी मानने लगे।

8. संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत नीति—स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त-राष्ट्रसंघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। संयुक्त-राष्ट्रसंघ इसी विश्वास पर आधारित था (और है) कि महाशक्तियाँ, विशेषत सोवियत संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका सहयोगपूर्वक कार्य करते हुए संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक बनेंगी; परन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी न हो सकी। अपने जन्म के कुछ ही समय उपरान्त संघ शीतयुद्ध का प्रधान अखाड़ा बन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर उपस्थित हुए। मंच में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था और सोवियत रूस ने स्वयं को एक स्थाई एवं निरन्तर अल्पमत में पाया। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार का दृढ़ता से प्रयोग करे। कोरिया युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकों का

बहिष्कार कर दिया लेकिन यह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ, क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही सयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकी। घटना से रूस ने समझ लिया कि सयुक्त राष्ट्र सघ से बाहर रहकर प्रयत्न करने की अपेक्षा वह सयुक्त राष्ट्रसघ की कार्यवाहियो मे भाग लेकर तथा परिषद् की बैठको मे उपस्थित होकर पश्चिमी राष्ट्रो के इरादो को अधिक अच्छी तरह विफल कर सकता है। इस अनुभूति के बाद फिर कभी रूस ने सघ की बैठको का बहिष्कार नही किया। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि सोवियत सघ ने सुरक्षा परिषद् मे अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावो को, जिनमे कश्मीर प्रस्ताव भी शामिल है, धराशायी किया।

9 **रूस का पुनर्निर्माण**—रूस ने महायुद्ध मे हुई क्षति की पूर्ति तेजी से कर ली। रूसी नागरिको मे आत्मा-विश्वास का अभूतपूर्व प्रादुर्भाव हुआ। रूस ने समाजवादी पद्धति के कारण द्रुत गति से पुनर्निर्माण कर लिया और नाजी आक्रमण की कडवी स्मृतियो को मिटा डाला। युद्ध समाप्त होने पर भी रूसी सेना मे कोई विशेष कमी नही की गई, साथ ही आधुनिकतम शस्त्रास्त्र बनाने पर विशाल धनराशि व्यय की गई।

10. अणु-शक्ति के रूप मे उदय—सैनिक स्तर पर सच्चे अर्थों मे एक महाशक्ति बनने के लिए अब यह आवश्यक हो गया था कि रूस भी अमेरिका के समान अणु शक्ति का स्वामी बने। रूस ने इस दिशा मे प्राणपन से चेष्टा की और 29 अगस्त, 1949 को अपना प्रथम अणुबम का सफल परीक्षण किया। इससे रूस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा मे चार चाँद लग गए तथा उसे सयुक्तराज्य अमेरिका का वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा। रूस ने अल्पकाल मे ही विभिन्न प्रकार के अणु आयुधो और अणुबमो का निर्माण कर अमेरिका के लिए गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी। 12 अगस्त, 1953 को वह अमेरिका की तरह परमाणु-परीक्षण मे भी सफल रहा तथा परमाणु शास्त्रास्त्र के युग मे प्रवेश कर गया।

स्टालिन की विदेश नीति का मूल्यांकन

स्टालिन ने एक आक्रामक, गतिशील, अडगेबाजीपूर्ण और लौह आवरणवादी तथा समझौता विरोधी नीति का अनुसरण किया, पूर्वी यूरोप मे अपने वचनो को भुठलाकर सोवियत प्रभुत्व का विस्तार किया, यूनान के गृह-युद्ध मे साम्यवादियो की सहायता की, तुर्की पर बासफोरस तथा डार्डेनेलीज के जलमडरूमध्यो के सम्बन्ध मे माण्ट्रेक्स (Montreaux) समझौते को बदलने के लिए दबाव डाला, मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया, ईरान म सोवियत नेताओ के हटाने में देरी लगाई, टीटो को सोवियत गुट से निष्कासित किया, तथा कोरिया व हिन्द चीन मे युद्ध भडकाया। स्टालिन की इस आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियाँ सशकित हो गई और उन्होने बढते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा

साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, डकर्क व ब्रूसेल्स सन्धियाँ, नाटो पैक्ट, पश्चिमी यूरोप की एकता के लिए बनाए गए विभिन्न सगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति के प्रभावशाली प्रत्युत्तर थे। 1945-47 काल मे यूरोप की स्थिति स्टालिन के लिए बडी अनुकूल थी लेकिन 1953 तक स्थिति बदल गई। मध्यपूर्व मे तुर्की और यूनान मे हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस की वैसी बदनामी हुई जैसी बाद मे आइजनहावर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका की हुई। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रो के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। इससे उसने इन राष्ट्रो का समर्थन बहुत कुछ खो दिया। गुट-निरपेक्ष देशो के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ, भारत को उसकी गुट-निरपेक्षता के कारण ही स्टालियन रूस-विरोधी समझता रहा। स्टालिन की अधिनायकवादी और कठोर नीति ने स्वय साम्यवादी गुट मे काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

द्वितीय महायुद्धोतर काल मे दो महाशक्तियो का उदय हुआ—सयुक्त राज्य मेरिका और सोवियत सघ। विश्व मे शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभर कर सामने आए और 1945 से 1955 तक विश्व मे दृढ द्वि-ध्रुवीयता (Tight-Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनो महाशक्तियाँ एक-दूसरे की जबरदस्त प्रतियोगी बन गईं और दोनो ही के नेतृत्व मे दो विरोधी गुटो का निर्माण होता गया। महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा विशेषकर यूरोप मे बहुत तीव्र रही जिससे न केवल शीतयुद्ध में तीव्रता आई बल्कि यह भी कि जहाँ सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यो तक सीमित थी वहाँ इन दोनो प्रतिस्पर्द्धी गुटो के सदस्यो की सख्या 60 से भी अधिक थी। 1955 के मध्य मे द्विध्रुवीयता शिथिल होने लगी और बहुकेन्द्रवाद (Poly Centricism) का उदय होने लगा। आज यद्यपि शक्ति के लगभग चार या पाँच केन्द्र उभर आए है फिर भी महाशक्तियो के रूप मे वस्तुत अमेरिका और सोवियत सघ की ही गणना की जा सकती है।

मैलेंकोव काल (1953–54)

(स्टालिन की मृत्यु से पूर्व ही सोवियत विदेश नीति मे गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, किन्तु बाद मे उसकी नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और वह फिर से विकासोन्मुखी बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य बातो ने सोवियत सघ की शक्ति मे वृद्धि की। पहला विकास यह था कि पूर्वी यूरोप मे सोवियत साम्राज्य स्थिर हो गया। दूसरे, सोवियत सघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढने लगी। तीसरे रूस के दक्षिणी क्षेत्र मे उसका प्रभाव बढने लगा, मध्यपूर्व, दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव क्षेत्र मे आने लगे। विश्व का शक्ति सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य मे वृद्धि नही हुई, तथापि सोवियत सघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी उन्नत हो गई जितनी पहले कभी नही थी। सोवियत विदेश

नीति के सामने अब ये लक्ष्य थे—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य स्वीकृति प्राप्त करना तथा जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक सोवियत सुरक्षा को खतरे में न डालते हुए देश की शक्ति का विस्तार करना। साम्राज्य की रक्षा करना उसे प्राप्त करने से अधिक कठिन होता है, इसलिए सोवियत संघ ने अपने अधिराज्यों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की, आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणयुक्त बनाया तथा जीवन-स्तर के आधुनिक विकास को प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के बाद सोवियत रूस को बर्लिन-समस्या का सामना करना पड़ा, साम्यवादी चीन के साथ इसका सैद्धान्तिक विवाद बढ़ा, मार्शल टीटो के साथ मतभेदों में उतार-चढ़ाव आया, पोलैण्ड और हंगरी में क्रान्तियाँ हुईं तथा एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं संघर्ष हुए और इन सबके कारण सोवियत संघ की विदेश नीति में गतिशीलता आई।

स्टालिन की कठोर विदेश नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनके फलस्वरूप अब सोवियत नीति का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। इसलिए स्टालिन के उत्तराधिकारी मैलेंकोव ने दिवंगत नेता के अन्त्येष्टि-संस्कार में ही घोषणा की कि—"लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूंजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा।" मैलेंकोव का यह आश्वासन इस बात का संकेत था कि स्टालिन के उत्तराधिकारी पश्चिमी एवं गैर-साम्यवादी देशों के प्रति उग्रता और कठोरता में कमी लाना चाहते थे। इसके तुरन्त बाद ही 15 मार्च, 1953 को सुप्रीम सोवियत में सोवियत प्रधान मन्त्री ने कहा—"अब सोवियत विदेश नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से किया जाएगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसे शान्तिपूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राज्य अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" सोवियत रूस की नीति में परिवर्तन का संकेत देने वाली इन विभिन्न घोषणाओं के कारण अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के विरुद्ध प्रचार में कमी आई। इसी के परिणामस्वरूप अब तक पश्चिम के विरुद्ध आग उगलने वाले रूसी विदेश मन्त्री विशिस्की ने संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा की बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम को निमन्त्रण दिया कि "आप मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर हमसे मिलें।" इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किए जाने वाले प्रचार की उग्रता में भी कमी आ गई।

रूस की नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही प्राप्त होने प्रारम्भ हो गए। अक्तूबर, 1952 में चालू कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और 10 अप्रैल, 1953 को पानमुनजोन में रुग्ण एवं घायल युद्धबन्दियों के बारे में उदार नीति अपनाई गई। 15 मई, 1955 को आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में शान्ति-सन्धि हो गई। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत सैनिकों द्वारा खाली कर

दिए गए, सोवियत सेना में 1 लाख 80 हजार सैनिको की कमी की गई। 1954 में जेनेवा-सम्मेलन द्वारा हिन्द-चीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत सघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुन कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यूगोस्लाविया के साथ मतभेदो को दूर कर उसे पुन साम्यवादी शिविर मे लाने की चेष्टा की गई। 29 अप्रेल, 1953 को मैलेंकोव ने यूगोस्लाव प्रतिनिधि से कूटनीतिक सम्बन्धो की पुनर्स्थापना के सम्बन्ध मे बातचीत की और मई, 1953 में दोनो देशो के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध पुन कायम हो गए। इसके उपरान्त सोवियत नेताओ ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी के साथ भी अपने सैद्धान्तिक मतभेदो को दूर करने के प्रयत्न किए।

मैलेंकोव के नेतृत्व मे सोवियत रूस की लौह आवरण की नीति मे भी शिथिलता आई। बाह्य दुनिया से सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत सघ को लौह-आवरण मे कैद न समझा जाए। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों मे विभाजित मानता था, लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और तटस्थ-राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त करने तथा उन्हे अपने पक्ष मे करने के लिए चेष्टा की गई।

ख्रुश्चेव-काल
(1955-64)

इस समय सोवियत सघ मे अन्दर ही अन्दर नेतृत्व के लिए सघर्ष चल रहा था। इस सघर्ष मे मैलेंकोव की पराजय हुई और 8 फरवरी, 1955 को उन्हे प्रधान-मन्त्री पद त्यागना पड़ा। अब निकिता ख्रुश्चेव पार्टी के महासचिव नियुक्त हुए।

1955 से 1963 तक की सोवियत विदेश नीति का युग ख्रुश्चेव युग कहलाता है। इस युग में सोवियत विदेश नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

ख्रुश्चेवकालीन विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(1) लौह आवरण की नीति उत्तरोत्तर शिथिल होती गई तथा 'यात्रा-कूटनीति' का महत्त्व बढ़ता गया।

(2) पश्चिम के प्रति उग्र नीति का शनै शनै परित्याग किया जाने लगा। सोवियत नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर अग्रसर हुए। विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा, परन्तु शीतयुद्ध का परित्याग नही किया गया। अनुकूल परिस्थितियो मे शीतयुद्ध को उभार कर राजनीतिक और प्रचारात्मक लाभ प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे।

(3) अल्पविकसित देशो को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। इसमें उत्तरोत्तर विकास होता चला गया।

(4) सोवियत प्रभाव-विस्तार की सक्रिय चेष्टाओ के बावजूद उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को तीव्र कर दिया गया। सोवियत नीति यह रही कि एशिया और अफ्रीका की जनता की अधिकाधिक सहानुभूति प्राप्त कर इन महाद्वीपों मे साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। सोवियत

शक्ति और प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन क्षेत्र रहे—एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका।

(5) अणु आयुधों में अमेरिका से समानता तथा उससे आगे निकल जाने के प्रयत्न अनवरत चलते रहे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी रण-नीति रची गई।

यह उपयुक्त होगा कि ख्रुश्चेव युग में सोवियत विदेश नीति के मुख्य पहलुओं का विस्तार से विवेचन किया जाये और देखा जाए कि इस नीति का व्यवहार में क्रियान्वयन किस प्रकार हुआ।

1. लौह आवरण में शिथिलता, यात्राओं की कूटनीति—इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति में पर्याप्त शिथिलता आई और 'यात्रा कूटनीति' का महत्त्व बढ़ा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक तथा संसदीय शिष्टमण्डल विदेशों में जाने लगे और विदेशों के ऐसे ही शिष्टमण्डल साम्यवादी देशों में आमन्त्रित किए जाने लगे। स्टालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का घोर विरोधी था और सम्भवतः केवल एक तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था, अन्यथा युद्ध सम्मेलनों में ही उसकी चर्चिल और रूजवेल्ट से भेंट हुई थी, लेकिन अब ख्रुश्चेव, बुल्गानिन आदि उच्चतम स्तर के सोवियत नेता दूसरे देशों की सद्भावना और मैत्री अर्जित करने के लिए विभिन्न देशों की यात्राएँ करने लगे और उन देशों के नेताओं को अपने यहाँ आमन्त्रित करने लगे।

जून, 1955 में भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू सोवियत रूस द्वारा आमन्त्रित किए गए और नवम्बर, 1955 में ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत-यात्रा की। इससे दोनों देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओं को भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रति स्टालिन काल से जो सन्देह बना हुआ था वह दूर हो गया। अप्रेल, 1956 में दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। 1959 के आरम्भ में प्रथम सोवियत उप-प्रधानमन्त्री मिकोयान ने 14 दिन तक अमेरिका की यात्रा की और 17 जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने उनका स्वागत किया। सोवियत उप-प्रधानमन्त्री ने दोनों देशों में व्यापार-वृद्धि को आवश्यक बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीतयुद्ध' (Cold-War) का स्थान 'शान्तिपूर्ण-प्रतियोगिता' (Peaceful Competition) को लेना चाहिए। 31 जनवरी, 1959 को सोवियत साम्यवादी पार्टी के 21वें अधिवेशन में मिकोयान ने कहा कि उन्होंने अमेरिकी राजनीतिज्ञों और नेताओं के साथ जो भी वार्तालाप किया उसमें उन्हें कहीं सोवियत साम्यवाद के 'निरोध' (Containment), 'पीछे धकेलने' (Roll Back) तथा 'साम्यवाद की दासता से मुक्ति' (Liberation) की कोई चर्चा नहीं सुनाई दी। सितम्बर, 1959 में सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की।

सोवियत नेताओं द्वारा लौह-आवरण शिथिल किए जाने और विश्व के विभिन्न देशों की यात्रा करने से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में निश्चित रूप से कमी हुई और दोनों विरोधी पक्ष एक-दूसरे के प्रति उतने अधिक सशंकित न रहे जितने स्टालिनकाल में थे।

अपनी यात्राओं में रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर-सम्मेलन आयोजित करने पर बार-बार बल दिया। ऐसा एक सम्मेलन जुलाई, 1953 में जेनेवा में हुआ जिसमें हिन्द-चीन की समस्या को महत्त्व दिया गया। दूसरा सम्मेलन मई, 1960 में हुआ जो दुर्भाग्यवश यू-2 विमानकाण्ड से उत्पन्न विवाद के कारण असफल हो गया।

2 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की नीति—स्टालिन की मृत्यु के बाद शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का शुभारम्भ मैलेकोव के प्रधानमन्त्रित्व-काल में ही हो चुका था, किन्तु इसमें निखार ख्रुश्चेव तथा इसके परवर्ती काल में आया। फरवरी, 1956 में रूसी साम्यवादी दल की 20वीं कांग्रेस ने स्टालिन तथा उसकी नीतियों की कटु आलोचना की तथा इसके और साम्यवादी देशों में युद्ध की अनिवार्यता के लेनिन-सिद्धान्त को संशोधित करके शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को सोवियत नीति का आधार बनाया।

ख्रुश्चेव की विदेश नीति की पाँच प्रमुख विशेषताएँ थीं—

प्रथम, जहाँ स्टालिन के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था, ख्रुश्चेव ने इसका अर्थ यह माना कि सभी गैर-साम्यवादी राष्ट्र, विशेषकर एशिया और अफ्रीका के गुट-निरपेक्ष देश सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं।

द्वितीय, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया।

तृतीय, यात्राओं की कूटनीति स्वीकार की गई और यह माना गया कि दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करने के लिए सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्राएँ करनी चाहिए तथा लौह-आवरण को शिथिल कर साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के मध्य सम्पर्क को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे, सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प-विकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

पाँचवें, पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी बताकर उनकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग किया गया।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नवीन सोवियत नीति के अनुसार गैर-साम्यवादी देशों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—(1) संयुक्त राज्य अमेरिका, (2) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी देश, एवं (3) गुट-निरपेक्ष देश, जैसे—भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा, मिस्र, सीरिया, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान व स्विटजरलैण्ड। दूसरे शब्दों में, पहले सोवियत संघ दुनिया में दो रंग के फूल ही देखता था—लाल और सफेद, अब वह इसमें लाल, पीले, नीले, हरे विभिन्न प्रकार के फूल देखने लगा। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलों के सिवाय सब तरह के फूलों को नष्ट करने की थी, अब वह उसके साथ-साथ रहने अर्थात् 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' की बात करने लगा। 12 अक्तूबर 1954 को सोवियत संघ और चीन की एक संयुक्त घोषणा में स्पष्ट कहा गया कि वे समस्त देशों के साथ पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर मैत्री-सम्बन्ध कायम करना चाहते हैं।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत रूसी विदेश नीति मे एक निश्चित लचीलापन (Flexibility) आया। इण्टरनेशनल न्यूज सर्विस एजेन्सी के मुख्य सम्पादक डब्ल्यू आर हर्स्ट (W R Hearst) को एक इण्टरव्यू मे ख्रुश्चेव ने स्पष्ट किया था कि यदि सयुक्तराज्य अमेरिका का शासक वर्ग इस असदिग्ध तथ्य को स्वीकार कर ले कि विश्व मे एक और समाजवादी जगत् का अस्तित्व है जो अपने आदर्शों के अनुरूप उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है तथा इस समाजवादी दुनिया के अतिरिक्त एक पूँजीवादी दुनिया भी है तो वह (सोवियत रूस) इन दो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ के बीच सह-अस्तित्व की सम्भावनाओ को स्वीकार कर लेगा। अपने इसी इण्टरव्यू मे ख्रुश्चेव ने दृढ शब्दो मे यह स्पष्ट कर दिया कि रूस इस बात को किसी दशा मे स्वीकार नही कर सकता कि ससार के प्रत्येक देश पर सयुक्तराज्य अमेरिका हावी होने की चेष्टा करे।

स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने के सोवियत रूस ने निश्चित प्रमाण भी प्रस्तुत किए। उदाहरणार्थ, जुलाई, 1953 को कोरिया युद्ध की समाप्ति मे रूसी सहयोग प्राप्त हुआ, जनवरी-फरवरी, 1954 मे चार बड़े देशो के विदेश मन्त्रियो का सम्मेलन हुआ जिसके निश्चय के अनुसार अप्रेल मे जो जेनेवा सम्मेलन हुआ उसमे वियतनाम की समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया गया। 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति स्थापित हुई। जुलाई, 1955 मे चार बड़ो का शिखर-सम्मेलन हुआ जो 1945 के पोट्सडम सम्मेलन के बाद चार बडो की पहली बैठक थी। इसमे हिन्द-चीन के प्रश्न का शान्तिपूर्ण समाधान हुआ। इसी बीच 15 जून, 1954 को सोवियत सघ ने कालासागर प्रदेश मे तुर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक माँगो का परित्याग करने की घोषणा की।

सोवियत सघ ने सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव की नियुक्ति पर अपने पहले के दुराग्रही रवैये को छोडकर डाग हैमरशोल्ड को महासचिव के रूप में स्वीकार कर लिया। 1 जुलाई, 1955 मे भारत के प्रयत्नो और रूस के समर्थन मे साम्यवादी चीन ने 11 बन्दी अमेरिकी विमान चालकों को रिहा कर दिया। रूस द्वारा अपनाई गई इस सहयोगपूर्ण और उदार नीति का सयुक्त राष्ट्रसघ पर भी अनुकूल प्रभाव पडा। इसी सहयोग से वह अब अधिक प्रभावशाली रूप मे कार्य करने लगा। नवम्बर-दिसम्बर, 1955 मे एक तरफ सोवियत रूस ने और दूसरी तरफ फ्रांस, ब्रिटेन एव सयुक्तराज्य अमेरिका ने यह निश्चय किया कि एक-दूसरे के द्वारा प्रस्तावित राज्यों को सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनाने के प्रस्तावो का विरोध नही करेगे। इस निश्चय के परिणामस्वरूप 8 दिसम्बर, 1955 को 18 राज्यो को सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता प्रदान की गई। सोवियत नेताओ ने दूसरे देशो की सद्भावना यात्राएँ करना आरम्भ किया। 18 अप्रेल, 1956 को कोमिनफोर्म को भग कर दिया गया। जुलाई-अगस्त, 1963 म अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि सम्पन्न की गई जिसे 1922 की वाशिगटन सन्धियो के पश्चात् नि.शस्त्रीकरण के प्रयत्नो की

दिशा मे प्रथम सफलता कहा गया। अगस्त, 1963 मे ही मास्को और वाशिंगटन के मध्य सीधा टेलीफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U S-Soviet Hot Line Agreement) सम्पन्न हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि किसी सकटकालीन स्थिति मे दोनो राष्ट्रो के अध्यक्ष एक-दूसरे से सीधी वार्ता द्वारा विश्व को परमाणु युद्ध से बचा सकेंगे।

ख्रुश्चेव काल मे 'पूर्व और पश्चिम' के सम्बन्धो मे निश्चित रूप से सुधार हुआ, किन्तु राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियो के रूप मे दोनो की स्थिति यथापूर्व रही और कूटनीतिक दावपेचो द्वारा अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढाने मे दोनो ही पक्ष अग्रसर रहे। मूल अन्तर केवल यही रहा कि स्टालिनशाही उग्रवादी नीति का स्थान चातुर्यपूर्ण और गहन कूटनीतिक उदार नीति ने ले लिया जिसमे प्रत्येक अनुकूल अवसर से लाभ उठाने की चेष्टा जारी रही। मौके-बेमौके ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे और ऐसी घटनाएँ घटी जिनसे समय-समय पर शीतयुद्ध मे तेजी आई और दोनो पक्षो मे कटुता व्याप्त हुई। उदाहरणार्थ, 1955 मे स्वेज नहर और हगरी के प्रश्न पर दोनो गुटो मे अत्यधिक उग्रता उत्पन्न हो गई। मई, 1960 मे यू-2 विमान की घटना ने शीतयुद्ध मे उभार ला दिया और 1962 मे क्यूबा के सकट ने दोनो महाशक्तियो को सघर्ष के इतने निकट ला दिया कि तृतीय महायुद्ध के विस्फोट की सम्भावना से विश्व की सम्पूर्ण शान्तिप्रिय जनता आशकित हो उठी। फिर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि सकट के प्रत्येक अवसर को टालने मे न्यूनाधिक रूप से दोनो ही पक्षो ने विवेक और धैर्य का परिचय दिया तथा रस्सी को इतना नही खिचने दिया कि वह टूट जाए।

3. अल्प-विकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग—मैलेंकोव और ख्रुश्चेव युग मे सोवियत सघ ने भी अल्प-विकसित देशो को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई जो आज तक सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख अग बनी हुई है। सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा 1948 से ही ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के अन्तर्गत अल्प-विकसित देशो के लिए आर्थिक सहायता का कार्यक्रम चालू था ताकि उन देशो मे साम्यवादी प्रभाव का प्रसार रोका जा सके। इसके प्रत्युत्तर मे स्टालिनोत्तर युग मे सोवियत रूस ने अल्प-विकसित देशो को विकसित करने की अपेक्षा उनमे साम्यवाद के प्रचार और तोड-फोड के सिद्धान्त को अपनाया था। परन्तु स्टालिनोत्तर युग मे नवीन नीति का प्रारम्भ हुआ जिसके अनुसार रूस द्वारा अविकसित देशो के आर्थिक विकास पर बल दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप जनवरी, 1954 से जनवरी, 1963 तक दोनो ही महाशक्तियो द्वारा अल्पविकसित एव अविकसित राष्ट्रो को आर्थिक सहायता देने की एक प्रतियोगिता-सी प्रारम्भ हो गई।

अविकसित देशो को आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाने के साथ सोवियत रूस ने उत्पादन और सैनिक शक्ति मे स्वय को पश्चिमी देशो से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया। ख्रुश्चेव का स्पष्ट मत था कि, "अब सबमे

महत्त्वपूर्ण समस्या पूँजीवाद को पराजित करना है, जो बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा अधिक पैदा करेगा वह विजयी होगा।" इस नीति के फलस्वरूप रूस के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। सैनिक शक्ति में भी सोवियत संघ तेजी से आगे बढ़ा। 1957 में स्पूतनिक और 1961 में 50 मेगावाट बम का निर्माण कर वह रॉकेट तथा परमाणु शस्त्रों की दौड़ में संयुक्तराज्य से भी आगे निकल गया।

4. उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध—ख्रुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असंलग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद-विरोधी प्रचार को और भी तीव्र कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्यत्र वह साम्राज्यवादी शक्तियों की तीव्र निन्दा करने लगा और उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराने के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों का पूर्ण समर्थन करने लगा। रूसी नेताओं की मान्यता थी कि इस नीति से उन्हें दोहरा लाभ मिलता है। पहला तो यह कि उसे एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवाद से पीड़ित जनता की सहानुभूति प्राप्त होती है और दूसरे, साम्राज्यवाद के विघटन से रूस के प्रबल एवं कट्टर शत्रु पूँजीवादी पश्चिम की प्रभुता क्षीण होती है।

वास्तव में स्टालिन की मृत्यु के बाद ही विशेषकर ख्रुश्चेव के प्रभाव में आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्पविकसित या अविकसित देशों और उपनिवेशों के प्रति सोवियत नीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित थे—

(i) भूतपूर्व उपनिवेशों अथवा अर्द्ध-उपनिवेशों के सन्देह एवं राष्ट्रीय सम्मान का अच्छी प्रकार से ध्यान रखते हुए इनके प्रति पूरी तरह मित्रता एवं सौहार्द्र प्रस्तुत करना;

(ii) पश्चिम के साथ इन देशों के अतीत के कटु सम्बन्धों का लाभ उठाकर इन्हें पश्चिम से विमुख करना;

(iii) न केवल उपनिवेशवाद विरोधी वरन् जातिवाद विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभारना;

(iv) राजनीतिक असंलग्नता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना,

(v) औद्योगीकरण द्वारा उनकी अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित करने की महत्त्वाकांक्षा को बल देना; हो सके तो उन्हें सोवियत एवं पारस्परिक व्यापार सम्बन्धों की दिशा में प्रेरित करना,

(vi) पश्चिम के साथ उनके प्रत्येक सम्भावित विवाद को उकसाना;

(vii) विदेशी पूँजी या सहायता को उनकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बता कर पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति सन्देह उत्पन्न करना;

(viii) उनकी आँखों के सामने सोवियत रूस के द्रुत औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि वे यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

सोवियत संघ की शक्ति एवं प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन महाद्वीप हैं—अफ्रीका, एशिया एवं लेटिन अमेरिका। शेपीलोव (Shepilove) ने पूर्व के सम्बन्ध मे कहा था कि सोवियत जनता पूर्वी राष्ट्रों के समाप्त प्रायः उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष को सहानुभूति तथा सम्मान प्रदान करती है। उन्होंने एक बार कहा था कि हमारा विश्वास है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा आत्म-निर्णय प्रत्येक देश की जनता (People) का अभिन्न अधिकार है।

ख्रुश्चेव की विदेश नीति का मूल्यांकन

ख्रुश्चेव नेसोवियत विदेश नीति को जो मोड़ दिया वह बाद मे भी जारी रहा। नए प्रधानमन्त्री कोसीगिन एवं राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने सह-अस्तित्व एवं शान्तिवादी सोवियत नीति को गति प्रदान की। गत वर्षों के इतिहास में इस आशा का सचार हुआ कि सोवियत रूस अपनी उदार नीति पर आरूढ़ रहेगा।

श्री ह्यूये और उन्ही के समान कुछ अन्य विद्वानो का मत है कि उदारवाद रूस की अल्पकालीन नीति है अर्थात् उनकी मूल नीति मे कोई परिवर्तन नही आया है। स्टालिन के समय के शुद्धि-आन्दोलनो में अनेक बड़े नेताओं की जो पदावनति होती थी, वह आज भी होती है। रूस के मामलो में विशेष रूप से सिद्धहस्त अनेक पाश्चात्य कूटनीतिज्ञो की मान्यता है कि रूसी विदेश नीति का प्रमुख ध्येय पूँजीवादी समाज का उन्मूलन है जिसमे शायद ही कोई मूल परिवर्तन आए।

ब्रेझनेव-कोसीगिन काल
(अक्तूबर, 1964–दिसम्बर, 1980)

ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत होने के बाद, अक्तूबर, 1964 मे सोवियत संघ का नेतृत्व ब्रेझनेव और कोसीगिन के हाथो मे आया। यह आशका व्यक्त की गई कि नया नेतृत्व स्टालिनवादी होगा और सोवियत नीति मे पुनः प्रतिगामी परिवर्तन आएगा। लेकिन नए सोवियत नेताओ ने उदारवादी नीति अपनाते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलने का आश्वासन दिया और उसे निभाया भी। ब्रेझनेव-कोसीगिन ने सोवियत कूटनीति की कुछ नई दिशाएँ भी प्रदान की है। वर्तमान जटिल और परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सोवियत विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य साम्यवादी चीन और संयुक्तराज्य अमेरिका के दोहरे खतरे का मुकाबला करते हुए साम्यवादी जगत् मे रूसी नेतृत्व और विश्व में सोवियत प्रतिष्ठा को कायम रखना है। चीन-अमेरिका-धुरी के सफल मुकाबले के लिए भारत की मैत्री के महत्त्व को हाल ही के वर्षों में सोवियत नेता भली-भाँति आंक चुके हैं और पाकिस्तान-भारत सम्बन्धो के सन्दर्भ मे वर्तमान सोवियत विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन हुआ है।

सह-अस्तित्व और शिखर-कूटनीति—रूस के नए नेतृत्व ने ख्रुश्चेवकालीन शिखर-कूटनीति जारी रखी है। अक्तूबर, 1966 मे सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको ने राष्ट्रपति जॉनसन से मिलकर निःशस्त्रीकरण और वियतनाम के प्रश्न पर वार्ता की। जून, 1967 मे अमेरिका और रूस के सर्वोच्च नेताओ का शिखर सम्मेलन

हुआ तथा पश्चिमी एशिया के सकट पर सयुक्त राष्ट्र-महासभा के अधिवेशन मे भाग लेने के लिए रूसी प्रधानमन्त्री कोसीगिन स्वयं उपस्थित हुए। ग्लासवरो मे जॉनसन और कोसीगिन ने विभिन्न समस्याओ पर विचारो का आदान-प्रदान किया। इसके बाद भी क्रम चालू रहा और सोवियत नेताओ ने भारत-पाकिस्तान, अमेरिका तथा अरब प्रदेशो की यात्राएँ की। इन यात्राओ मे सोवियत नेता विश्व के राष्ट्रो के समक्ष सोवियत विदेश नीति के विवादग्रस्त पहलुओ की स्पष्ट व्याख्या दे सके जिससे सह-अस्तित्व और समस्याओ के शान्तिपूर्ण निदान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

ताशकन्द सोवियत कूटनीति मे नया मोड़— सितम्बर, 1955 मे भारत-पाक सघर्ष का अन्त कराने मे उल्लेखनीय प्रयास करने के उपरान्त दोनो देशो के बीच विवाद सुलझाने के लिए मध्यस्थता कर रूस ने अपनी विदेश नीति के नए पैंतरे से समूचे राजनीतिक विश्व को स्तब्ध कर दिया। सोवियत सघ ने इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान मे मध्यस्थता के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नही किया था। जनवरी, 1966 मे 'ताशकन्द वार्ता' आयोजित करने मे सोवियत कूटनीति अत्यन्त सक्रिय रही जिसके फलस्वरूप 10 जनवरी, 1966 को रात्रि के लगभग 9 बजे तालियो की गडगडाहट के बीच तत्कालीन पाक-राष्ट्रपति अयूब खाँ और भारतीय प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन की उपस्थिति मे एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसे 'ताशकन्द घोषणा' (Tashkent-Declaration) कहा गया। इस समझौते के कारण उस समय कश्मीर विवाद ठण्डा पड गया, भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध सामान्य होने लगे तथा यह निश्चय हुआ कि दोनो पक्षो की सेनाएँ उन स्थानो पर लौट आएँगी जहाँ वे अगस्त, 1965 मे युद्ध प्रारम्भ होने से पहले थी। सभी मतभेदो पर बातचीत चालू करने का निर्णय किया गया।[1] सोवियत राजनय की इस सफलता के मूल मे प्रमुख कारण थे—(i) भारत और पाकिस्तान को एक निष्पक्ष वातावरण मे समझौता-वार्ता के लिए क्रियाशील करना, (ii) समझौता कराने के प्रश्न को सोवियत रूस द्वारा अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेना, (iii) सोवियत रूस की भौगोलिक स्थिति और एशिया मे शान्ति-व्यवस्था रखने मे उसकी रुचि, एव (iv) पाकिस्तान को चीन-अमेरिकी गुट मे जाने से रोकने की प्रबल रूसी उत्कण्ठा।

पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण किन्तु शीघ्र ही भूल सुधार—ताशकन्द समझौते के मूल मे सोवियत सघ की भारत और पाकिस्तान के प्रति बदलती हुई नीति के बीज छिपे थे—यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया। रूस के नए नेतृत्व का रुख ताशकन्द समझौते के उपरान्त कुछ वर्षों तक भारत के प्रति उतना मैत्रीपूर्ण नही रहा जितना ख्रुश्चेव के समय था। काश्मीर के प्रश्न पर भी सोवियत रूस मे पाकिस्तान के पक्ष मे कुछ नरमी आई। जुलाई, 1968 मे रूस ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का जो निर्णय लिया वह भारत की मित्रता और आशाओ पर

1 *Grenvill*. The Major International Treaties, 1914–73, p 435

एक करारी चोट थी। सोवियत रवैये ने भारत को यह सोचने के लिए विवश किया कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कोई किसी का स्थाई मित्र या शत्रु नही होता।" फिर भी भारत का रुख सहनशीलता तथा प्रतीक्षा करो और देखो का रहा। सोवियत नेता शीघ्र ही पाकिस्तान की दुरगी चालो मे क्षुब्ध हो गए। उनकी यह धारणा बनी कि पाकिस्तान, अमेरिका, चीन और रूस तीनो मे से किसी का विश्वसनीय मित्र नही हो सकता। जो हथियार दे, वही उसका मित्र है। पाकिस्तान ने ताशकन्द समझौते के जो गम्भीर उल्लघन किए उससे भी पाकिस्तान की ईमानदारी मे सोवियत नेताओ का विश्वास टूट गया। दूसरी ओर भारत की गम्भीरता और दृढता तथा रूस के प्रति अपरिवर्तित दृष्टिकोण ने सोवियत नेताओ को यह अनुभव करा दिया कि रूस के लिए अमेरिकी और चीनी खतरे के विरुद्ध भारत जैसे शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र के हाथो मे कितनी सन्तुलनकारी शक्ति है। अत जब बगलादेश (उस समय पूर्वी पाकिस्तान) की घटनाएँ घटी तो रूसी सहानुभूति भारत और बगलादेश के न्यायपूर्ण पक्ष की ओर रही।

भारत और सोवियत संघ—1949 के अन्त तक भारत और सोवियत सघ सम्बन्धो मे सुधार होने लगा था किन्तु जून, 1950 में कोरिया युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत न्याय और निष्पक्षता के पक्ष मे था, अत उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने मे कोई सकोच नही किया। इससे सोवियत सघ मे भारत के प्रति रोष पैदा हो गया लेकिन भारत ने सयुक्त राष्ट्र सघ सेना को 39वी अक्षाश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के विरुद्ध चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय बुद्धि स्वतन्त्र है, पश्चिम के दबाव से प्रेरित नही है। दोनो देश इसलिए भी एक-दूसरे के निकट आए कि दिसम्बर, 1951 मे भारत ने जापान शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया क्योकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकजे में जकड़ने की एक चाल थी।

मेलोन्कोव और फिर ख्रुश्चेव काल मे भारत और रूस के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हुए। 1954 मे रूस ने पचशील के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। जून, 1955 मे नेहरू ने सोवियत सघ की यात्रा की तथा उसे सहअस्तित्व सम्बन्धी अपनी विचारधारा से प्रभावित किया। 1955-56 मे बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो पर दोनो देशों के दृष्टिकोण समान थे। कश्मीर विवाद पर सोवियत सघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा परिषद् मे पश्चिमी राष्ट्रो के भारत-विरोधी प्रस्तावो पर वीटो का प्रयोग करता रहा। अक्तूबर, 1962 मे चीनी आक्रमण के प्रारम्भ मे रूस का रुख भारत के लिए निराशाजनक रहा लेकिन दिसम्बर, 1962 मे सुप्रीम सोवियत के सामने ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी हमले की खुली निन्दा की। रूस द्वारा भारत को मिग विमान दिए गए और रूसी सहयोग से मिग विमान का कारखाना भी भारत मे स्थापित किया गया।

26 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत होने पर ब्रेझनेव नए नेता बने। उनके कार्यकाल में कुछ वर्षों तक भारत को वैसा सोवियत समर्थन नहीं मिल सका जैसा ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1965 में भारत पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया। ताशकन्द समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा-सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया, परन्तु सोवियत नेताओं को अपनी भूल का शीघ्र ही अहसास हो गया और भारत सोवियत संघ सम्बन्धों में पुनः प्रगति होने लगी। बंगलादेश के प्रश्न पर सोवियत संघ का दृष्टिकोण भारत समर्थक था। बंगलादेश के संकट के समय बीजिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के खतरे को देख कर भारत ने 9 अगस्त, 1917 को सोवियत संघ के साथ मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इस तरह भारत और सोवियत संघ चीन अमेरिका सम्बन्धों से भविष्य में उत्पन्न होने वाले परिणामों का मुकाबला करने के लिए अधिक निकट आ गए। सुरक्षा परिषद् में भी उसने पाकिस्तान और अमेरिका की व्यूह-रचना को विफल कर दिया। युद्ध के दौरान उसने स्पष्ट चेतावनी दी कि किसी भी विदेशी ताकत को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जब अमेरिका का सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी की ओर चल पड़ा तो रूस ने भी हिन्द महासागर में अपने युद्धपोत इस दृष्टि से तैयार कर दिए कि भारत के विरुद्ध अमेरिका द्वारा सैनिक कार्यवाही करने पर उसका उचित उत्तर दिया जाए। नवम्बर, 1973 में ब्रेझनेव भारत आए। 30 दिसम्बर, 1973 को भारत और सोवियत संघ के बीच एक 15 वर्षीय आर्थिक और व्यापारिक समझौता हुआ। यह निश्चय प्रकट किया गया कि 1980 तक दोनों देशों के बीच व्यापार डेढ़ गुना बढ़ा दिया जायगा। 1975 और 1976 के दौरान आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में पारस्परिक सम्पर्क और सहयोग का विकास हुआ। कुछ समझौते भी किए गए।

मार्च, 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनने पर अप्रेल में नए भारतीय नेतृत्व से विचार विनिमय के लिए सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको भारत आए। इस यात्रा के दौरान आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग, व्यापार एवं दूर-संचार सम्बन्धों की स्थापना से सम्बन्धित समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में दोनों देशों ने समान विचार व्यक्त किए। अक्तूबर, 1977 में प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री सोवियत संघ की राजकीय यात्रा पर गए। यह महत्त्वपूर्ण समझा गया कि आपसी मित्रता को न सिर्फ कायम रखा जाए बल्कि इसे और मजबूत किया जाय। इस बात पर भी सहमति हुई कि वर्ष 1978 के लिए भारत अर्थव्यवस्था और द्विपक्षीय व्यापार आदान-प्रदान के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर लाभपूर्ण आर्थिक सहयोग के लिए दीर्घकालिक कार्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। दोनों पक्षों ने यह माना कि एशियायी देशों के बीच आपसी लाभ के

सहयोग को अवश्य बढ़ावा दिया जाना चाहिए। दोनो पक्षो ने हिन्दमहासागर से सभी सैनिक अड्डो को हटाने और नए अड्डे बनाने पर रोक लगाने की माँग की तथा उसे शान्ति-क्षेत्र बनाने की इच्छा व्यक्त की।

पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों के प्रति सोवियत नीति—रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवाद जगत् पर अपना प्रभाव बनाए रखने की नीति पर चलता रहा ताकि वहाँ से पश्चिम यूरोपीय राजनीति मे प्रभावपूर्ण ढग से हस्तक्षेप किया जा सके। अत पूर्वी यूरोप के देशो मे पनप रही सोवियत-विरोधी प्रवृत्तियो का सामना करने के लिए उसने वारसा पैक्ट को पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तथा सुदृढ बना लिया। 1967 से ही चेकोस्लोवाकिया मे उत्तरदायी प्रवृत्ति जोर पकडने लगी। जनवरी, 1968 मे दुबचेक के नेतृत्व मे चेकोस्लोवाकियाई साम्यवादी दल ने समाजवादी लोकतन्त्रीकरण का सिद्धान्त स्वीकार कर उदारवाद के पक्ष मे बहुत से सुधार प्रस्तावित किए। जब चेकोस्लोवाकिया के नेताओं ने रूसी नाराजगी की कोई परवाह नही की तो 21 अगस्त, 1968 की रात्रि को सोवियत रूस तथा वारसा पैक्ट के चार अन्य देशो—पोलैण्ड, हगरी, पूर्वी जर्मनी और बल्गेरिया की शक्तिशाली सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया पर हमला करके कुछ ही घण्टों मे राजधानी प्राग सहित अन्य बडे नगरो पर अधिकार कर लिया। आखिर काफी विचार-विमर्श के बाद मास्को मे दोनो पक्षो के बीच एक समझौता हुआ जिसमे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चेकोस्लोवाकिया सरकार ने वचन दिया कि वह चेकोस्लोवाकिया मे समाजवाद को सुदृढ बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी। उसी वर्ष सितम्बर के मध्य तक प्राग से सोवियत सेनाएँ वापस लौट गई। अप्रैल, 1969 मे दुबचेक के नेतृत्व का अन्त हो गया और सोवियत-समर्थक सरकार का निर्माण हुआ।

कम्युनिस्ट देश भी अपने पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार करने को प्रेरित हुए। युगोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो एक लम्बे अन्तराल के बाद अगस्त, 1977 मे राजकीय यात्रा पर सोवियत सघ गए और वहाँ से उत्तर कोरिया होते हुए 30 अगस्त को पहली बार चीन पहुँचे। सोवियत सघ टीटो से सवाद स्थापित करने की पहल कर चुका था। ब्रेझनेव ने सितम्बर, 1977 को अपनी बेलग्रेड यात्रा के अवसर पर आश्वासन को दोहराया कि सोवियत सघ युगोस्लाविया की स्वाधीनता का आदर करता रहेगा और यात्रा के बाद जारी की गई विज्ञप्ति मे दोनो देशो के बीच 'स्वैच्छिक सहयोग' की बात अकित की गई। सोवियत सघ ने एक तरह से समाजवाद का अपना मार्ग अपने-आप तय करने के युगोस्लाविया के आग्रह को भी मान्यता दे दी।

मार्शल टीटो विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को विघटन से बचाने के लिए चीनी और रूसी नेताओ से गम्भीर विचार-विमर्श के पक्ष मे थे। उन्हे यह नागवार था कि दुनिया का साम्यवादी आन्दोलन तीन भागो मे बँट जाए—सोवियत साम्यवाद, माओ का मार्क्स-लेनिनवाद तथा यूरोपीय साम्यवाद।

लेटिन अमेरिका तथा अफ्रीका के सम्बन्ध में सोवियत नीति—सोवियत संघ ने अपना ध्यान यूरोप और एशिया की ओर केंद्रित कर रखा है। लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के सम्बन्ध मे उसकी विदेश नीति विशेष सक्रिय नही है। इसके मुख्यत: दो कारण हैं—प्रथम, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका भौगोलिक दृष्टि से सोवियत संघ से बहुत दूर हैं। द्वितीय, इन क्षेत्रो मे स्थित कांगो, क्यूबा, घाना, सूडान आदि देशो मे उसे यह कटु अनुभव हो गया है कि साम्यवाद का स्वागत करने के लिए लेटिन अमेरिकी और अफ्रीकी देश अभी पूर्ण रूप से तैयार नही है।

सोवियत संघ एवं पश्चिमी गुट—ब्रेझनेव-कोसीगिन-युग के रूस ने अमेरिका और पश्चिमी गुट के साथ अवसर के अनुरूप शीतयुद्ध को उदार देकर भी स्टालिन के समान स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास नही किया। उत्तरी कोरिया मे जॉनसन और निक्सन प्रशासन के समय हुए अमेरिकी जासूसी काण्डों के समय भी सोवियत रूस ने सयम प्रदर्शित किया। वियतनाम समस्या पर भी रूस का यही रुख रहा कि वार्ता द्वारा समस्या का समाधान हो जाए। उत्तर वियतनाम को विशाल सैनिक सहायता देते हुए भी रूसी नेताओ ने ऐसा कोई वातावरण पैदा नही किया जिससे अमेरिका के साथ समझौता-वार्ता के द्वार बन्द हो जाएँ। वियतनाम मे युद्धविराम मे भी सोवियत कूटनीति का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। दोनो देशो के नेताओ द्वारा सहयोगपूर्ण रुख अपनाने के फलस्वरूप ही सितम्बर, 1971 मे बर्लिन समझौता सम्पन्न हो सका था। मई, 1972 मे अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की मास्को-यात्रा अपने-आप मे एक ऐतिहासिक घटना थी। किसी भी अमेरिकी राष्ट्रपति की सोवियत सघ की यह पहली यात्रा थी और इस प्रथम यात्रा के दौरान ही दोनो देशो के बीच कई महत्त्वपूर्ण सन्धियो पर हस्ताक्षर हुए। सबसे महत्त्वपूर्ण 'सामरिक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि' (Strategic Arms Limitation Theory–SALT) थी जिसमे दोनो महाशक्तियो ने एक-दूसरे की शक्ति के सामने झुकते हुए भय-मिश्रित आत्म-विश्वास का एक नया सन्तुलन कायम किया। अगस्त, 1972 मे सोवियत सघ ने भारी मात्रा मे गेहूँ खरीदने के लिए अमेरिका से एक दीर्घकालीन समझौता किया और 18 अक्तूबर, 1972 को दोनो देशो के बीच हुई एक व्यापारिक सन्धि मे रूस ने सहमति प्रकट की कि द्वितीय महायुद्ध के समय उसने अमेरिका से ऋण लिया था उस राशि को वह चुका देगा। एक अन्य सन्धि मे यह तय हुआ कि अगले तीन वर्षों मे दोनो देशो के आपसी व्यापार मे तीन गुना वृद्धि कर दी जाएगी। ये दोनों व्यापारिक सन्धियाँ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थी कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही दोनों देशों के बीच आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध नगण्य थे।

जून, 1973 मे सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने अमेरिका की नौ दिवसीय यात्रा की। इस अवसर पर भी दोनों देशो के बीच कुछ महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। सिद्धान्त यह स्वीकार कर लिया गया कि 1974 तक दोनो महाशक्तियाँ परमाणु अस्त्रो के निर्माण पर स्थायी रोक लगा देंगी और परमाणु-शक्ति के

शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में सहयोगपूर्वक काम करेगी—एक सन्धि जिसका उद्देश्य परमाणु युद्ध को रोकना था। सन्धि के अन्तर्गत दोनो पक्षो की ओर से यह सकल्प किया गया कि उनमे से कोई भी परमाणु युद्ध नही करेगा, परस्पर अथवा साथी देशो या अन्य देशो को न तो धमकी देगा और न ही बल का प्रयोग करेगा। अगस्त, 1973 मे दोनो देशो के बीच पुन समझौता हुआ जिसके अनुसार 1975 में दोनो देशो द्वारा सयुक्त अन्तरिक्ष उडानो का कार्यक्रम चालू करने का निश्चय किया गया। जून, 1974 मे राष्ट्रपति निक्सन ने पुन सोवियत सघ की यात्रा की और इस अवसर पर भी दोनो देशो के बीच कुछ समझौते सम्पन्न हुए। नवम्बर, 1974 मे ब्लाडीवोस्टक मे फोर्ड-ब्रेझनेव शिखर-वार्ता हुई। जुलाई, 1975 मे अपोलो सोयुज सयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम मे दोनो ने सहयोग किया। 1980 के मध्य तक दोनो देशो के सम्बन्ध, सामयिक उत्तेजनाओ के बावजूद सुधार का सकेत देते रहे, तथापि उतना सौहार्द्र दिखाई नही दिया, जितना निक्सन और फोर्ड प्रशासन के दौरान रहा था। क्यूबा मे सोवियत सलाहकारो की उपस्थिति, अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिको के प्रवेश आदि की घटनाओ को लेकर दोनो देशो के बीच कटुता बढी और मतभेद तीव्र हुए, लेकिन दोनो ही पक्षों ने सयम और सहनशीलता की राजनीति अपनाकर विश्व शान्ति बनाए रखने मे योग दिया। 8 जनवरी, 1980 को अमेरिका द्वारा 17 रूसियो के निष्कासन को लेकर दोनो देशों के बीच तनाव अधिक बढ गया और उस दिन सुरक्षा परिषद् द्वारा अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिको के वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पर रूस ने अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग किया, तथापि 15 जनवरी, 1980 को सयुक्त राष्ट्र महासभा ने अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओ की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर दिया। अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक बडी सख्या मे बने रहे तथापि इस मुद्दे पर रूस-अमेरिका के बीच तनाव उतना तीव्र नही रहा जितना पहले था। ईराक-ईरान युद्ध मे दोनो देशो ने हस्तक्षेप की नीति अपनाई। अक्तूबर, 1980 मे कार्टर ने यह विश्वास व्यक्त किया कि सोवियत सघ खाडी क्षेत्र मे युद्ध को बढावा देना नही चाहता, तथापि उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि सोवियत सघ के ईरान अथवा खाडी को नियन्त्रित कर सकने वाले किसी भी क्षेत्र मे दखल करने से अमेरिकी सुरक्षा को सर्वाधिक खतरा उत्पन्न होगा।

जनवरी, 1981 में अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर रोनाल्ड रीगन के पराजित होने के बाद से अमेरिका और रूस के सम्बन्धों में कुछ अधिक खिचाव आया है। अफगानिस्तान मे रूसी सैनिको की उपस्थिति, पाकिस्तान को रूसी खतरे से मुकाबले के लिए आधुनिक शस्त्रास्त्रो की सप्लाई, चीन को रूस के विरुद्ध बनाए रखने की अमेरिकी नीति, भारत-रूस मैत्री में दरार डालने की मशा, नि शस्त्रीकरण, अमेरिका द्वारा न्यूट्रान बम्ब और रासायनिक हथियारो के निर्माण के निर्णय, हिन्दमहासागर मे अमेरिकी सैन्य-शक्ति के विस्तार आदि विभिन्न प्रश्नो को लेकर दोनो महाशक्तियों में तनाव पूर्वापेक्षा अधिक मुखर हुआ है। इस सम्बन्ध मे अमेरिकी विदेश नीति के सन्दर्भ मे 'रीगन और रूस' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

यूरोप के पश्चिमी राष्ट्रों के साथ भी सोवियत रूस ने सम्पर्क और सहयोग-सूत्र विकसित करने के प्रयत्न जारी रखे। जून, 1973 मे ब्रेझनेव फ्रांस के राष्ट्रपति पोम्पिदू से मिले। अक्तूबर, 1975 मे फ्रांस के राष्ट्रपति वालेरी जिस्कार द एर्स्तें ने सोवियत सघ की राजकीय यात्रा की। इन यात्राओं से दोनों देशों के दृष्टिकोण में अधिक निकटता आई। जून, 1977 मे सोवियत साम्यवादी पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने सोवियत सघ के राष्ट्रपति का पद भी सम्भाल लिया। राष्ट्रपति बनने के बाद ब्रेझनेव की सबसे पहली यात्रा पेरिस की थी। अमेरिका और सोवियत सघ के सम्बन्धों मे दुराव की जो स्थिति उत्पन्न होने लगी थी उसको देखते हुए ब्रेझनेव ने एक बार फिर फ्रांस के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की। फ्रांस रूस को यूरोप में एक महत्त्वपूर्ण मित्र और भागीदार मानता रहा है। फ्रांस के अलावा पश्चिम जर्मनी के साथ भी रूस के सम्बन्ध सुधरे।

सोवियत संघ तथा कुछ अन्य देश एवं क्षेत्र—बगला देश के प्रति सोवियत सघ की आरम्भ से ही सहानुभूति रही। बगला देश के मुक्ति सघर्ष मे रूस ने अपना नैतिक और राजनीतिक समर्थन दिया और रूस से बगला देश के आर्थिक पुनर्निर्माण मे रुचि लेकर पारस्परिक आयात-निर्यात सम्बन्धी समझौता भी सम्पन्न किया। सयुक्तराष्ट्र मे बगलादेश के प्रश्न पर जो सघर्ष हुआ उसमें सोवियतसघ ने बंगलादेश को पूर्ण समर्थन दिया। जापान के साथ भी सम्बन्ध-सुधार के लिए वह प्रयत्नशील रहा। जापान मे भी इस धारणा को बल मिला कि सोवियत संघ के साथ आर्थिक सहयोग जापान के हित मे है। रूस की रुचि भूमध्यसागर मे अधिकाधिक बढ़ती गई। रूस की आकांक्षा रही कि वह भूमध्यसागर के तटवर्ती देशो की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था पूर्वी यूरोप के देशों जैसी ही बना दे ताकि इन देशों के साथ मास्को के सम्बन्ध पूर्वी यूरोप के देशो जैसे हो जाएँ। भूमध्यसागर मे अधिकाधिक प्रवेश से सोवियत सघ ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे काफी वृद्धि कर ली।

एशिया मे अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए सोवियत कूटनीति ने ब्रेझनेव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 1969 मे सोवियत नेता ब्रेझनेव ने एशियाई देशो के लिए एक सुरक्षा योजना प्रस्तुत की। 1972 मे इस योजना को पुन रखा गया और अफगान प्रधानमन्त्री के स्वागत पर बोलते हुए कोसीगिन ने कहा—"एशिया की सुरक्षा का सही रास्ता सैनिक गुट नही है और न ही कुछ राष्ट्रों द्वारा दूसरे राष्ट्रों का विरोध करना है, बल्कि यह रास्ता देशो के बीच अच्छे पड़ोसी का वातावरण पैदा करना है।" पर साथ ही उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि शान्ति स्थापित करने का सोवियत सघ का रास्ता सबसे अच्छा है। उन्होने कहा कि सोवियत विदेश नीति की सबसे महत्त्वपूर्ण दिशा राष्ट्रों की आजादी और स्वशासन का अतिक्रमण करने वाला साम्राज्यवादियो को पराजित करने के लिए युद्ध और सघर्ष-स्थलो को समाप्त करना है। इस व्याख्या से यह आभास हुआ कि रूसी नेताओं का सुरक्षा-सिद्धान्त का नया 'पचशील' होने के बावजूद सैनिक हस्तक्षेप या सैनिक हल से रहित नही है। एशियाई राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशंका बनी रही

कि यद्यपि ब्रेझनेव-सिद्धान्त मे एशियायी सुरक्षा व्यवस्था निहित है और साथ ही इसके लक्ष्य अमेरिका और चीन भी हैं तथा रूस हिन्द महासागर मे अपने प्रभाव का आकांक्षी है। भारत ने भी इस योजना के प्रति कोई उत्साह नही दिखाया। वास्तव मे रूस का एशिया सुरक्षा सिद्धान्त अभी कोई साकार रूप नही ले सका है।

वियतनाम युद्ध मे साम्यवादी शक्तियाँ उत्तरी वियतनाम की पीठ पर थी। सोवियत रूस ने वियतनाम को भरपूर सैन्य सामग्री पहुँचाई। अनुमानत उत्तर वियतनाम को दी जाने वाली सैन्य-सहायता मे रूस का भाग 80 प्रतिशत और चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों का लगभग 20 प्रतिशत था। सोवियत नीति वियतनाम सघर्ष के शान्तिपूर्ण समाधान की थी। सोवियत-अमेरिका के समझौतावादी रुख और वियतनाम के सम्बन्धित पक्षो के विवेक के फलस्वरूप ही वियतनाम-युद्ध का अन्त हो गया।

पश्चिम एशिया मे अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए सोवियत सघ और अमेरिका दोनो ही प्रयत्नशील रहे। रूसी नीति अरब राष्ट्रो को कूटनीतिक, आर्थिक और सैनिक सहयोग देने की रही जबकि अमेरिका ने इजरायल को हर प्रकार की मदद दी। कुल मिलाकर पश्चिम एशिया मे सोवियत सघ के प्रभाव मे धीरे-धीरे परिवर्तन आया। ख्रुश्चेव काल मे सोवियत सघ को 'अरब हितो का सरक्षक' समझा जाता था, किन्तु 1967 के अरब-इजरायल युद्ध मे अरब राष्ट्रो के पराजय के कारण सोवियत कूटनीति को काफी आघात लगा। इस युद्ध मे अरब राष्ट्रो ने सोवियत सघ पर दबाव डाला था कि वह युद्ध मे हस्तक्षेप करे, परन्तु वह युद्ध मे नही कूदा था। अरबो का पुन. विश्वास प्राप्त करने के लिए मई, 1971 मे सोवियत सघ ने मिस्र के साथ एक 15 वर्षीय पारस्परिक सुरक्षा समझौता किया, किन्तु अगले वर्ष ही सोवियत सघ और मिस्र के सम्बन्धो मे तनाव उत्पन्न हो गया और राष्ट्रपति सादात ने रूस के सैनिक विशेषज्ञों को मिश्र छोडने का आदेश दिया। बिगाड का यह दौर अधिक नही चला और जब अक्तूबर, 1973 मे चौथा अरब-इजरायल युद्ध हुआ तो अरबो ने रूसी शस्त्रास्त्रो की सहायता से अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन प्राप्त कर ली। आगे चलकर तनाव पुन पैदा हो गया। अरब-इजरायल समस्या के समाधान मे अमेरिका रूस से बाजी मार ले गया और सितम्बर, 1975 मे मे वह दोनो पक्षो के बीच एक अन्तरिम समझौता कराने मे सफल हुआ। मार्च, 1976 मे सादात ने सोवियत सघ के साथ 15 वर्षीय मैत्री सन्धि को भग कर दिया। मिस्र के साथ तनाव के बावजूद लीबिया, सीरिया, जोर्डन, कुवैत आदि अरब राष्ट्रो के साथ रूस की निकटता मे वृद्धि हुई और ये राष्ट्र रूस से भारी मात्रा मे सैनिक तथा आर्थिक सहायता प्राप्त करते रहे। सितम्बर, 1978 मे अमेरिका मे केप डेविड मे कार्टर की उपस्थिति मे जो बेगिन-सादात समझौता हुआ उसमे यह पुनः स्पष्ट हो गया कि अमेरिका पश्चिम-एशिया मे रूसी प्रभाव को कम करने की दिशा में आगे बढा है। आज पश्चिमएशिया मे रूस की तुलना मे अमेरिका का

प्रभाव अधिक है। मिस्र-अमेरिका सम्बन्धों में सुधार के साथ-साथ मिस्र सोवियत सम्बन्ध शिथिल हो गए हैं।

सोवियत संघ और तुर्की में भी मधुर सम्बन्धों की शुरूआत हुई। दिसम्बर, 1965 में सोवियत-प्रधानमन्त्री कोसीगिन लगभग 10 वर्ष के अन्तराल के बाद पुनः तुर्की गए तथा सिकन्दरा में सोवियत सहायता से निर्मित इस्पात सयन्त्र का उद्घाटन किया। इसके साथ मैत्री के शुभारम्भ के बावजूद तुर्की और अमेरिका के बीच सम्बन्ध फीके नहीं पड़े और मार्च, 1976 में दोनों देशों के बीच एक चार-वर्षीय सैनिक समझौता हुआ। तुर्की के प्रधानमन्त्री ने 1978 के मध्य मास्को यात्रा की जिससे दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में और भी निकटता आई है।

सोवियत विदेशनीति का ब्रेझनेव-काल 12 नवम्बर, 1982 को उनके देहावसान के साथ समाप्त हो गया। इस काल के अन्तिम दो वर्षों में सोवियत विदेशनीति ने कोई नए आयाम ग्रहण नहीं किए।

सोवियत-अमेरिका संवाद और शीतयुद्ध ठहराव की स्थिति में बने रहे।

अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति पूर्ववत् बनी रही। 16 जून, 1981 को रूस-अफगानिस्तान ने औपचारिक रूप से एक सीमा सन्धि पर हस्ताक्षर किए जिससे दोनों देशों के बीच स्थित उस क्षेत्र की स्थिति स्पष्ट हो गई जो अब तक किसी के कब्जे में नहीं माना जाता था।

सोवियत संघ और मिस्र के सम्बन्धों में और अधिक बिगाड़ हुआ तथा देश में उग्रवादियों के आन्दोलन को लेकर राष्ट्रपति सादात ने सितम्बर, 1981 के मध्य अनेक सोवियत विशेषज्ञों और राजनयिकों को मिस्र छोड़ कर चले जाने के आदेश दे दिए। काहिरा स्थित सोवियत सैनिक ब्यूरो को भी आदेश दे दिया गया। 6 अक्तूबर, 1981 को राष्ट्रपति सादात की हत्या के बाद हुस्नी मुबारक मिस्र के नए राष्ट्रपति बने और और अमेरिका ने मिस्र में आधुनिकी अमेरिकी अस्त्रों का अभ्यास करने की घोषणा की। सोवियत संघ ने अमेरिका के फैसले को मिस्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप बताया।

अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को आधुनिकतम एफ 16 विमान देने सम्बन्धी निर्णय के प्रति भारत के विरोध को सोवियत संघ ने पूरा समर्थन दिया और मार्च, 1982 तक यह स्पष्ट हो गया कि सोवियत संघ हर तरह से भारत को आधुनिकतम सैन्य सामग्री और विमान देकर इस उप-महाद्वीप में शक्ति-सन्तुलन को बिगड़ने नहीं देगा।

ब्रेझनेव ने संयुक्तराष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण विषयक विशेष अधिवेशन में घोषणा की, कि "हम पहले परमाणु अस्त्र नहीं चलाएँगे।"

यूरी आन्द्रोपोव काल (नवम्बर, 1982–फरवरी, 1984)

ब्रेझनेव के बाद यूरी आन्द्रोपोव सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के नए महासचिव बने। जून, 1983 में उनके सर्वोच्च सोवियत का अध्यक्ष तथा देश का राष्ट्रपति चुने जाने के साथ ही ब्रेझनेव के निधन से आई रिक्तता की पूर्ति हो गई परन्तु

ब्रेझनेव के इस उत्तराधिकारी का अल्प शासनकाल 10 फरवरी, 1984 को उनके देहान्त के साथ ही समाप्त हो गया।

आन्द्रोपोव का छोटा सा कार्यकाल जबरदस्त तनावो से भरा रहा, किन्तु उन्होंने ब्रेझनेव की नीतियो पर चलते हुए सोवियत जनता का विश्वास अर्जित किया। उन्होंने आणविक नि शस्त्रीकरण, यूरोप मे युद्ध की आशका कम करने तथा अमेरिका से सम्बन्ध सुधारने पर बल दिया। साथ ही उन्होंने अमेरिका की राजनीतिक चुनौतियो का जवाब भी दिया। अमेरिका द्वारा नाटो की ओर से यूरोप मे नए परमाणु प्रक्षेपास्त्र लगाने पर उन्होंने यह स्पष्ट चेतावनी दी कि सोवियत सघ भी उपयुक्त जवाबी कार्यवाही करेगा। सितम्बर, 1983 मे सोवियत सघ द्वारा अपनी सीमा मे दक्षिण कोरियाई यात्री विमान मार गिराने की घटना के बाद अमेरिका और सोवियत सघ के सम्बन्धो मे कटुता विशेष रूप से उभर आई। जब सुरक्षा परिषद् में अमेरिका तथा अन्य राष्ट्रों की ओर से सोवियत सघ के विरुद्ध प्रस्ताव लाया गया तो उसने उस पर 'वीटो' का प्रयोग किया। आन्द्रोपोव ने भड़काने वाली परिस्थिति के बावजूद टकराव की स्थितियो को शिथिल करने का प्रयास किया।

अफगानिस्तान की गुत्थी आन्द्रोपोव को विरासत मे मिली। उनके शासन-काल मे अफगानिस्तान मे सोवियत पकड़ और मजबूत हुई पर साथ ही अफगानिस्तान के प्रति उनका अन्तर्राष्ट्रीय रवैया यथार्थवादी रहा। चीन की ओर भी उन्होंने मैत्री का हाथ बढाया। उनके शासनकाल मे भारत और रूस का विभिन्न क्षेत्रो मे सहयोग बढा। भारत-सोवियत व्यापार एव आर्थिक सहयोग का दायरा और विकसित हुआ तथा सोवियत सघ भारत का प्रमुख व्यापारिक भागीदार बना रहा। भारतीय विदेश मन्त्री ने सितम्बर, 1983 में मास्को की यात्रा की और उसके पूर्व सोवियत उप प्रधानमन्त्री श्री आर्खिपोव मई, 1983 में भारत आए। वह आर्थिक, वैज्ञानिक एव तकनीकी सहयोग से सम्बद्ध भारत-सोवियत सयुक्त आयोग के आठवें अधिवेशन में भाग लेने के लिए दिसम्बर, 1983 में एक बार फिर भारत आए। सितम्बर, 1983 मे भारत के वाणिज्य मन्त्री की मास्को यात्रा के दौरान भारत सोवियत व्यापार सम्बन्धो की समीक्षा की गई। दिसम्बर, 1983 में 1984 के लिए व्यापार योजना पर सहमति हुई जिसमे 1983 के मुकाबले व्यापार मे व्यापक वृद्धि का प्रावधान किया गया। आन्द्रोपोव के शासनकाल मे दोनो देशो के अधिकारियो और नेताओ की महत्त्वपूर्ण यात्राएँ हुई। यूरी आन्द्रोपोव शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के समर्थक थे।

चेरनेंको काल
(13 फरवरी, 1984 से 11 मार्च, 1985)

सोवियत सघ के पार्टी महासचिव और राष्ट्रपति यूरी आन्द्रोपोव की मृत्यु हो जाने पर 13 फरवरी, 1984 को पार्टी की केन्द्रीय समिति ने 72 वर्षीय चेरनेंको को अपना नया नेता (महासचिव) चुना और 11 अप्रेल, 1984 को चेरनेंको

सोवियत संघ के राष्ट्रपति भी निर्वाचित हो गए। चेरनेंको का कार्यकाल भी बहुत अल्प रहा और 11 मार्च, 1985 को उनकी मृत्यु हो गई।

पश्चिमी देशों में भले ही सत्ता-परिवर्तन से राजनीतिक धाराओं का रास्ता बदलता हो लेकिन सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों में ब्रेझनेव के बाद न कोई खास परिवर्तन आया और न आन्द्रोपोव के बाद ही कोई खास परिवर्तन दिखाई दिया। आन्द्रोपोव के समय में रूस व अमेरिका के सम्बन्धों की कठोरता बनी रही। सोवियत संघ ने नवम्बर, 1983 के बाद अपने देश को जेनेवा निरस्त्रीकरण वार्ताओं से भी हटा लिया था। चेरनेंको के बयानों से यह भी प्रकट हुआ है कि वे भी इस नीति में परिवर्तन करने वाले नहीं हैं। उन्होंने भी आन्द्रोपोव की अन्त्येष्टि के समय रेड स्क्वेयर में कहा कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर सभी पक्षों के साथ समानता के आधार पर बातचीत करने को तैयार हैं। यद्यपि सोवियत संघ शान्ति चाहता है तथापि वह न तो किसी की धमकी में आएगा और न शस्त्रास्त्रों में किसी देश को बढ़त लेने देगा। स्पष्टतः यह अमेरिका को चेतावनी थी।

नेतृत्व सम्भालने के बाद चेरनेंको ने यह घोषणा भी की कि सोवियत संघ वर्तमान तनावों को दृष्टिगत कर अपने शान्ति प्रयासों की नीति जारी रखेगा। वह खास तौर से छोटे देशों की सहायता करेगा। उन्होंने पूँजीवादी विस्तार के विरुद्ध संघर्ष कर रहे लोगों को भी सोवियत समर्थन जारी करने का आश्वासन दिया। 27 फरवरी, 1984 को चेरनेंको द्वारा पश्चिमी देशों में समस्याओं को सुलझाने के लिए मिल-बैठकर विचार करने का प्रस्ताव किया गया, लेकिन अमेरिका और उसके साथी देशों की नीति सम्भवतः प्रतीक्षा करो और देखो की रही।

बेरूत में संयुक्तराष्ट्र सैनिकों को रखने के प्रस्ताव पर 1 मार्च, 1984 को सोवियत संघ ने 'वीटो' कर दिया। 19 अप्रेल, 1984 को रूस ने प्रथम बार अमेरिका द्वारा ओलम्पिक चार्ट के उल्लंघन को लेकर बहिष्कार की चेतावनी दी और लास ऐंजिल्स में जो ओलम्पिक खेल हुए उनका महत्त्व रूस और उसके साथी देशों के बहिष्कार के कारण निश्चित रूप से घट गया। 5 जुलाई, 1984 को चेरनेंको द्वारा पश्चिमी देशों के मध्य-यूरोप में अस्त्रों की कटौती सम्बन्धी प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया।

सोवियत संघ ने लम्बे समय तक चुप्पी साधने के बाद यह प्रस्ताव रखा कि बाहरी अन्तरिक्ष में शस्त्रों की होड़ रोकने के लिए रूस-अमेरिका के बीच वियना में वार्ता आरम्भ हो। रूस के सुझाव पर अमेरिका की प्रतिक्रिया यह रही कि बातचीत हो सकती है परन्तु वह केवल अन्तरिक्ष-शस्त्रों तक सीमित न हो, बल्कि सभी परमाणु अस्त्रों का भण्डार कम करने के विषय में हो।

सितम्बर, 1984 में ग्रोमिको-शुल्ज वार्ता में दोनों महाशक्तियों के आपसी हितों पर—विशेषकर अस्त्र-परिसीमन पर विचार-विमर्श हुआ। 7 जनवरी, 1985 को जेनेवा में दोनों महाशक्तियों के बीच शस्त्र-परिसीमन वार्ता आरम्भ हुई जो कि नवम्बर, 1983 को भंग हो गई थी।

गोर्बाच्योव काल
(11 मार्च, 1985)

11 मार्च, 1985 को गोर्बाच्योव चेरनेन्को के उत्तराधिकारी और कम्युनिस्ट पार्टी के नए महासचिव नियुक्त हुए। मिखाइल गोर्बाच्योव ने सोवियत सघ कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के पूर्णाधिवेशन मे सोवियत विदेश नीति के सम्बन्ध मे अपने विचार निम्नवत प्रस्तुत किए—

"विदेश नीति के इस क्षेत्र मे हमारा मार्ग स्पष्ट और सुसगत है। वह है शान्ति और प्रगति का मार्ग।

पार्टी और राज्य का प्रथम लक्ष्य है अपने घनिष्ठतम मित्रो और सहयोगियो के साथ—महान् समाजवादी समुदाय के देशो के साथ बिरादराना मैत्री की हर प्रकार से हिफाजत की जाए और उसे मजबूत बनाया जाए। हम समाजवादी देशो के साथ सहयोग का विस्तार करने के लिए, विश्व के मामलो मे समाजवाद की भूमिका और उसके प्रभाव मे वृद्धि के लिए यथाशक्ति सब कुछ करेंगे। हम चीन लोक गणतन्त्र के साथ सम्बन्धो मे ठोस सुधार चाहेंगे और हमारा दृढ मत है कि पारस्परिकता के आधार पर यह बिल्कुल सम्भव है।

हमारी पूरी सहानुभूति एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के उन देशो के साथ है जो स्वाधीनता को मजबूत करने और सामाजिक पुनर्निर्माण के मार्ग पर चल रहे है।

पूँजीवादी देशो के साथ सम्बन्धो के बारे मे हम शान्ति और शान्तिपूर्ण सहजीवन के लेनिनवादी मार्ग का दृढता के साथ अनुसरण करेंगे। लेकिन हम कभी भी अपनी मातृभूमि के और अपने मित्र राष्ट्रो के हितो की उपेक्षा नही करेंगे।

राज्यो के बीच समानता, परस्पर सम्मान तथा आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तो के आधार पर शान्तिपूर्ण और परस्पर लाभप्रद सहयोग की प्रक्रिया को जारी रखने मे भाग लेने के लिए तत्पर हैं।

मानवजाति के समक्ष जितने भयानक रूप मे खतरा आज उपस्थित है वैसा पहले कभी नही हुआ। वर्तमान परिस्थिति से छुटकारा पाने का एकमात्र बुद्धिसगत उपाय शस्त्रो की खासतौर से परमाणु शस्त्रो की होड को पृथ्वी पर फौरन समाप्त करने तथा उसे अन्तरिक्ष मे फैलाने से रोकने पर विरोधी शक्तियो के बीच समझौता है। दूसरे पक्ष को 'मात देने' तथा उस पर अपनी शर्तें लादने के प्रयत्नो के बिना ईमानदारी तथा न्यायोचित आधार पर वह समझौता होना चाहिए।

हम अमेरिका के ऊपर, 'नाटो' देशो के ऊपर, एकतरफा लाभ प्राप्त करने का, उन पर अपनी सैनिक श्रेष्ठता कायम करने का प्रयत्न नही करना चाहते, हम शस्त्रो की होड जारी रखना नही बल्कि समाप्त करना चाहते है और इस उद्देश्य से हम परमाणु शस्त्रागारो को निष्क्रिय करने, और मिसाइलो की तैनाती को रोकने का प्रस्ताव करते हैं हम शस्त्रास्त्रो के भण्डार मे वास्तविक तथा बड़ी कटौती के इच्छुक

हैं तथा वित नई हथियार प्रणालियों को, चाहे वे अन्तरिक्ष के लिए हो अथवा पृथ्वी के लिए विकसित करने के पक्ष में नहीं है।

सोवियत संघ और चीन—इस काल में दोनो देशो के आपसी सम्बन्धो मे सुधार के ग्रासार बढे हैं और व्यापारिक सम्बन्धो का विकास हुआ है। फरवरी, 1987 के मध्य में सोवियत सघ और चीन के बीच सीमा-वार्ता हुई। अगस्त, 1987 में दोनो देशों के मध्य एक सीमा-समझौता सम्पन्न हो गया। दोनो देश सहमत हो गए कि पूर्ववर्ती सीमान्त क्षेत्र की हदबन्दी नौ परिवहन योग्य नदियों के मुख्य जहाजरानी मार्ग के साथ-साथ अपरिवहन योग्य नदियों अथवा उनकी मुख्य सहायक नदियों के मध्य में की जाए। 21 अगस्त को मास्को व पीकिंग में एक साथ घोषणा की गई कि पूर्ववर्ती सीमान्त क्षेत्र की वास्तविक हदबन्दी का कार्य पूरा करने के लिए दोनो सरकारें विशेषज्ञों का एक कार्यकारी दल नियुक्त करेंगी।

सोवियत संघ और भारत—इस काल में भारत-सोवियत सम्बन्ध और अधिक मजबूत हुए हैं। भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी गोर्बाच्योव के निमन्त्रण पर 2 मई, 1985 को छः दिन की सोवियत सघ की यात्रा पर गए थे। दोनो पक्ष इस बात पर सहमत थे कि मानवता को परमाण्विक विनाश से बचाने के लिए परमाणु शस्त्रों को पूरी तरह नष्ट किया जाना चाहिए और बाह्य अन्तरिक्ष का सैन्यकरण तुरन्त रोकना चाहिए। हिन्दमहासागर से सभी सैनिक अड्डे हटाए जाने चाहिए और दक्षिण-पश्चिमी एशिया तथा पूर्वी एशिया के देशों में सभी तरह का बाह्य हस्तक्षेप रोका जाना चाहिए। लेबनान से इजरायली सैनिकों की तत्काल पूर्ण वापसी हो तथा फिलिस्तीनियों को स्वतन्त्रता के अधिकार दिए जाएँ। नामीबिया को स्वतन्त्र किया जाए और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन हो। 22 मई, 1985 को भारत-सोवियत व्यापारिक समझौता सम्पन्न हुआ। 25 से 28 नवम्बर, 1986 तक मिखाइल गोर्बाच्योव भारत आए। उन्होंने भारत सरकार के साथ द्विपक्षीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर खुलकर चर्चा की। वार्ता के उपरान्त जारी किए गए संयुक्त घोषणा पत्र में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, प्रत्येक राज्य की राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा निशस्त्रीकरण आदि में विश्वास प्रकट किया गया। परमाणु हथियारों के समाप्त किए जाने तक उनके प्रयोग अथवा प्रयोग की धमकी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय सम्पन्न किया जाए। परमाणु शस्त्रों से मुक्त और हिंसारहित विश्व के निर्माण के लिए जनता और सरकारों के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के साथ-साथ उन्हें शान्ति पारस्परिक सम्मान और सहिष्णुता के प्रति जाग्रत करने की आवश्यकता है। युद्ध, घृणा और हिंसा का प्रचार रोका जाना चाहिए और दूसरे देशों और लोगों के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण भावना का परित्याग किया जाना चाहिए। गोर्बाच्योव ने हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने के लिए 1988 तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव का समर्थन भी किया। 1987 के मध्य में दोनो देशों के बीच अनेक आर्थिक, तकनीकी, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में व्यापक

सहयोग के समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। दोनों देशो के बीच सहयोग के आठ क्षेत्रों का चयन किया गया है, जिनमें विज्ञान, विकीरण स्रोत और 100 मीटर गहराई तक के पानी का दोहन शामिल है।

वारसा सन्धि के देश—बल्गारिया की राजधानी सोफिया में वारसा-सन्धि देशो के नेताओ की एक बैठक 22–23 अक्तूबर, 1985 को हुई। इस बैठक में सोवियत रूस, बल्गारिया, पूर्व जर्मनी, हंगरी, चैकास्लोवाकिया, रूमानिया और पोलैण्ड के राजनेताओ ने भाग लिया। इसमें सोवियत नेता गोर्बाच्योव तथा राष्ट्रपति रीगन के मध्य दिसम्बर में वाशिंगटन मे होने वाली बैठक के सन्दर्भ में वारसा-सन्धि देशो की समान नीति अपनाने का निश्चय किया गया तथा पूर्व और पश्चिम पारस्परिक शस्त्रो की होड़ समाप्त करने की अपील की गई। यह भी कहा गया कि—

(i) अन्तरिक्ष में आक्रामक शस्त्रों के परीक्षण, निर्माण और स्थापित करने पर रोक लगाई जाए।
(ii) परमाणु शस्त्रो के परीक्षण पर रोक लगाई जाए।
(iii) जेनेवा सम्मेलन के परिणाम निकलने तक यूरोप में लगाई जाने वाली नई मध्यम दूरी की मिसाइलो पर तुरन्त रोक लगाई जाए।
(iv) रासायनिक शस्त्रो पर रोक लगाई जाए।
(v) उत्तरी तथा मध्य यूरोप और बल्कान देशो को परमाणु शस्त्र-रहित क्षेत्र बनाया जाए।

अमेरिका—इस काल में सोवियत सघ और अमेरिका के बीच वार्ता-कूटनीति में वृद्धि हुई और सम्बन्धो में सुधार की सम्भावना भी बढ़ी। निशस्त्रीकरण को लेकर दोनो महाशक्तियो के बीच वार्ता के अनेक दौर सम्पन्न हुए हैं। नवम्बर, 1985 में जेनेवा में सोवियत-अमेरिका शिखर-वार्ता सम्पन्न हुई। लगभग 5 वर्ष बाद दोनो महाशक्तियो के बीच यह पहली शिखर वार्ता थी। मुख्य मुद्दो पर दोनो देशो के बीच गम्भीर मतभेद बने रहे तथापि निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी वार्ता को आगे जारी रखने का निश्चय दोनो ही नेताओ ने किया। दोनो नेताओ के बीच पाँच विषयो पर सहमति हुई जिनमें सांस्कृतिक आदान- प्रदान, उत्तरी प्रशान्त महासागर में हवाई-प्रतिरक्षा एव और ऊर्जा-तकनीक पर अनुसन्धान शामिल हैं।

अनेक व्यवधानो और गम्भीर उतार-चढाव के बाद 7 दिसम्बर, 1987 को रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता वाशिंगटन में हो रही है। यह आशा की जाती है कि इसमें यूरोप से मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र हटाने पर दोनो महाशक्तियाँ सहमत हो जाएँगी। यह परमाणु शस्त्र परिसीमन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

सोवियत विदेश नीति का मूल्यांकन

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सोवियत विदेश नीति इस अर्थ में सफल रही कि एशिया, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और पूर्वी यूरोप में सोवियत सघ का प्रभाव

बढ़ा है और अमेरिका तथा उनके साथी राष्ट्रों की चुनौतियों का उसने सफलतापूर्वक सामना किया है। महायुद्ध के बाद तीन वर्षों में ही सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप में साम्यवाद की स्थापना में सफलता प्राप्त की। पश्चिमी एशिया के अरब जगत् पर सोवियत रूस की पकड़ बढ़ी और भारत के साथ उसकी मैत्री प्रगाढ़ हुई। भूमध्यसागर और हिन्दमहासागर में सोवियत नौ सेना की शक्ति में वृद्धि हुई है। जापान के साथ भी रूस के सम्बन्ध मधुर बनते जा रहे हैं और दोनों पक्षों में आर्थिक सहयोग की नीव मजबूत हुई है। पश्चिमी जर्मनी से समझौता करके भी रूस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की है। फ्रांस गत कुछ वर्षों से रूस के पक्ष में जितना झुका है यह स्थिति अमेरिकी गुट की अपेक्षा रूस के लिए अधिक उत्साहवर्धक है। अमेरिका के अतिरिक्त केवल चीन ही रूसी विदेश नीति के लिए सबसे बड़ी चुनौती है लेकिन अमेरिका और रूस में पर्दे के पीछे परस्पर सहयोग और सहअस्तित्व की जो गुप्त वार्ताएँ चल रही हैं उनसे अधिकतर यही अनुमान है कि निकट भविष्य में चीन रूस के साथ प्रतिद्वन्द्विता त्याग कर पुनः सहयोग की नीति का अनुसरण करने लगेगा।



3 भारत की विदेश नीति

(The Foreign Policy of India)

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु भारत की विदेश नीति का सूत्रपात 2 सितम्बर, 1946 से माना जा सकता है जबकि एक अन्तरिम सरकार का निर्माण हो गया और यह समझा जाने लगा कि भारत वास्तव मे अपनी विदेश नीति का अनुसरण करने मे स्वतन्त्र है।

भारतीय विदेश नीति का ऐतिहासिक आधार

मार्च, 1950 मे लोकसभा मे भाषण देते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था—"यह नही समझा जाना चाहिए कि हम विदेश नीति के क्षेत्र मे एकदम नई शुरुआत कर रहे हैं। यह एक ऐसी नीति है जो हमारे अतीत के इतिहास से और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित है। इसका विकास उन सिद्धान्तो के अनुसार हुआ है जिनकी घोषणा अतीत मे हम समय-समय पर करते रहे हैं।"

भारतीय विदेश नीति का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और राष्ट्रीय हितो के परिप्रेक्ष्य मे किया गया, यह एक सत्य है तथापि इसके निर्माण मे प्राचीन भारतीय परम्परा और स्वाधीनता सग्राम के उच्च आदर्शों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारतीय चिन्तन और दर्शन मे सदैव भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरो को स्वीकार किया गया और सहिष्णुता उसका स्वभाव रहा है, अत जब भारत ने अपनी विदेश नीति मे गुट-निरपेक्षता और विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के तत्त्वों को सर्वोपरि महत्त्व दिया तो इसके पीछे भारत को यही मनीषा थी। भारतीय विदेश नीति मे उपनिवेशवाद, जातिवाद, फासिज्म आदि का विरोध सन्निहित है, जिसे स्वाधीनता-सघर्षकाल मे ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अनेक प्रस्तावो द्वारा स्पष्ट कर चुकी थी। इस प्रकार यह दावा सही है कि भारत की विदेश नीति का उदय आकस्मिक नही है, बल्कि इसके आधार ऐतिहासिक हैं। पामर एव पार्किस के शब्दो मे "भारत की विदेश नीति की जडें विगत कई शताब्दियो मे विकसित समस्याओ के मूल के छिपी हैं और इसमे चिन्तन-शैलियो, ब्रिटिश नीतियो की विरासत, स्वाधीनता आन्दोलन तथा वैदेशिक मामलो मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

की पहुँच, गांधीवादी दर्शन के प्रभाव, अहिंसा तथा साध्य और साधनों के महत्त्व के गांधीवादी सिद्धान्तों आदि का प्रभावशाली योग रहा।"[1]

भारतीय विदेश नीति के आधारभूत उद्देश्य

भारत की विदेश नीति के आधारभूत उद्देश्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

1 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना और उसे प्रोत्साहन देना।

2 सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना क्योंकि भारत की दृष्टि से उपनिवेशवाद केवल मूल मानव अधिकारों का उल्लंघन ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का सतत् कारण भी है।

3 जातिवाद का विरोध और ऐसे समानतापरक समाज के विकास का समर्थन जिसमें रंग, जाति और वर्ग के किसी भेदभाव के लिए कोई स्थान न हो।

4 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान।

5 इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए और सम्पूर्ण मानवता के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सक्रिय सहयोग।

पामर एवं पार्किंस ने भारतीय विदेश नीति के आधारभूत लक्ष्य इस प्रकार गिनाए हैं[2]—

1 जातीय भेदभाव और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध,

2 साम्यवाद अथवा शक्ति-राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों के आधारभूत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास पर बल,

3 एशियाई देशों की उपेक्षा अथवा उनके विरुद्ध बल प्रयोग न सहने का आग्रह,

4 स्वतन्त्रता अथवा असंलग्नता की नीति पर बल,

5 संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास;

6 शीतयुद्ध और क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों से बचना, एवं

7 अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सम्भावनाएँ बढ़ाने के प्रयत्नों में आस्था।

भारत की विदेश नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों और लक्ष्यों में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी नीतियों से राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्त्व देता है और विदेश नीति की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी इस बात में है कि वह राष्ट्रीय हित की रक्षा करने में कहाँ तक सफल हुई है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् घोर कठिनाइयों के बावजूद, भारत की विदेश नीति ने राष्ट्रीय हितों का पोषण और संवर्धन किया है। इजरायल के विरुद्ध अरब राष्ट्रों का समर्थन, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में रूसी दमन-चक्र के विरोध में शिथिलता, अमेरिका

1-2 *Palmer and Perkins* : International Relations, p. 709.

की तुलना में सोवियत संघ को प्राथमिकता, आदि कुछ बातों के कारण भारतीय विदेश नीति में विरोधाभास का आरोप लगाया जाता है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से किसी देश की विदेश नीति को कठोरता का जामा नहीं पहनाया जा सकता। राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति में लचीलापन स्वाभाविक है। तथापि भारत 1947 में जिस प्रकार एक गुट-निरपेक्ष देश था वैसे ही आज भी गुट-निरपेक्ष है। भारत ने 1957 में सह-अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया था और आज भी सह-अस्तित्व का प्रबल समर्थक है। इसी प्रकार भारत ने सदैव जातिवाद, उपनिवेशवाद, रंगभेद आदि का विरोध किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत ने जो आस्था रखी है और संघ के कार्यों में जो सहयोग दिया है वह अपने आप में एक उदाहरण है। प्रधानमन्त्री नेहरू के ये शब्द, जो उन्होंने 4 दिसम्बर, 1947 को संविधान सभा में कहे थे, इस बात का प्रमाण है कि विदेश नीति का निर्माण भारत ने भी अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया है—

"आप चाहे कोई भी नीति अपनाएँ, विदेश नीति का निर्धारण करने की कला राष्ट्रीय हित के सम्पादन में ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग और स्वतन्त्रता की चाहे कितनी ही बातें करें और उनका कैसा ही अर्थ लगाएँ, किन्तु अन्ततोगत्वा एक सरकार अपने राष्ट्र की भलाई के लिए ही कार्य करती है और कोई भी सरकार ऐसा कोई कदम नहीं उठा सकती जो उसके राष्ट्र के लिए अहितकर हो, अतः सरकार का स्वरूप चाहे साम्राज्यवादी हो या साम्यवादी अथवा समाजवादी, उसका विदेशमन्त्री मूलतः राष्ट्रीय हित में ही सोचता है।"

यही बात पैडलफोर्ड एवं लिंकन ने इन शब्दों में कही है—

"विदेश नीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता, वरन् ये राष्ट्रीय हितों के व्यावहारिक चिन्तन का परिणाम होती हैं।"

भारत की विदेश नीति के मौलिक तत्त्व आज भी वही हैं जो पहले थे। अन्तर केवल इतना ही आया है कि नेहरू युग के प्रारम्भ में आदर्शवाद पर अधिक बल रहा, अपने जीवन की संध्या में नेहरू भी यथार्थवाद को महत्त्व देने लगे थे। शास्त्री युग में यथार्थवाद को अधिक महत्त्व देकर तुष्टिकरण की नीति का परित्याग किया जाने लगा। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत की विदेश नीति में आदर्शवाद और यथार्थवाद का सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं को श्रीमती गाँधी ने अच्छी तरह समझा और देश की विदेश नीति के आदर्शवादी सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए उसे पहले की तुलना में अधिक व्यावहारिक, सुदृढ़ और आत्मविश्वासपूर्ण बनाया। पहले बंगलादेश के सन्दर्भ में, फिर पाकिस्तान के प्रति और साथ ही रूस एवं अमेरिका जैसी महाशक्तियों के प्रति श्रीमती गाँधी ने विदेश नीति का कुशल संचालन किया। भारत ने उपनिवेशवाद और जातिभेद का विरोध किया और गुट-निरपेक्षता तथा सह-अस्तित्व के आन्दोलन को पूर्वापेक्षा सबल बनाया।

मार्च, 1977 मे पहली बार कांग्रेस के स्थान पर किसी अन्य दल की सरकार बनी परन्तु विदेश नीति नही बदली । नई सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि भारत सक्रिय गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलता रहेगा । 4 अप्रैल, 1977 को राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने कहा—

"हम पूरे दिल से शान्ति कायम रखने मे विश्वास रखते है । शान्ति हम तभी रख सकते है जब हम बिना किसी डर या पक्षपात के गुट-निरपेक्षता के सही रास्ते पर चले । दुनिया की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को मिलकर और आपसी सहयोग से हल करने का सिद्धान्त ही हमारी विदेश नीति का निर्देशक सिद्धान्त होगा ।"

जनवरी, 1980 मे कांग्रेस पार्टी पुन सत्तारूढ हुई तथा पुनः परम्परागत विदेश नीति के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा—

"गुट-निरपेक्षता अपने आप मे एक नीति है । यह केवल एक लक्ष्य ही नही है, इसके पीछे उद्देश्य यह है कि निर्णय की स्वतन्त्रता और राष्ट्र की सच्ची शक्ति तथा बुनियादी हितो की रक्षा की जाए ।"

विदेश नीति के मूल आधार राजीव गाँधी की सरकार आने पर भी ज्यो के त्यो बने रहे ।

भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व

प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति का निर्धारण कुछ तत्त्व करते है । भारत इसका अपवाद नही है । प्रस्तुत है भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्वो का विश्लेषण ।

भौगोलिक तत्त्व

भारत एक विशाल देश है जिसकी लगभग 3500 मील लम्बी समुद्री सीमा और 8200 मील लम्बी स्थल सीमा है । समुद्री सीमा का तीन दृष्टियो से विशेष महत्त्व है—प्रथम, हिन्द महासागर मे महाशक्तियो की होड भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकती है, द्वितीय, भारत का अधिकांश विदेश व्यापार हिन्द-महासागर द्वारा होता है, एव तृतीय, विशाल समुद्र तट की रक्षा के लिए अनिवार्य है कि भारत शक्तिशाली नौ-सैनिक बल का विकास करे । भारत की स्थल सीमाएँ पाकिस्तान, चीन, नेपाल और बर्मा के मिलती हैं ।

अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियो के फलस्वरूप भारत की विदेश नीति का निर्धारण निम्नलिखित हितो को ध्यान मे रखकर हुआ है—(1) जिन सीमावर्ती एव अन्य देशो मे देश की सुरक्षा को भय हो, उनके साथ तटस्थता अथवा मित्रता का व्यवहार । ये देश हैं—ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, हिन्द-चीन, साम्यवादी चीन आदि । (2) पश्चिम एशिया के देशों से तेल प्राप्ति की दृष्टि से मित्रता । (3) सीमावर्ती राज्यों मे बसने वाले भारतीयो का कल्याण और भारतीय व्यापार का विस्तार । (4) हिन्दमहासागर मे भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा । (5) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे तथा प्रभुतासम्पन्न

राष्ट्रों के मामलो मे अपने देश के इतिहास, हित और संस्कृति के अनुरूप महत्वपूर्ण भूमिका अदा करना।

आर्थिक एवं सैनिक तत्त्व

सदियो की गुलामी मे भारत का आर्थिक शोषण होता रहा, अत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश की विदेश नीति के निर्धारण मे आर्थिक और सैनिक तत्त्वो का विशेष महत्त्व रहना स्वाभाविक था और आज भी है। यह बात निम्नलिखित तथ्यो से अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

(i) भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाई ताकि विश्व-शान्ति को प्रोत्साहन देते हुए वह दोनो गुटो से आर्थिक सहायता प्राप्त करता रहे।

(ii) भारत के नीति-निर्माताओ ने यह भली प्रकार समझ लिया कि उनका देश विश्व के पूंजीवादी और साम्यवादी शिविरो के साथ मित्रता स्थापित करके दोनो को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है, अत भारत ने यही नीति अपनाई कि किसी भी पक्ष के साथ सैनिक सन्धि मे न बंधा जाए तथा किसी भी गुट के साथ ऐसी सन्धि न की जाए जिससे देश की गुट-निरपेक्षता और सम्प्रभुता पर आंच आए। भारत ने विदेशो से जो भी आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्राप्त की वह राजनीतिक शर्तों से मुक्त रही।

(iii) नवोदित भारत सैनिक दृष्टि से निर्बल था, अत विदेश नीति के निर्धारकों ने यह उपयुक्त समझा कि दोनों गुटों की सहानुभूति अर्जित की जाए। यह तभी सम्भव था जब गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति अपनाई जाती।

(iv) भारत जैसे विशाल और महान् देश के लिए यह स्वाभाविक था कि वह ऐसी विदेश नीति का अनुसरण करता जिससे उसकी स्वय की निर्णय-शक्ति पर कोई विपरीत प्रभाव न पड सके।

जिन आर्थिक और सैनिक तत्त्वो ने 1947 मे भारत की विदेश नीति के निर्धारण में योग दिया वे तत्त्व आज भी उतने ही सजीव हैं। 1985 का भारत आर्थिक और सैनिक दृष्टि से 1947 के मुकाबले कहीं अधिक सबल है, इसका श्रेय गुट-निरपेक्षता और शान्ति की नीति को है जो भयकर कठिनाइयो मे भी भारत के लिए हितकारी सिद्ध हुई है।

ऐतिहासिक परम्पराएँ

अतीत से ही भारत सहिष्णु और शान्तिप्रिय देश रहा है। इतिहास साक्षी है कि भारत ने कभी किसी देश पर राजनीतिक प्रभाव लादने या उसकी प्रादेशिक अखण्डता को भग करने की चेष्टा नही की। यह ऐतिहासिक परम्परा भारत की विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। स्वाधीन भारत ने पिछले चार दशको मे सभी देशो के साथ समानता और मित्रता की नीति निभायी है। पाकिस्तान ने भारत पर एक के बाद एक आक्रमण किए और प्रत्येक युद्ध मे भारत ने पाकिस्तान को हराया, किन्तु उस पर अपनी शर्तें नही लादी। 1965 के युद्ध मे पाकिस्तान का जो भू-भाग भारत ने छीन लिया था वह ताशकन्द समझौते द्वारा लौटा दिया गया।

1971 में पाकिस्तान को मुंह की खानी पड़ी लेकिन शिमला समझौते द्वारा भारत ने समस्त अधिकृत भूमि पाकिस्तान को लौटा दी। साम्यवादी चीन ने भी भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया और 1962 में अचानक विशाल पैमाने पर आक्रमण करके भारत की कुछ भूमि हड़प ली तथापि भारत समस्या को बातचीत में हल करने की कोशिश करता रहा है।

वैचारिक तत्त्व

भारत की विदेश नीति गाँधीवाद से काफी प्रभावित रही है। इस पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम नहीं है। समाजवादी शिविर के प्रति भारत की सहानुभूति बहुत कुछ मार्क्सवादी प्रभाव का परिणाम मानी जा सकती है। गृह-नीति के क्षेत्र में भी भारत ने भी समाजवादी ढाँचे के समाज की स्थापना का लक्ष्य सामने रखा है। पश्चिम के उदारवाद का भी भारत की विदेश नीति पर काफी प्रभाव पड़ा है। भारत की विदेश नीति की नींव डालने वाले जवाहरलाल नेहरू पाश्चात्य लोकतन्त्रीय परम्पराओं से बहुत प्रभावित थे। वे पश्चिमी लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद दोनों की अच्छाइयों को पसन्द करते थे और उनकी बुराइयों से बचना चाहते थे। इस प्रकार की समन्वयकारी विचारधारा ने गुट-निरपेक्षता की नीति के विकास में योग दिया।

राष्ट्रीय संघर्ष

भारत के स्वाधीनता संघर्ष ने विदेश नीति के निर्धारण में उल्लेखनीय योग दिया क्योंकि—(i) इसके कारण भारतीय विदेश नीति में स्वतन्त्रता सर्वोपरि मूल्य बन गई तथा महाशक्तियों के संघर्ष का मोहरा न बनने का संकल्प उत्पन्न हुआ; (ii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में गुट-निरपेक्ष रहते हुए सक्रिय भूमिका अदा करने की भावना जाग्रत हुई; (iii) हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेद का विरोध करने का अद्भुत साहस उत्पन्न हुआ; एवं (iv) विश्व के समस्त स्वाधीनता-आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई।

वैयक्तिक तत्त्व

अन्य देशों की भाँति भारत की विदेश नीति पर भी वैयक्तिक तत्त्वों का, विशेषकर पण्डित नेहरू के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव रहा है। पं. नेहरू साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोधी तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के समर्थक थे। वे मैत्री, सहयोग और सह-अस्तित्व के पोषक थे, लेकिन अन्यायपूर्ण आक्रमण को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी उतना ही महत्त्व देते थे। महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए ही नहीं अपितु विश्व के समस्त नव-स्वाधीन राष्ट्रों के लिए वे असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश नीति का निर्माण किया। पं. नेहरू के अतिरिक्त राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन्, विदेश मन्त्री वी. के. कृष्णमेनन और चीन में भारत के राजदूत के. एम. पणिक्कर भी उन विशिष्ट व्यक्तियों में थे जिन्होंने भारत

की विदेश नीति को प्रभावित किया। साम्यवादी चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति के निर्धारण मे के एम पणिक्कर का विशेष हाथ रहा। उनके मूल्यांकन के कारण ही तिब्बत और चीन के बारे मे भारत की विदेश नीति विफल रही।

(भारत की शान्तिप्रियता, सहिष्णुता, मैत्री और सहयोग की भावना आज भी उतनी ही बलवती है जितनी पहले थी,) केवल अन्तर यह आया कि इन्दिरा गाँधी और राजीव गाँधी के वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक चिन्तन ने भारतीय विदेश नीति को शक्ति का आयाम प्रदान कर दिया।

राष्ट्रीय हित

विदेश नीति का निर्माण केवल सिद्धान्तो के आधार पर नही होता, वह राष्ट्रीय हितो के व्यावहारिक विश्लेषण का परिणाम होती है। (भारत की विदेश नीति मे भी राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता रहा है। राष्ट्रीय हित समय और परिस्थितियो के साथ परिवर्तित होते रहे, अत भारत की विदेश नीति मे जडता नही आई। भारत न किसी साम्राज्य का आकाक्षी है, न उसे अपने किसी उपनिवेश की रक्षा करनी है। भारत ने न अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद-माओवाद की क्रान्ति का बीडा उठाया न किसी विचारधारा अथवा शासन-प्रणाली के विरोध मे कोई सैनिक सगठन स्थापित किया।)

भारत और गुट-निरपेक्षता

गुट-निरपेक्षता अथवा असलग्नता की नीति को सबसे पहले व्यावहारिक रूप देने का श्रेय भारत को है। स्वतन्त्र भारत ने अपनी विदेश नीति का आधार इसे ही बनाया। गुट-निरपेक्षता का सरल अर्थ है विभिन्न शक्ति-गुटो से तटस्थ या अलग रहते हुए अपनी स्वतन्त्र नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भाग लेना। इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे तटस्थता' नही है। गुट-निरपेक्ष देश विश्व की घटनाओ के प्रति उदासीन नही रहते, बल्कि एक ऐसी स्पष्ट और रचनात्मक नीति अपनाते है जो विश्व-शान्ति कायम रखने मे सहायक हो। गुट-निरपेक्षता का अर्थ है अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। गुटो से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है। एक गुट के साथ मिलकर उचित-अनुचित का विचार किए बिना आँख मूँदकर पीछे-पीछे चलना गुट-निरपेक्षता नहीं है। 'तटस्थता' और 'गुट-निरपेक्षता' पर्यायवाची शब्द नही है। इनमे यह समानता तो है कि दोनों के अन्तर्गत शीत-युद्ध के समय सघर्ष से अलग रहा जाता है, लेकिन आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ वास्तविक युद्ध छिडने पर एक तटस्थ राष्ट्र युद्ध से अलग रहता है, वहाँ गुट-निरपेक्ष देश युद्ध मे किसी भी पक्ष की ओर से उलझ सकता है। न्याय का समर्थन करते हुए उसकी विदेश नीति सकारात्मक रूप मे सचालित होती है। स्विट्जरलैंड एक 'तटस्थ' देश है जबकि भारत एक 'गुट-निरपेक्ष' देश है। प्रधानमन्त्री नेहरू ने कहा था—"मैं 'तटस्थ' शब्द का प्रयोग नही करता, क्योंकि उसका प्रयोग सामान्य रूप से युद्धकाल मे होता है। शान्तिकाल मे

भी इससे एक प्रकार के युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है।" जॉर्ज लिस्का ने लिखा है कि—"किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत है किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है, किन्तु असलग्नता या गुट-निरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत में भेद कर सदैव सही नीति का समर्थन करना।"

गुट-निरपेक्षता निष्क्रियता का सिद्धान्त नहीं है। यह सक्रियता और स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। यह चुप्पी लगाकर बैठ जाने या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से सन्यास लेने की नीति नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाते है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में न्यायपूर्ण ढग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है। गुट-निरपेक्षता का मुख्य अभिप्राय है कि किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी में सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बँधना, हर प्रकार की आक्रामक सन्धि से दूर रहना, शीतयुद्ध से पृथक् रहना, राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का सचालन करना। 1961 में जवाहरलाल नेहरू, गमेल अब्देल नासिर और मॉर्शल जोसेफ टीटो ने इसके पाँच आधार अथवा तत्त्व स्वीकार किए थे—

1 स्वतन्त्र नीति का अनुसरण,
2 उपनिवेशवाद का विरोध,
3 किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न बनना,
4 किसी भी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय समझौता न करना, एव
5. अपने क्षेत्र में किसी भी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की इजाजत न देना।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट-निरपेक्षता के बारे में नेहरू जी ने कहा था—"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो, अथवा जहाँ आक्रमण होता हो वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।"

सैद्धान्तिक आधार पर 'भारत और गुट-निरपेक्षता' पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वान् के. पी मिश्र की व्याख्या इस अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी है। उन्हीं के शब्दों में—

गुट-निरपेक्षता, एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के अधिकांश नव-स्वतन्त्र देशों की विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य के रूप में और एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में दोनों ही दृष्टियों से सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक निर्णायक कारण रहा है। हालांकि, एक आन्दोलन के रूप में इसका जन्म बेलग्रेड में 1961 में हुए गुट-निरपेक्ष देशों के शीर्ष-सम्मेलन से हुआ था, लेकिन विदेश नीति म एक दिशा के रूप में, इसका सूत्रपात भारत द्वारा काफी पहले किया जा चुका था।

हमारा स्वतन्त्रता आन्दोलन इस दृष्टि से अभूतपूर्व था कि देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना, जहाँ इसका एक मुख्य उद्देश्य था, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों

की लहरो और हिलोरो के बारे मे यह सचेत और संवेदनशील भी था। यह विशेष रूप से तब अधिक उजागर हुआ जब देश के राजनीतिक मानचित्र मे जवाहरलाल नेहरू उभर कर आए। उनकी रुचि और पहल के कारण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अनेक प्रकार के सकल्प पारित किए जिनमे ससार की समस्याओ के बारे मे भी विचार प्रकट किए गए थे। इसी प्रक्रिया के दौरान गुट-निरपेक्षता का बीजारोपण हुआ था।

गुट-निरपेक्षता से सम्बन्धित विचारो को, हमारे देश द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय ठोस रूप दिया गया। भारत की अन्तरिम सरकार के उपाध्यक्ष के रूप मे, जवाहरलाल नेहरू ने 7 सितम्बर, 1947 को रेडियो भाषण दिया जो अब तक असख्य बार उद्धृत किया जा चुका है और जो हमारी गुट-निरपेक्ष नीति का मूलाधार है। उन्होने कहा था—

"हमारा विचार है कि जहाँ तक सम्भव हो उन गुटो की ताकत की राजनीति से दूर ही रहे जो एक-दूसरे के खिलाफ बने हुए हैं जिनकी वजह से पहले विश्व-युद्ध हो चुके है जो फिर से, इनसे भी अधिक खतरनाक युद्धो की ओर खीच कर जा सकते हैं।"

नकारात्मक विचार नही है

यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी हो जाता है कि गुट-निरपेक्षता, अपने यथार्थ रूप मे, कोई नकारात्मक अवधारणा नही है। शीतयुद्ध की अवधि के दौरान गुटपरक राजनीति या सैनिक गठबन्धनो से अपने आप को अलग रखना गुट-निरपेक्षता का केन्द्र-बिन्दु बन गया था, क्योंकि उस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के झमेले मे फँस जाने पर अपनी नीति के सकारात्मक उद्देश्य, अर्थात् आर्थिक दृष्टि से कमजोर और पिछड़े हुए देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति मे तेजी लाने का उद्देश्य ही खटाई मे पड सकता था। यही नहीं, गुट-निरपेक्षता तो शीतयुद्ध से पहले भी मौजूद थी। जहाँ तक यह बात है कि 'गुट-निरपेक्षता' शब्द ऊपर से नकारात्मक प्रतीत होता है, तो भारतीयो के चिन्तन के तरीको के परिप्रेक्ष्य मे यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि वे समस्त ठोस और रचनात्मक विचारो को 'अहिंसा' और 'अप्रमाद' जैसी नकारात्मक शब्दावली के माध्यम से प्रकट करते रहे हैं। इसी प्रकार, गुट-निरपेक्षता, अपने मूल, अपने आधार, अपनी प्रेरणाओ, उद्देश्यो और कार्य-प्रणाली की दृष्टि से तटस्थता से भिन्न होती है। यह सोचना भी भूल ही होगा कि गुट-निरपेक्षता और शक्ति की राजनीति या एकान्तवाद मे कोई समानता होती है।

यह स्वाभाविक ही है कि गुट-निरपेक्षता मे कुछ मूल्यमानो से अन्तर्विरोध निहित हो और साथ ही कुछ ऐसे मूल्यो को प्रोत्साहन निहित हो जो उसकी मूल दिशा के साथ मेल खाते हो।

पहली श्रेणी मे आती है महाशक्ति-प्रतिद्वन्द्विता के सन्दर्भ मे परिकल्पित सैनिक गुटबन्दी से अलग रहने की नीति। गुट-निरपेक्षता म आस्था रखने वालों की

यह दृढ मान्यता है कि इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का उद्देश्य अपने-अपने प्रभाव के गुट खड़े करना, हथियारों की दौड़ को बढ़ावा देना और इस तरह तनाव तथा झगड़े पैदा करना होता है। इस तरह की राजनीति उन नए राष्ट्रों के लिए अनुकूल नहीं बैठती जिनके सामने सामाजिक-आर्थिक विकास की गति में तेजी लाने और शान्ति तथा सामंजस्यपूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्था पैदा करने के तात्कालिक काम होते हैं। गुट-निरपेक्षता के प्रवर्तक भारत जैसे देशों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखकर जो सन्तोष और भरोसा होता है वह केवल इसलिए नहीं कि विश्व समुदाय के तीन-चौथाई देश गुट-निरपेक्षता के आन्दोलन में शामिल हो गए हैं अपितु इसलिए भी कि गुट-निरपेक्षता के बुनियादी सिद्धान्तों को सैनिक गुटों के सदस्य देश भी स्वीकार करने लगे हैं। अभी हाल ही में कुछ गुट-बन्दियों का टूट जाना वास्तव में, गुट-निरपेक्षता के फैलाव का ही द्योतक है।

राष्ट्रीय हित साधन

भारत जिन मूल्यों को गुट-निरपेक्षता के माध्यम से बढ़ावा देना चाहता है वे एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के आस-पास केन्द्रित हैं जो शान्ति और न्याय पर आधारित हो। वह असंदिग्ध रूप से यह जानता है कि विदेश नीति का संचालन कोई सन्तों का पथ नहीं है और इसीलिए राष्ट्रीय हित की सिद्धि अन्य सभी उद्देश्यों से ऊपर होनी चाहिए। चूंकि, राष्ट्रीय हित गुट-निरपेक्षता के नियम पर आधारित होता है इसलिए एक समेकित और सामञ्जस्यपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के रूप में गुट-निरपेक्षता की अवधारणा प्रस्तुत करने में यह एक अन्तर्निहित बाधा होती है। सभी देशों के राष्ट्रीय हित भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामरिक और किसी विशेष समय पर पैदा होने वाले अन्य कारणों से निर्धारित होते हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय हित के विभिन्न संघटक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ बदल जाते हैं।

भारत ने राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का एक संगम पेश करने की कोशिश की। प्रबुद्ध निजी हितों को बढ़ावा देना, इसीलिए गुट-निरपेक्षता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है। इसमें सन्देह नहीं होना चाहिए कि गुट-निरपेक्षता एक साधन मात्र है, वह अपने आप में साध्य नहीं है। साध्य तो है निश्चित राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति या उपलब्धि।

शान्ति और सहयोग पर बल

गुट-निरपेक्षता की चिन्ता का मुख्य जोर विश्व-शान्ति पर तब होना स्वाभाविक ही है जब भयकर परमाणु अस्त्रों का विकास हो और विभिन्न देशों के बीच वैमनस्य के बीज पनप रहे हों। महायुद्ध की काली छाया समस्त अन्तर्राष्ट्रीय आकाश पर अक्सर मंडराती रहती है। उसके परिणामस्वरूप कभी भी व्यापक विध्वंस की घटना घट सकती है। गुट-निरपेक्ष देश यह मानते थे और अभी भी मानते हैं कि युद्ध से उनके विकास के सारे रास्ते ध्वस्त हो सकते हैं। वे अपनी नवप्राप्त राजनीतिक स्वतन्त्रता में आर्थिक और प्रौद्योगिकी विकास का समावेश

करने के इच्छुक हैं। इसके अलावा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के नेता सिद्धान्त रूप में इस बात के विरुद्ध हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने में शक्ति का प्रयोग किया जाए, वे यह भली-भाँति जानते हैं कि युद्ध से समस्याएँ हल होने के बजाय और अधिक उग्र हो जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए उनकी चिन्ता अधिक रहती थी कि उनके अन्य प्रयास उससे दब जाते थे और कभी-कभी उन पर यह आरोप लगाया जाता था कि कुछ नेता अपने राष्ट्रीय हितों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे रहे हैं। गुट-निरपेक्षता के पीछे यह दृढ़ भावना थी कि जो प्रगति नए राष्ट्रों में गरीबी और बीमारी का उन्मूलन करने के लिए इतनी अनिवार्य है, वह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि शान्ति स्थापित न हो। इस तरह शान्ति और घरेलू विकास के बीच एक सीधा सम्बन्ध था या यों कहें कि चोली-दामन का साथ है। इसीलिए शान्ति और प्रगति गुट-निरपेक्षता के आप्त वाक्य या नारे बन चुके थे। भारतीय नेताओं की घोषणाएँ इस विचारधारा के पर्याप्त प्रमाण हैं।

गुट-निरपेक्ष देशों के प्रबुद्ध और राष्ट्रीय हितों के सवर्द्धन के लिए यह अपेक्षित है कि उनके आर्थिक और प्रौद्योगिकीकरण की दृष्टि से पिछड़ेपन पर जल्दी से जल्दी ध्यान दिया जाए। अपनी स्वतन्त्रता के आरम्भिक चरण में उन्होंने विकसित देशों से आर्थिक और अन्य प्रकार की विदेशी सहायता माँगी और वह मिली भी। लेकिन, उन्हें जल्दी ही यह पता चल गया कि विदेशी सहायता के राजनीतिक-आर्थिक परिणाम प्रतिकूल होते हैं। साथ ही इसके नैतिक और मनोवैज्ञानिक निहितार्थ भी सहायता लेने वाले देश के हित में नहीं होते। अतः एक अवस्था ऐसी आ गई थी जब भारत जैसे गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा फूंक-फूंककर कदम रखते हुए विदेशी सहायता को उन्हीं क्षेत्रों के लिए आमन्त्रित किया गया जो भावी विकास के लिए राष्ट्रीय तकनीकी ज्ञान और अन्त सरचना इस तरीके से पैदा करने के लिए महत्त्वपूर्ण थे कि कुछ समय के बाद उस सहायता की कोई जरूरत ही न पड़े। अलग-अलग देशों के अपने-अपने रुख के अलावा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने धीरे-धीरे कुछ वर्षों के दौरान एक ऐसी स्थिति को तैयार किया है जिसे उनकी शब्दावली में सामूहिक आत्म-निर्भरता कहा जाता है। इस धारणा के अन्तर्गत अपने साधनों का समुच्चय बनाना, अपनी अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी में सहायक साधनों की खोज करना और इस तरह ऐसा प्रयास करना कि विकसित देशों पर उनकी निर्भरता दिनोंदिन कम होती जाए। गुट-निरपेक्षता अपने इन प्रयासों के अभी आरम्भिक चरण में ही है और इस विचार को वास्तविकता में बदलने से पहले राजनीतिक इच्छा की दृष्टि से बहुत कुछ करना जरूरी होगा। इसमें जो महत्वपूर्ण है वह यह है कि एक नया विचार-मन्थन शुरू हो चुका है, हालांकि इसके मार्ग में अभी विशाल, जटिल और दुरूह समस्याएँ खड़ी हैं।

इस सारे परिप्रेक्ष्य में भारत की अपनी एक विशेष स्थिति बन चुकी है। यद्यपि एक गरीब देश होने के कारण इसकी अपनी ही विलक्षण समस्याएँ हैं लेकिन इसकी अर्थव्यवस्था में अब कुछ जान पड़ चुकी है। खाद्यान्न की स्थिति संतोषजनक

है, इसके विदेशी मुद्रा के कोष में पर्याप्त धनराशि है, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और उद्योग के क्षेत्रों में प्राप्त उपलब्धियों से अब यह लगभग 50 देशों को आर्थिक और प्रौद्योगिकीय सहायता देने में समर्थ है जो अधिकांश दक्षिण, पूर्व और पश्चिम एशिया के देश है। इनमें से अधिकांश देश किसी गुट मे शामिल नहीं है। इसकी अर्थव्यवस्था पहले से अब इतनी मजबूत है कि बाहरी हमलों या खराब मानसून जैसे प्रतिकूल आन्तरिक कारणों का धक्का बर्दाश्त कर सकती है। इस प्रकार एक अल्प सीमा तक यह इस स्थिति मे है कि गुट-निरपेक्ष देशो में सामूहिक आत्म-निर्भरता के आदर्श को बढ़ावा दे सके।

विश्व की गतिविधियो मे योगदान

भारत की गुट-निरपेक्षता का एक अन्य उल्लेखनीय लक्षण यह है कि कहीं भी घटने वाली घटनाओं और समस्याओं पर प्रत्येक मामले के गुण-दोषों के आधार पर, किसी विचारधारा और अन्य गुटवाद या मतभेदो के वशीभूत होकर इसका पक्षपातपूर्ण फैसला करने के बजाय देशो द्वारा स्वतन्त्र रूप से फैसला करने की इसमें परिकल्पना की गई है।

गुट-निरपेक्षता की अवधारणा में कम से कम इसके भारतीय स्वरूप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक प्रजातान्त्रिक तरीका अपनाने पर बल दिया गया है। जब विदेश मन्त्री डलेस और उप-राष्ट्रपति निक्सन ने गुट-निरपेक्ष देशो के बारे में लगभग अभद्र भाषा का प्रयोग किया तो नेहरू ने उनसे यही आग्रह किया था कि किसी विचार-विमर्श को न तो दबाना चाहिए और न नए राष्ट्रों के विदेशी सम्बन्धों पर विचार-विमर्श करने में सहन शक्ति छोड़नी चाहिए। उन्होंने कहा, "मैं यह कहने का अनुरोध करना चाहता हूँ कि श्री डलेस और श्री निक्सन ने जो कुछ कहा है वह प्रजातान्त्रिक जीवन-पद्धति के विपरीत है। विभिन्न मत-मतान्तरो के लिए सहनशक्ति ही प्रजातन्त्र का मूलाधार है।"

यह ठीक है कि आर्थिक दृष्टि से गुट-निरपेक्ष देश निहायत कमजोर है और उनकी सैनिक शक्ति भी नहीं के बराबर है लेकिन तो भी गुट-निरपेक्षता का जन्म नितान्त भौतिक दुर्बलता के कारण नहीं हुआ था। द्वितीय विश्व-युद्ध के तत्काल बाद की अवधि के दौरान जब विश्व के देशो का दो गुटो के बीच ध्रुवीकरण कमोबेश पूरा हो चुका था, तब किसी राष्ट्र के लिए यह घोषणा करना कि वह उनमें से किसी खेमे का पिछलग्गू नहीं बनेगा, बड़े ही दृढ़ विश्वास भर साहस और असाधारण नैतिक बल का काम था। नेहरू ने इस नीति की उस भारत के लिए व्याख्या की थी जो "पुनर्जाग्रत, जीवन्त, निर्भीक था, जिसका अतीत महान् है और जिसका भविष्य और भी महान् होगा।"

ऊपर बताए गए तत्त्व के अलावा, गुट-निरपेक्षता का इसमे भी विश्वास है कि नस्लवाद और उपनिवेशवाद, किसी भी आकार या किसी भी रूप में हो, अविलम्ब समाप्त कर दिया जाना चाहिए, सर्वत्र और पूर्ण निःशस्त्रीकरण करने के लिए कारगर कदम उठाए जाएँ, देशो की प्रादेशिक और राजनीतिक अखण्डता

का सम्मान किया जाए, अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को यथा-सम्भव शान्तिपूर्ण तरीको से हल करने का प्रयास किया जाए, और दोस्ती के दरवाजे हर देश के लिए खोल दिए जाएँ।

स्वाधीन भारत की नीति सैनिक अथवा राजनीतिक गठबन्धनों से तटस्थ रहने की थी, पर यह निष्क्रियता की नीति नही थी। वह नीति परिस्थितियों के अनुकूल विश्व-शान्ति और उपनिवेशो की स्वाधीनता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे क्रियाशीलता की थी। गुट-निरपेक्ष देश के रूप मे भारत की भूमिका को शीघ्र ही मान्यता मिल गई। भारत ने कितने सफल रूप मे इस नीति को आगे बढाया, यह कतिपय उदाहरणो से स्पष्ट है—

1 सबसे पहले कोरिया के सकट के समय भारत के स्वतन्त्र फैसला कर सकने की क्षमता तथा शीतयुद्ध से प्रभावित इस मामले मे उसकी कार्यवाही को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान मिला। युद्ध की समाप्ति के बाद भारत तटस्थ राष्ट्रो के प्रत्यावर्तन-आयोग का अध्यक्ष था। उसने युद्धबन्दियो की अदला-बदली के कार्य के निरीक्षण के लिए अपनी सेना भी भेजी। यह उसकी स्वतन्त्र विदेश नीति, गुट-निरपेक्षता और कोरिया के सकट के प्रति उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की मान्यता थी।

2. 8 सितम्बर, 1951 को भारत ने सानफ्रांसिस्को मे होने वाली जापान शान्ति-सन्धि मे अमेरिका की शर्तो पर आपत्ति उठाकर, एक बार फिर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया। भारत ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया, इसके साथ ही उसने जापान के साथ युद्ध-समाप्ति के लिए अलग से कार्यवाही की।

3 कोरिया की तरह ही हिन्द-चीन मे भी भारत का प्रयास इस क्षेत्र को शीतयुद्ध का शिकार बनाने से रोकना था। भारत की दृष्टि मे यह सकट साम्राज्यवाद की पुन स्थापना के विरुद्ध राष्ट्रवादी सघर्ष था। यहाँ भी भारत ने अमेरिका के इस इरादे का विरोध किया कि वह फ्रांसीसी सरकार द्वारा वियतमिन्ह के विरुद्ध युद्ध मे तेजी लाने का समर्थन करे। हिन्द-चीन पर होने वाले जिनेवा सम्मेलन मे भारत ने भाग नही लिया, लेकिन परदे के पीछे उसकी सक्रियता ने वार्ता मे सहायता की। भारत ने साम्यवादी देशो की आशका कम करने के लिए जो भूमिका अदा की थी उसे ब्रिटिश सरकार ने भी मान्यता दी। जब जिनेवा-सम्मेलन एक अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की स्थापना के लिए सहमत हो गया तो भारत को उसका अध्यक्ष चुना गया।

4 1956 के स्वेज नहर के सकट के प्रति भारत के रवैये ने गुट-निरपेक्ष देशो की एकजुटता को मजबूत करने और उनकी स्वाधीनता के प्रदर्शन मे सहायता की। भारत ने ब्रिटेन-फ्रांस की कार्यवाही का तीव्र विरोध किया क्योकि वे सैनिक शक्ति की राजनीति से समस्या का समाधान करना चाहते थे जो 19वी शताब्दी मे

प्रचलित थी। भारत का प्रयास संघर्षरत पक्षों के बीच शत्रुता कम करने का था। शान्तिपूर्ण वार्ता और समझौते के लिए ब्रिटेन, फ्रांस व मिस्र के विदेश मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत योजना ने भारत द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव को शामिल किया गया। भारत ने इजरायल और मिस्र के बीच गाजापट्टी में अस्थाई युद्ध-विराम अधीक्षण के लिए तैनात संयुक्तराष्ट्र सेना के लिए टुकडी भेजी।

5. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था शीतयुद्ध हो या सशस्त्र युद्ध, इसका विकल्प शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व ही है। इसकी परिभाषा उन्होंने इस तरह की कि यह एक मानसिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जो मतभेदो और विरोधों में सामंजस्य स्थापित करता है, विभिन्न धर्मों, सिद्धान्तों, आर्थिक व सामाजिक पद्धतियों को समझने और उनमें समानताएँ ढूँढने की चेष्टा करना है और संघर्ष अथवा सैनिक समाधानों की शब्दावली में सोचने से इन्कार करता है। इसी दृष्टिकोण को संहिताबद्ध कर पाँच सिद्धान्तों अथवा पचशील का नाम दिया गया। अप्रैल, 1955 में बाण्डुंग में होने वाले पहले अफ्रेशियायी सम्मेलन में स्वीकृत 'विश्वशान्ति एव सहयोग की घोषणा' में भी इन्हें शामिल किया गया। बाण्डुंग सम्मेलन के बाद के वर्षों में न केवल एशिया और अफ्रीका के देशों में गुट-निरपेक्षता का समर्थन बराबर बढ़ता रहा, बल्कि शीतयुद्ध के दोनों पक्षों की ओर से भी इस धारणा को मान्यता तथा सम्मान प्राप्त हुआ।

6. गुट-निरपेक्षता की धारणा के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में होने वाला गुट-निरपेक्ष देशों का सम्मेलन। इस सम्मेलन में भारत की भूमिका का मुख्य उद्देश्य चर्चा के रुख को शीतयुद्ध का सकट दूर करने की ओर मोडना था। अक्तूबर, 1964 में काहिरा में होने वाले गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के दूसरे सम्मेलन में भी भारत ने इसी आधारभूत दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया।

सभी सम्मेलनों में भारत का प्रयास गुट-निरपेक्ष देशों को अन्तर्गुटी समूह बनाने से रोकने और अधिक से अधिक देशों को गुट-निरपेक्ष बनाने के लिए प्रोत्साहित करना था। इन सम्मेलनों में भाग लेने वालों के लिए एक मानदण्ड नियत किया गया जिसे काहिरा तथा बेलग्रेड सम्मेलनों में स्वीकार कर लिया गया। गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलनों में भाग लेने वालों की बढ़ती हुई सख्या इस बात का प्रमाण थी कि गुट-निरपेक्ष और गुटबन्दी वाले, दोनों देशों में स्थिति बदल रही है। *इसके साथ ही सम्मेलन की कार्यवाही से यह भी परिलक्षित होता था कि अन्तर्राष्ट्रीय* सम्बन्धों में वरीयताएँ बदल रही हैं।

कुछ और भी उदाहरण भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की सार्थकता को सिद्ध करते हैं—

7 नवम्बर, 1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के समय भारत को पश्चिमी देशों से बिना शर्त अविलम्ब सैनिक सहायता प्राप्त हुई और अन्त में रूस का समर्थन भी मिला।

8 सितम्बर, 1965 में भारत-पाकिस्तान युद्ध में असंलग्नता की नीति की शक्ति को एक बार फिर सिद्ध कर दिया गया। पाकिस्तान, सीटो और सैंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटों का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त नहीं कर सका। तुर्की और ईरान ने उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन तो दिया किन्तु अन्य राज्यों के विरोध के कारण जिसमें पश्चिमी राज्य भी सम्मिलित थे, वे पाकिस्तान की मदद नहीं कर सके। इस युद्ध में पाक-दृष्टिकोण से यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटों में सम्मिलित होने की नीति सार्थक नहीं है।

9 जनवरी, 1966 में श्री लाल बहादुर शास्त्री के निधन के बाद श्रीमती गांधी ने अपने कार्यकाल में गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्तों में किसी प्रकार का विशेष परिवर्तन न करते हुए उसे राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में अधिक प्रभावी बनाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पूर्वापेक्षा अधिक व्यावहारिक रूप से लागू करने का प्रयास किया। विभिन्न दबावों के बावजूद भारत सरकार किसी भी महाशक्ति या गुट-विशेष के प्रभाव में नहीं आई। प्रारम्भ में ही अमेरिका ने श्रीमती गांधी के प्रति दबाव की नीति पर अमल किया, लेकिन वह उन्हें अपनी धमकियों से झुका नहीं सका। बंगलादेश के सन्दर्भ में श्रीमती गांधी ने अमेरिकी प्रशासन के रवैये का तीव्र विरोध किया तो दूसरी ओर रूस के मैत्रीपूर्ण रुख का स्वागत किया। रूस के साथ अगस्त, 1971 में मैत्री सन्धि की गई लेकिन गुट-निरपेक्षता और स्वयं की निर्णय-शक्ति पर उससे कभी आँच नहीं आई। सन्धि की धारा 4 में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया कि सोवियत संघ भारत की गुट-निरपेक्ष नीति को स्वीकार करता है और उसे विश्व-शान्ति के लिए उपयोगी मानता है।

दिसम्बर 1971 में बंगलादेश के कारण जो भारत-पाक युद्ध हुआ उसने गुट-निरपेक्षता की नीति को पुनः सही सिद्ध कर दिखाया। पाकिस्तान को हथियार देने वाले देश पाकिस्तान को अँगूठा दिखा गए और देखते ही देखते पाकिस्तान अपने एक भूखण्ड को अपनी ही मूर्खता से खो बैठा।

10 मार्च, 1977 के ऐतिहासिक सत्ता-परिवर्तन के बाद राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक हलकों में यह आशंका प्रकट की जाने लगी थी कि जनता सरकार भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति पर चल सकेगी या नहीं, अथवा उसका झुकाव अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों की ओर हो जाएगा, लेकिन जनता सरकार ने सभी आशंकाओं को निर्मूल करते हुए भारत की स्वतन्त्र विदेश नीति को गतिशीलता और व्यावहारिकता प्रदान की। जनता पार्टी ने जिस स्पष्ट और असंदिग्ध ढंग से गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाया उससे भारत की विदेश नीति को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हुआ। सत्ता में आते ही जनता पार्टी के नेताओं ने साफ तौर पर यह देखा कि भारत के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध उतने बढ़िया नहीं हैं जितने होने चाहिए। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के तथाकथित साम्यवादी गुट के देशों के साथ भारत के सम्बन्ध मधुर थे, लेकिन आपात्-स्थिति के कारण पश्चिम के उदारवादी लोकतन्त्री देशों के सामने उसकी तस्वीर धुँधला गई

थी। जनता सरकार ने विश्व के विभिन्न देशो के साथ—विशेषत अत्यधिक संवेदनशील क्षेत्रों में पड़ौसी देशों से अपने बिगड़े सम्बन्धो को सुधारने के प्रयास आरम्भ कर दिए। सर्वश्री देसाई और चरणसिंह की क्रमश नेपाल और श्रीलंका की और वाजपेयी की अफगानिस्तान, बर्मा, नेपाल व पाकिस्तान की यात्राएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी बंगलादेश के प्रेसीडेन्ट जियाउर रहमान की भारत यात्रा और पाकिस्तान के जनरल जिया-उल-हक की प्रस्तावित भारत यात्रा। जनता सरकार ने पडौसी देशो की गलतफहमियो को दूर करने और उनमे विश्वास जगाने की पहल की। उदाहरणार्थ बंगलादेश को गंगा नदी सम्बन्धी विवाद मे कुछेक अल्पकालीन रियायते देकर तथा नेपाल को व्यापार और पारगमन समस्या पर कुछ छूट देकर उनके प्रति सद्भावना प्रकट की गई।

11 जनवरी, 1980 मे श्रीमती गाँधी पुन सत्तारूढ हो गई। उनके इस द्वितीय कार्यकाल मे भारत की गुट-निरपेक्ष तस्वीर और अधिक शक्ति के साथ उभरी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के हर क्षेत्र मे श्रीमती गाँधी ने भारत की निर्भीक स्वतन्त्र नीति को उजागर किया और यह सिद्ध कर दिया कि भारत किसी भी बड़े राष्ट्र या महाशक्ति के दबाव मे प्रेरित होकर कोई नीति नही अपनाता। मार्च, 1983 से तो तीन वर्ष के लिए गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष भी भारत को बनाया गया।

श्रीमती गाँधी की हत्या के पश्चात् नये प्रधानमन्त्री और उनकी नई सरकार ने भारतीय विदेश नीति के मूल तत्त्व गुट-निरपेक्षता के प्रति आस्था व्यक्त की। सितम्बर 1986 तक भारत गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष रहा और इस हैसियत मे वह आम-सहमति के क्षेत्रों का विस्तार करने, विवादास्पद मसलो पर बातचीत जारी रखवाने और विश्व समुदाय के समक्ष उपस्थित प्रमुख समस्याओं के समाधान के लिए रचनात्मक रास्ते सुझाने की दिशा मे निरन्तर यत्न करता रहा।

हरारे शिखर सम्मेलन ने अग्रलेखी राज्यो और मुक्ति आन्दोलनो की सहायता के लिए एक आक्रमण, उपनिवेशवाद, और जातीय पृथक्करण को रोकने के लिए कार्यवाही (अफ्रीका) कोष की स्थापना की जिसका अध्यक्ष भारत है।

भारत और पाकिस्तान

सक्रिय गुट-निरपेक्षता की नीति पर चलते हुए भारत अपने पडौसी राष्ट्रों के साथ ही नही वरन् विश्व के सभी देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है। भारत के पडोसियो मे पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बंगलादेश, भूटान, नेपाल, मालदीव, श्रीलंका, चीन आदि राष्ट्र महत्त्वपूर्ण है।

भारत के विभाजन के फलस्वरूप 1947 मे पाकिस्तान का जन्म हुआ। पाकिस्तान का जन्म ही भारत के प्रति घृणा मे हुआ था वह अब तक भारत पर चार बार आक्रामक कदम उठा चुका है—पहली बार 1947 मे, दूसरी बार अप्रैल, 1965 मे कच्छ पर आक्रमण द्वारा, तीसरी बार सितम्बर, 1966 मे और चौथी बार दिसम्बर, 1971 मे।

भारत और पाकिस्तान सम्बन्धों का हम चार कालों में विभाजन करके अध्ययन कर सकते हैं, नेहरू युग, शास्त्री-इन्दिरा काल, जनता काल और इन्दिरा-राजीव काल।

नेहरू काल (अगस्त 1947–मई 1964)

नेहरू का प्रधानमन्त्रित्व–काल भारत की विदेश नीति का 'आदर्शवादी युग' था, यद्यपि चीनी आक्रमण के बाद नवम्बर, 1962 से इसने यथार्थवादी मोड़ लिया।

जूनागढ़, हैदराबाद, ऋण भुगतान, नहरी विवाद आदि के मसले—1947 में जूनागढ़ के नवाब ने अपनी रियासत को पाकिस्तान के साथ मिलाना चाहा, लेकिन जनता ने भारत के पक्ष में विद्रोह किया और रियासत के दीवान तथा वहाँ की पुलिस (जिनके हाथों में प्रशासन था) की प्रार्थना पर भारत सरकार ने रियासत का शासन अपने हाथों में ले लिया और तत्काल बाद 1948 में जनमत संग्रह द्वारा रियासत का भारत में विलय कर लिया गया। पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद में यह प्रश्न उठाया, किन्तु उसकी चाल सफल नहीं हुई। 1948 में हैदराबाद की रियासत का भारत में विलय हुआ। पाकिस्तान की अड़ंगेबाजी असफल रही। स्वतन्त्र भारत ने पुरानी सरकार के पूरे ऋण का भार सम्भाला जिसके अनुसार उसे पाँच वर्ष में पाकिस्तान से 300 करोड़ रुपये लेने थे, लेकिन पाकिस्तान ने ऋण चुकाने का नाम तक नहीं लिया जबकि भारत ने पाकिस्तान को दिए जाने वाले 55 करोड़ रुपये का चुकारा कर दिया। विस्थापित सम्पत्ति तथा अल्प-सख्यकों की रक्षा के सम्बन्ध में 1950 में जो नेहरू-लियाकत समझौता हुआ उसका पाकिस्तान की ओर से कभी पालन नहीं किया गया और पीड़ित हिन्दू शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आते रहे। दोनों देशों के मध्य एक समस्या नदियों के पानी के सम्बन्ध में थी। विश्व बैंक की मध्यस्थता से सितम्बर, 1960 में सिन्ध बेसिन के पानी के बँटवारे के बारे में दोनों देशों के बीच 'नहरी पानी समझौता' सम्पन्न हुआ। यह समझौता पाकिस्तान के लिए विशेष लाभदायक था। निष्पक्ष पर्यवेक्षकों को भी भारत के उदार दृष्टिकोण से आश्चर्य हुआ क्योंकि स्वयं उसको अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए सिन्धु के पानी की काफी आवश्यकता थी।

कश्मीर पर भारत-पाक संघर्ष—पाकिस्तान कश्मीर को हड़पना चाहता था अत 22 सितम्बर, 1947 को उसने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। भारतीय सेना ने उसका सामना किया परन्तु कश्मीर का एक बड़ा भाग उसने दबोच लिया। सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से 1 जनवरी 1949 से युद्ध-विराम होकर दोनों देशों के बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से तथा प्रत्यक्ष रूप से परस्पर वार्ता चली। पंडित नेहरू की गुट-निरपेक्ष नीति से खिन्न संयुक्तराज्य अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद में पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया। अत-समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका। इस बीच कश्मीर का विधिवत् भारत में विलय हो गया। पाकिस्तान ने इसे स्वीकार नहीं किया तथा वह तर्क देता रहा कि—(1) कश्मीर

का भारत मे विलय भारत द्वारा प्रयोग की गई शक्ति और भय प्रदर्शन का परिणाम था, (2) कश्मीर का भारत मे विलय जनमत-सग्रह की शर्त पर आधारित था जिसे पूरा किए बिना कश्मीर स्थाई रूप से भारतीय सघ का अग नही माना जा सकता, (3) कश्मीर जैसे मुस्लिमबहुल प्रदेश का विलय पाकिस्तान मे होना चाहिए, (4) जनमत-सग्रह के प्रश्न पर पाकिस्तान का समानता का अधिकार है तथा कश्मीर पर भी निर्णय करने मे भारत और पाकिस्तान को बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए, एव (5) कश्मीर के महाराजा ने जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत में सम्मिलित होना स्वीकार किया था जो अवैध है।

भारत की दृष्टि मे कश्मीर का भारत मे विलय पूर्ण वैधानिक था क्योंकि राज्य के वैधानिक राजा के हस्ताक्षर के उपरान्त ही उसका विलय भारत मे किया गया था। कश्मीर के महाराजा ने भारत में विलय का प्रस्ताव भारत की शक्ति के भय से नही बल्कि इस डर से किया था कि पाकिस्तानी डकैत उसकी रियासत को हडपने वाले थे और रियासत की केवल भारत ही रक्षा कर सकता था। भारत ने प्रारम्भ से ही यह निश्चित मत व्यक्त किया कि कश्मीर का भारत मे प्रवेश पूर्णत. सैद्धान्तिक है। इस सम्बन्ध मे मुख्यत. ये तर्क प्रस्तुत किए गए—(1) भारत मे कश्मीर का विलय 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम मे उल्लिखित भारत-प्रवेश नियमावली के अनुरूप पूर्णत वैधानिक था, (2) कश्मीर की जनता ने स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित अपनी सविधान सभा के माध्यम से कश्मीर को भारत सघ का अभिन्न अग घोषित कर दिया था, अत जनमत-सग्रह की बात स्वत ही पूर्ण हो गई, (3) आत्म-निर्णय एक लोकतान्त्रिक प्रश्न है जिसका प्रयोग राज्यो को टुकडो मे विभाजित करने के लिए नही किया जाता, (4) स्वय पाकिस्तान ने जिन राज्यो का विलय किया, उन्हे कभी आत्म-निर्णय का अधिकार नही दिया, (5) जो राष्ट्र अपनी जनता को भी लोकतान्त्रिक अधिकार नही दे पाया है, उसके लिए आत्म-निर्णय की बात कहना बेहूदा है, (6) एक आक्रमणकारी राष्ट्र विलय की बात नही कर सकता, (7) यह भी सर्वथा अवैधानिक है कि पाकिस्तान ने बलपूर्वक कश्मीर के जिस भाग पर कब्जा किया उसका एक बडा हिस्सा दूसरे राष्ट्र चीन को अवैध रूप से सौंप दिया, (8) भारत ने कश्मीर में जनमत सग्रह करवाने की केवल इच्छा ही व्यक्त की थी, वह विलय की पूर्व शर्त नही थी तथा जनमत सग्रह का आश्वासन कश्मीर के शासक को दिया गया था, एक तृतीय पक्ष पाकिस्तान को नही, (9) जनमत सग्रह की बात पाकिस्तान द्वारा कश्मीर से अपनी सेनाएँ हटाने के बाद पूरी करने को कही गई थी, लेकिन पाक-फौजो की उपस्थिति स्वय जनमत-सग्रह के मार्ग मे बाधा बनी हुई रही है और अब कश्मीर मे स्वतन्त्र चुनाव हो जाने के बाद जनमत-सग्रह का प्रश्न समाप्त हो जाता है, (10) कश्मीर मे मुस्लिम बहुमत के आधार पर जनमत-सग्रह की बात गलत है भारत जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को मान्यता नही देता; एव (11) पाकिस्तानी दुराग्रह स्वीकार करने का अर्थ सम्पूर्ण देश और कश्मीर की शान्ति भग करना तथा भारत मे

कश्मीर-विलय के कश्मीरी जनता के निर्णय का स्पष्ट अपमान करना है। भारत ने स्पष्ट रूप से यह स्थिति स्पष्ट कर दी कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारतीय संघ का अभिन्न अंग है।

भारत के युद्ध न करने के प्रस्तावों का ठुकराया जाना—कश्मीर पर 1947 में पाकिस्तानी आक्रमण के बाद से ही प. नेहरू ने निरन्तर यह असफल प्रयत्न किया कि दोनों राष्ट्रों के बीच किसी प्रकार युद्ध न करने सम्बन्धी एक स्थायी समझौता हो जाए। प्रथम प्रयास दिसम्बर, 1949 में और दूसरा 1956 में किया गया। नवम्बर, 1962 में नेहरू ने राष्ट्रपति अयूब खाँ को लिखा कि भारत का पाकिस्तान के साथ किसी संघर्ष या झगड़े का विचार नहीं है, लेकिन भारत के शान्ति-प्रयत्नों को पाकिस्तानी शासक अस्वीकार करते रहे।

चीनी आक्रमण पर शत्रुतापूर्ण रवैया और कश्मीर पर पाक-चीन अवैध समझौता—1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के समय पाकिस्तान ने एक स्वर से भारत को दोषी ठहराया और भारत को दी जाने वाली अमेरिकी तथा ब्रिटिश सैनिक सहायता का भी तीव्र विरोध किया। यही नहीं, पाकिस्तान ने चीन के साथ एक अवैधानिक समझौता करके पाक-अधिकृत कश्मीर का एक भाग अवैधानिक रूप से चीन को दे दिया। भारत के विरोध का कोई फल नहीं निकला।

शास्त्री-इन्दिरा काल (मई 1964–मार्च, 1977)

नेहरू के बाद लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री बने। उनके काल में भारत-पाक सम्बन्धों में गहरा तनाव पैदा हुआ—

पाकिस्तान के साथ युद्ध न करने का प्रस्ताव—भारत ने 15 अगस्त, 1964 को पाकिस्तान के साथ 'युद्ध न करने का समझौता' करने के लिए एक बार फिर प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान के शासकों ने उसे अस्वीकार कर दिया।

कच्छ और कश्मीर पर पाक आक्रमण—1965 में पाकिस्तान ने भारत पर दो प्रबल सैनिक आक्रमण किए, पहला मार्च-अप्रैल, 1965 में कच्छ पर और दूसरा अगस्त-सितम्बर, 1965 में कश्मीर पर। पाकिस्तान ने कच्छ क्षेत्र के उत्तरी हिस्से में पहले एक सड़क बना ली और बाद में भारतीय सीमा में अपनी स्थायी चौकियाँ स्थापित करलीं। उसने भारत के विरोध-पत्रों की न केवल उपेक्षा कर दी बल्कि गुजरात के एक बड़े क्षेत्र पर भी अपने अधिकार का दावा किया। पाकिस्तान का यह दावा ऐतिहासिक और वैधानिक रूप से अवैध था क्योंकि इस क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पहले से निर्धारित हो चुकी थी। दोनों देशों के बीच वार्ता चालू थी कि 9 अप्रैल, 1965 को पाकिस्तानी सेना की एक टुकड़ी ने सरदार नामक भारतीय चौकी पर हमला बोल दिया। 24 अप्रैल को कच्छ पर पाक सेना का आक्रमण हो गया। भारत-पाक संघर्ष को रोकने के लिए ब्रिटेन ने युद्ध-विराम का प्रस्ताव रखा जिसे भारत ने मान लिया, लेकिन पाकिस्तान ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में लन्दन में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के

सम्मेलन के अवसर पर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विल्सन के प्रयत्नों से भारत और पाकिस्तान के बीच कच्छ के प्रश्न पर 30 जून, 1965 को एक समझौता हो गया जिसमें अग्रलिखित बातों का उल्लेख था—(1) एक जुलाई, 1965 से युद्ध बन्द कर दिया जाए। (2) दोनों देशों की सेनाएँ 7 दिन के भीतर पीछे हटा ली जाएँ और अपनी 1 जनवरी, 1965 की स्थिति पर लौट जाएँ। (3) सीमा-विवाद के प्रश्न का समाधान पहले मन्त्रियों की वार्ता द्वारा किया जाए और इस प्रकार की वार्ता सफल न होने पर यह प्रश्न एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण को सौंपा जाए। सितम्बर, 1967 में न्यायाधिकरण ने अपना काम शुरू किया और 19 फरवरी, 1968 को उसने अपना निर्णय दे दिया। इस निर्णय के अनुसार विवादग्रस्त क्षेत्र का 90% भाग भारत को दिया गया और शेष 320 वर्गमील का प्रदेश पाकिस्तान को प्राप्त हुआ। पाकिस्तान को महत्त्वपूर्ण सामरिक क्षेत्र प्राप्त हो गया। यद्यपि न्यायाधिकरण का निर्णय कुल मिलाकर भारत के पक्ष में था, तथापि पाकिस्तान के साथ विशेष रियायतें की गई थी। भारत सरकार ने इस निर्णय को 'राजनीतिक कारणों से प्रेरित' बताकर इसकी निन्दा की तथापि भारत के सामने वचन निभाने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। भारत सरकार ने कूटनीतिक चालबाजी की जगह नैतिकता को उच्च समझा और निर्णय स्वीकार कर लिया।

भारत-पाक युद्ध, 1965—कच्छ के समझौते की स्याही सूखने भी न पाई

फैलाने

[illegible]

करके

युद्ध-विराम-रेखा के उन महत्त्वपूर्ण पहाड़ी और जंगली प्रतिष्ठानों पर कब्जा कर लिया जहाँ से घुसपैठिए भारत में प्रवेश करते थे। पाकिस्तान इस पर बौखला उठा। 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने विपुल टैंक शक्ति के साथ कश्मीर के छम्ब क्षेत्र पर अचानक ही भीषण आक्रमण कर दिया। भारत ने पाक के विरुद्ध सम्पूर्ण सीमा पर नए मोर्चे खोल दिए। अन्त में संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से 23 सितम्बर को युद्ध-विराम हो गया। युद्ध-समाप्ति पर लगभग 750 वर्गमील पाकिस्तानी क्षेत्र भारत के अधिकार में और 240 वर्गमील भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में रह गया था। सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने दोनों देशों के शीर्षस्थ नेताओं की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ताशकन्द समझौते की व्यवस्था की। 10 जनवरी, 1969 को 9 बजे रात्रि को श्री अयूब खाँ और श्री शास्त्री ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए जो 'ताशकन्द घोषणा' के नाम से विख्यात हुआ।

ताशकन्द समझौता, 10 जनवरी, 1969—ताशकन्द समझौते (Tashkent Declaration) के मुख्य तत्त्व ये थे—

(1) दोनों देश परस्पर अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध कायम रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार पूरा प्रयास करेंगे और शक्ति प्रयोग न कर आपसी विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाएँगे।

(2) दोनों देशों के सब सशस्त्र सैनिक 25 फरवरी, 1966 तक उन स्थानों पर लौट जाएँगे जहाँ वे 5 अगस्त, 1965 के पहले थे। दोनों ही पक्ष युद्ध-विराम-रेखा पर युद्ध-विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

(3) दोनों देश एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार बन्द कर देंगे और ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जिससे मैत्री में वृद्धि हो।

(4) दोनों देशों के उच्चायुक्त अपनी-अपनी जगह लौट जाएँगे तथा सामान्य राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित किए जाएँगे। राजनयिक व्यवहार में 1961 के वियना समझौते का सम्मान किया जाएगा।

(5) दोनों देशों के बीच आर्थिक सम्बन्ध, व्यापार, संचार और सांस्कृतिक सम्पर्क कायम करने पर विचार किया जाएगा और दोनों ही देश वर्तमान समझौते को कार्यान्वित करेंगे।

(6) दोनों शीर्षस्थ नेता अपने अधिकारियों को युद्धबन्दियों की वापसी का आदेश देंगे।

(7) दोनों पक्ष शरणार्थियों, निष्कासितों और गैर-कानूनी रूप से बसने वालों की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों पर वार्ता जारी रखेंगे और ऐसी स्थिति पैदा करेंगे कि लोगों का देश से पलायन बन्द हो। संघर्षकाल में दोनों पक्षों ने जिस-जिस माल या सम्पत्ति पर अधिकार किया है उसके लौटाने के बारे में बातचीत की जाएगी।

(8) जिन मामलों का दोनों देशों से सीधा सम्बन्ध है, उन पर विचार के लिए दोनों पक्षों की सर्वोच्च तथा अन्य स्तरों पर बैठकें होती रहेंगी। दोनों ही पक्षों ने 'भारत-पाकिस्तान संयुक्त समितियाँ' नियुक्त करने पर भी सहमति प्रकट की जो अपनी-अपनी सरकारों को बताएँगी कि आगे और क्या कदम उठाए जाएँ।

श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं। श्रीमती गाँधी ने भारतीय विदेश नीति की भ्रान्तियों को दूर कर उसे एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने भारत-पाक सम्बन्धों का जो ताना-बाना बुना वह निम्नानुसार है—

रबात सम्मेलन, विमान अपहरण आदि—अप्रेल, 1966 में पाकिस्तान कश्मीर समस्या को पुनः सुरक्षा परिषद् में ले गया। सुरक्षा परिषद् कुछ न कर सकी। 22 सितम्बर, 1969 में मोरक्को की राजधानी रबात में इस्लामी शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। पाकिस्तान के विरोध के कारण सम्मेलन के आयोजकों ने भारत को निमन्त्रण नहीं भेजा। इस पर भारत की ओर से कूटनीतिक प्रयत्न किए गए और फलस्वरूप उसे सम्मेलन के आयोजकों द्वारा निमन्त्रण प्राप्त हो गया। पाकिस्तान ने सम्मेलन में भारत के भाग लेने पर सम्मेलन के बहिष्कार करने और लौट जाने की धमकी दी और मोरक्को, जोर्डन आदि उसके अरब मित्रों ने उसका पूरा साथ दिया। केवल संयुक्त अरब गणराज्य का ही समर्थन भारत के

पक्ष में रहा। वास्तव में रबात में जो कुछ हुआ वह भारत का राष्ट्रीय अपमान था। पाकिस्तान निरन्तर भारत विरोधी कार्यवाहियाँ करता रहा। 30 जनवरी, 1971 को इण्डियन एयरलाइन्स के एक यात्री विमान का अपहरण कर जबरन लाहौर हवाई अड्डे पर उतारा गया। भारत में तीव्र रोष की लहर दौड़ गई और सरकार ने पाकिस्तानी विमानों के भारतीय प्रदेश से होकर उड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) का मुक्ति आन्दोलन—पाकिस्तान आन्तरिक अराजकता का भी शिकार था। पूर्वी पाकिस्तान में मुक्ति आन्दोलन ने जोर पकड़ा। पाकिस्तानी शासकों ने इस जनमुक्ति आन्दोलन को भारत के षड्यन्त्र का परिणाम बतलाया। एक तरफ तो इसे भारत-पाक समस्या के रूप में उछाला गया और दूसरी तरफ पूर्वी पाकिस्तानियों पर घोर अत्याचार तथा अभूतपूर्व हत्याकाण्ड चालू रखा जिससे लगभग 1 करोड़ शरणार्थी भारत आए। इस प्रकार पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध भीषण विद्रोह छेड़ दिया। परिस्थिति बिगड़ती गई। पाकिस्तान में भारत से युद्ध छेड़ने का उन्माद प्रबल होता गया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही सीमान्तों पर पाक सेनाएँ आएदिन छुटपुट हमले करने लगी। भारत ने पूर्ण सयम से काम लेते हुए पर्याप्त प्रयत्न किया कि युद्ध के बादल छँट जाएँ, लेकिन होनी कुछ और ही थी।

भारत-पाक युद्ध—चीन और अमेरिका से भेंट में प्राप्त विपुल शस्त्रास्त्र सहायता के बल पर पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर, 1971 को भारत पर अचानक ही भीषण हवाई हमला बोल दिया। इस प्रकार दोनों देशों के बीच घमासान युद्ध छिड़ गया। पश्चिमी मोर्चों पर युद्ध पाकिस्तान की भूमि पर लड़ा गया और पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना तथा मुक्तिवाहिनी की संयुक्त कमान ने पाकिस्तानी सेना का सामना किया।

युद्धकाल में 5 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की आपात्कालीन बैठक में पाकिस्तान ने भारत पर आरोप लगाया कि वह पूर्वी पाकिस्तान में क्रान्तिकारियों को सहायता देकर पाकिस्तान की क्षेत्रीय अखण्डता पर प्रहार कर रहा है। भारतीय प्रतिनिधि ने पाक आरोपों का तीव्र विरोध किया। सोवियत् रूस के बार-बार वीटो के कारण सुरक्षा परिषद् में भारत-विरोधी प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। इसी बीच 6 दिसम्बर को श्रीमती गाँधी ने भारतीय संसद् में बंगलादेश गणराज्य के उदय की सूचना दी। बंगलादेश को मान्यता देकर श्रीमती गाँधी ने समस्या को बिलकुल एक नया मोड़ दे दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा सम्पूर्ण विश्व को बता दिया कि भारत किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को नहीं वरन् एक स्वतन्त्र राज्य की वैध सरकार को सहायता दे रहा है। 16 दिसम्बर, 1971 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में पाक सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। 17 दिसम्बर को एक-पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा करते हुए भारत ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल याहिया खाँ से युद्धबन्दी प्रस्ताव स्वीकार करने की अपील की। पाकिस्तान ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना शक्तिशाली सातवाँ जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजा था जिसका उद्देश्य किसी न किसी रूप में पाकिस्तान की सहायता करना था, किन्तु भारतीय हितों की रक्षार्थ हिन्दमहासागर में रूसी युद्ध-पोतों की उपस्थिति ने अमेरिका को कोई ऐसा कदम न उठाने के लिए विवश कर दिया जिससे दोनों महाशक्तियों के टकराने का भय पैदा हो जाए।

युद्ध के परिणाम—दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—

1 भारत की विदेश नीति में एक नया परिवर्तन आया। उसने पहले की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी और आत्मविश्वासपूर्ण रूप ग्रहण किया। पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की नीति के स्थान पर दृढ़ता और आवश्यक कठोरता की नीति अपनाई जाने लगी।

2 भारत में अमेरिका के विरुद्ध तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया और भारत सरकार का यह निश्चय और भी दृढ़ हो गया कि अमेरिकी सहायता पर आश्रित न रहा जाए। भारत में आत्म-निर्भरता का एक आन्दोलन-सा उठ खड़ा हुआ।

3 सोवियत संघ और भारत की मैत्री अधिक घनिष्ठ हो गई। स्पष्ट हो गया कि सोवियत संघ भारत का एक विश्वसनीय मित्र है तथा भारत को चीन से डरने की आवश्यकता नहीं है।

4 इस युद्ध के फलस्वरूप न केवल पाकिस्तान खण्डित हुआ तथा अमेरिका और पाकिस्तान पहले की तुलना में अधिक निकट आए क्योंकि अमेरिका के लिए एशिया में अब टूटे पाकिस्तान के अलावा और कोई सहारा नहीं रहा।

5. एक प्रबल सैनिक शक्ति के रूप में भारत की विजय से छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के मन में यह आशंका घर कर गई कि कहीं भारत उनके प्रति दबाव की नीति न अपनाए, लेकिन कच्चातीवू श्रीलंका को सौंप कर भारत ने इस प्रकार की आशंकाओं को निर्मूल कर दिया।

6 पाकिस्तान में सैनिक शासन के प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया और अन्त में पाकिस्तान की बागडोर असैनिक राजनीतिज्ञ श्री भुट्टो के हाथ में आई।

7 नवोदित बंगलादेश और भारत के बीच मैत्री का निरन्तर विकास होता चला गया।

शिमला-समझौता

भारत और पाकिस्तान दोनों देशों में यह चेतना उत्पन्न हुई कि वे पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने सभी विवादों का समाधान कर उपमहाद्वीप में मैत्री के एक नए युग का सूत्रपात करें। भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला (भारत) में जून, 1972 के अन्तिम सप्ताह में एक शिखर सम्मेलन हुआ। 3 जुलाई को दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक शिमला-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश अग्रलिखित हैं—

1 भारत व पाकिस्तान की सरकारो का सकल्प है कि वे दोनों देशों के बीच अब तक चले आ रहे विद्वेष और विवादो को समाप्त कर पारस्परिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों व उपमहाद्वीप मे स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए काम करेंगी ताकि दोनो देश अपने साधनो व शक्ति का उपयोग अपनी जनता के हित में कर सकें।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत व पाकिस्तान की सरकारें इन बातो पर सहमत हैं —

(क) दोनो देशो का सकल्प है कि वे अपने मतभेदो को द्विपक्षीय वार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण उपायो से या ऐसे शान्तिपूर्ण उपायो से जिनके बारे में दोनो देशो के बीच सहमति हो गई हो, हल करेंगे। जब तक दोनो देशों की समस्या का अन्तिम रूप से समाधान न हो जाए, कोई भी एक पक्ष स्थिति को नही बदलेगा और दोनों देश इस बात का प्रयास करेंगे कि ऐसा कोई काम न हो जिससे शान्तिपूर्ण सम्बन्धो को आघात पहुँचे।

(ख) सयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा के अनुसार दोनो राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग नही करेंगे तथा वे न तो एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करेंगे और न राजनीतिक स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करेंगे।

2 दोनो ही सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक-दूसरे के प्रति घृणापूर्ण प्रचार नही करेंगी। दोनो राष्ट्र उन सभी समाचारो को प्रोत्साहन देंगे जिनके माध्यम से आपसी सम्बन्धो में सुधार की आशा हो।

3 आपसी सम्बन्धो मे सामान्यता लाने की दृष्टि से—(क) दोनो राष्ट्रों के बीच डाक-तार-सेवा तथा जल एव वायु मार्गों द्वारा पुन सचार-व्यवस्था स्थापित की जाएगी। (ख) एक-दूसरे के नागरिक और निकट आएँ, इसके लिए नागरिको को आने-जाने की सुविधाएँ दी जाएँगी। (ग) जहाँ तक सम्भव हो सके व्यापारिक एव अन्य आर्थिक मामलो में सहयोग का क्रम शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ होगा। (घ) विज्ञान एव सांस्कृतिक क्षेत्रो मे आदान-प्रदान बढाया जाएगा।

4. स्थायी शान्ति स्थापना की प्रक्रिया का क्रम आरम्भ करने के लिए दोनों सरकारें सहमत है कि (क) भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में लौट जाएँगी। (ख) दोनो देश बिना एक-दूसरे की स्थिति को क्षति पहुँचाए जम्मू-कश्मीर मे 17 दिसम्बर, 1971 को हुए युद्ध-विराम की नियन्त्रण-रेखा को मान्यता देंगे। (ग) सेनाओं की वापसी इस समझौते के लागू होने के 30 दिन के अन्दर पूरी हो जाएगी।

5. दोनो देशो की सरकारे इस बात पर सहमत है कि उनके राष्ट्राध्यक्षो की सुविधाजनक अवसर पर भविष्य मे पुन भेंट होगी। इस बीच दोनो देशों के प्रतिनिधि स्थायी शान्ति की स्थापना और सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाओं के बारे में विचार-विमर्श करेंगे। इनमे युद्ध-बन्दियों एव नागरिकों की वापसी, जम्मू-कश्मीर समस्या के अन्तिम हल व कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न शामिल हैं।

शिमला-समझौते के बाद

शिमला-समझौते के बाद भारत और पाकिस्तान तथा पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच सम्बन्ध सुधारने की प्रक्रिया शुरू हो गई। जम्मू-कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण रेखा को अन्तिम रूप में अंकित करने के उपरान्त दोनों पक्षों की सेनाएँ अपने-अपने स्थानों पर लौट गई। पाकिस्तानी युद्धबन्दियों तथा अन्य मानवीय समस्याओं पर अनेक स्तरों पर बातचीत चली और अन्त में 28 अगस्त, 1973 को इन प्रश्नों पर भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता हो गया।

शिमला-समझौते में यह तय किया गया था कि कश्मीर के प्रश्न का स्थायी समाधान पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण और शान्ति स्थापना के बाद ही निकालना है, किन्तु सितम्बर, 1973 में भुट्टो ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के समक्ष अपने भाषण में फिर कश्मीर की रट लगाई। नवम्बर, 1973 में पाक-प्रधानमन्त्री ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के दौरे के समय कुछ ऐसे बयान जारी किए जो शिमला-समझौते के प्रावधानों के विपरीत थे।

18 मई, 1974 को जब भारत ने अपना प्रथम परमाणु परीक्षण किया तो भुट्टो ने घोषणा की कि यदि भारत अणु-बम बनाता है तो पाकिस्तान भी अणु-बम बनाएगा, चाहे उसे घासपात खाकर या भूखे ही रहना पड़े। श्रीमती गांधी ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत अणु-शक्ति का विकास रचनात्मक उद्देश्य के लिए कर रहा है। भारत ने अनाक्रमण सन्धि का प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान ने इसे ठुकरा दिया।

युद्ध के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच डाक, दूर-संचार और यात्रा सुविधाएँ समाप्त हो गई थीं। सितम्बर, 1974 में इस्लामाबाद में दोनों पक्षों ने तीन समझौतों पर हस्ताक्षर करके इन सुविधाओं को तत्काल जारी करने का निर्णय लिया। अगस्त, 1975 में पाकिस्तान ने पाक अधिकृत कश्मीर के लिए परिषद् की स्थापना की जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान सरकार ने अधिकृत कश्मीर पर अपने नियन्त्रण को पहली बार सस्थागत रूप दिया। भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से कहा कि इस परिषद् की स्थापना शिमला-समझौते का उल्लंघन है क्योंकि यह जम्मू तथा कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत प्रदेशों की स्थिति में एक-पक्षीय परिवर्तन है।

वर्ष 1976-77 में दोनों देशों के सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया कुछ आगे बढ़ी। दोनों पक्षों ने निजी क्षेत्रों में द्विपक्षीय व्यापार चालू करना स्वीकार किया, जुलाई, 1976 में दोनों देशों के बीच हवाई सम्पर्क और दैनिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हुआ।

जनता काल

1977 में भारत में जनता पार्टी सत्ता में आई। इसी वर्ष पाकिस्तान के सामने युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा गया किन्तु पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव को पुनः अस्वीकार कर दिया। फरवरी, 1978 में भारतीय विदेश मन्त्री ने पाकिस्तान की यात्रा की। 12 वर्षों में किसी भारतीय विदेश मन्त्री की यह

पहली पाकिस्तान यात्रा थी। 1978 में पाकिस्तान के वैदेशिक मामलों के सलाहकार श्री आगाहशाही की यात्रा के अवसर पर सलाल पन-बिजली-परियोजना के सम्बन्ध में एक करार पर हस्ताक्षर हुए जिससे 8 वर्षों से चली आ रही समस्या सुलझ गई।

इन्दिरा-राजीव काल

जनवरी, 1980 में कांग्रेस के पुन सत्तारूढ़ होने पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति *जिया उल हक ने अपने सन्देश में शिमला समझौते के प्रति पाकिस्तान की प्रतिबद्धता* को दोहराया और दोनों के बीच सम्बन्ध सामान्य बनाने की प्रक्रिया को तेज करने की आशा प्रकट की। दिसम्बर, 1981 में अमेरिकी सेनेट ने रीगन प्रशासन द्वारा पाकिस्तान को आधुनिकतम एफ-16 विमान देने सम्बन्धी प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया जिसका विरोध करते हुए भारत सरकार को कहना पड़ा कि पाकिस्तान की सैनिक शक्ति में अन्धाधुन्ध वृद्धि भारत के लिए खतरे और चिन्ता का विषय है।

अगस्त, 1984 में पाकिस्तान ने भारत के एक विमान के अपहरणकर्ताओं को सक्रिय सहायता दी। इतना ही नहीं, वह पजाब के उग्रवादी तत्त्वों को बराबर सहायता देता रहा और तीसरे देशों के माध्यम से भी उन्हें सुविधाएँ प्रदान करता रहा। 1984 में गुरुनानक जयन्ती के अवसर पर पाकिस्तान स्थित ननकाना साहब की यात्रा पर गए भारतीय तीर्थयात्रियों में जबरदस्त भारत विरोधी प्रचार करवाया गया। इन घटनाओं ने भारत-पाकिस्तान तनाव को और भी गहरा कर दिया।

31 अक्तूबर, 1984 को श्रीमती गांधी के निधन के उपरान्त पाकिस्तान के प्रति भारत की विदेश नीति अपरिवर्तित रही। *अप्रैल, 1985* में भारत ने पाकिस्तान को यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक वह पजाब के आतंकवादियों को सहायता देना बन्द नहीं करेगा तब तक उसके साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित नहीं *हो सकेंगे। राजीव गांधी ने पाकिस्तान से आग्रह किया कि वह अत्याधुनिक और* आक्रामक हथियारों की खरीद बन्द करके भारत की पहल पर सकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करे ताकि दोनों देशों के बीच विश्वास पैदा हो सके। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाने की खबरें भारत के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय है।

दूसरी ओर जनवरी, 1985 में भारत-पाक सयुक्त आयोग की तीन दिवसीय बैठक समाप्त हुई जिसमें दोनों देशों ने कृषि अनुसन्धान और विकास के क्षेत्र में आपसी सहयोग के समझौते पर हस्ताक्षर किए। साथ ही सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में आपसी आदान-प्रदान बढ़ाने तथा यात्रियों को नई सुविधाएँ देने के सम्बन्ध में समझौतों के प्रारूप को अन्तिम रूप दिया गया। व्यापार बढ़ाने के बारे में बैठक में विशेष प्रगति हुई। दोनों देशों में दूर-संचार सुविधाएँ बढ़ाने पर भी सहमति हुई।

1 अगस्त, 1985 को भारत व पाकिस्तान ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि दोनों देशों के बीच व्यापक समझौता होना चाहिए ताकि भारत-पाकिस्तान युद्धवर्जन सधि प्रस्ताव की परिधि बढ़ाई जा सके। 23 दिसम्बर, 1985 को भारत व पाकिस्तान के मध्य नई सचार व्यवस्था आरम्भ हो गई। इसमें दोनों देशों

के बीच दूर संचार सम्पर्क का स्तर और ऊँचा उठ गया। 18 नवम्बर, 1985 को मस्कट में पाकिस्तान के राष्ट्रपति और भारत के प्रधानमन्त्री के बीच चर्चाएँ हुईं। यह उनकी चौथी बैठक थी। दोनों ने द्विपक्षीय समस्याओं तथा सहयोग के क्षेत्रों पर विचार किया।

17 दिसम्बर, 1985 को जनरल जिया की भारत यात्रा के अवसर पर दोनों देशों ने इस बात की पुष्टि की कि परमाणु बम बनाने का उनका कोई विचार नहीं है। एक-दूसरे के परमाणु सयन्त्रों पर आक्रमण न करने को भी सहमत हो गए।

भारत व पाकिस्तान के मध्य 10 जनवरी, 1986 को पहली बार एक व्यापक व्यापारिक समझौता सम्पन्न हुआ। परिणामस्वरूप दोनों देशों के बीच आर्थिक सम्बन्धों में एक नए युग की शुरुआत हुई। पाकिस्तान ने पिछले सात वर्षों से लगा प्रतिबन्ध हटाकर अपने निजी क्षेत्र को भारत से 42 वस्तुएँ आयात करने की अनुमति प्रदान की। सहमति-पत्र में कहा गया कि दोनों देशों के बीच सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा व्यापार को पहले से दुगुना किया जाएगा। 18 जनवरी, 1986 को भारत व पाकिस्तान ने एक-दूसरे के परमाणु सयन्त्रों पर आक्रमण न करने सम्बन्धी दस्तावेजों का इस्लामाबाद में आदान-प्रदान किया।

1987 के प्रारम्भ से ही भारत-पाक सीमा पर सैनिक जमाव चिन्ताजनक रूप से बढ़ने लगा। पंजाब सीमा पर पाकिस्तानी सेना के जमाव से पैदा खतरे को ध्यान में रखते हुए भारत ने भी पंजाब सीमा पर अपनी सेना तैनात कर दी। कुछ समय बाद राजस्थान सीमा पर भी इसी तरह सेना तैनात कर दी गई और वायु-सेना व नौ-सेना को भी सतर्क (रेड अलर्ट) रहने को कहा गया। अन्ततः 2 मार्च को भारत व पाकिस्तान के बीच राजस्थान सैक्टर में अपनी सेनाओं को 'सामान्य शान्ति क्षेत्र' में वापस लौटाने पर समझौता हो गया और समझौते के अनुरूप नियत अवधि के भीतर सेनाएँ पीछे हटाने का कार्य शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया। सितम्बर, 1987 के अन्तिम चरण में जम्मू-कश्मीर के सियाचीन क्षेत्र में पाकिस्तान की एक पूरी बटालियन ने भारतीय अग्रिम चौकियों पर आक्रमण किया किन्तु उसे उलटे पाँव लौट जाना पड़ा।

कुछ क्षेत्रों में सामान्य सम्बन्ध प्रक्रिया में सुधार होने के बावजूद दोनों देशों के बीच मौलिक मतभेद अभी पूर्ववत् हैं। दोनों देशों की अपनी विवशताएँ हैं। भारत के सामने चीन के दबाव से बचने की विवशता है जिसका एकमात्र हल एक सशक्त प्रतिरक्षा व्यवस्था है। गुट-निरपेक्ष होने के कारण भारत सोवियत संघ तथा अमेरिका के सैनिक गुटों में से किसी की भी शरण नहीं ले सकता। दूसरी ओर पाकिस्तान की विवशता यह है कि वह कश्मीर के अधिकृत प्रदेश भारत को नहीं लौटा सकता, साथ ही अफगानिस्तान के भीतर पाक सीमा पर सोवियत सेनाओं का जमाव उसके लिए एक खतरनाक स्थिति है। सोवियत संघ किसी भी समय पाकिस्तान को लाँघकर अरब सागर तक पहुँचना चाहेगा क्योंकि उसे अमेरिका की टक्कर की नौ-सैनिक शक्ति बनने के लिए गरम पानी के बन्दरगाह की आवश्यकता

है। ऐसी स्थिति मे एक ओर वह भारत से डरता है कि भारत शक्ति द्वारा कश्मीर का पाक अधिकृत क्षेत्र उससे वापस लेने की कोशिश करेगा, दूसरी ओर वह सोवियत सघ से डरता है। इन्ही कारणो से उसे अमेरिका की शरण मे जाना पडा है और वह परमाणु बम बनाने की दिशा मे तेजी से अग्रसर है। भारत-पाक तनाव स्वाभाविक है, यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्त्व शक्ति-सघर्ष की माँग है। दोनो देशो को इस स्थिति मे ही जीना-सीखना होगा। वे एक-दूसरे का पडोस नही छोड सकते, सघर्ष भी नही।

भारत और श्रीलंका

भारत के दक्षिण की ओर हिन्द महासागर मे स्थित श्रीलका राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण द्वीप है। भारत और श्रीलका के सम्बन्धो मे उतार-चढाव आते रहे है। उन्होने पारस्परिक विवादो को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाया है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भारत ने श्रीलका के आर्थिक विकास मे सहायता दी। 1955 के बाण्डु ग-सम्मेलन मे दोनो देशो ने एक-दूसरे के साथ सहयोग किया। 1962 मे भारत पर चीनी आक्रमण के सन्दर्भ मे श्रीलका ने निष्पक्ष नीति का अवलम्बन न कर भारतीय भावनाओ को ठेस पहुँचाई, तथापि प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायके ने तटस्थ देशो का कोलम्बो सम्मेलन के आयोजन और सम्मेलन द्वारा पारित कोलम्बो प्रस्तावो के सम्बन्ध मे पीकिंग तथा दिल्ली की यात्राओ द्वारा भारत-चीन विवाद का शान्तिपूर्ण हल खोजने की चेष्टा द्वारा भारत का समाधान कर दिया। 1965 मे दोनो देश तब अधिक निकट आ गए जब श्रीलका के तत्कालीन प्रधानमन्त्री सेनानायके ने भारत के न्यायोचित पक्ष का समर्थन किया और चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने तथा कोलम्बो प्रस्तावो को न मानने के लिए उसकी निन्दा की। 1970 मे नेतृत्व पुन. श्रीमती भण्डारनायके के हाथ मे आया। मई, 1971 मे उनकी सरकार को उग्रवादी वामपंथियो के व्यापक विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसे दबाने के लिए उन्हे भारत की सहायता लेनी पड़ी। भारत के हेलीकोप्टरो ने श्रीलका के अनेक भागो मे गश्त लगाई और भारतीय जहाज श्रीलका के बन्दरगाह पर लगर डाले खडे रहे ताकि श्रीलका सरकार को शान्ति और सुरक्षा की स्थापना मे आवश्यक सहायता प्राप्त हो सके। भारत ने श्रीलका को शस्त्रो की सहायता भी दी।

दोनो देशो के सम्बन्ध उत्तरोत्तर सुधरते गए। श्रीमती गाँधी ने अप्रेल, 1972 मे श्रीलका की यात्रा की और सयुक्त विज्ञप्ति मे दोनो प्रधान मन्त्रियो ने स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर दोनो देशो के विचार एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। दोनो देशो के बीच आर्थिक सहयोग सहित अनेक विषयो पर विचार-विमर्श के लिए एक भारतीय प्रतिनिधि मण्डल ने अक्तूबर, 1973 मे श्रीलका की यात्रा की। जनवरी, 1973 मे श्रीमती भण्डारनायके भारत आई।

23 अप्रेल, 1976 को भारत और श्रीलका के बीच एक सीमा सम्बन्धी समझौता हुआ जो शीघ्र ही दोनो देशो द्वारा पुष्टि-पत्रो के आदान-प्रदान के साथ

लागू हो गया। भारत और श्रीलका के बीच स्थल सीमा नही है, केवल समुद्र है। अत. यह सीमा समझौता वस्तुत समुद्री सीमा विषयक समझौता है। दोनो देशो ने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक देश के तट के 200 मील तक का समुद्री क्षेत्र उसका आर्थिक क्षेत्र होगा और जहाँ दोनो के बीच की दूरी 200 मील से कम होगी वहाँ दोनों की बीच की रेखा सीमा होगी। अगस्त, 1976 मे गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन के सम्बन्ध मे प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री ने कोलम्बो की यात्रा की जिससे दोनों देशो के सोहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध और दृढ हुए। भारतीय मूल के व्यक्तियों के सम्बन्ध के 1964 के समझौते के अन्तर्गत 31 दिसम्बर, 1976 तक 2,37,390 व्यक्ति भारत प्रत्यावर्तित किए गए और 1,35,680 व्यक्ति श्रीलका मे नागरिको के रूप में पजीकृत किए गए।

मार्च, 1977 मे जे आर. जयवर्धन श्रीलका के प्रधानमन्त्री बने। दोनो देशो के बीच 1977 मे ही एक सास्कृतिक करार पर हस्ताक्षर हुए और भारत ने सामूहिक उपयोग की अनिवार्य वस्तुओ तथा मध्यवर्ती साज-सामान की खरीद के लिए श्रीलका को 7 करोड रुपये का ऋण दिया। श्रीलका के सशोधित सविधान के अन्तर्गत जयवर्धन प्रथम कार्यकारी राष्ट्रपति बनाए गए। अक्तूबर, 1978 मे राष्ट्रपति जयवर्धन की यात्रा और फरवरी, 1979 मे प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई की श्रीलका यात्रा से दोनो देशो के सम्बन्धो मे विद्यमान सौहार्द्रता परिलक्षित हुई। दोनों पक्षो ने यह स्वीकार किया कि दोनों देशों के बीच अब कोई समस्या नही है। जनवरी, 1980 मे श्रीमती गांधी के पुन सत्तारूढ होने के बाद से दोनो देशों के सम्बन्ध और अधिक सुदृढ हुए। 1980 मे राष्ट्रपति जयवर्धन ने अपने विदेश मन्त्री के साथ भारत की यात्रा की।

श्रीलका मे भारतीय मूल के राज्यविहीन व्यक्तियों के कारण उठने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भारत और श्रीलका निरन्तर कोशिश करते रहे तथापि यह हल नही हो पाई।

1964 और 1974 के देश प्रत्यावर्तन समझौते पर अमल करके श्रीलका के तमिल लोगों की समस्या बहुत हद तक सुलझाई जा चुकी थी। भारत और श्रीलका की सरकारें राज्यविहीन व्यक्तियो की समस्या के बारे मे एक-दूसरे से निकट सम्पर्क बनाए हुए थी। 1983 मे श्रीलका मे भारतीय मूल के निवासियो की समस्या ने अचानक ही तूल ले लिया और सैंकडो मासूम तमिल जनो की हत्या कर दी गई और 50 हजार से भी अधिक लोग शरणार्थी बन गए। हजारों मकानो-दुकानों को लूट लिया गया। स्वाभाविक था कि भारतीय मूल के निवासियो के सकट पर भारत अपनी चिन्ता व्यक्त करता। घटनाएँ सामान्य दर्जे की नही थी। भारतीय राजनयिकों और कर्मचारियों के घरो पर हमला किया गया। हत्याओं का दौर जोर पकडता गया और ऐसे समाचार प्रकाशित हुए कि दगो पर काबू पाने के लिए श्रीलका ने अमेरिका, ब्रिटेन, पाकिस्तान, बगलादेश आदि से सैनिक सहायता मांगी। सिंहली राष्ट्रपति श्री जयवर्धन ने यहाँ तक कह दिया कि—"यदि सयोगवश भारत आक्रमण करता है तो सम्भव है कि हम पराजित हो जाएँ लेकिन

लड़ेंगे शान से।" अगस्त, 1983 में राष्ट्रपति जयवर्धन के भाई एच. डब्ल्यू. जयवर्धन ने भारत में श्रीमती गांधी से और फिर भारत के विशेष दूत श्री पारथसारथी ने राष्ट्रपति जयवर्धन से बातचीत की। किन्तु समस्या का कोई हल नहीं निकल सका। जनवरी, 1984 में श्री पारथसारथी तीसरी बार श्रीलंका गए। उनकी इस यात्रा के परिणामस्वरूप तमिल यूनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ने राष्ट्रपति जयवर्धन द्वारा प्रस्तावित सर्वदलीय सम्मेलन में हिस्सा लेना स्वीकार किया। लेकिन यह सम्मेलन किसी ठोस नतीजे पर नहीं पहुँच सका और वर्ष के अन्त में बातचीत खत्म हो गई।

श्रीलंका की सरकार ने एक-के-बाद-एक कई असाधारण कदम उठाए, जैसे भारत और श्रीलंका के बीच नौकाओं के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। भारत सरकार ने श्रीलंका की सरकार को सूचित किया कि उसका यह कदम भारत-श्रीलंका समुद्री सीमा समझौते के विरुद्ध है और इससे भारतीय मछुआरों को परेशानी हो सकती है जो कि परम्परा से अपनी नौकाएँ इस समुद्र में ले जाते रहे हैं। बाद में श्रीलंका की नौसैनिक नौकाओं द्वारा भारतीय मछेरों को परेशान करने, धमकियाँ देने और उन पर आक्रमण की घटनाएँ हुईं। भारत की सरकार ने इन घटनाओं के बारे में श्रीलंका से विरोध प्रकट किया। श्रीलंका सरकार ने कोलम्बो स्थित अमेरिकी राजदूतावास में इजरायल के हितों की देखभाल करने वाले एक अनुभाग की स्थापना की घोषणा की और इजरायली आसूचना सगठन तथा ब्रिटिश सुरक्षा विशेषज्ञों की सेवाएँ हासिल की। श्रीलंका में विदेशी सुरक्षा और आसूचना सगठनों के प्रवेश से भारत को चिन्ता हुई।

भारत की दिलचस्पी श्रीलंका की जातीय समस्या सुलझाने में थी, इसका सीधा असर उस पर पड़ रहा है। 40,000 से ज्यादा तमिल श्रीलंका से भागकर भारत आ गए, उसने उन्हें मानवीय आधार पर आश्रय दिया। भारत ने इस बात पर बल दिया कि श्रीलंका की जातीय समस्या अनिवार्यतः एक राजनीतिक समस्या है और इसे शान्तिपूर्वक बातचीत द्वारा श्रीलंका की एकता और प्रादेशिक अखण्डता बनाए रखते हुए राजनीतिक स्तर पर निपटाया जाना चाहिए।

राष्ट्रपति जयवर्धन 30 जून 1984 को जब भारत की राजकीय यात्रा पर आए तो उन्हें बहुत साफ तौर पर बताया गया कि भारत की नीति श्रीलंका के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नहीं है और वह श्रीलंका की अखण्डता के लिए प्रतिबद्ध है और वह चाहता है कि इस समस्या का कोई राजनीतिक समाधान शीघ्र खोजा जाए जो सभी सम्बद्ध पक्षों को स्वीकार्य हो। परन्तु समस्या का कोई हल नहीं निकला तथा इसको लेकर भारत और श्रीलंका के मध्य तनाव बना रहा। श्रीलंका सरकार के प्रधानमंत्री श्री आर. प्रेमदास ने जब यह आरोप लगाया कि भारत श्रीलंका की जातीय समस्या को हल करने में सबसे बड़ी बाधा है तथा वह पृथक् तमिल राज्य की माँग करने वाले उग्रवादियों को तमिलनाडु में शरण दे रहा है, तो यह तनाव और भी बढ़ गया।

श्रीलका की नौसेना ने भारतीय मछुआरो को तग करना शुरू कर दिया। जनवरी, 1985 मे श्रीलका की एक गश्ती नौका ने भारतीय जल सीमा के भीतर प्रवेश करके मछुआरो पर आक्रमण किया जिससे दो मछुआरे मारे गए। मछुआरो द्वारा सरकार से सरक्षण की माँग करने पर एक भारतीय जलपोत ने श्रीलका की एक सशस्त्र गश्ती नौका को भारतीय जल सीमा मे पकड लिया। श्रीलका सरकार ने इस कार्यवाही पर आपत्ति की। जनवरी के अन्त मे भारत ने श्रीलका के नाविकों को रिहा कर दिया। उससे पूर्व श्रीलका ने 20 मछुआरो को रिहा कर दिया था।

3 जून, 1985 को नयी दिल्ली मे प्रधानमन्त्री राजीव गांधी और राष्ट्रपति जयवर्धन के बीच इस समस्या पर लम्बी बातचीत शुरू हुई। दोनो पक्षों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि हर प्रकार की हिंसा को पहले कम और फिर समाप्त किया जाए। इससे भी स्थिति मे कोई अन्तर नही आया।

15 जनवरी, 1986 को दोनो देशो के बीच एक समझौता सम्पन्न हुआ जिसमे तय किया गया कि श्रीलका फरवरी, 1986 मे 94 हजार नागरिकताविहीन तमिलों को श्रीलका की नागरिकता प्रदान करेगा। भारत ने 5,06,000 लोगो को नागरिकता प्रदान करने की वचनबद्धता दोहराई है। इसमे भारत 86 हजार लोगो को भारतीय नागरिकता प्रदान करेगा। इस प्रकार यह समस्या तो हल हो गई परन्तु श्रीलका के तमिलों की श्रीलका मे स्वतन्त्र तमिल राज्य की माँग पूर्ववत बनी रही।

उधर तमिल उग्रवादियो ने उत्तरी श्रीलका के जाफना प्रान्त पर शासन वल मे अधिकार जमा लिया तथा सरकार ने सेना के बल पर तमिल उग्रवादियो के दमन और जाफना पर फिर से नियन्त्रण की कार्यवाई शुरू करदी। सैनिक हमले मे जाफना मे भारी सख्या मे लोग हताहत हुए। भारत ने श्रीलका सरकार से इस पर अपना विरोध प्रकट करते हुए जाफना के हताहतो के लिए राहत सामग्री भेजने का निश्चय किया। राहत सामग्री लेजाने वाले भारतीय जहाजो को श्रीलका की नौसेना ने रोक दिया। भारत सैनिक टकराव की किसी भी स्थिति से बचना चाहता था, साथ ही राहत सामग्री पहुँचाना भी आवश्यक था। अत. भारतीय वायुसेना ने आकस्मिक पहल कर राहत सामग्री जाफना में गिराई। इस पर श्रीलका और भारत के बीच 15 जून 1987 को कोलम्बो मे इस समझौते पर हस्ताक्षर हुए कि भारतीय राहत सामग्री की जाँच भारतीय रेडक्रास व श्रीलका सरकार के अधिकारी करेंगे, तत्पश्चात् उसे शस्त्रहीन भारतीय नौकाएँ श्रीलका की तटीय जल सीमा तक ले जाएँगी। वहाँ से ये नौकाएँ श्रीलका की नौसेना के सरक्षण मे जाफना व सम्बद्ध तटो पर पहुँचाई जाएँगी। सामग्री वितरण के कार्य को भारतीय रेडक्रास व श्रीलका के अधिकारियों की देखरेख मे किया जाएगा।

भारत-श्रीलका समझौता, जुलाई 1987

अन्ततः भारत के प्रधानमत्री राजीव गांधी 29-30 जुलाई, 1987 को श्रीलका की 2 दिन की राजकीय यात्रा पर कोलम्बो गये जहाँ उन्होंने श्रीलका के

राष्ट्रपति जयवर्द्धन के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते से 4 वर्ष से चली आ रही तमिल समस्या का समाधान होने की आशा उत्पन्न हो गयी क्योंकि समझौते के अन्तर्गत समाविष्ट नई व्यवस्था को सभी तमिल गुटों ने स्वीकार कर लिया था।

समझौते की मुख्य बातें

1 श्रीलंका के पूर्वी और उत्तरी प्रान्तों को मिलाकर एक इकाई बनाई जायेगी जिसकी पुष्टि जनमत सग्रह के आधार पर होगी। जनमत संग्रह 31 दिसम्बर 1988 तक होना है।

2 इस जनमत सग्रह की निगरानी श्रीलंका के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में गठित एक 3 सदस्यीय समिति करेगी।

3 उत्तरी और पूर्वी प्रान्तीय परिषदों के चुनाव 31 दिसम्बर, 1987 तक पूर्ण कर लिये जायेंगे। इसके लिये भारतीय प्रेक्षक बुलाये जायेंगे।

4. 15 अगस्त, 1987 तक पूर्वी तथा उत्तरी प्रान्तों में आपात् स्थिति समाप्त कर दी जायेगी।

5 सारी श्रीलंका में आम माफी की घोषणा की जायेगी और सब राजनीतिक बंदी रिहा कर दिये जायेंगे।

6 उग्रवादी तमिल गुट हथियार डाल देंगे और श्रीलंका के सैनिक बैरकों में वापस चले जायेंगे।

7 भारत सरकार इस समझौते को लागू करने की गारटी देती है और

(क) श्रीलंका के विरुद्ध किसी भी कार्यवाही के लिए भारत सरकार अपने क्षेत्र के प्रयोग की अनुमति नहीं देगी।

(ख) भारतीय नौसेना श्रीलंका के विरुद्ध की जाने वाली किसी भी उग्रवादी कार्यवाही को रोकेगी।

(ग) इन प्रस्तावों को लागू करने के लिये यदि श्रीलंका सरकार भारत से सहायता माँगेगी तो भारत सरकार सहायता देगी।

(घ) भारत तथा श्रीलंका सरकारें तमिलों और सिंहलियों की सुरक्षा की गारटी देंगी।

8 श्रीलंका की सरकारी भाषा सिंहली, तमिल और अंग्रेजी होगी।

सभी तमिल क्रान्तिकारी सगठनों ने इस समझौते का स्वागत किया और श्रीलंका सरकार की प्रार्थना पर भारत ने लगभग 3 हजार सैनिक भेज दिये जो युद्ध-विराम की देखभाल करने लगे। इन्हीं सैनिकों की उपस्थिति में तमिल छापामारों ने बड़ी सख्या में हथियारों का समर्पण किया। परन्तु अन्तरिम प्रशासन के गठन को लेकर सबसे बड़े सशस्त्र तमिल गुट लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (लिट्टे) ने समझौते का उल्लंघन करके छापामार युद्ध पुनः शुरू कर दिया। भारतीय शान्ति-सेना के सामने यह एक विकट स्थिति थी। श्रीलंका की शान्ति और समझौते का पालन कराने की जिम्मेदारी भारतीय शान्तिसेना पर थी, इस कारण

लिट्टे को नियन्त्रित करना, उसे नि शस्त्र करना तथा लिट्टे द्वारा नियंत्रित उत्तरी और पूर्वी प्रान्तों को उसके नियन्त्रण से मुक्त कराना भारतीय शान्ति सेना के लिए अनिवार्य हो गया।

इस जिम्मेदारी को भारत ने स्वीकार किया, हालांकि यह एक विचित्र स्थिति थी। भारत न श्रीलका के तमिलो के हिमायती और सहायक के नाते श्रीलका मे अपनी सेना शान्तिसेना के रूप मे भेजी थी और अब वह स्थिति आई जब उसे उस तमिल गुट के विरुद्ध हथियार उठाने पडे जिसके हाथो मे वह श्रीलका के तमिलों का भाग्य सौपने की तैयारी कर रहा था।

5 अक्टूबर, 1987 को भारतीय शान्ति-सेना ने लिट्टे के विरुद्ध कार्यवाही शुरू कर दी तथा अगले दो महीने के कठोर सघर्ष के पश्चात् वह लिट्टे-नियन्त्रित उत्तरी तथा पूर्वी श्रीलका को मुक्त कराने में बडी सीमा तक सफल रही।

नवम्बर, 1987 के मध्य मे श्रीलका ससद् ने समझौते के प्रावधानों के अनुसार श्रीलका के सविधान मे सशोधन करके उत्तरी तथा पूर्वी प्रान्तो की स्वायत्तता और प्रान्तीय परिषदो का प्रावधान कर दिया।

भारत और नेपाल

ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से भारत और नेपाल अति निकट पड़ौसी है। आर्थिक विकास की आवश्यकताओ के कारण भी दोनों मे मैत्री स्वाभाविक है। 31 जुलाई, 1950 की सन्धि द्वारा दोनो देश निश्चय कर चुके थे कि वे शान्ति और मैत्री की नीति का अनुसरण करेंगे। दोनो मे एक व्यापारिक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि नेपाल अपना विदेशी व्यापार भारतीय क्षेत्र से होकर सुचारु रूप से कर सकेगा। नेपाल मे कुछ भारत विरोधी तत्त्व पहले ही विद्यमान थे। साम्यवादी चीन भी अपने प्रभाव-विस्तार के लिए भीतर ही भीतर नेपाल मे भारत-विरोधी भावनाओ को प्रोत्साहन दे रहा था। अत नेपाल मे यह विचार बल पकडने लगा कि नेपाल को भारत और चीन के मध्य एक अवरोधक (बफर) राज्य की भूमिका निभानी चाहिए। भारत ने नेपाली राजनीति मे कोई हस्तक्षेप नही किया। भारत नेपाल को आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के लिए सभी प्रकार से सहयोग प्रदान करता रहा, परन्तु नेपाल का झुकाव चीन की ओर बढता गया। भारत के विरोध के बावजूद राजा महेन्द्र ने काठमाण्डू-ल्हासा सडक मार्ग बनाने के सम्बन्ध मे चीन से समझौता किया। 1962 मे भारत पर चीनी आक्रमण के प्रति भी नेपाल ने तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया और इस प्रकार आक्रमणकारी चीन का परोक्ष समर्थन किया।

1964 मे प्रधानमन्त्री शास्त्री ने नेपाल यात्रा की और दोनो देशों के बीच सम्बन्धों मे कुछ सुधार हुआ। राजा महेन्द्र भारत आए और राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् नेपाल गए। 1 सितम्बर, 1964 को एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने 9 करोड रुपयो की लागत मे नेपाल के लिए एक 128 मील लम्बी

सड़क बनाने का निर्णय किया। काठमाण्डू से भारतीय सीमा रक्सौल को जोड़ने वाली एक अन्य सड़क-योजना भी भारत ने अपने हाथ में ली। 1965 में श्री शास्त्री ने कोसी-योजना के पश्चिमी नहर कार्य का उद्घाटन किया। योजना का उद्देश्य नेपाल को बाढ़ की क्षति से बचाना और बिजली तथा सिंचाई से लाभ पहुँचाना था। दिसम्बर, 1965 में नेपाल नरेश ने भारत-यात्रा की और एक संयुक्त विज्ञप्ति द्वारा स्वीकार किया कि भारत की सहायता से नेपाल में चल रहे विकास-कार्यों की प्रगति सन्तोषजनक है।

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने भी पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति जारी रखी। अक्तूबर, 1971 में दोनों देशों के बीच कोसी नया गण्डक परियोजनाओं के निर्माण के लिए समझौता हुआ। जनवरी, 1972 में राजा महेन्द्र की मृत्यु हो गई और उनके बाद राजा वीरेन्द्रशाह गद्दी पर बैठे। भारत-नेपाल के विकास कार्यक्रमों में रुचि लेता रहा। राजा वीरेन्द्र का रवैया भारतीय उदारता के बावजूद कई दृष्टियों से अखरने वाला था। 1973 में उन्होंने नई भौगोलिक स्थिति की घोषणा करते हुए कहा कि नेपाल भारतीय उपमहाद्वीप का अंग नहीं है। सितम्बर, 1974 में राजा वीरेन्द्र ने सिक्किम को भारत के अन्तर्गत राज्य का दर्जा दिए जाने का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। काठमाण्डू स्थित चीनी दूतावास द्वारा भारत के विरुद्ध बुलेटिन निकाले गए। नेपाल सरकार की चुप्पी ने चीनी दूतावास द्वारा भारत-विरोधी प्रचार को बढ़ावा दिया। नेपाल के भारतीय स्वयं को असुरक्षित महसूस करने लगे। इन घटनाओं को भारत सरकार ने अत्यन्त गम्भीरता से लिया। शीघ्र ही नेपाल सरकार ने समझ लिया कि भारत के सहयोग और समर्थन के बिना गाड़ी चलना कठिन है। नवम्बर, 1974 के लगभग नेपाली पत्र 'मदरलैंड' ने कहा कि विश्व के 'लैंण्ड लाक्ड' देशों को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वही नेपाल को मिलनी चाहिए। राजनीतिक क्षेत्रों के अनुसार भारतीय विदेश मन्त्री चह्वाण ने नेपाली प्रधानमन्त्री श्री रिजाल को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत नेपाल की हर प्रकार से सहायता देने को तैयार है, किन्तु व्यापार एवं बन्दरगाह सुविधाओं को अधिकार के रूप में नहीं माँगा जाना चाहिए। नेपाल को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह इस महाद्वीप की रक्षा-व्यवस्था का एक अंग है। भारत के कड़े रुख को देखकर नेपाल के महाराजा ने प्रत्यक्ष और कूटनीतिक क्षेत्रों के माध्यम से भारत से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह किया। 1975 में दोनों देशों के बीच सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे। नेपाल नरेश भारत आए।

वर्ष 1976 में दोनों देशों के सम्बन्धों की दिशा में काफी ठोस कार्य हुआ। राजनीतिक और सरकारी स्तर पर कई यात्राएँ हुई जिनसे दोनों सरकारों के बीच लगातार वार्ता का अवसर प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि नेपाल के जो नागरिक भारत के सुरक्षित प्रतिबन्धित क्षेत्रों का दौरा करना चाहेंगे उन्हें दूसरे विदेशी नागरिकों के समकक्ष ही माना जाएगा और इस प्रकार उन्हें भी इस उद्देश्य के लिए अनुमति-पत्र (परमिट) प्राप्त करना होगा। 1976–77 में

नेपाल की विकास योजनाओं के सहायता अनुदान के रूप में बजट में 10 करोड़ रु की राशि की व्यवस्था की गई। मार्च, 1978 में नेपाल के साथ व्यापार और पारगमन के लिए अलग-अलग सन्धियाँ तथा अनधिकृत व्यापार पर नियन्त्रण के लिए सहयोग के सम्बन्ध में अन्तर-सरकारी करार के सम्पन्न होने से भारत और नेपाल के बीच सद्भावनापूर्ण वातावरण तैयार हुआ।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भी दोनों देशों का सहयोग बढ़ता रहा। आर्थिक सहयोग भारत-नेपाल संबंधों का एक सुदृढ़ आधार बना रहा। अनेक ऐसी योजनाएँ तैयार की गईं जिनके लिए भारत ने सहायता देना मंजूर किया। सितम्बर, 1982 में भारत ने नेपाल के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर करके तात्कालिक आधार पर नेपाल को चावल देना स्वीकार किया। 1983 में भारत-नेपाल व्यापार-सन्धि का काल अगले 5 वर्ष के लिए बढ़ाया गया। इसी तरह अनधिकृत व्यापार पर नियन्त्रण से सम्बद्ध करार का काल भी मार्च, 1988 तक के लिए बढ़ाया गया। दोनों देशों के बीच एक अन्य करार पर भी हस्ताक्षर किए गए जिसका सम्बन्ध दूर संचार से था।

मार्च, 1984 में नेपाल नरेश ने 14.1 मेगावाट क्षमता वाली देवीघाट पन बिजली परियोजना का उद्घाटन किया जिसका निर्माण भारत की सहायता से किया गया था और जिस पर 49 करोड़ की लागत आई थी। काठमाण्डू में वीरेन्द्र पुलिस अस्पताल का भी उद्घाटन किया गया जिसकी साज-सज्जा भारत की सहायता से की गई थी। भारत ने नेपाल में बने उन पदार्थों की संख्या बढ़ा दी जो भारत में प्रवेश के लिए वरीयता पाने के योग्य हों। खेलों के क्षेत्र में, भारत ने नेपाल के साथ व्यापक सहयोग किया और सितम्बर, 1984 में काठमाण्डू में दक्षिण एशियाई संघीय खेलों का आयोजन करवाने में नेपाल की मदद की।

'सार्क' के अन्तर्गत दोनों देशों के बीच सहयोग का द्विपक्षीय सम्बन्धों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। भारतीय सहायता से क्रियान्वित विभिन्न परियोजनाओं पर काम बराबर चलता रहा जिनमें महेन्द्र राजमार्ग के पश्चिम क्षेत्र का निर्माण, हिटोडा स्थित वानिकी संस्थान में एक संग्रहालय, पुस्तकालय एवं प्रलेखन केन्द्र की स्थापना, काठमाण्डू स्थित वीर अस्पताल के चिकित्सा-कार्मिकों को प्रशिक्षण तथा इस अस्पताल के लिए उन्नत चिकित्सा उपकरणों की सप्लाई, आयोनिकृत नमक की सप्लाई, आयोनीकरण संयन्त्र की स्थापना में सहायता और एक ग्रामीण विद्युतीकरण परियोजना शामिल है। नेपाल के वित्त एवं उद्योग राज्य मन्त्री की भारत यात्रा के दौरान दोनों देशों में इस बात पर सहमति हुई कि नेपाल में भारत-नेपाल संयुक्त उद्यमों को प्रोत्साहन दिया जाएगा। यह भी फैसला हुआ कि भारत द्वारा नेपाल को दिए जाने वाला 15 करोड़ रुपये का उद्यत उधार (स्टैण्ड बाई क्रेडिट) बढ़ा कर 25 करोड़ रुपये कर दिया जाए। जनवरी, 1987 में विदेश मन्त्री श्री नारायण दत्त तिवारी की यात्रा के दौरान राज-विराज में एक लघु उद्योग बस्ती की स्थापना के लिए एक नई परियोजना पर सहमति हुई। इस यात्रा के दौरान दोहरे कर से बचने से सम्बन्धित करार पर भी हस्ताक्षर हुए।

भारत और भूटान

भूटान 1971 से पूर्व तक भारत का 'सरक्षित किन्तु स्वतन्त्र राज्य' था, किन्तु 1971 मे भारत ने इस देश की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया। भारत के सहयोग से भूटान ने 1971 मे सयुक्त राष्ट्र-सघ मे प्रवेश किया। भूटान की विदेश नीति भूटान की सहमति से अभी तक भारत द्वारा ही सचालित होती रही है। दोनो देशों के बीच समानता के सम्बन्ध है। सयुक्त राष्ट्रसघ मे भूटान और भारत की नीति एक-सी रही है। 1949 मे दोनो देशो के बीच एक मैत्री और शान्ति सन्धि द्वारा यह निश्चय हुआ था कि भारत भूटान के आंतरिक मामल मे कोई हस्तक्षेप नही करेगा और भूटान के सम्बन्धों तथा प्रतिरक्षा का दायित्व भारत पर रहेगा। भारत भूटान के योजनाबद्ध विकास मे निरन्तर सहायता कर रहा है। भूटानी योजनाओं का लगभग 95 प्रतिशत व्यय भारत ही वहन करता रहा है। दोनो देशो के उच्चस्तरीय अधिकारी एक-दूसरे के यहाँ आते जाते रहते है। भूटान नरेश ने अनेक बार भारत की यात्रा की है।

योजना प्रक्रिया मे भूटान के शामिल हो जाने के बाद भूटान की अर्थव्यवस्था के विकास की दिशा मे भारत ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1981–82 की अवधि मे भूटान की पचवर्षीय योजना मे भारत ने 134 करोड रुपये का योगदान किया। 1983 मे भारत और भूटान के बीच एक व्यापार-करार सम्पन्न हुआ ताकि दोनो देशों के बीच मुक्त व्यापार सुनिश्चित किया जा सके जिसकी गारण्टी 1949 मे सम्पन्न भारत-भूटान शक्ति मैत्री सधि मे दी गई है। *1984--85* के दौरान एक दूर सचार करार पर हस्ताक्षर किए गए जिसके बाद भारत भूटान माइक्रोवेव लिंक जो एक महत्त्वपूर्ण द्विपक्षीय परियोजना है, चालू हो गई। यह लिंक भूटान, भारत तथा तीसरे विश्व के बीच टेलीफोन द्वारा सचार की सुविधा प्रदान करता है और यह दोनों देशों की मैत्री का प्रतीक है।

भूटान की कोई 470 किलोमीटर सीमा तिब्बत के साथ लगती है परन्तु इसका कोई सीमाकन नही है। फलत प्राय. चीनी लोग भूटान की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। प्रारम्भ मे भारत ने चाहा था कि भूटान चीन सीमा-वार्ता मे वह भूटान की ओर से शरीक हो परन्तु चीन ने यह स्वीकार नही किया और भूटान ने भी अपनी ओर से इस पर बल नही दिया। भारत ने भूटान से माँग की है कि सीमा के प्रश्न पर चीन के साथ जो भी वार्ताएँ हो, उनके बारे मे उसे सूचित कर दिया जाय। वास्तव मे प्रतिरक्षा की दृष्टि से भूटान का भारत के लिए बहुत महत्त्व है वह, भारत से अलग रहते हुए भी भारत के साथ जुडा है। 8 दिसम्बर, 1985 को सार्क घोषणा पर दक्षिण एशिया के जिन सात पड़ोसी देशों ने हस्ताक्षर किए उनमें भूटान भी शामिल है।

आर्थिक क्षेत्र मे दोनो देशो के बीच सहयोग निरन्तर सवर्द्धित हुआ। 244 करोड़ रुपये की लागत से बनाई जाने वाली 336 मेगावाट की चुखा पनबिजली परियोजना के पहले और दूसरे यूनिटो को सफलतापूर्वक चालू किया गया और

इसकी बिजली का भारत के पूर्वी विद्युत् जाल से तालमेल बैठाया गया। थिम्पू और फुन्तसोलिंग के अतिरिक्त पश्चिम बंगाल और असम के हिस्सों को भी चुखा से बिजली मिलनी शुरू हो गयी है। उम्मीद की जाती है कि इसकी बाकी दो यूनिटें भी मार्च, 1988 तक चालू हो जाएँगी। 1974 के चुखा करार के अनुसार भारत सरकार इस बात के लिए वचनबद्ध है कि इस परियोजना से भूटान की अपनी जरूरत को पूरा करने के बाद बचने वाली अतिरिक्त बिजली वह खरीद लेगी। पूर्वी भूटान में डुंगसुम (नागलम) सीमेंट संयंत्र परियोजना की वित्तीय व्यवस्थाओं के लिए भूटान को सहायता देने का प्रस्ताव है। नागलम संयंत्र में सीमेंट का जितना भी अतिरिक्त उत्पादन होगा वह भारत के उत्तर-पूर्वी राज्यों को भेजा जाएगा।

यह भी प्रस्ताव है कि भूटान की छठी योजना (1987-92) के दौरान भारत भूटान आर्थिक सहयोग को जारी रखा जाए। भूटान की आधारभूत संरचना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विभिन्न आकारों की विभिन्न परियोजनाओं में तथा दूरसंचार, सड़क-निर्माण, भौगोलिक अनुसन्धान तथा सिंचाई कार्य आदि के क्षेत्रों में भारतीय एजेंसियाँ कार्यरत रही हैं।

इसके अलावा, भारत भूटान को माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा और रक्षा, पुलिस, सीमा शुल्क, औषधियाँ इत्यादि जैसे विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्टीकृत प्रशिक्षण के लिए बराबर अवसर उपलब्ध कर रहा है। भारत ने इस उद्देश्य के लिए 14 लाख रुपये की छात्रवृत्तियाँ दी हैं। भूटान के अनुरोध पर भारत भूटान को गेहूँ, चावल, चीनी, कोयला, विस्फोटक पदार्थ, इस्पात तथा खाद्य तेल जैसी कुछ आवश्यक वस्तुओं को उचित दर की कीमतों पर सप्लाई करता रहा है।

भारत और बंगलादेश

वैधानिक दृष्टि से बंगलादेश का उदय 6 दिसम्बर, 1971 को हो गया था, जब भारत ने उसे मान्यता प्रदान कर दी थी। व्यावहारिक दृष्टि से बंगलादेश 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका में पाक सेना द्वारा आत्मसमर्पण करने पर अस्तित्व में आया। बंगलादेश के मुक्ति-संग्राम और उदय में भारत ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई एवं उसमें दोनों देशों के बीच मैत्री बढ़ती गई। भारत और बंगलादेश के सम्बन्ध उतार-चढ़ाव के बावजूद कुल मिलाकर सामान्य और मधुर रहे हैं। प्रारम्भ से ही भारत ने बंगलादेश को विभिन्न रूपों में आर्थिक सहायता दी है और दोनों के बीच संस्कृति, शिक्षा, विज्ञान और प्राविधिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ा है। फरक्का पर गंगा के पानी के बंटवारे के सम्बन्ध में तथा उसके प्रवाह को बढ़ाने के सम्बन्ध में समझौते और शान्तिपूर्ण वार्ताएँ हुई हैं।

नवोदित न्यूमूर द्वीप पर भारत के अधिकार पर बंगलादेश ने आपत्ति की। भारत ने बंगलादेश को इस द्वीप पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए आँकड़े दिए और यह सिद्ध कर दिया कि न्यूमूर द्वीप भारतीय क्षेत्र में है। फिर भी यह विवाद अभी दोनों देशों के बीच तनाव का एक बिन्दु है। जनवरी, 1982 में बंगलादेश के सचिव की भारत यात्रा के अवसर पर दोनों पक्षों ने न्यूमूर द्वीप जल सीमांकन और तीन बीघे के पट्टे की शर्तों पर विचार-विमर्श किया।

दोनो देशो के बीच उच्च और सर्वोच्च स्तर पर कूटनीतिक और मैत्रीपूर्ण यात्राएँ होती रही हैं। 8 नवम्बर, 1983 को दोनो देशो के बीच आन्तरिक जल पारगमन एव व्यापार के सम्बन्ध मे एक नए प्रोतोकोल पर हस्ताक्षर किए गए। नई दिल्ली मे 17 सितम्बर, 1974 को सचिव स्तर की वार्ता की समाप्ति पर आन्तरिक जल परिवहन निगम व्यापार प्रोतोकोल पर हस्ताक्षर किए गए। बगलादेश के साथ हमारे द्विपक्षीय सम्बन्धो मे यद्यपि धीरे-धीरे सुधार हुआ है खास तौर पर आर्थिक सहयोग के क्षेत्र मे लेकिन कुछ समस्याएँ भी बनी रही है। इनका ताल्लुक निम्नलिखित विषयो से है—फरक्का मे गगा के प्रवाह को बढाना, बगलादेश से बड़े पैमाने पर भारत मे घुसपैठ, भारत बगलादेश सीमा पर बाड लगाकर और अधिक घुसपैठ को रोकने के हमारे निर्णय पर बगलादेश की प्रतिक्रिया उन भारतीय राष्ट्रो के दावो के निपटाने की समस्या जिनकी सम्पत्ति पहले के पूर्व पाकिस्तान और अब बगलादेश सरकार ने निहित सम्पत्ति के रूप मे ले थी और तीन बीघा गलियारे को पट्टे पर बगलादेश को देना।

फरक्का मे गगा नदी के जल के बँटवारे पर भारत और बगलादेश के बीच सहमति के नवीनतम समझौते पर 22 नवम्बर, 1985 को नई दिल्ली मे हस्ताक्षर हुए। समझौते मे कहा गया कि दोनो देशो के विशेषज्ञ प्राप्त जल स्रोतो का सयुक्त रूप से अध्ययन करेगे। आपसी हित के लिए इन जल स्रोतो को विकल्प के रूप मे कैसे उपयोग किया जा सकता है, इस पर भी विचार होगा। फरक्का पर गगा जल के बहाव मे वृद्धि की लम्बी अवधि की योजनाएँ शामिल है। विशेषज्ञो का एक सयुक्त दल स्वयं ऐसे तरीके खोजेगा जिससे कि यह कार्य 12 माह मे पूरा हो जाय। यह भी तय किया गया कि अगर आगामी तीन शुष्क मौसमो के दौरान किसी भी मौसम मे पानी का बहाव बहुत ही कम रहता है तो दोनो सरकारे तत्काल परामर्श करेंगी और इस बात का निर्णय करेंगी कि दोनो देशो पर पडने वाले बोझ को कैसे कम किया जाए। भारत व बगलादेश इस बात पर भी सहमत हो गए कि सर्वाधिक कमी वाले मौसम के दौरान जो 21 से 30 अप्रैल तक होता है, फरक्का से अस्थाई तौर पर 55000 क्यूसेक पानी जारी किया जाएगा इसमे बगलादेश को 34,500 क्यूसेक व भारत को 20,500 क्यूसेक पानी मिलेगा।

जुलाई, 1986 मे बगलादेश के राष्ट्रपति इरशाद 'सार्क' के अध्यक्ष की हैसियत से भारत की यात्रा पर आए और उन्होने भारत के प्रधानमन्त्री के साथ अपनी बैठक मे द्विपक्षीय मसलो पर व्यापक विचार-विमर्श किया। नवम्बर, 1986 मे यह फैसला किया गया कि गगा जल से सम्बन्धित सयुक्त विशेषज्ञ समिति का कार्यकाल 6 महीने के लिए और बढा दिया जाय।

1986 मे ही तूफान पीडितो की सहायता और उनके पुनर्वास के लिए भारत ने तूफान से प्रभावित न होने वाले 100 शरण गृह बनाकर बगलादेश को सौंपे। अप्रैल, 1986 से बगलादेश के चटगाँव पहाडी क्षेत्रो से चकमा शरणार्थी त्रिपुरा मे आते जा रहे हैं और करीब 30,000 चकमा शरणार्थियो को त्रिपुरा मे

चार शरणार्थी शिविरो मे रखा गया है। भारत सरकार बगलादेश की सरकार से बराबर सम्पर्क बनाए हुए है तथा उससे यह अनुरोध करती आ रही है कि वह इन शरणार्थियो को उनके अपने-अपने घरो मे वापस भेजने मे मदद करे। 6 से 9 जनवरी, 1987 तक भारत के विदेश मन्त्री बगलादेश की यात्रा पर गए तथा उन्होने 'सार्क', नदी जल, तीन बीघा, सीमा को चिह्नित करने, चकमा शरणार्थियो, विद्रोहियो की सम्पत्तियो तथा आर्थिक सहयोग जैसे सभी महत्त्वपूर्ण मसलो पर बातचीत की।"

भारत और चीन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भारत और चीन दो घनिष्ठ मित्रो के रूप मे उदय हुए थे, लेकिन 1962 में चीन ने भारतीय सीमान्तो पर आकस्मिक आक्रमण कर इस मित्रता को भग कर दिया। आज भी चीन भारत की कुछ भूमि पर अधिकार जमाए हुए है।

नेहरू-युग मे भारत-चीन सम्बन्ध (1947–मई, 1964)

चीन के प्रति मैत्री और तुष्टिकरण की नीति—भारत ने साम्यवादी चीन के प्रति प्रारम्भ से ही मैत्री की नीति अपनाई। उसने चीन को मान्यता प्रदान की और सयुक्त राष्ट्रसघ मे उसके प्रवेश का जोरदार समर्थन किया। अक्तूबर, 1950 मे ही तिब्बत म प्रवेश कर चीन ने अपने वास्तविक इरादों का सकेत दे दिया था, लेकिन भारत ने चीनी इरादो को समझने मे भूल की। जब भारत सरकार ने तिब्बत में उसके प्रवेश की ओर चीनी सरकार का ध्यान आकर्षित किया तो 30 अक्तूबर, 1950 को चीन की ओर से भारत को कठोर शब्दो मे उत्तर दिया गया—'पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत, चीन के अन्तर्देशीय मामलों मे हस्तक्षेप करने का साहस न करे।" भारत की तुष्टिकरण की नीति की हद तब हो गई जब 29 अप्रैल, 1954 को चीन के साथ एक व्यापारिक समझौता कर भारत ने तिब्बत मे प्राप्त अपने बहिर्देशीय अधिकार (Extra Territorial Rights) चीन को सौप दिए और बदले मे स्वय कुछ भी प्राप्त नही किया। इस समझौते की प्रस्तावना मे दोनो देशो ने पचशील के सिद्धान्तो मे विश्वास प्रकट किया था। इन्ही सिद्धान्तों का 1953 मे बाण्डुग सम्मेलन मे विस्तार किया गया। 1954 मे चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई भारत आए, और अक्तूबर, 1954 में प नेहरू ने चीन की यात्रा की।

भारत-चीन सीमा-विवाद—(चीन विभिन्न रूपो मे भारत के साथ सीमा-विवाद उठाता रहा था। 20 अक्तूबर, 1962 को तो उसने भारत पर विशाल पैमाने पर आकस्मिक आक्रमण ही कर दिया। प नेहरू की आशाओ और नीतियो पर यह घातक चोट थी।) उल्लेखनीय है कि भारत और चीन के बीच व्यावहारिक रूप से मान्य सीमा को मैकमोहन रेखा (McMohan Line) के नाम से जाना जाता है। अप्रैल, 1914 मे भारत और तिब्बत तथा तिब्बत और चीन के बीच

सीमा-निर्धारण के लिए शिमला में एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत सचिव आर्थर हेनरी मेकमोहन ने भाग लिया। इस सम्मेलन की निष्पत्ति स्वरूप शिमला सन्धि में तय हुआ कि (1) तिब्बत पर चीन का आधिपत्य रहेगा, लेकिन बाह्य तिब्बत (Outer Tibet) को अपने कार्य में पूरी स्वतन्त्रता होगी, (2) चीन तिब्बत के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा, एवं (3) तिब्बत को चीन अपने राज्य का प्रान्त कभी घोषित नहीं करेगा। बाह्य तिब्बत और भारत के बीच ऊँची पर्वत श्रेणियों को सीमा मानकर एक नक्शे को लाल से चिह्नित कर दिया गया, जिसमें तीनों प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हुए। इसी सीमा को मेकमोहन रेखा की संज्ञा दी गई। जब कभी सीमा-विवाद उठा तो चीन ने इसी रेखा का समर्थन किया। 1959 से पूर्व उसने इस विषय में कोई आपत्ति नहीं उठाई। भारत-चीन सीमा-विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में यह भी ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि भारत को स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ-साथ उत्तराधिकार के रूप में तिब्बत में अनेक बहिर्देशीय अधिकार भी प्राप्त हुए थे। साम्यवादी चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता और भारत के बहिर्देशीय अधिकारों का कोई सम्मान न कर 7 अक्तूबर, 1950 को तिब्बत में अपने सैनिक भेज दिए। भारत द्वारा इस ओर ध्यान आकर्षित किए जाने पर 30 अक्तूबर को चीन ने कठोर शब्दों में इसकी उपेक्षा की। चीन ने जो नए नक्शे प्रकाशित किए उसमें भारत की लगभग 50 हजार वर्गमील सीमा चीनी प्रदेश के अन्तर्गत दिखाई और नेहरू द्वारा यह प्रश्न उठाए जाने पर चीनी प्रधान मन्त्री ने कहा कि ये नक्शे राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शों की नकल हैं, समय मिलते ही इन्हें ठीक कर दिया जाएगा। चीन भारत के साथ सुनियोजित ढंग से अपने विवादों को उग्रतर बनाता रहा और भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा। जुलाई, 1962 में गलवान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी को चीनियों ने घेरे में ले लिया। सीमान्त पर चीनी सैनिक कार्यवाही बढ़ने लगी और भारतीय सैनिक चौकियों को घेरा जाने लगा। फिर 20 अक्तूबर, 1962 को प्रातःकाल भारत की उत्तरी सीमा के दोनों आँचलों पर चीन ने भीषण आक्रमण कर दिया। भारतीय सेनाएँ इस आकस्मिक आक्रमण से सम्भले तब तक चीन ने काफी भारतीय भूमि और सैनिक चौकियों पर कब्जा कर लिया।

चीनी आक्रमण, 1962—भारत द्वारा सम्भल कर प्रत्याक्रमण करने से पूर्व ही चीन ने अकस्मात् ही 21 नवम्बर, 1962 को एक पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। इसके साथ ही चीन ने एक त्रि-सूत्रीय योजना भी घोषित की—(1) चीनी सेनाएँ 7 नवम्बर, 1959 की 'वास्तविक नियन्त्रण रेखा' (Actual Line of Control) से 20 किलोमीटर अपनी ओर हट जायेंगी। सेना का हटना एक दिसम्बर से प्रारम्भ होगा। (2) चीनी सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमें चीन सरकार अपनी असैनिक चौकियाँ कायम करेगी। चीन की ओर से भारत सरकार को इन शर्तों को मान लेने को कहा गया कि वह अपनी सेनाओं

को भी 7 नवम्बर, 1959 की रेखा से 20 किलोमीटर अपने ही क्षेत्र में और हटा ले। विपरीत परिस्थितियों में भारत ने बिना स्वीकारोक्ति के चीन की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा को मान लिया, किन्तु द्वि-सूत्रीय योजना को अस्वीकृत करते हुए घोषित किया कि जब तक चीनी सेनाएँ 8 सितम्बर, 1962 की स्थिति तक नहीं लौट जाती तब तक दोनों देशों के बीच कोई वार्ता सम्भव नहीं है। 8 सितम्बर, 1962 की यह रेखा वह थी जिसके उत्तर में चीनी सेनाएँ आक्रमण से पहले स्थित थी जबकि चीन द्वारा बताई गई 7 नवम्बर, 1959 की वास्तविक नियन्त्रण रेखा वह थी जहाँ तक आक्रमण के बाद भी चीनी फौजें नहीं पहुँच पाई थी।

कोलम्बो प्रस्ताव और चीन का दुराग्रह—चीन के आक्रमण ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के विरुद्ध आलोचनाओं को प्रोत्साहित किया किन्तु नेहरू जी ने पुनः इस नीति में गहरी आस्था प्रकट की। अवश्य ही अब भारत की विदेश नीति में यथार्थवाद की ओर झुकाव शुरू हुआ। दिसम्बर, 1962 में श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र और घाना ने भारत-चीन वार्ता के लिए कोलम्बो-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें यह निश्चय किया गया कि सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत और चीन जाकर अपना प्रस्ताव प्रस्तुत करें तथा दोनों देशों के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करें। श्रीमती भण्डारनायके स्वयं कोलम्बो प्रस्ताव लेकर पीकिंग और नई दिल्ली गईं। 29 जनवरी, 1963 को ये प्रस्ताव प्रकाशित कर दिए गए जिसके मूल तत्त्व ये थे—

(1) युद्ध-विराम का समय भारत-चीन विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए उपयुक्त है, (2) चीन पश्चिमी क्षेत्र में अभी अपनी सैनिक चौकियाँ 20 किलोमीटर हटा ले, (3) भारत अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति कायम रखे, (4) विवाद का अन्तिम हल होने तक चीन द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनिक रहे जिसकी निगरानी दोनों पक्षों द्वारा नियुक्त गैर-सैनिक चौकियाँ करें, (5) पूर्वी नेफा क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्य वास्तविक नियन्त्रण रेखा युद्ध-विराम रेखा का रूप ले, शेष क्षेत्रों के बारे में दोनों देश भावी वार्ताओं में निर्णय करें, (6) मध्यवर्ती क्षेत्र का समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से किया जाए। कोलम्बो प्रस्तावों का वास्तविक उद्देश्य भारत और चीन के बीच गतिरोध की स्थिति समाप्त कर वार्तालाप का द्वार खोलना था। चीन ने यह आश्वासन दिया कि वह कोलम्बो प्रस्तावों को स्वीकार कर लेगा। स्पष्टीकरण के बाद भारत ने प्रस्तावों पर विधिवत् अपनी सहमति दे दी। तब चीन ने कुछ ऐसी शर्तें जोड दी कि जिनसे प्रस्ताव व्यवहारतः महत्वहीन हो गया और चीन की अपरोक्ष स्वीकृति भी स्पष्ट हो गई। चीन ने तटस्थ देशों के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि कोलम्बो प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाएँ।

नासिर प्रस्ताव (1963) व अन्य प्रस्ताव—भारत-चीन विवाद के गतिरोध को दूर करने के लिए 3 अक्तूबर, 1963 को मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने एक

प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें दूसरे कोलम्बो सम्मेलन के आयोजन का सुझाव दिया गया, किन्तु इस प्रस्ताव का भी कोई परिणाम नहीं निकला। मई, 1964 में श्री नेहरू की मृत्यु पर श्री चाऊ-एन-लाई ने अपना शोक सन्देश भेजा जिसमें यह भी कहा गया कि भारत और चीन के विवाद अस्थायी हैं जिनका समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से होना चाहिए।

शास्त्री काल में भारत-चीन सम्बन्ध
(मई, 1964-जनवरी, 1966)

पं. जवाहरलाल नेहरू के बाद 10 जनवरी, 1966 तक लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधान मन्त्री रहे। इस काल में भी भारत और चीन के सम्बन्धों में कोई सुधार न आ सका। 1965 के भारत-पाक युद्ध में चीन ने अपना शत्रुतापूर्ण रवैया प्रदर्शित किया। चीन ने पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया और भारत को आक्रामक घोषित किया। धमकी द्वारा भारत को पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध से विमुख करने का खेल भी खेला गया। 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया कि—"तीन दिन के भीतर भारत सिक्किम-चीन सीमा पर गैर-कानूनी ढंग से स्थापित 56 सैनिक प्रतिष्ठानों को हटा लें अन्यथा इसका नतीजा बहुत बुरा होगा।" पत्र में यह माँग की गई कि भारत सीमा पर अपने सभी अतिक्रमण तुरन्त बन्द कर दे, अपहृत सीमा-निवासियों तथा पकड़े हुए मवेशियों को लौटा दे अन्यथा गम्भीर परिणामों के लिए भारत सरकार पूरी तरह से उत्तरदायी रहेगी। महाशक्तियों ने अविलम्ब चीन को चेतावनी दी कि वह आग के साथ खिलवाड़ न करे। उधर चीनी अल्टीमेटम के जवाब में 17 सितम्बर को श्री शास्त्री ने लोकसभा में कहा कि सिक्किम-तिब्बत सीमा पर भारत के अतिक्रमण की बात गलत है और भारतीय प्रदेश पर चीन का दावा हमें स्वीकार नहीं है। चीन की सैनिक शक्ति भारत को अपनी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा से विचलित नहीं कर सकती। चीन ने सीमा पर सैनिक गतिविधियाँ आरम्भ कर दी। 19 सितम्बर को अल्टीमेटम की अवधि फिर तीन दिन के लिए बढ़ा दी, किन्तु बड़े पैमाने पर चीन ने कोई सैनिक कार्यवाही करने का साहस नहीं किया। 23 सितम्बर को भारत-पाक युद्ध-विराम हो जाने पर पीकिंग रेडियो ने यह नाटकीय घोषणा की कि "भारतीय सैनिक प्रतिष्ठानों को तोड़कर चीनी सैनिक अपनी सीमा में वापस लौट गए हैं।"

इन्दिरा काल में भारत-चीन सम्बन्ध
(जनवरी, 1966 से मार्च, 1977)

भारत-पाक युद्ध में विजय से भारत की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और चीन कुछ समय तक सीमा पर विशेष गड़बड़ी रोकने से रुका रहा। सितम्बर व अक्तूबर 1967 में चीन ने नाथू-ला के भारतीय प्रदेश पर आक्रमण कर दिया, लेकिन भारी हानि उठाकर उसे पीछे हटना पड़ा। 2 अक्तूबर, 1967 को चीनियों ने चोला की भारतीय चौकी पर अचानक हमला किया, किन्तु फिर गहरी क्षति उठाकर अपने नापाक इरादों से उन्हें हाथ धोना पड़ा। विदेशों की राजधानियों में दोनों

देशों के राजदूतों का सम्पर्क बढ़ने लगा। फिर भी चीन की ओर से सम्बन्ध सुधार के कोई ठोस प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं हुए। 4 अगस्त, 1971 को राज्य सभा में भारतीय विदेश मन्त्री सरदार स्वर्ण सिंह ने कहा—"भारत चीन के साथ सम्बन्धों में सुधार का स्वागत करता है, लेकिन जब तक चीन की ओर से उचित प्रत्युत्तर नहीं मिलता, हम अकेले कुछ नहीं कर सकते।" सितम्बर, 1971 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश की बात उठी और भारत ने चीन की सदस्यता का पूर्ण समर्थन किया। दोनों देशों के बीच राजदूतों को नियुक्त करने की बात भी उठी और दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध छिड़ गया जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में पुन तनाव उत्पन्न हो गया। बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन में भारत का सहयोग चीन को अच्छा नहीं लगा। चीन ने भारत के सहयोग को पाकिस्तान के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप बताया। अगस्त, 1971 की भारत-सोवियत सन्धि ने चीन को और भड़का दिया। दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान सुरक्षा परिषद् की बैठकों में चीनी प्रतिनिधि ने पाकिस्तान का साथ देने में कोई कसर नहीं रखी और भारत को आक्रमणकारी घोषित कर दिया।

चीन के प्रसार-साधन भारत के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण प्रचार करते रहे। चीन सरकार ने 29 अप्रैल, 1975 को एक वक्तव्य प्रसारित किया जिसमें कहा गया कि भारतीय संघ में सिक्किम को राज्य का दर्जा प्राप्त होना 'अवैध अधिग्रहण' है। भारत सरकार ने इसे अपने आन्तरिक मामले में चीन का हस्तक्षेप बताया। चीन बराबर यह दावा करता रहा कि भारत अपने पड़ोसियों के प्रति 'आधिपत्य और विस्तारवादी आकांक्षाएँ' रखता है और चाहता है कि वह सोवियत संघ के समर्थन से एक 'उप-महादेश' बन जाए। भारत सरकार चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए सुसंगत नीति का अनुसरण करती रही। वर्ष 1976 भारत और चीन के बीच सम्बन्ध सुधार का सन्देश लेकर आया। अप्रैल, 1976 में भारत ने चीन में अपना राजदूत नियुक्त किया और सितम्बर, 1976 में चीनी राजदूत ने दिल्ली में अपने परिचय-पत्र प्रस्तुत किए। अक्तूबर-नवम्बर, 1976 में चीन की बैडमिण्टन टीम की भारत-यात्रा और दिसम्बर, 1976 में एक गैर-सरकारी भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल की चीन यात्रा से दोनों देशों के बीच बढ़ते हुए सम्बन्ध की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई।

जनता शासन-काल में भारत-चीन सम्बन्ध
(अप्रैल, 1977–1979)

भारत का एक गैर-सरकारी व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल अप्रैल, 1977 में 'कैण्टन-स्प्रिंग फेरी' में सम्मिलित हुआ। करीब 15 वर्ष बाद दोनों देशों के बीच सीधा व्यापार फिर से आरम्भ होने से दोनों देशों के बीच बैंकिंग सुविधाओं और मालवाहक जहाजों के आवागमन को प्रोत्साहन मिला। कृषि, खनन, वन-विज्ञान, चिकित्सा, जन-स्वास्थ्य और खेल-कूद जैसे विभिन्न क्षेत्रों में भी आदान-प्रदान किया गया। फरवरी, 1978 में चीन के एक व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल ने भारत

की यात्रा की। मार्च, 1978 में चीन के एक गैर-सरकारी सद्भावना प्रतिनिधि-मण्डल ने भारत की यात्रा की। भारत के विदेश मन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी ने 12 से 18 फरवरी, 1979 तक चीन की यात्रा की। विदेश मन्त्री ने यह स्पष्ट बताया कि भारत को पाकिस्तान और चीन के बीच सामान्य द्विपक्षीय सम्बन्धों पर यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन भारत-चीन सम्बन्धों में सुधार की सम्भावनाओं पर तब इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा जब उनके पारस्परिक सम्बन्धों से भारत के वैध हितों पर कोई बुरा असर पड़ता हो। उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि चीन सरकार ने काश्मीर के प्रश्न पर जो रुख अपनाया है वह छठे दशाब्दी के स्वयं रवैये के विपरीत है तथा उससे चीन-भारत सम्बन्धों में एक अतिरिक्त और अनावश्यक पेचीदगी आ गई है। चीनी नेताओं के साथ अपनी बातचीत में विदेश मन्त्री ने इस बात पर बल दिया कि भारत-चीन सीमा प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान, पारस्परिक विश्वास की पुनर्स्थापना और चीन-भारत सम्बन्धों को पूरी तरह से सामान्य बनाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पीकिंग में अपनी बातचीत पूरी करने के बाद विदेश मन्त्री हाऊचो गए जहाँ 17 फरवरी को उन्हें वियतनाम पर चीनी आक्रमण की खबर मिली। उन्होंने तत्काल अपनी शेष यात्रा रद्द कर दी और तुरन्त भारत लौट आए। भारत सरकार ने वियतनाम पर चीनी आक्रमण का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया और कहा कि चीनी फौजों को वापस हटाना चाहिए। कुल मिलाकर जनता शासनकाल में भारत-चीन सम्बन्ध यथापूर्व बने रहे।

इन्दिरा-राजीव गाँधी काल

नवम्बर-दिसम्बर, 1979 में नयी दिल्ली में आयोजित भारत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेले में चीन ने काफी बड़े पैमाने पर भाग लिया। विभिन्न क्षेत्रों के अनेक भारतीय विशेषज्ञों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के अभिकरणों के तत्वावधान में चीन की यात्रा की। चीन के कई शिष्टमण्डल अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने भारत आए। श्री गोन्साल्वेज, सचिव (पूर्व) जब जून, 1980 के मध्य में पीकिंग की यात्रा पर गए तो भारत ने यह स्पष्ट कर दिया कि चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने की कार्यवाही किसी दूसरे देश के साथ अपनी मित्रता की कीमत पर नहीं की जाएगी। 1980 और 1981 के दौरान भारत और चीन के बीच सम्पर्क सूत्रों का विकास होता रहा। 1981 में सीमा विवाद सुलझाने की दिशा में नए प्रयास शुरू हुए और लगभग दो दशकों के बाद पीकिंग में 10 दिसम्बर से 15 दिसम्बर, 1981 तक चीन और भारत के प्रतिनिधि एक-दूसरे के आमने-सामने बैठकर दोनों देशों के बीच के सीमा विवादों को सुलझाने के प्रयास में जुटे रहे। 22 फरवरी, 1982 से भारत में 44 विकासशील देशों का जो तीन दिवसीय सम्मेलन आरम्भ हुआ उसमें चीन के उपमन्त्री ने भाग लिया। 22 अक्तूबर 1982 को चीन के शीर्षस्थ नेता श्री देंग जियाओपिंग ने पीकिंग में भारत के साथ बेहतर सम्बन्धों की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने कहा कि सीमा विवाद के बावजूद

दोनो देशो को एक-दूसरे से कोई खतरा नही है। श्री देग ने श्री जी पार्थसारथी के नेतृत्व मे एक भारतीय शिष्टमण्डल से बातचीत के दौरान कहा कि चीन व भारत के बीच एक ही समस्या है और वह है सीमा की समस्या। यह समस्या 1962 के युद्ध के बाद पैदा हुई है। यदि दोनो देश समुचित कदम उठाते है तो इस प्रश्न को हल करना मुश्किल नही है। 23 अक्तूबर, 1982 को पीकिंग मे चीनी प्रधान मन्त्री श्री झाओ जियॉग ने भारत-चीन समाज के एक प्रतिनिधि-मण्डल से कहा कि उनका देश भारत के साथ सीमाविवाद के हल का इच्छुक है।

सीमा के सवाल पर और द्विपक्षीय सम्बन्धो के विकास के बारे मे बातचीत का तीसरा दौर 20 जनवरी से 2 फरवरी, 1983 तक पीकिंग मे हुआ। सीमा के सवाल पर बातचीत को सुविधाजनक बनाने और समाधान के अनुकूल वातावरण का सृजन करने के उद्देश्य से भारत ने ठोस सुझाव देने के प्रयत्न किए। लेकिन सीमा के सवाल पर प्रगति वस्तुतः नही हुई। विभिन्न क्षेत्रो के प्रतिनिधि-मण्डलो का आना-जाना जारी रहा।

1983 के मध्य चीन और भारत के सम्बन्धो मे पुन तनाव बढ गया। चीन की अन्तर्राष्ट्रीय विषयो सम्बन्धी पत्रिका मे भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्व जवाहरलाल नेहरू एव तत्कालीन प्रधानमन्त्री के राजनीतिक तथा व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे कुछ आपत्तिजनक बाते प्रकाशित की गई। पिकिंग मे भारतीय दूतावास के कडे विरोध पर इस आलेख की अगली शृ खला को प्रकाशित न करने का निर्णय किया गया लेकिन दलील दी गई कि चीन मे प्रकाशन सम्बन्धी स्वतन्त्रता है जिसके तहत ऐसे विचारो की अभिव्यक्ति के लिए सरकार की जिम्मेवारी नही। दोनो देश के बीच अधिकारी स्तरीय वार्ता का चौथा दौर सम्पन्न हुआ। सीमा विवाद की समस्या यथापूर्व बना रही लेकिन अन्य क्षेत्रो मे दोनो देशो मे सहयोग और सम्बन्ध सुधार के क्षेत्र बढे। दोनो देशो के बीच वार्ता का पाँचवा दौर 17 से 22 दिसम्बर, 1984 तक पीकिंग मे सम्पन्न हुआ। सीमा के प्रश्न पर कोई सहमति नही हो सकी, तथापि दोनो देश के बीच एक दूसरे के यहाँ सस्कृतिक मण्डलियाँ भेजने, प्रदर्शनियाँ लगाने और शिक्षाविदो तथा अध्येताओ के आदान प्रदान पर सहमति हुई। वैज्ञानिक एव प्रायोगिक विनिमय का एक कार्यक्रम भी तैयार किया गया। 15 अगस्त, 1984 को पीकिंग मे भारत चीन व्यापार करार पर भी हस्ताक्षर किए गए। दोनो देशो के बीच 1976 मे राजदूतो के आदान प्रदान के बाद सरकार से सरकार के स्तर का यह पहला करार था। चीन सरकार ने श्रीमती गाँधी की मृत्यु पर शोक व्यक्त किया और चीन के उप प्रधानमन्त्री तथा दूत यायोयालिन श्रीमती गाँधी के अन्तिम सस्कार के भाग लेने के लिए भारत आए।

चीन के प्रधानमन्त्री ने राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्री का पद सम्भालने और सरकार के गठन के अवसर पर अपना बधाई सन्देश भेजा। नवम्बर 1985 मे नई दिल्ली मे भारत और चीन वार्ता का छठा दौर सम्पन्न हुआ। पूर्वी क्षेत्र मे सीमा निर्धारण के प्रश्न पर कुछ प्रगति हुई, पश्चिमी क्षेत्रो म ऐसा कुछ नही हुआ।

दोनो देशों के बीच पश्चिमी क्षेत्र का अधिक महत्त्व है। यही पर लद्दाख मे चीन ने अक्साई चिन सडक बनाई है। पाकिस्तान व भारत की सेनाओं के बीच सियाचिन ग्लेशियर पर झड़पें हुई हैं। चीन चाहता है कि पाकिस्तान उस पर कब्जा करके उसे दे दे। इससे सिंक्यांग मे व रूस के विरुद्ध अपनी सामरिक स्थिति मजबूत करने का अवसर मिलेगा। वार्ता की प्रगति की रफ्तार निश्चय ही बहुत धीमी है। अन्य क्षेत्रो मे दोनो पक्ष आपसी सम्बन्ध बढाने को सहमत हो गए। दोनो देशो की मान्यता है कि सीमा के प्रश्न अन्य क्षेत्रो में सम्बन्ध सुदृढ करने के मार्ग मे बाधक नही बनने चाहिए। वार्ता के इस दौर की एक अच्छी उपलब्धि बीजिंग मे भारतीय दूतावास के लिए भूमि प्राप्त करने के लिए लम्बे विवाद का सुलझ जाना थी। 1967 मे चीन ने भारतीय दूतावास की जो सम्पत्ति जब्त की थी उनका मुआवजा देने का भी निर्णय हो गया। चीन भारतीय दूतावास के लिए 3400 वर्ग मीटर भूमि देने को सहमत हो गया है। यह भूमि दीर्घकालीन पट्टे पर बाजार से सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराई जाएगी। 23 नवम्बर, 1985 को भारत व चीन के बीच एक व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इसके अन्तर्गत वर्ष 1986 के दौरान दोनो देशोमे 10 से 14 करोड का व्यापार होना तय किया गया। इस समय व्यापार सन्तुलन चीन के पक्ष मे था। 1984-85 मे भारत ने चीन से 65 55 करोड रुपये का माल आयात किया था जबकि उसका निर्यात केवल 2 12 करोड रुपये का था। नए समझौते से व्यापार सन्तुलन स्थापित होने की आशा प्रकट की गई।

अधिकारी स्तर की वार्ता का 7वाँ दौर 21 से 23 जुलाई, 1986 तक बीजिंग मे हुआ। सीमा सम्बन्धी मसले पर, नयी दिल्ली में नवम्बर, 1985 मे वार्ता के छठे दौर मे शुरू किया गया। सारभूत विचार-विमर्श पूर्व और पश्चिम क्षेत्रों के सम्बन्ध मे जारी रखा गया। हालांकि विचार-विमर्श किसी निष्कर्ष पर नही पहुँचा फिर भी एक-दूसरे के विचारो को और अधिक अच्छी तरह समझने का मौका मिला। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे आदान-प्रदान सम्बन्धी एक कार्यक्रम तय किया गया। सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम के कार्यान्वियन की भी समीक्षा की गयी। दोनो पक्षों ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार-विमर्श किया।

वार्ता के सातवें दौर मे चीन को अरुणाचल प्रदेश मे तवाग जिले के समुदोराग चू घाटी क्षेत्र मे उसकी घुसपैठ पर भारत की गहरी चिन्ता से भी अवगत कराया गया। इस बात पर बल दिया गया कि ऐसी घुसपैठ से तनाव बढता है और सीमा सम्बन्धी मसले के न्यायोचित और सन्तोषजनक हल की प्राप्ति सम्बन्धी वातावरण दूषित होता है। चीनी घुसपैठ का ममला 18 सितम्बर, 1986 को न्यूयार्क मे भारत के तथा चीन के विदेश मन्त्रियो की बैठक म भी उठाया गया।

अरूणाचल प्रदेश को राज्य का दर्जा दिए जाने पर चीन ने जो विरोध प्रकट किया था उसे भी भारत सरकार ने स्वीकार नही किया और कहा कि यह भारत के आन्तरिक मामलो मे खुल्लम-खुल्ला हस्तक्षेप है तथा यह सीमा सम्बन्धी

समस्या के शान्तिपूर्ण हल सम्बन्धी चीन की घोषणाओ के विपरीत है । भारत ने यह उम्मीद जाहिर की है कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के पांच सिद्धान्त दोनो देशो के बीच सम्बन्धो का आधार बने रहेंगे।

सरकारी आदान-प्रदान कार्यक्रम के अधीन दोनो देशो ने शिक्षा, छात्रवृत्ति, गलीचा प्रौद्योगिकी आदि जैसे क्षेत्रो मे बहुत से प्रतिनिधि मण्डल एक-दूसरे के देश को भेजे। चीन के उप शिक्षा मन्त्री के नेतृत्व मे एक शिक्षा प्रतिनिधि मण्डल भारत आया। सुप्रीम पीपुल्स कोर्ट आफ चाइना के अध्यक्ष ने भारत के मुख्य न्यायाधीश के आमन्त्रण पर भारत की यात्रा की।

वी के कृष्णामेनन सोसायटी के आमन्त्रण पर चीन अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना सघ के परिषद् सदस्य श्री ली बी हाई के नेतृत्व मे 28 नवम्बर से 5 दिसम्बर, 1986 तक पांच सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल ने भारत की यात्रा की। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सिस्ट) के आमन्त्रण पर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क विभाग के उपाध्यक्ष के नेतृत्व मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क विभाग के पांच सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल ने 19 से 31 दिसम्बर, 1986 तक भारत की यात्रा की। इस प्रतिनिधिमण्डल ने नई दिल्ली मे काग्रेस (आई) के नेताओ से भी विचार-विमर्श किया।

1987 के प्रारम्भ से ही चीन के रुख मे फिर अप्रत्याशित कठोरता आ गयी और भारत को 'सबक' सिखाए जाने के समाचार आने लगे। चीन ने कई बार आरोप लगाया कि भारतीय सेना वास्तविक नियन्त्रण रेखा का अतिक्रमण कर, चीनी क्षेत्र मे घुस आयी है, चीन के प्रवक्ता ने आरोप लगाया कि भारत बार-बार चीनी क्षेत्र मे घुस आता है और चीनी वायु सीमा का उल्लघन करता है तथा उसने सीमा पर अपना सैनिक जमाव भी बढा लिया है। विदेश मन्त्रालय के प्रवक्ता ने चीन के आरोप को बिल्कुल बेबुनियाद बताते हुए कहा कि भारत ने चीन की सीमा के निकट कोई सैनिक अभ्यास ही नही किया। भारतीय सेना को स्पष्ट निर्देश है कि वह भारत-चीन सीमा को पार न करे। 14 से 16 जून, 1987 तक भारत के विदेशमन्त्री की अनौपचारिक चीन यात्रा की और चीनी नेताओ से सीमा पर शान्ति बनाए रखने के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया। उन्होने कहा कि दोनों देश इस बात पर सहमत हैं कि सीमा पर शान्ति बनाए रखी जाए। उन्होने पश्चिमी प्रेस मे छपी खबरो को गलत बताया कि तिब्बत सीमा पर भारत व चीन के सैनिको के बीच झड़पें हो चुकी हैं।

मूल्यांकन

चीन कभी अरुणाचल तो कभी सिक्किम को लेकर विवाद के नए-नए बिन्दु उभारता रहता है। पाकिस्तान और अमेरिका के साथ चीन का जो गठबन्धन है उसका एक मुख्य पहलू भारत पर राजनीतिक और सैनिक दबाव बनाए रखना है। अब वह अटकलबाजी का विषय नही रहा है कि एशिया मे अमेरिका, चीन और पाकिस्तान का एक नया गठबन्धन उभर रहा है। इसका लक्ष्य सोवियत सघ के

प्रभाव क्षेत्र के विस्तार को रोकना, एशिया के छोटे एवं तटस्थ राष्ट्रों को डराए रखना तथा भारत पर दवाव बनाए रखना है। हाल में एशिया के इस क्षेत्र में बाहरी हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं। पाक अधिकृत कश्मीर में कराकोरम राजमार्ग के उत्तरी सिरे पर चीन द्वारा निर्मित 4620 मीटर लम्बा खुंजराब मार्ग विधिवत् खुल जाने से यात्रा और व्यापार की दृष्टि से चीन और पाकिस्तान एक-दूसरे के निकट आ गए हैं। पाकिस्तान को चीन से भारी मात्रा में हथियार मिलते रहे हैं। चीन पाकिस्तान को परमाणु-शक्ति सम्पन्न बनाने में भी मदद कर रहा है।

भारत-चीन अधिकारी स्तर की वार्ता का आठवाँ दौर 17 नवम्बर, 1987 को दिल्ली में सम्पन्न हो गया, परन्तु उससे भी भारत-चीन सीमा-विवाद सुलझाने की दिशा में लेशमात्र प्रगति नहीं हुई। चीन चाहता था कि पूर्वी क्षेत्र में दोनों देशों की सेनाओं को पीछे हटाकर एक असैन्यकृत क्षेत्र का निर्माण कर दिया जाए परन्तु भारत सोमदोरोंग चू घाटी में चीन के आक्रमण को भुला नहीं पाया तथा उसने यह खतरा उठाना ठीक नहीं समझा। इस वार्ता की एकमात्र उपलब्धि यह मानी जा सकती है कि दोनों पक्षों ने यह निश्चय किया कि जब तक सीमा-विवाद चर्चा द्वारा हल नहीं हो जाता तब तक सीमा पर शान्ति भंग नहीं की जाएगी।

भारत और पश्चिमी यूरोप (ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मन संघीय गणराज्य आदि)

पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ भारत के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण और सौहार्द्रपूर्ण हैं। पश्चिमी यूरोप की ओर से भारत को तथा भारत की ओर से पश्चिमी यूरोप की महत्त्वपूर्ण यात्राओं से इन सम्बन्धों को अधिक सुदृढ़ करने में सहायता मिली है। 1981--82 के दौरान भारतीय प्रधानमन्त्री ने फ्रांस, इटली और स्विट्ज़रलैण्ड की यात्रा की। ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री और स्पेन के सम्राट तथा साम्राज्ञी भारत आए। विदेश मन्त्रियों, संसदीय शिष्ट मण्डलों आदि की यात्राएँ भी सम्पन्न हुईं। पश्चिमी यूरोप भारत का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक भागीदार है और यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों के साथ उसका लगभग 30 प्रतिशत व्यापार है। भारत और पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों के बीच संयुक्त व्यापार परिषदें स्थापित हैं। जून, 1981 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय के साथ एक नए वाणिज्यिक और आर्थिक सहयोग के समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

1981--82 के दौरान बहुपक्षीय और द्विपक्षीय दोनों रूपों में पश्चिमी यूरोप, भारत के लिए विकास सहयोग सहायता का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत बना। भारत में तकनीकी और वित्तीय निवेशों का अधिकांश पश्चिमी यूरोपीय देशों की ओर से प्राप्त हुआ। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मन संघीय गणराज्य, नीदरलैण्ड्स, स्वीडन, डेनमार्क और नार्वे प्रमुख दाता थे। इनमें से कई देशों की ओर से जिन देशों को सबसे अधिक द्विपक्षीय सहायता प्राप्त हुई भारत उनमें एक था।

1982--83 के दौरान विभिन्न महत्त्वपूर्ण यात्राएँ हुईं। फ्रांस के राष्ट्रपति भारत की यात्रा पर आए। उनके अलावा यूरोपीय आर्थिक समुदाय आयोग के अध्यक्ष की भारत यात्रा, यूनान के राष्ट्रपति की भारत यात्रा, स्वीडन के प्रधान

और ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री तथा फ्रांस, डेनमार्क, यू. के. और आस्ट्रिया के विदेश मन्त्रियों की यात्राएँ भी महत्त्वपूर्ण रही। सरकारी और गैर-सरकारी दोनों स्तरों पर भारत और पश्चिमी यूरोप के देशों में सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और आर्थिक क्षेत्रों में व्यापक सम्पर्क स्थापित हुए। भारत और इटली के बीच एक संयुक्त कार्यपरिषद् की स्थापना हुई। पश्चिमी यूरोप व्यापार में भारत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साझेदार बना रहा। 1982–83 में ई. ई. सी. और भारत के बीच एक करार पर हस्ताक्षर हुए जिसमें नई दिल्ली में ई. ई. सी. के एक प्रतिनिधिमण्डल की स्थापना की व्यवस्था की गयी। बहुपक्षीय और द्विपक्षीय दोनों रूपों में भारत को विकास सहयोग सहायता का बहुत बड़ा भाग पश्चिमी यूरोपीय देशों से मिलता रहा।

1983–84 के दौरान पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बने रहे। कई महत्त्वपूर्ण यात्राएँ हुई। भारत को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष बनाए जाने का यूरोपीय देशों ने स्वागत किया। पश्चिमी यूरोप ने आर्थिक सहायता, प्रौद्योगिकी के अन्तरण तथा तकनीकी सहयोग के माध्यम से भारत के आर्थिक विकास में लगातार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आस्ट्रिया के संघीय चांसलर फ्रेड सिनोवत मार्च 1984 में भारत की सरकारी यात्रा पर आए। भारत और पश्चिम यूरोप के देशों के बीच मन्त्री स्तर पर कई यात्रायें भी की गयी। भारतीय चिन्ता का एक क्षेत्र यह तथ्य रहा कि सिक्ख उग्रवादियों ने पश्चिम यूरोप के कुछ देशों में विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन में शरण ली। पश्चिम यूरोप के सभी देशों ने स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या की एक स्वर से निन्दा की। कई प्रधानमन्त्री तथा अन्य उच्च स्तर के पदाधिकारी अन्त्येष्टि में भाग लेने के लिए दिल्ली आए।

वार्षिक रिपोर्ट 1986–87 के अनुसार—पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ भारत के सम्बन्ध निरन्तर सौहार्द्रपूर्ण और मैत्रीपूर्ण रहे। भारत की आन्तरिक राजनीतिक स्थिरता और ऋण देने की योग्यता से पश्चिमी यूरोपीय देशों में यह विश्वास सुदृढ़ हुआ कि भारत एशिया तथा विश्व के बढ़ते हुए महत्व का एक राष्ट्र है। अपनी उच्च निर्यात-निर्भर अर्थव्यवस्था की सहायता करने के लिए नए बाजारों की अपनी खोज में इन देशों ने इस प्रकार भारत को अपनी सूची में उच्च श्रेणी में रखा है। यूरोपीय समुदाय के बारह सदस्य हमारे व्यापार के प्रमुख भागीदार बन हुए हैं और औद्योगिक सहयोग निवेश और समुदाय के साथ सहयोग कर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में सहयोग के क्षेत्रों में सक्रिय रूप से पता लगाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त स्केन्डेनिवियाई देश भारत को विशेषकर समाजकल्याण, स्वास्थ्य और ग्रामीण विकास के क्षेत्रों में परियोजनाओं के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करते रहे। उच्च प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में इन देशों के साथ सहयोग करने की भारत के लिए पर्याप्त गुंजाइश है।

पश्चिमी यूरोप के देशों को भारतीय निर्यात् ने कुछ वृद्धि दिखाई परन्तु उत्पादों का क्षेत्र संकीर्ण रहा और व्यापार के सन्तुलन में घाटा बढ़ गया है। यद्यपि

भारत के लिए यह चिन्ता का विषय है तथापि इसका श्रेय अनुकूलन निवेश वातावरण, पूंजीगत माल के आयात और नई प्रौद्योगिकी के आयात के लिए हमारी आवश्यकता तथा समुदाय की सापेक्ष महत्व की नीतियो को भी दिया जा सकता है। इन पहलुओ पर जनवरी, 1987 मे ब्रूसेल्स मे हुई भारत-यूरोपीय आर्थिक समुदाय सयुक्त आयोग की बैठक के दौरान विस्तार से विचार-विमर्श किया गया। भारत और यूनान, स्वीडन, स्पेन तथा आस्ट्रिया के बीच सयुक्त आर्थिक एव व्यापार समितियो की बैठके 1986 मे हुई। पण्य की मात्रावार भारतीय निर्यात के विस्तार पर ध्यान केन्द्रित किया गया। अद्यतन प्रौद्योगिकी के आयात और वापस क्रय सम्बन्धी प्रबन्ध के साथ सयुक्त सहयोग स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

वर्ष 1986--87 के दौरान कई उच्च स्तर की यात्राएँ की गयी। भारत के राष्ट्रपति ने यूनान की यात्रा की जब द्विपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के बारे मे विचारो का व्यापक आदान-प्रदान किया गया। भारत के उप-राष्ट्रपति ने भारत महोत्सव के समापन समारोहो मे भाग लेने के लिए फ्रास की यात्रा की। जर्मन सघीय गणराज्य के चासलर कोहल, तुर्की और इटली के प्रधानमन्त्री तुर्गट ओज़ाल और बेनितोक्रेजी और डेनमार्क के पाल श्लूतेर की भारत यात्राओ से नया प्रोत्साहन मिला और इन देशो के साथ हमारे सम्बन्धो मे अधिकाधिक आर्थिक और वाणिज्यिक विषय जोड दिए गए। फिनलैण्ड के राष्ट्रपति मोनोको काईविस्तो फरवरी, 1987 मे चार दिन की राजकीय यात्रा पर भारत आए। उनके प्रतिनिधि मण्डल मे अन्य व्यक्तियो के अलावा फिनलैण्ड के विदेशमन्त्री शामिल थे। उनकी यात्रा के दौरान दोनो देशो के नेताओ के बीच द्विपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो, जिसमे निरस्त्रीकरण और उत्तर-दक्षिण वार्ता शामिल है, पर भी विचार-विमर्श किया गया। विदेश मन्त्री एन डी तिवारी ने अफ्रीका निधि-प्रतिनिधि मण्डल के एक अग के रूप मे इटली, बेल्जियम, फ्रास, जर्मन सघीय गणराज्य और यूनाइटेड किंगडम की यात्रा की। इसके अतिरिक्त ससदीय प्रतिनिधिमण्डलो, प्रौद्योगिक एव व्यापार दलो, शिक्षाविदो, पत्रकारो आदि के आदान-प्रदान के अतिरिक्त आर्थिक, प्रौद्योगिक वाणिज्यिक, सास्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्रो मे मन्त्री स्तर की कई यात्राएँ की गयी। पश्चिमी यूरोप की सरकारे उनके देशो मे भारत विरोधी गतिविधियो पर हमारी चिन्ता के प्रति सामान्यत प्रतिक्रिया दिखाती रही है। हम इन गतिविधियो पर निगरानी रखते है और उनकी सरकारो के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाए हुए है। जर्मन सघीय गणराज्य के साथ एक प्रत्यर्पण सन्धि सम्पन्न करने के लिए बातचीत भी शुरू कर दी गयी है।

लेकिन ब्रिटेन के मामले मे हमारी चिन्ता ब्रिटेन के प्राधिकारियो के समक्ष व्यक्त की गई है और यूनाइटेड किंगडम को यह सुझाव देने के लिए हर अवसर का लाभ उठाया जा रहा है कि इस प्रकार की गतिविधियो पर कड़ा नियन्त्रण रखना चाहिए। यूनाइटेड किंगडम मे आतकवादी गतिविधियों को कारगर रूप से नियन्त्रित

करने के लिए हमारा सुझाव दोनो देशो के लिए यह था कि एक प्रत्यर्पण सन्धि सम्पन्न की जाए। वार्ता के दो दौर हो चुके है और विचार-विमर्श जारी है। इसी बीच ब्रिटेन के प्राधिकारियो ने यू के मे कुछ उग्रवादियो/आतंकवादियो को दोषी सिद्ध करने/उन पर मुकदमा चलाने के लिए कुछ कार्यवाही की है।

भारत और ब्रिटेन

राजनीतिक मतभेदो के बावजूद भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे है। जनवरी, 1950 मे स्वय को गणराज्य घोषित करने के बाद भी भारत ने राष्ट्रमण्डल मे सम्बन्ध कायम रखने का निश्चय किया और आज भी वह राष्ट्रमडल का एक महत्वपूर्ण सदस्य है। ब्रिटेन ने भारत की विकास योजनाओ मे समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी है। 1962 मे चीनी आक्रमण के समय ब्रिटेन द्वारा भारत को सैनिक सहायता भी प्रदान की गई थी और भारत-चीन विवाद मे ब्रिटेन का रुख भारत के पक्ष मे ही रहा था।

इस सहयोग के बावजूद कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर ब्रिटेन की नीति भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण रही है। कश्मीर के प्रश्न पर ब्रिटेन और उसके साथी राष्ट्रो का रवैया भारत-विरोधी रहा है। ब्रिटेन ने भारत के विरुद्ध सदा पाकिस्तान का समर्थन किया है। 1965 मे जब भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के प्रश्न पर युद्ध छिडा था, तब भी ब्रिटिश प्रेस, रेडियो और सरकार ने खुले आम भारत-विरोधी नीति अपनाई। ब्रिटिश सरकार का रवैया एकदम पक्षपातपूर्ण था और ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धो मे खिचाव आ गया। जो कटुता पैदा हुई उसमे केन्या के प्रवासी भारतीयो के प्रश्न का एक और मुद्दा जुड गया। पूर्वी अफ्रीका से भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना है और 1867 से ही भारतीय केन्या जाते रहे थे। 1963 मे जब केन्या स्वतन्त्र हुआ तब वहाँ भारतीय प्रवासियो की सख्या लगभग 25 हजार थी। केन्या की स्वतन्त्रता के समय भारतीयो के समक्ष उनकी नागरिकता से सम्बन्धित विकट समस्या खडी हो गई। उस समय भारत सरकार ने लगभग 4 हजार भारतीयो को अपना पारपत्र दिया, शेष भारतीय ब्रिटिश पारपत्र पर केन्या मे रहने लगे, किन्तु इस स्थिति मे फरवरी, 1968 मे खतरनाक बिगाड आया जबकि केन्या सरकार ने यह निश्चय किया कि उन एशियाई लोगो के साथ जो वहाँ के नागरिक नही हैं, केन्या मे गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाएगा। ब्रिटिश सरकार ने ससद मे एक विधेयक पेश कर दिया जिसका उद्देश्य 1 मार्च, 1968 के बाद केन्याई भारतीयो के ब्रिटेन मे प्रवेश को रोकना था। नये कानून के अनुसार उस पारपत्र का कोई मूल्य नही रहा जो ब्रिटेन मे केन्या के प्रवासी भारतीयो को दिया गया था। ब्रिटिश सरकार का यह कदम अन्यायपूर्ण और अमानवीय था जिससे दोनो देशो मे तनाव बढ़ गया। भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट शब्दो मे जता दिया कि एशियावासियो को ब्रिटेन मे प्रवेश से रोकने वाले अधिनियम का ब्रिटिश-भारत सम्बन्धो पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। यह सौभाग्य की बात थी कि इस समस्या पर

कोई व्यापक प्रतिकूल प्रतिक्रिया नही हुई। 1969 मे बी बी सी. टेलीविजन फिल्मो मे भारतीय जनजीवन को विकृत रूप मे प्रस्तुत किए जाने के प्रश्न पर भी भारत-ब्रिटेन सम्बन्धो मे तनाव आया। भारत सरकार ने एक आदेश द्वारा सितम्बर, 1970 मे भारत मे बी बी सी को उपलब्ध सभी सुविधाये समाप्त कर दी। 1971 मे बगला देश के प्रश्न पर दोनो देशो मे गलतफहमी फैली। इसका निवारण तब हुआ जब भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर सुरक्षा परिषद् मे ब्रिटेन ने भारत-विरोधी प्रस्तावो पर मतदान मे भाग नही लिया। भारत ने इसे मैत्रीपूर्ण व्यवहार मानते हुए बी बी सी को पुन भारत मे कार्यालय स्थापित करने की अनुमति दे दी।

1974 के मध्यान्तर चुनावो मे लेबर पार्टी विजय प्राप्त कर सत्तारूढ हुई। श्रम-दलीय सरकार का रवैया अनुदार दलीय सरकार की तुलना मे भारत के प्रति अधिक मैत्रीपूर्ण था। दोनो देशों के बीच वार्षिक द्वि-पक्षीय वार्ता हुई जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की सामान्य समीक्षा करने के अलावा व्यापारिक सहायता तथा आर्थिक वैज्ञानिक एव तकनीकी सहयोग जैसे द्वि-पक्षीय मामलो पर बातचीत हुई। 1975-76 के लिए ब्रिटिश सरकार ने लगभग 10 करोड पौण्ड की सहायता का वचन दिया जिससे ब्रिटेन भारत को द्विपक्षीय ऋण देने वाले देशो की सूची मे सर्वोपरि हो गया। 1975-76 मे ब्रिटिश ससद् के कई सदस्य सरकारी निमन्त्रण पर भारत आए। भारत-ब्रिटेन आर्थिक सहयोग एव व्यापार सयुक्त समिति गठित हुई।

ब्रिटिश उद्योग के उपाध्यक्ष सर राल्फ बेटमैन के नेतृत्व मे एक उच्चस्तरीय ब्रिटिश औद्योगिक शिष्टमण्डल ने अक्तूबर, 1976 मे भारत की यात्रा की। इसका उद्देश्य भारत और ब्रिटेन के बीच अधिकाधिक व्यापार एव औद्योगिक सहयोग तथा तीसरे देशो मे सहयोग की सम्भावना का पता लगाना था। 1976-77 मे भारत को मिलने वाली ब्रिटिश विकास सहायता 1120 लाख पौण्ड (लगभग 170 करोड रुपया) थी। यह राशि किसी भी अन्य देश से प्राप्त सबसे बडी रकम थी। यह सहायता पूर्णतया अनुदान रूप मे ही दी गई थी। 6 से 11 जनवरी, 1978 तक ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री जेम्स कैलहन की भारत यात्रा हुई। इस यात्रा से भारत और यूनाइटेड किंगडम के समान आदर्शों और महत्वाकांक्षाओ का और इस बात का भी स्पष्ट पता चला कि वे राष्ट्रो की अन्योन्याश्रयता को स्वीकार करते है। इसी महीने मे 1977-78 के लिए भारत को ब्रिटिश सहायता से 228 करोड रुपये की राशि के पाँच करारो पर हस्ताक्षर किए गए। यह सम्पूर्ण राशि अनुदान के रूप मे थी। जून, 1978 मे प्रधानमन्त्री की लन्दन की यात्रा से ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्ध और सुदृढ हुए। समान हित के अन्तर्राष्ट्रीय और द्विपक्षीय प्रश्नो पर विचार किया गया जिसमे दक्षिण अफ्रीका, निरस्त्रीकरण और जातीय सम्बन्धो के प्रश्न भी शामिल थे। भारतीय राष्ट्रिको के साथ किए गए अनुचित व्यवहार की विशिष्ट शिकायतो पर तत्काल कार्यवाही के लिए ब्रिटिश प्राधिकारियो के साथ प्रश्न उठाया गया। ब्रिटिश ससद् का एक प्रतिनिधि मण्डल दिसम्बर, 1978 मे भारत आया और इससे दोनों देशो की ससदो के बीच सम्पर्क सुदृढ हुए।

1979-80 के दौरान भी दोनों पक्षों में निकटता बढ़ी। जुलाई, 1979 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री लार्ड केरिंगटन ने भारतीय प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई तथा अन्य वरिष्ठ मन्त्रियों से वार्ता की। रोडेशिया और निरस्त्रीकरण की समस्या पर भी विचार-विनिमय हुआ। उन्हें भारत की इस चिन्ता से अवगत कराया गया कि ब्रिटेन में रहने वाले भारतीयों के साथ भेदभाव अथवा उत्पीडन का व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। सितम्बर, 1979 में लार्ड माउण्टबेटेन की हत्या पर भारत ने राजकीय शोक मनाया। नई सरकार बनने के बाद विदेशमन्त्री लार्ड केरिंगटन ने जनवरी, 1980 में पुन भारत की यात्रा की। 19 नवम्बर, 1980 को लन्दन में भारत-ब्रिटिश संघ द्वारा आयोजित वार्षिक रात्रि भोज पर बोलते हुए लार्ड केरिंगटन ने कहा कि दुनिया में बहुत कम देश हैं जिनके साथ ब्रिटेन के सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं जितने कि भारत के साथ। जनवरी, 1981 में ब्रिटिश संसद् में एक नया ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून पेश किया गया जिसमें नागरिकता प्राप्त करने तथा वहाँ रहने के अधिकार को परिभाषित किया गया। इससे पूर्व मार्च, 1980 में नये आप्रवासन विनियम लागू किए गए। इन विनियमों में आश्रित अथवा पुरुष मंगेतरों के रूप में अप्रवासियों के प्रवेश को कम करने के उपाय किए गए।

जुलाई, 1980 में प्रकाशित एक श्वेत पत्र में नये राष्ट्रीयता कानून का प्रस्ताव किया गया। मूलत इसमें तीन प्रकार की नागरिकता का प्रस्ताव है—

1 ब्रिटिश नागरिकता
2 ब्रिटिश आश्रित क्षेत्रों की नागरिकता तथा
3 विदेशस्थ ब्रिटिश नागरिकता।

इस प्रस्ताव की आलोचना इस आधार पर की गई कि इसमें अप्रवासियों को द्वितीय श्रेणी के नागरिक का दर्जा दिया गया। भारत सरकार ब्रिटेन में बसे भारतीय मूल के लोगों तथा उस देश की यात्रा पर जाने वाले भारतीय नागरिकों से सम्बन्धित विभिन्न मसलों पर ब्रिटिश प्राधिकारियों से सम्पर्क बनाए रही। प्रिन्स चार्ल्स ने 23 नवम्बर से 6 दिसम्बर, 1980 तक भारत की यात्रा की। यह पूर्ण रूप से सद्भावना यात्रा थी।

1981-82 के दौरान भी दोनों देशों के बीच अच्छा वातावरण बना रहा। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थ्रेचर ने अप्रैल, 1981 में भारत की यात्रा कर दोनों देशों के आपसी हितों के मामलों पर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी से बातचीत की। व्यापार और कुछ कोयला शक्ति विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी ज्ञापन समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री स्वदेश लौटते हुए 29 दिसम्बर, 1982 को नई दिल्ली में कुछ घण्टों के लिए रुकीं। उन्होंने श्रीमती गाँधी के साथ पश्चिमी एशिया की नवीनतम घटनाओं वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा दोनों देशों के आपसी सहयोग से सम्बद्ध आर्थिक मसलों पर विस्तृत चर्चा की। राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों की बैठक के अवसर पर ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ ने 17 से 26 नवम्बर, 1983 तक भारत की यात्रा की।

प्रधानमन्त्री मारग्रेट थ्रैचर भी राष्ट्रमण्डल सम्मेलन के सिलसिले में वहाँ आईं और द्विपक्षीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर विचार-विमर्श किया। हमारे विदेश मन्त्री ने 31 अक्तूबर से 4 नवम्बर, 1983 तक ब्रिटेन की यात्रा की।

1984-85 में भी ब्रिटेन भारत का महत्त्वपूर्ण व्यापारिक भागीदार बना रहा तथापि व्यापार सन्तुलन भारत के प्रतिकूल रहा। मार्च, 1984 में ब्रिटेन के विदेश एव राष्ट्रमण्डल राज्यमन्त्री ने भारत की यात्रा की। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती थ्रैचर ने अक्तूबर, 1984 में श्रीमती गाँधी की अन्त्येष्टि में भाग लिया। 13 अप्रैल, 1985 को नई दिल्ली में श्रीमती थ्रैचर ने प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी को आश्वासन दिया कि ब्रिटेन में कुछ सिक्ख गुटो की गतिविधियो से उत्पन्न स्थिति से निबटने के लिए उनकी सरकार हर सम्भव कदम उठाएगी। दोनो प्रधानमन्त्रियो के बीच श्रीलंका की स्थिति पर भी विस्तृत बातचीत हुई। ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी के साथ इस बात पर सहमत थी कि सलाह-मशवरे से इस समस्या का कोई शान्तिपूर्ण हल निकाला जाना चाहिए। श्रीमती थ्रैचर ने ईरान-ईराक युद्ध को समाप्त करने की दिशा में भारत की पहल की जानकारी ली और दोनो नेताओं ने इन दोनो देशो के बीच पारस्परिक सहयोग बढाने की आवश्यकता पर बल दिया। श्रीमती थ्रैचर ने निरस्त्रीकरण के मामले पर अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन के साथ हुई बातचीत में भी राजीव गाँधी को अवगत कराया। श्रीमती थ्रैचर ने भारत सरकार द्वारा उठाए गए आर्थिक कदमों की भी जानकारी प्राप्त की। वर्ष 1985-86 और 1986-87 के दौरान दोनो पक्षों का पारस्परिक व्यापार बढा तथापि यूनाइटेड किंगडम से आतंकवादी गतिविधियो को लेकर भारत की चिन्ता बनी रही। दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के प्रश्न पर भारत और ब्रिटेन के बीच मतभेद बने रहे। अगस्त, 1986 में राष्ट्रमण्डल के सात देशों का लघु शिखर सम्मेलन हुआ जिसमें भारत सहित अन्य देशो ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध कुछ और प्रतिबन्ध लगाने का फैसला किया, परन्तु ब्रिटेन ने असहमति व्यक्त की। श्रीमती थ्रैचर का मत था कि प्रतिबन्धों से दक्षिण अफ्रीका से अश्वेत लोगो की परेशानी बढेगी। श्रीमती थ्रैचर ने कहा कि यह मसला बातचीत से हल होना चाहिए।

भारत, फ्रांस और पुर्तगाल

आजादी के बाद भी भारत में चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, कालीकट, माही और यनाम की बस्तियाँ फ्रांस के अधीन थीं तथा गोआ, दमन और दिव पर पुर्तगाल का आधिपत्य था। भारत सरकार ने फ्रांस से अनुरोध किया कि वह भारत स्थित फ्रांसीसी बस्तियो को मुक्त कर दे। फ्रांस ने समझदारी से काम लेते हुए नवम्बर, 1954 में पाण्डिचेरी, कालीकट, माही और यनाम को तथा मई, 1959 में चन्द्रनगर को भारत के सुपुर्द कर दिया। बेसमझी और दुराग्रही प्रवृत्ति का परिचय पुर्तगाल ने दिया। 1961 तक पुर्तगाल ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जो भारत की सुरक्षा के लिए घातक थी। गोआ में विशाल सैनिक तैयारियाँ की गईं तथा पुर्तगाली सेनाएँ आए दिन भारतीय सीमा का अतिक्रमण करने लगी। अन्त में दिसम्बर,

1961 मे भारतीय सेना ने पुर्तगाल को गोम्रा छोडने के लिए बाध्य कर दिया। कुछ ही दिनो बाद गोम्रा भारतीय संघ का अग बन गया। भारत और पुर्तगाल के बीच 31 दिसम्बर, 1974 को राजनयिक सम्बन्धो की पुनर्स्थापना के परिणामस्वरूप 1975 से दोनो पक्षो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम हैं। 1980 में भारत और पुर्तगाल मे लिस्बन मे एक सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर हुए थे। 1981 मे पुर्तगाल के विदेशमन्त्री ने नई दिल्ली मे एक सांस्कृतिक केन्द्र खोलने के बारे मे पुर्तगाल सरकार के निर्णय की घोषणा की।

फ्रांस के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित होते गए। जनवरी, 1976 मे फ्रांस के प्रधानमन्त्री ने भारत को यात्रा की जिससे तकनीक एव आर्थिक सहयोग को बढावा मिला। फ्रांस भारत सहायता सघ (एयर इण्डिया कसोर्टियम) का पहला सदस्य था जिसने 1976-77 में भारत के साथ विकास सहायता समझौता किया। जून 1977 मे राष्ट्रमण्डल सम्मेलन के बाद भारत लौटते समय प्रधानमन्त्री पेरिस मे रुके और उन्होने फ्रांस के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के साथ परस्पर हित के मामलो पर विचार विमर्श किया। जून, 1977 में पेरिस मे भारत फ्रांसीसी अन्तरिक्ष करार पर हस्ताक्षर हुए। फ्रांस ने 1977-78 के लिए भारत को 34 करोड फ्रेंक तक की सहायता दी। जुलाई, 1978 मे फ्रांस के विदेश राज्य मन्त्री की भारत यात्रा के दौरान विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर एक करार सम्पन्न हुआ। दिसम्बर, 1978 मे दोनो देश इस बात पर सहमत हुए कि अगले चार वर्षो के दौरान द्विपक्षीय व्यापार को दुगुना करे तथा तीसरे देशो में सयुक्त उद्यम स्थापित किए जाने के लिए सहयोग को बढाएं।

1979-80 मे दोनों पक्षो में मैत्री और सहयोग और विकसित हुआ। उच्च स्तरीय यात्राएं सम्पन्न की गई। फ्रांस के राष्ट्रपति जिस्कार्द दे अस्तेग ने जनवरी, 1980 मे भारत की यात्रा की और गणराज्य दिवस समारोहो मे सम्माननीय अतिथि के रूप मे सम्मिलित हुए। वे भारत की यात्रा पर आने वाले फ्रांस के पहले राष्ट्रपति थे। इस बातचीत के परिणामस्वरूप फ्रांस के राष्ट्रपति तथा भारत के प्रधामन्त्री द्वारा 27 जनवरी, 1980 को सयुक्त घोषणा जारी की गई। द्विपक्षीय सहयोग को बढाने में यह यात्रा बहुत सफल रही। इस यात्रा के परिणामस्वरूप सात प्रोटोकोलो तथा समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए गए—(1) भारत फ्रांस औद्योगिक तथा व्यावसायिक सहयोग सम्बन्धी प्रोटोकोल, (2) कोयला खनन सम्बन्धी समझौता ज्ञापन, (3) उडीसा मे अलूमिनियम सयत्र पर समझौता ज्ञापन (4) कृषि तथा ग्रामीण विकास के क्षेत्रो मे सहयोग पर भारत-फ्रांस प्रोटोकोल, (5) पेट्रो रसायन, उर्वरक, औषधियाँ तथा रसायन के क्षेत्र मे प्रोटोकोल, (6) नवीकरण योग्य ऊर्जा के क्षेत्रो में प्रोटोकोल, (7) महासागर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रोटोकोल। इनके अतिरिक्त इस बात पर सहमति हुई कि इस्पात उद्योग, दूर सचार और दृश्य श्रव्य तकनीको के क्षेत्रो म सहयोग की सम्भावनाओ का पता लगाया जाय। 28 जनवरी, 1980 को सयुक्त विज्ञप्ति मे

दोनों पक्षों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि विश्वविद्यालय अथवा एक उच्चतर शिक्षा संस्थान की स्थापना पर विचार किया जाना चाहिए। एक फ्रांसीसी प्रतिनिधि मण्डल नवम्बर में भारत की यात्रा पर आया और भारत फ्रांस सांस्कृतिक करार के अन्तर्गत 1981-82 के लिए कार्यक्रम निर्धारित किया गया। 1979-80 के दौरान विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में सहयोग सम्बन्धी करार का अनुसमर्थन किया गया।

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने नवम्बर, 1981 में फ्रांस की यात्रा की और फ्रांस के राष्ट्रपति से विचार-विमर्श किया। संयुक्त विज्ञप्ति में भय, प्रभुत्व और अहंकार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आचरण का विरोध करते हुए, विदेशी प्रभुत्व या बाहरी हस्तक्षेप से देशों की स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के कर्त्तव्य पर जोर दिया गया। कोयले, पर्यावरण, शक्ति व ऊर्जा सम्बन्धी आर्थिक सहयोग के बारे में दोनों देशों के बीच ज्ञापन समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। तारापुर अणु बिजलीघर के लिए फ्रांस से परिष्कृत यूरेनियम प्राप्त करने के सम्बन्ध में रुकावट बनी रही। इसमें फ्रांस को कोई दोष नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि मूल समझौता अमेरिका के साथ था। 17 अक्टूबर, 1982 को भारत और फ्रांस के बीच भारत को 40 मिराज-2000 विमानों की सप्लाई के समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। फ्रांस के राष्ट्रपति फ्रांसिस मित्तरां ने 27 से 30 नवम्बर, 1982 तक भारत की सरकारी यात्रा की। उन्होंने प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी से मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की सुरक्षा की। दोनों पक्षों के बीच आर्थिक, वाणिज्यिक, वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी सम्बन्धी और सांस्कृतिक मामलों पर बातचीत हुई। यह बातचीत अत्यन्त सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में हुई विशेषकर इसलिए कि तारापुर परमाणु बिजली केन्द्र को ईंधन का मसला राष्ट्रपति मित्तरां की यात्रा से ठीक पहले सुलझा लिया गया था। इस यात्रा ने आम तौर पर भारत-फ्रांस सम्बन्धों को सुदृढ़ करने में काफी योगदान दिया और इससे विभिन्न क्षेत्रों में द्विपक्षीय आदान-प्रदान की सम्भावनाओं को सवर्द्धित करने में सहायता मिली। दोनों पक्षों की ओर से और भी उच्चस्तरीय यात्राएँ हुई। और फ्रांस के साथ जिन वाणिज्यिक करारों पर हस्ताक्षर किए गए, उनमें सर्वप्रमुख था, दूर-संचार सम्बन्धी करार जिस पर जुलाई में हस्ताक्षर हुए।

वर्ष 1983-84 में फ्रांस के साथ हमारे सम्बन्ध और मजबूत हुए। मार्च, 1983 में फ्रांस की विदेश मन्त्री ने भारत के विदेशमन्त्री के साथ विचार-विमर्श किया। संयुक्त राष्ट्र महासभा के 38वें अधिवेशन में भाग लेने के लिए न्यूयार्क जाते हुए हमारी प्रधानमन्त्री पेरिस रुकीं और उन्होंने राष्ट्रपति मित्तरां के साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा राजनीतिक मसलों पर विचार-विमर्श किया। विदेश मन्त्रालय ने इण्डिया इन्टरनेशनल सेंटर को 24 से 26 अक्टूबर, 1983 तक भारत फ्रांस विचार गोष्ठी का आयोजन करने में सहायता दी। फ्रांस के साथ आर्थिक सम्बन्ध और मजबूत हुए तथा विभिन्न प्रौद्योगिक क्षेत्रों में, विशेषकर ऊर्जा, बिजली, कोयला और इलेक्ट्रोनिक्स के क्षेत्रों में सम्बन्ध और सुदृढ़ हुए। जून, 1983 में इलेक्ट्रोनिक्स

कम्प्यूटर और सूचना विज्ञान मे सहयोग से सम्बद्ध भारत-फ्रांस समझौता-ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए गए। इस समय भारत फ्रांस के बीच 14 समझौता ज्ञापन प्रोटोकाल विद्यमान थे जो विभिन्न तकनीकी क्षेत्रों मे सहयोग से सम्बन्धित थे। भारत मे उच्च अनुसन्धान के लिए एक भारत-फ्रेंच केन्द्र की स्थापना के ब्यौरो के बारे में भी सहमति हो गई। फ्रांस के उद्योग एव अनुसन्धान मन्त्री ने दिसम्बर, 1983 मे कृषि मन्त्री ने 28 दिसम्बर, 1983 से 4 जनवरी, 1984 तक भारत की यात्रा की और सम्बन्धित क्षेत्रो में पारस्परिक सहयोग के बारे में विचार-विमर्श किया। विदेशमन्त्री की अप्रेल 1984 मे पेरिस-यात्रा के दौरान द्विपक्षीय वार्ताएँ हुई। वाणिज्यिक मन्त्री ने आर्थिक सम्बन्धो की समीक्षा के लिए जून, 1984 मे पेरिस की यात्रा की। दोनो सरकारे कृषि एव ग्रामीण विकास मे परस्पर सहयोग के लिए सहमत हुई। फ्रांस की नेशनल असेम्बली के अध्यक्ष ने फरवरी 1984 में भारत की और भारत के उपराष्ट्रपति ने जुलाई, 1984 मे फ्रांस की यात्रा की। श्रीमती गाँधी की अन्त्येष्टि मे भाग लेने के लिए फ्रांस के नए प्रधानमन्त्री लारेण्ट फबियस भारत आए।

5 जून, 1985 को राजीव गांधी मिस्र, अलजीरिया, फ्रांस, अमेरिका, तथा स्विटजरलैण्ड की यात्रा पर रवाना हुए। राजीव गांधी की फ्रांस के राष्ट्रपति मित्तरा से लम्बी बातचीत हुई। भारत ने फ्रांस से आग्रह किया कि वह पाकिस्तान को परमाणु सहायता न दे फ्रांस ने इसका उत्तर यह दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियो के विरुद्ध फ्रांस ऐसा कुछ नही करेगा। भारत और फ्रांस के बीच दो समझौते अवश्य हुए। एक के अन्तर्गत फ्रांस गगा को शुद्ध करने के कार्यक्रम मे भारत की सहायता के लिए और दूसरे समझौते के अन्तर्गत दिल्ली में एक वैज्ञानिक अनुसधान केन्द्र स्थापित करने में सहयोग देने के लिए सहमत हुआ। राजीव गांधी की यात्रा के दौरान ही पेरिस में भारत महोत्सव प्रारम्भ हुआ। इसमे भारत की सस्कृति का प्रदर्शन हुआ। फ्रांस की विदेशमन्त्री जीम बर्नार्ड रेमण्ड ने मार्च, 1987 म भारत की राजकीय यात्रा की।

भारत और जर्मन सघीय गणराज्य

जर्मन सघीय गणराज्य के साथ भारत के सम्बन्ध प्रारम्भ से ही मित्रतापूर्ण और निकट सहयोग के आधार पर विकसित होते रहे है। जनता पार्टी के शासन-काल के दौरान सम्बन्ध सुधार प्रक्रिया गतिमान रही। प्रधानमन्त्री देसाई तथा विदेशमन्त्री वाजपेयी किसी अन्य देश की यात्रा के क्रम में जून, 1979 मे फ्रेंकफर्ट मे रुके और उन्होने चासलर हेलमेट शिमुट्ट तथा विदेशमन्त्री गेस्चर से विचार-विमर्श किया। पश्चिम जर्मनी द्वारा सर्वाधिक सहायता भारत को प्राप्त हुई। अक्टूबर, 1979 मे नयी दिल्ली मे 1979-80 की अवधि के लिए 165 करोड़ रुपए की सहायता के एक भारत-जर्मन सघीय गणराज्य करार पर हस्ताक्षर किए गए। 1979-80 के दौरान भारत-जर्मन सघीय गणराज्य के बीच व्यापार बढ़कर 200 करोड़ डीश-मार्क (लगभग 800 करोड़ रुपए) से अधिक का हो गया।

1960-61 के दौरान बहुपक्षीय सम्बन्धो मे सन्तोषजनक प्रगति हुई। राष्ट्रपति टीटो की अन्त्येष्टि के अवसर पर बेलग्राड मे श्रीमती गाँधी की जर्मन चांसलर के साथ बातचीत हुई। जर्मन राष्ट्रपति मार्च, 1971 के आरम्भ मे भारत आए। फलस्वरूप द्विपक्षीय मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो और सहयोग को अधिक सुदृढ करने मे सहायता मिली। यात्रा पर आए नेताओ से भारतीय नेताओ ने उत्तर-दक्षिण वार्ता सहित तनाव शैथिल्य एव निरस्त्रीकरण को बढावा देने के प्रश्नो पर विचार-विमर्श किया। जर्मन सघीय गणराज्य की सरकार ने भारतीय यात्रियो के लिए जुलाई, 1980 से वीसा लागू कर दिया जिसके अनुसरण मे भारत को भी अक्टूबर से इस प्रकार की व्यवस्था करनी पडी, लेकिन राजनयिक तथा सरकारी पासपोर्टधारी व्यक्तियों को इस व्यवस्था से छूट दी गई। विदेश मन्त्री श्री वी वी. नरसिंहाराव नवम्बर, 1981 मे बोन गए। उन्होने 'आज के परिप्रेक्ष्य मे गुट-निरपेक्षता' (नान एलाइनमेंट टुडे) विषय पर विदेशनीति एसोसिएशन को सम्बोधित किया। प्रोफेसर एफ मेक्समूलर के कार्यों के सम्मानार्थ और उनकी स्मृति मे नई दिल्ली की एक महत्त्वपूर्ण सडक का नाम 'मैक्समूलर मार्ग' रखा गया। 14 दिसम्बर, 1981 को हुए समारोह मे जर्मन सघीय गणराज्य के अर्थ-कार्य मन्त्री और हमारे विदेश मन्त्री शामिल हुए। भारत को पश्चिमी जर्मनी की ओर से सबसे अधिक सहायता मिलती रही और उसे लगभग प्रतिवर्ष 144 करोड रुपये प्राप्त हुए। जहाँ तक भारत को तकनीकी सहयोग दिए जाने का ताल्लुक है, सयुक्तराज्य अमेरिका और यू के. के बाद जर्मन सघीय गणराज्य का सहयोग था। 1982-83 मे भारत और जर्मन सघीय गणराज्य के बीच सम्बन्ध सहज बने रहे। जर्मन सघीय गणराज्य ने कम ब्याज पर 148 करोड रुपए का ऋण और 14 2 करोड रुपये अनुदान के रूप मे दिए।

1983-84 में भारत और जर्मन सघीय गणराज्य के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध विशेषकर आर्थिक और वाणिज्यिक क्षेत्रों मे निरन्तर विकसित होते रहे। जर्मन सघीय गणराज्य के चांसलर डॉ. हेल्मट कोल की 5 और 6 नवम्बर, 1983 की यात्रा से द्विपक्षीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर विचार-विनिमय का सुअवसर मिला। जर्मन सचार मन्त्री ने मई, 1983 मे भारत का दौरा किया। इसके बाद जर्मन आर्थिक सहयोग मन्त्री आर्थिक, औद्योगिक तथा प्रौद्योगिकी सहयोग के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए भारत आए। हमारे कृषि मन्त्री ने कोलोन में अनुगा मेला देखा और जर्मन सघीय गणराज्य के कृषि मन्त्री के साथ द्विपक्षीय मसलो पर बातचीत की। विदेश सचिव ने द्विपक्षीय विचार-विनिमय के लिए 21 से 22 अप्रेल, 1983 तक बोन की यात्रा की। भारत ने अप्रेल, 1984 मे होने वाले हनोवर मेले मे साझेदार देश के रूप मे भाग लिया। विदेशो में किसी औद्योगिक प्रदर्शनी में भारत की यह अब तक की सबसे बडी भागीदारी थी। 1984-85 में जर्मन सघीय गणराज्य से यात्राओं की बाढ आ गई। अब तक भारत सरकार द्वारा अनुमोदित लगभग कुल 7500 विदेशी सहयोग परियोजनाओं मे से 1341 परियोजनाएँ जर्मन सघीय गणराज्य के साथ हुई थी। भारत को दी जाने वाली जर्मन सघीय

गणराज्य की वार्षिक वित्तीय सहायता लगभग 144 करोड़ रुपए थी। बोन मे जून, 1984 मे प्रथम भारत जर्मन संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। 1986-87 मे सम्बन्धो मे *यथापूर्व सन्तोषजनक प्रवृत्ति जारी रही। जर्मन संघीय गणराज्य* के चांसलर कोल की भारत यात्रा से द्विपक्षीय सम्बन्धो को नया प्रोत्साहन मिला और इन सम्बन्धो मे अधिकाधिक आर्थिक तथा वाणिज्यिक विषय जोड़े गए।

भारत और पश्चिम एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका

पश्चिमी एशिया के सन्दर्भ मे भारत की विदेश नीति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। अरब-इजराइल युद्धो मे भारत ने सदैव अरब राज्यो का पक्ष लिया है। भारत की सहानुभूति और मैत्री अरब देशो के प्रति बहुत अधिक रहने से इजरायल को *भारत ने अभी तक कूटनीतिक मान्यता नही दी है।* अरब देशो के प्रति भारत की नीति ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उपयोगी माना गया है। अरब राष्ट्रो मे प्राप्त होने वाले तेल मे कोई भी बड़ी बाधा भारत के सम्पूर्ण आर्थिक ढांचे को हिला सकती है। स्वेज नहर भारत के विदेशी व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त इजरायल के विरुद्ध अरबो के दावे अधिक न्यायोचित हैं। फिर भी भारत का दृष्टिकोण सन्तुलित रहा है क्योकि जहाँ भारत ने अरबो के दावो का समर्थन किया है, वहाँ इजरायल के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। भारत का यह विश्वास रहा है कि पश्चिम एशियाई समस्या का व्यापक समाधान केवल अरब राज्यो की किसी सहमत नीति के आधार पर ही सम्भव है। भारत का यह भी विश्वास है कि यहाँ स्थायी शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब इजरायल सभी अरब प्रदेशो मे अपनी सेनाएँ हटा ले जहाँ उसने अधिकार कर रखा है तथा फिलिस्तीनी लोगो को आत्म-निर्णय का अधिकार तथा अपने राज्य पर अधिकार वापस मिल जाए।

द्विपक्षी स्तर पर भारत तथा इस क्षेत्र के बहुत से नेताओ के बीच यात्राओ का आदान-प्रदान हुआ है जिससे निकटतर सम्बन्ध विकसित हुए है और आर्थिक, तकनीकी वैज्ञानिक समझौते हुए। सीरिया, यमन, ईराक, लीबिया, सऊदी अरब, ईरान आदि के साथ 1978 मे विचार-विमर्श हुआ और आर्थिक एव तकनीकी सहयोग तथा वाणिज्यिक सम्बन्धो का विस्तार हुआ। ईरान मे जनक्रान्ति सफल होने पर भारत ने नई सरकार को मान्यता प्रदान की। पश्चिम एशिया पर कैम्प डेविड करारो से उत्पन्न तनाव पर चिन्ता व्यक्त करते हुए भारत ने अपनी प्रतिक्रिया मे *दृढ़तापूर्वक कहा कि फिलिस्तीन का प्रश्न सारे झगड़े का केन्द्र बिन्दु है* और जब तक उसका कोई ऐसा समाधान नही निकल आता, जिस पर फिलिस्तीन के लोग पूरी तरह सन्तुष्ट हो, तब तक इस क्षेत्र मे स्थायी शान्ति नही हो सकती।

जनवरी 1979 मे सीरिया के वक्फ मन्त्री ने, मार्च 1979 मे जोर्डन के युवराज ने, मई, 1979 मे मिस्र के उपराष्ट्रपति ने दिल्ली की यात्रा की। भारत को क्षेत्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर जोर्डन, मिस्र, आदि के दृष्टिकोण को समझने का अवसर मिला। मई 1979 मे, विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी

ने कुवैत, सयुक्त अरब, अमीरात, सीरिया और ईराक की यात्रा की। उसी महीने विदेश राज्य मन्त्री बहरीन और ओमान गए। श्रम मन्त्री ने अक्टूबर, 1979 मे कुवैत, सऊदी अरब, सयुक्त अरब, अमीरात और ओमान मे भारतीय श्रमिकों की समस्याओं और सम्भावनाओं के बारे मे बातचीत करने के लिए इन देशो की यात्रा की। भारत-ईराकी आर्थिक सम्बन्ध निरन्तर बढते रहे और इसी क्रम मे एक ओर भारत ने ईराक को जहाँ विविध सामग्री का निर्यात किया, वहाँ परियोजनाएँ स्थापित की वहाँ दूसरी ओर ईराक सरकार ने भारत की तेल सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने की अपनी तत्परता व्यक्त की। ईराक भारत को 60 लाख टन कच्चा तेल सप्लाई करने पर सहमत हुआ।

1979--80 के दौरान यमन गणराज्य और यमन लोकतान्त्रिक गणराज्य के साथ भारत के सौहार्द्र एव मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बने रहे। भारतीय तकनीकी विशेषज्ञ दोनो देशो की विभिन्न क्षेत्रो मे सहायता करते रहे। यमन अरब गणराज्य मे बहुत सी परियोजनाओं का काम कई भारतीय फर्मों को दिया गया, जिनसे दोनो देशो के बीच वाणिज्यिक आदान-प्रदान बढा। सोमालिया के विदेशमन्त्री की 31 मार्च से 4 अप्रैल तक भारत यात्रा से भावी सहयोग के क्षेत्रो का पता लगाने का अवसर मिला। इस यात्रा के दौरान एक सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर हुए। भारत और अल्जीरिया के बीच उच्च स्तर पर सम्पर्क काफी तेजी से बढा। उप-राष्ट्रपति हिदायतुल्ला ने नवम्बर, 1979 मे अल्जीरियाई क्रान्ति की वर्षगाँठ के समारोह मे भारत का प्रतिनिधित्व किया। भारत से अल्जीरिया को निर्यात की मात्रा नगण्य राशि से बढकर छह से आठ करोड रु की हो गई। हेमवती नन्दन बहुगुणा लीबिया गए और वहाँ 8 से 10 अप्रैल, 1979 तक रहे। भारतीय कम्पनियो को लीबिया सरकार का प्रोत्साहन बराबर मिलता रहा और लगभग 10 अरब रुपये की महत्त्वपूर्ण सविदाएँ और परियोजनाएँ भारतीय सार्वजनिक एव निजी क्षेत्र के उद्यमों को प्रदान की गईं। भारत-लीबिया सयुक्त आयोग का दूसरा अधिवेशन 2 से 6 जुलाई, 1979 तक नई दिल्ली मे हुआ। भवन-निर्माण, उद्योग, कृषि एव व्यापार के क्षेत्र मे बहुत सी नई परियोजनाएँ तय की गयी। अधिवेशन की समाप्ति पर भारत और लीबिया के बीच दोहरे कराधान के परिहार के बारे मे करार पर हस्ताक्षर किए गए। विदेश राज्यमन्त्री कुण्डू 1979 मे ट्यूनीसिया गए। ट्यूनीसिया के विदेश महासचिव जून मे भारत आए। मोरक्को ने भारत के साथ मैत्री सम्बन्ध विकसित करने के लिए अपनी उत्सुकता दिखाई। मोरक्को के एक शिष्ट मण्डल ने 3 से 10 दिसम्बर, 1979 तक भारत की यात्रा की और सांस्कृतिक करार पर दोनो देशों के अधिकारियों द्वारा हस्ताक्षर किए गए। श्री अशोक मेहता के नेतृत्व मे एक गैर-सरकारी सद्भावना प्रतिनिधि-मण्डल ने मार्च, 1979 मे ईरान की यात्रा की। भारत ने ईरान के सेन्टो से हट जाने और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे शामिल होने के निर्णय का स्वागत किया।

ईरान और ईराक के बीच 22 दिसम्बर, 1980 को युद्ध की शुरुआत पश्चिमी एशिया की एक गम्भीर घटना थी। भारत संघर्ष समाप्त कराने के उद्देश्य से दोनों देशों के साथ निकट सम्पर्क बनाए रहा। अक्टूबर, 1980 के अन्त में प्रधानमन्त्री ने अपने विशेष दूतों को दोनों देशों में भेजा। भारत ने ईरान-ईराक समस्याओं के समाधान के लिए अपने प्रस्तावों का इस्तेमाल करने के उद्देश्य से गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का एक ग्रुप गठित करने के प्रयत्नों में सक्रिय रूप से भाग लिया। जब यह स्पष्ट हो गया कि लड़ाई लम्बे समय तक जारी रहेगी तो भारत आने के इच्छुक व्यक्तियों की वापसी को सुविधाजनक बनाने की पूरी व्यवस्थाएँ की गई। भारत के कई विशिष्ट व्यक्तियों ने ईराक की यात्रा की। भारत-ईराक संयुक्त आयोग की छठी बैठक अप्रैल, 1980 में नयी दिल्ली में हुई। इस आयोग ने सिंचाई, कृषि, तेल और पैट्रो रसायन सहित विभिन्न उद्योगों में सहयोग के नए क्षेत्र निश्चित किए।

1980--81 में भारत के साथ खाड़ी देशों में बढ़ते हुए सहयोग में और अधिक वृद्धि हुई। कुवैत के अमीर ने सितम्बर, 1980 में भारत की राजकीय यात्रा की। कुवैत-भारत को तेल देने के प्रश्न पर समुचित रूप से विचार करने पर सहमत हुआ। भारत में संयुक्त अरब अमीरात के दो बैंकों की शाखाएँ स्थापित करने पर भारत सहमत हुआ। ईरान-ईराक युद्ध की वजह से भारत को तेल के निर्यात में हुई कमी को पूरा करने के लिए खाड़ी के देशों के अनुकूल प्रतिक्रिया दिखाई। कुवैत और कातार ने पहली बार भारत को तेल भेजा। अरब देशों के साथ भारत के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों के नवीन आयाम उद्घाटित हुए। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को पूर्ण राजनयिक दर्जा प्रदान करने के भारत सरकार के निर्णय का हार्दिक स्वागत किया गया। भारत ने इजरायल द्वारा तथाकथित येरूशलम विषयक 'बुनियादी कानून' बनाए जाने की निन्दा की जिसके तहत इजरायल ने यरूशलम को अपनी राजधानी घोषित किया। मिस्र के विदेश राज्यमन्त्री डॉ बारोस घली ने 2 से 4 अप्रैल, 1980 तक भारत की यात्रा की। भारत और मिस्र के बीच 1979 में स्थगित विमान सेवा पुन शुरू हुई। भारत और सीरिया के बीच विद्यमान घनिष्ठ सम्बन्ध मित्रता और सौहार्द्रपूर्ण बने रहे। 1980 के आरम्भ में अल्जीरिया के विदे-मन्त्री की यात्रा के दौरान भारत अल्जीरिया वैज्ञानिक और तकनीकि आर्थिक सहयोग करार पर हस्ताक्षर किए। लीबिया के साथ आर्थिक सहयोग में वृद्धि हुई। ट्यूनीशिया ने नई दिल्ली में राजदूत स्तर का एक आवासीय मिशन खोला। मई, 1981 में भारत के प्रधानमन्त्री ने कुवैत और संयुक्त अरब अमीरात की यात्रा की। इजरायल द्वारा ईराकी नाभिकीय रियक्टर पर हमले की और सीरिया से जीती हुई गोलन पहाड़ियों को अपने राज्य में मिलाने की कार्यवाई की भारत ने कड़े शब्दों में निन्दा की। भारत ने ईराक तथा ईरान के बीच युद्ध रोकने के प्रयत्न जारी रखे। भारत और ईराक के आर्थिक सम्बन्धों में वृद्धि होती रही। ईराक ने भारतीय

परियोजनाओ का कुल मूल्य 1980 के अन्त मे 18 सौ करोड से बढ़कर दिसम्बर, 1981 तक 25 सो करोड रूपये हो गया।

अप्रैल, 1981 मे सऊदी अरब के विदेश मन्त्री राजकुमार सऊद-अल-फैजल की दिल्ली यात्रा के दौरान एक आर्थिक एव तकनीकी सहयोग के समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। एक सयुक्त आयोग भी स्थापित करना तय किया गया। दिसम्बर 1981 मे दिल्ली स्थित अरब राजदूतो ने भारत के समर्थन और मैत्री की सराहना की। मिस्र के राष्ट्रपति सादत की अन्त्येष्टि मे लोकसभा के अध्यक्ष श्री बलराम जाखड़ ने भारत का प्रतिनिधित्व किया। नई सरकार के साथ सम्बन्ध बढाने के उपायो की समीक्षा की गयी। एक ससदीय प्रतिनिधिमण्डल ने जनवरी, 1982 मे सीरिया तथा मोरक्को की यात्रा की। मई, 1981 मे यमन के राष्ट्रपति ने भारत की यात्रा की। भारत यमन की तकनीकी सहायता बढ़ाने के लिए सहमत हो गए। यमन ने उद्योग तथा विकास के लिए ऋण देने सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर किए। भारत-अल्जीरिया सम्बन्धो मे और प्रगति हुई तथा कई उपयोगी यात्राओ का आदान-प्रदान हुआ। लीबिया के साथ सम्बन्ध मजबूत हुए। 1981–82 के दौरान भारत लीबिया आर्थिक सहयोग मे और वृद्धि हुई। मोरक्को से भारत की दो महत्त्वपूर्ण यात्राएँ हुई। दोनो देशो ने एक नए व्यापार समझौते और तकनीकी तथा आर्थिक सहयोग के समझौते पर हस्ताक्षर किए।

1982–83 मे पश्चिमी एशिया मे तनाव का वातावरण बना रहा। ईरान और ईराक के सघर्ष का शान्तिपूर्ण समाधान ढूंढने की दिशा मे भारत रचनात्मक भूमिका निभाता रहा। अप्रैल, 1982 मे श्रीमती गांधी की सऊदी अरब की यात्रा हमारे आपसी सम्बन्धो के लिए एक उल्लेखनीय बात थी। जून, 1982 मे इजरायल द्वारा लेबनान मे फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन की सेनाओ पर व्यापक हमले के कारण इस क्षेत्र मे तनाव बढ गया। भारत ने लेबनान के सकट का समाधान करने के लिए प्रयत्न किए। सरकार ने अन्य सरकारो से सीधे एव राजनयिक माध्यमो से सम्पर्क किया जिनमे अमेरिका, सोवियत सघ और फ्रांस की सरकारे शामिल थी। प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री ने ससद मे और अन्यत्र भी इजरायली आक्रमणों की खुले शब्दो मे निन्दा की। भारत के समन्वय ब्यूरो की निकोसिया मे हुई असाधारण बैठक मे गठित नौ देशो की गुट-निरपेक्ष समिति के सदस्य के रूप मे भारत ने इजरायल के लेबनान पर आक्रमण से उत्पन्न स्थिति के बारे मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रधानमन्त्री के निमन्त्रण पर अध्यक्ष अराफात ने 21 से 23 मई तक भारत की यात्रा की जिसमे फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन के साथ हमारे सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध और सुदृढ हुए। अप्रैल, 1982 मे श्रीमती गांधी की सऊदी अरब की यात्रा मे द्विपक्षीय सम्बन्धो मे और अधिक वृद्धि हुई। सार्वजनिक और निजी दोनो क्षेत्रो मे अधिकाधिक आर्थिक और तकनीकी सहयोग बढाने की प्रक्रिया तीव्र हुई। 1982–83 के दौरान भारत और खाड़ी के देशो के बीच पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक, वाणिज्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध सुदृढ करने के प्रयास जारी रहे।

विदेश मन्त्री ने बहरीन की यात्रा की, शारजाह के शासक भारत आए, संयुक्त अरब अमीरात के जल और विद्युत मन्त्री ने भारत की यात्रा की। कातार के साथ सम्पन्न सांस्कृतिक और तकनीकी करार का अनुसमर्थन किया गया। राष्ट्रपति मुबारक ने उच्चाधिकारियों के एक प्रतिनिधि मण्डल के साथ 30 नवम्बर, से 2 दिसम्बर, 1982 तक भारत की सरकारी यात्रा की। भारत मिस्र संयुक्त आयोग की स्थापना के लिए भारत सहमत हुआ। ईराक और भारत के आर्थिक सम्बन्ध मजबूत बने रहे। 1982–83 में ईराक में 97 भारतीय कम्पनियाँ थीं जो 5000 करोड़ रुपये से भी अधिक की परियोजनाओं को चला रही थीं। यमन लोकतान्त्रिक जनगणराज्य और यमन अरब-गणराज्य के साथ हमारे सम्बन्धों में सतोषजनक वृद्धि हुई। अल्जीरिया के राष्ट्रपति की अप्रैल, 1982 में भारत-यात्रा से भारत-अल्जीरियाई सम्बन्ध और अधिक घनिष्ठ हुए। लोकसभा के अध्यक्ष जाखड़ के नेतृत्व में एक संसदीय शिष्टमण्डल ने 11 से 16 जनवरी, 1983 तक मोरक्को की यात्रा की। जोर्डन के युवराज प्रिंस हुसन मार्च, 1983 में भारत आए।

1983-84 में पश्चिम एशिया और उत्तरी अफ्रीका के साथ भारत के सम्बन्ध और प्रगाढ़ हुए। राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने दिसम्बर 1983 में बहरीन और कातार की यात्रा की। इजराइल द्वारा लेबनान पर आक्रमण के समय से ही यहाँ स्थिति इतनी बिगड़ती गई कि भारी संख्या में फिलिस्तीनियों को देश छोड़ना पड़ा। भारत के लिए यह चिन्ता का विषय बना रहा। मार्च, 1983 में नई दिल्ली में सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में भारत की अध्यक्षता में एक राज्याध्यक्ष/शासनाध्यक्ष स्तर की समिति गठित की गई जिसका काम अरब-फिलिस्तीनी जनता के अधिकारों का समर्थन देने के लिए बनाई गई अरब-समिति को सहयोग देना था। इस समिति से कहा गया कि वह मध्यपूर्व में न्याय पर आधारित स्थायी और व्यापक शान्ति कायम करने के लिए उन विभिन्न शक्तियों से मिलकर काम करे जो मध्यपूर्व संघर्ष को प्रभावित करती हैं जिससे फिलिस्तीनी जनता अपने स्वतन्त्र देश में स्वाधीनतापूर्वक और सम्प्रभुता के साथ अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके। मई-जून, 1983 में पश्चिम एशिया की बिगड़ती हुई स्थिति को देखते हुए प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्रालय के एक वरिष्ठ अधिकारी को विभिन्न अरब देशों की यात्रा पर गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन द्वारा फिलिस्तीन सम्बन्धी गुट-निरपेक्ष समिति को दिए गए अधिदेश के सन्दर्भ में विचार-विमर्श करने के लिए भेजा। नवम्बर, 1983 में उत्तर लेबनान में फिलिस्तीनी स्वाधीनता सेनानियों के बीच सशस्त्र युद्ध भड़क उठा और इस सम्बन्ध में अन्य गुट-निरपेक्ष देशों से प्राप्त चिन्ता के सन्देशों को ध्यान में रखते हुए प्रधानमन्त्री ने फिलिस्तीन सम्बन्धी समिति की मन्त्री स्तर की एक तात्कालिक बैठक बुलाई जो 18 और 19 नवम्बर, 1983 को नई दिल्ली में सम्पन्न हुई। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार, विदेश मन्त्री नरसिंह राव के नेतृत्व में एक मन्त्री स्तरीय दल ने कुवैत और दमिश्क की यात्रा की। इस दल में क्यूबा और यूगोस्लाविया के विदेश मन्त्री और संयुक्त राष्ट्र में सेनेगल के स्थाई प्रतिनिधि

शामिल थे। विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप मन्त्री स्तरीय दल को दोनो प्रतिपक्षी दलो से यह वचन लेने मे सफलता मिली कि वे इस आधार पर बिना किसी समय सीमा के युद्ध विराम का पालन करेंगे कि दोनो पक्ष युद्ध-विराम का सम्मान करें। *दोनो प्रतिपक्षी दलो ने समिति को यह आश्वासन भी दिया कि वे फिलिस्तीनी* ढांचे के भीतर अपने सभी मतभेदो को शान्तिपूर्ण तरीको से निपटाएँ।

1983-84 मे भारत गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के दो सदस्यो, ईरान और ईराक के बीच निरन्तर सघर्ष के बराबर चिन्तित रहा। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी समूचे गुट-निरपेक्ष समुदाय की ओर से इन दोनो देशो से तत्काल सघर्ष समाप्त करने तथा बातचीत द्वारा तथा शान्तिपूर्ण तरीको से सम्मानजनक, न्यायसगत और स्थाई शान्ति को स्थापित करने की अपील की। यमन अरब गणराज्य के विदेश मन्त्री ने दिसम्बर, 1983 मे भारत की यात्रा की। भारत-यमन अरब गणराज्य सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर किए गए। भारत उस देश को तकनीकी सहायता मे वृद्धि करने पर सहमत हुआ। नवम्बर, 1983 मे बहरीन के श्रममन्त्री ने भारत की यात्रा की। भारत के ईराक, लीबिया और सऊदी अरब के साथ द्विपक्षीय सम्बन्ध मजबूत हुए। सितम्बर, 1983 मे भारत-मिस्र सयुक्त आयोग स्थापित करने के करार पर हस्ताक्षर किए गए।

1984 के दौरान भारत और पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के अरब राष्ट्रो के बीच कई उच्च स्तरीय यात्राएँ हुई। श्रीमती गाँधी अप्रेल, 1984 मे लीबिया और ट्यूनिसिया गई। भारत ने फिलिस्तीन जनता को सामग्रीगत और नैतिक सहायता जारी रखी। नवम्बर, 1984 मे अम्मान मे आयोजित फिलिस्तीन राष्ट्रीय परिषद् के 17वे अधिवेशन मे भारत ने एक प्रतिनिधिमण्डल भेजा। भारत ने लगातार एक सशक्त सयुक्त और गुट-निरपेक्ष लेबनान का समर्थन किया। अल्जीरिया के साथ भारत ने एक-दूसरे के साथ व्यापक सहयोग किया। 27 फरवरी से 5 मार्च, 1984 तक नयी दिल्ली मे आयोजित भारत-अल्जीरिया सयुक्त आयोग की दूसरी बैठक मे सहयोग को बढाने के उपायो का पता लगाया गया। भारत और मोरक्को के बीच आर्थिक और वाणिज्यिक सम्बन्धो को सुदृढ करने के गम्भीर प्रयास किए गए। मोरक्को के व्यापार, उद्योग एव पर्यटन मन्त्री ने सितम्बर, 1984 मे भारत की यात्रा की। तत्पश्चात् दो भारतीय प्रतिनिधिमण्डल नवम्बर, 1984 मे मोरक्को गए। भारत ने हमेशा पश्चिमी सहारा की जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार के प्रति महानुभूति और समर्थन व्यक्त किया। पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका क्षेत्र मे कई प्रतिनिधिमण्डल श्रीमती गाँधी की अन्त्येष्टि मे भाग लेने के लिए भारत आए।

1984-85 मे खाडी देशो यानी ईरान, ईराक, सऊदी अरब, कुवैत, बहरीन, कातार, सयुक्त अरब अमीरात, ओमान, उत्तर यमन और दक्षिण यमन के साथ विविध क्षेत्रो मे भारत के सम्बन्धो मे सुधार की प्रक्रिया जारी रही। ईरान-ईराक आपसी बातचीत के माध्यम से तत्काल समाप्त करने के उपाय ढूंढने के लिए भारत

ने अपनी निजी हैसियत से और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष के रूप मे भी अपने प्रयास जारी रखे। राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने 1984 मे यमन अरब गणराज्य तथा यमन लोकतान्त्रिक जन गणराज्य की राजकीय यात्राएँ की। विदेश राज्यमन्त्री अगस्त, 1984 मे कातार गए। कातार के अमीर ने फरवरी, 1984 मे भारत की राजकीय यात्रा की। भारत और ईराक के सयुक्त आयोग की बैठक मई, 1984 में तथा भारत और ईरान सयुक्त आयोग की बैठक नवम्बर, 1984 मे हुई। सयुक्त अरब अमीरात के प्राधिकारियो ने 1984 मे भारतीय विमान अपहरणकर्ताओ को दुबई से हमे वापस लौटाकर सद्भावना का परिचय दिया।

1986 के दौरान इन सम्बन्धो को बहु आयामी बनाने और इसके समेकन की प्रक्रिया जारी रही। भारत निर्भीकतापूर्वक अरबो और पश्चिमी एशिया समस्या के व्यापक न्यायोचित तथा स्थाई समाधान का समर्थन करता और फिलस्तीनी जनता को अपना नैतिक और भौतिक समर्थन देता रहा। इस समस्या के हल के उपाय के रूप मे पश्चिमी एशिया के बारे मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के सम्बन्ध मे हरारे शिखर सम्मेलन मे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के आह्वान का भारत ने समर्थन किया। लेबनान की स्थिति गम्भीर बनी रही और वहाँ लगातार हो रहे गुट सघर्ष का कोई हल नही नजर आता। भारत यह आशा करता है कि सद्भावना का वातावरण बनेगा और इस त्रासदी का शीघ्र ही अन्त होगा। लीबिया के त्रिपोली और बेघाजी नामक नगरो पर अमेरिका ने अप्रैल, 1986 मे जो बमबारी की थी उसकी भारत ने द्विपक्षीय आधार पर तथा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष की हैसियत से निन्दा की। भारत लीबिया के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धो मे भी वृद्धि हुई।

भारत और अल्जीरिया के द्विपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो क्षेत्रो में घनिष्ठ राजनीतिक सम्बन्ध बने रहे। दोनो देशो के बीच आर्थिक और वाणिज्यिक सहयोग पहले से ही सन्तोषजनक है। अल्जीरिया के उप सहयोग मन्त्री ने मार्च 1986 मे भारत की यात्रा की। रेल राज्य मन्त्री माधवराव सिंधिया ने भी अप्रेल 1985 मे अल्जीरिया की यात्रा की। उनकी इस यात्रा के दौरान रेलवे क्षेत्र मे सहयोग सम्बन्धी करार पर हस्ताक्षर हुए। भारत अल्जीरिया सयुक्त आयोग ने 10,000 लाख अमरीकी डालर का वार्षिक व्यापार लक्ष्य निर्धारित करने के लिए सहमति व्यक्त की। यह पिछले वर्ष के व्यापार के मुकावले पाँच गुना है। सयुक्त आयोग ने रेलवे उद्योग, हाइड्रोलिक उर्वरकों तथा भंपजिक जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रो में सहयोग की सम्भावनाओ का पता लगाया।

अक्तूबर, 1985 में सहरावी अरब लोकतान्त्रिक गणराज्य को भारत द्वारा मान्यता देने के परिणामत. सहरावी अरब लोकतान्त्रिक गणराज्य के राजदूतावास ने नई दिल्ली में कार्य शुरु कर दिया है। भारत के आमन्त्रण पर जोर्डन के नरेश और महारानी अक्तूबर, 1986 में भारत की राजकीय यात्रा पर आए। भारत जोर्डन आर्थिक सहयोग में सराहनीय वृद्धि हुई है। इस क्षेत्र के अन्य देशो के साथ

भी विभिन्न स्तरो पर सम्पर्क कायम किया गया। आपसी हित के क्षेत्रो में सहयोग को मजबूत करने तथा बढाने के उपाय किए गए।

अप्रैल, 1986 मे नई दिल्ली मे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के समन्वय ब्यूरो की बैठक मे और सितम्बर, 1986 के दौरान हरारे शिखर सम्मेलन मे खाना देशो के सन्धि उच्च स्तर पर सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया। खाडी क्षेत्र के दस देशो यानी ईरान, ईराक, सऊदी अरब, सयुक्त अरब अमीरात, कुवैत, ओमान, बहरीन, कतार, यमन अरब गणराज्य तथा यमन जन लोकतान्त्रिक गणराज्य के साथ-साथ विविध क्षेत्रो मे भारत ने मैत्री और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बराबर विकसित होते रहे हैं। उच्चस्तरीय यात्राओ और दौरो द्वारा खाडी देशो के साथ सम्बन्ध बनाए रखे गए हैं।

ईरान के विदेश मन्त्री द्विपक्षीय वार्ता के लिए अगस्त 1986 मे भारत आये। उसके बाद ईरान का आर्थिक शिष्टमण्डल सितम्बर, 1986 मे भारत आया और उसने भारतीय वस्तुओ के आयात के बदले तेल की वस्तु विनिमय खरीद के सवाल पर विचार विमर्श किया। ईराक के स्थायी अडर सैक्रेटरी हरारे शिखर सम्मेलन से पहले जून 1986 मे द्विपक्षीय बातचीत के लिए भारत की यात्रा पर आये। ईराक के तेलमन्त्री के नेतृत्व में एक इराकी शिष्टमण्डल अक्तूबर 1986 मे नई दिल्ली मे सम्पन्न भारत ईराक सयुक्त आयोग के दसवें सत्र मे भाग लेने के लिए भारत आया। भारत मे कुवैती निवेश के अवसरो का पता लगाने के उद्देश्य से अक्तूबर, 1986 मे एक उच्च स्तरीय कुवेती निवेश शिष्टमण्डल भारत आया। यमन अरब गणराज्य के सचार मन्त्री दिसम्बर, 1986 में भारत आये और उन्होने भारत और यमन अरब गणराज्य के बीच दूर सचार के क्षेत्र मे सहयोग के बारे में विचार-विमर्श किया।

भारत और खाडी के 5 देशो यानी सयुक्त अरब अमीरात, सऊदी अरब, ईरान, ईराक तथा यमन अरब गणराज्य के बीच सयुक्त आयोग स्थापित किए गए हैं। बहरीन और कतार के साथ भारत की सयुक्त समितियाँ है। भारत ईराक सयुक्त आयोग का चौथा अधिवेशन फरवरी 1987 में दिल्ली मे हुआ।

भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया

विश्व के अन्य क्षेत्रो की भांति भारत दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भी घनिष्ठता सद्भावना और सहयोग बढाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। एक-दूसरे देश की उच्चस्तरीय यात्राओ तथा विभिन्न क्षेत्रो में बहुत से द्विपक्षीय करारो पर हस्ताक्षर करके इस दिशा में कदम उठाए गए हैं।

अक्तूबर, 1986 में भारत के प्रधानमन्त्री ने इण्डोनेशिया और थाईलैण्ड की यात्रा के दौरान इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सोहार्तो तथा थाईलैण्ड के प्रधानमन्त्री जनरल तिनसुलानोडा के साथ विभिन्न क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर एक जैसी भावना प्रतिलक्षित हुई। भारतीय वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान परिषद तथा थाईलैण्ड वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी अनुसन्धान संस्थान के बीच विज्ञान और

प्रौद्योगिकी में सहयोग सम्बन्धी एक प्रोतोकाल पर हस्ताक्षर किए गए। भारत के विदेशमन्त्री दिसम्बर, 1986 को बैंकाक गए। इस यात्रा के दौरान थाईलैंण्ड के साथ दोहरे कराधान के परिहार सम्बन्धी अभिसमय पर अनुसम्बन्ध दस्तावेज का आदान-प्रदान किया गया। थाईलैण्ड की राजकुमारी महाचक्री सिरिधीरन मार्च, 1987 में भारत की यात्रा पर आई।

30-31 अक्तूबर, 1986 को नई दिल्ली में भारत-मलेशिया संयुक्त समिति का पाँचवां अधिवेशन हुआ। मलेशिया के प्रधानमन्त्री डॉ महाथीर मोहम्मद 29 जनवरी से 1 फरवरी, 1987 तक भारत की सरकारी यात्रा पर आए।

भारत और सिंगापुर के बीच व्यापारिक प्रतिनिधिमण्डलों का नियमित आदान-प्रदान होता रहा है। व्यापार और वाणिज्य राज्य मन्त्री श्री ली यून यॉंग बम्बई में सिंगापुर के व्यापार विकास बोर्ड के कार्यालय का उद्घाटन करने के लिए अक्तूबर, 1986 में भारत की यात्रा पर आए।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के साथ भारत के मौजूदा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सम्बन्ध प्रधानमन्त्री की अक्तूबर, 1986 में इन देशों की यात्रा से और बेहतर हुए। किसी भारतीय प्रधानमन्त्री ने इन देशों की यात्रा लगभग दो दशाब्दी के बाद की। अतः विश्व के इस भाग के साथ भारत के सम्बन्धों को नया बल मिला।

प्रधानमन्त्री की यात्रा के दौरान आस्ट्रेलिया के साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी सम्बन्धी करार तथा न्यूजीलैण्ड के साथ दोहरे कराधान के परिहार सम्बन्धी करार पर हस्ताक्षर किए गए। अधिकारिक बातचीत में द्विपक्षीय व्यापार के बारे में विस्तृत बातचीत की गई। यह फैसला किया गया कि व्यापार के और सन्तुलित विकास के लिए प्रयास किए जाएँगे।

प्रधानमन्त्री की यात्रा के दौरान, एसोसिएटिड चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री ऑफ इण्डिया (एसोचेम) का एक शिष्टमण्डल भी आस्ट्रेलिया गया। 'एसोचेम' तथा कनफडरेशन ऑफ आस्ट्रेलिया इण्डस्ट्रीज के बीच एक संयुक्त व्यापार परिषद् की स्थापना की गई जिससे दोनों देशों के निजी क्षेत्रों के बीच व्यापार को आवश्यक गति मिलने की सम्भावना है। आस्ट्रेलिया के साथ 6 अगस्त, 1986 में एक सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम को अन्तिम रूप दिया गया।

1986 के दौरान इस क्षेत्र की कई उच्च स्तरीय यात्राएँ की गईं। इस्पात और खान मन्त्री श्री के सी पंत जुलाई में आस्ट्रेलिया गए, संसदीय कार्य मन्त्री श्री एच के एल भगत सितम्बर में एक संसदीय शिष्टमण्डल के अध्यक्ष के रूप में न्यूजीलैण्ड गए, न्यूजीलैंण्ड के समाज कल्याण मन्त्री माननीय अनहर्कम अप्रैल, 1986 में भारत की यात्रा पर आए। आस्ट्रेलिया का एक संसदीय शिष्टमण्डल तथा संयुक्त सेवा स्टाफ़ कॉलेज अध्ययन दल नवम्बर, 1986 में भारत आया।

लाओस को भारत सरकार से उपहार स्वरूप *55* बड़े सिंचाई पम्प सैट भेजे गए तथा लघु उद्योगों के सम्बन्ध में व्यवहार्य अध्ययन तैयार करने के लिए

परामर्शदाताओ का एकदल लाओस भेजा गया। लाओस मे पोटास भण्डारो का प्राथमिक सर्वेक्षण करने के लिए भारत के वरिष्ठ भू-वैज्ञानिको का एक दल लाओस गया। सहायतार्थ दवाइयाँ भी भेजी गई।

भारत-वियतनाम सयुक्त आयोग के दूसरे सत्र मे लिए गए निर्णयो का क्रियान्वयन प्रभावी हुआ। अनेक वियतनामी विशेषज्ञो ने विभिन्न भारतीय सस्थाओ मे प्रशिक्षण लिया तथा भारतीय विशेषज्ञ वियतनाम भेजे गए। वियतनाम मे भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत दो अनुसधान केन्द्र, पहला पशु पालन और चारे सम्बन्धी और दूसरा चावल सम्बन्धी शुरू किए गए। इन्होंने प्रभावी ढग से काम करना शुरू कर दिया है।

विदेश मन्त्री के नेतृत्व मे एक उच्च स्तरीय शिष्टमण्डल 9–12 जनवरी, 1987 तक वियतनाम की यात्रा पर गया। इस दौरान एक करार पर हस्ताक्षर किए गए जिसमे भारत और वियतनाम के बीच तेल के क्षेत्र मे सहयोग करने की व्यवस्था है। भारत सरकार ने 10 करोड रु के नए ऋण तथा 1 करोड रु के उपहार की भी घोषणा की गई।

इस वर्ष जो उच्चस्तरीय यात्राएँ की गई उनमे अप्रेल-मई, 1986 मे कम्पूचिया के सूचना और सस्कृति मन्त्री श्री थेग फोन की यात्रा तथा भारत के स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मन्त्री की जून, 1986 मे वियतनाम यात्रा शामिल है।

पूर्वी-एशिया में जापान और कोरिया के साथ भारत के सम्बन्ध

पूर्वी एशिया के प्रमुख देशो मे चीन, जापान, कोरिया और मगोलिया है।

भारत और जापान

भारत और जापान के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण है। पारम्परिक यात्राओ के फलस्वरूप दोनो देशो के बीच आर्थिक सम्बन्धो का अच्छा विकास हुआ है। जापान सरकार ने नवम्बर, 1979 में नई दिल्ली मे भारत और जापान पर एक सगोष्ठी आयोजित की। यह पहला मौका था जबकि इस देश मे इस प्रकार की सगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसने एशिया मे भारत और जापान की भूमिकाओ पर विचार-विमर्श के लिए एक मच का काम किया। नवम्बर, 1979 मे ही नई दिल्ली मे आयोजित बैठक मे भारत-जापान ने ऐसे बहुत से क्षेत्रो पर विचार किया जिनमे जापान के अनुभव से भारत लाभ उठा सकता है। 1980–81 के दौरान भी भारत और जापान ने कई अवसरो पर उच्च स्तरीय विचार-विमर्श किया। 1981–82 के दौरान भी द्विपक्षीय, क्षेत्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर जापान के साथ वार्ता का क्रम जारी रखा गया। व्यापार के क्षेत्र मे जापान-भारत का मुख्य साझेदार बना रहा। दोनो देशो के बीच दुतरफा व्यापार दो अरब अमेरिकी डॉलर तक पहुँच गया। भारत-जापान अध्ययन समिति की एक बैठक मार्च, 1981 मे टोकियो मे हुई जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय और द्विपक्षीय मसलो पर विचार-विनिमय हुआ। अक्टूबर म कॅनकुन शिखर सम्मेलन मे भारत की प्रधानमन्त्री ने जापान के

प्रधानमन्त्री से मुलाकात की तथा द्विपक्षीय सम्बन्धों के मामलों में क्षेत्रीय प्रश्नों पर और कैनकुन शिखर सम्मेलन के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत मसलों पर संक्षिप्त विचार-विमर्श किया।

1982–83 के दौरान भारत-जापान के सम्बन्ध और विकसित हुए। भारत के विदेश मन्त्री ने अप्रैल में टोकियो की यात्रा की। प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी अमेरिका से लौटते समय 5 अगस्त को एक रात के लिए टोकियो ठहरीं। जापान के विदेश मन्त्री ने 27 से 30 अगस्त तक भारत की यात्रा की। अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और द्विपक्षीय प्रश्नों पर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है। व्यापार के विकास को सुनिश्चित करने भारत से निर्यात-वृद्धि के लिए और द्विपक्षीय आर्थिक सम्बन्धों को सार्वभौम मन्दी की प्रवृत्ति से बचाने के लिए भारत-जापान वाणिज्यिक सहयोग समिति द्वारा विशिष्ट प्रयास किए गए। वाणिज्य सहयोग की स्थाई समितियों की जो संयुक्त बैठक अप्रैल में जापान में हुई उसमें यह तय किया गया कि आगामी 5 वर्षों में दुतरफा व्यापार 5 अरब अमेरिकी डॉलर तक पहुँच जाना चाहिए। यह भी तय किया गया कि व्यापार में क्षेत्रवार और पण्यवार संवर्धन करने के लिए 'टास्क फोर्स' बनाए जाएँ। भारत-जापान वाणिज्य सहयोग समिति की 15वीं संयुक्त बैठक नई दिल्ली में 7 और 8 दिसम्बर को हुई जिसमें द्विपक्षीय व्यापार और आर्थिक सम्बन्धों के विकास पर गहराई के साथ विचार-विमर्श किया गया। जून में पेरिस में 'एड इण्डिया कन्सारेटियम' की बैठक में जापान की सरकार ने 133 करोड़ रुपये (33 अरब येन) की सहायता भारत को देने का वचन दिया।

मई, 1983–84 में भारतीय वित्त मन्त्री ने जापान की यात्रा की भारत-जापान अध्ययन समिति की बैठक नवम्बर, 1983 में टोकियो में हुई। दोनों देशों के बीच विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग बढ़ाना इस बैठक की मुख्य सिफारिश था। भारत-जापान व्यापारिक वार्ता नई दिल्ली में 16 से 21 दिसम्बर, 1984 तक चली। भारत-जापान औद्योगिक सहयोग का प्रतीक सुजुकी मारुति उद्यम 14 दिसम्बर, 1983 को शुरू किया गया। 1984–85 में जापान के प्रधानमन्त्री ने 3 से 6 मई, 1984 तक भारत की राजकीय यात्रा की। दोनों देशों के बीच विभिन्न स्तरों पर दो तरफा यात्रा की गई। जापान सरकार के 25 सदस्यीय उच्च शक्ति प्राप्त आर्थिक मिशन ने 30 नवम्बर से 7 दिसम्बर, 1984 तक भारत की यात्रा की। जापानी प्रतिनिधि मण्डल ने विशेष रूप से आटोमोबाइल और इलेक्ट्रोनिक्स के क्षेत्र में भारत में पूंजी निवेश तथा सहयोग की सम्भावनाओं और समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। सबसे बढ़कर विविध एवं सन्तुलित व्यापार पर भी बातचीत की गई। भारत के राष्ट्रपति अपनी यात्रा के सिलसिले में 3 मई, 1984 को टोकियो रुके और जापान में भारतीय समुदाय के प्रतिनिधियों से मिले। वाणिज्य मन्त्री ने अप्रैल, 1984 में वार्षिक ई एस ए पी बैठक में एक भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया। भारत ने टोकियो में

आयोजित होरटस और फूडेक्स-84 मे भी भाग लिया। भारतीय व्यापार विकास प्राधिकरण ने नवम्बर, 1984 मे ओसाका मे घरेलू फर्नीचर और व्यापार की सामान्य जिन्सो की प्रदर्शनी का आयोजन किया।

रिपोर्ट 1986-87 के अनुसार हमारे प्रधानमन्त्री की 1985 मे जापान यात्रा से आपसी मित्रतापूर्ण और सहयोगपूर्ण सम्बन्धो को और गति मिली। दोनो देशो के बीच सॉस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी क्षेत्रो मे पारस्परिक आदान-प्रदान मे वृद्धि हुई। जापान भारत के साथ व्यापार मे तीसरा सबसे बड़ा भागीदार है हालांकि कुल व्यापार का 78 प्रतिशत व्यापार उसके साथ होता है। जून, 1976 मे टोकियो मे भारत-जापान द्विपक्षीय व्यापार वार्ता के दौरान वाणिज्यिक क्षेत्र मे आदान-प्रदान की गुंजाइश पर भी विचार-विमर्श किया गया। नई दिल्ली म दिसम्बर, 1986 मे दौरान भारत-जापान व्यापार सहयोग समिति की 19वी सयुक्त समिति मे व्यापार, निवेश, सयुक्त उद्यम और सहयोग के सवर्धन हेतु उपायो पर विचार-विमर्श किया गया। बैंक ऑफ टोकियो सहित महत्त्वपूर्ण जापानी कम्पनियो द्वारा प्रायोजित बहुत से जापानी सर्वेक्षण प्रतिनिधि मण्डल आर्थिक स्थिति तथा सहयोग की सम्भावना का जायजा लेने के लिए भारत आए। इसके जवाब मे आर्थिक, वाणिज्यिक और अन्य क्षेत्रो मे वाणिज्य मण्डल निर्यात सवर्धन परिषदो की ओर से तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो की ओर से बहुत से भारतीय प्रतिनिधि मण्डलो ने भी जापान की यात्रा की। असम मे गैस आधारित परियोजना के लिए 300 करोड येन के विशेष ऋण तथा लखनऊ मे सजय गांधी स्नातकोतर चिकित्सा सस्थान के लिए 19 37 करोड येन की अनुदान सहायता के सम्बन्ध मे दस्तावेजो का आदान-प्रदान किया। वर्ष 1986–87 के लिए 448 43 करोड येन के जापानी ऋण मे और 1985–86 के लिए जापान द्वारा दिए गए 392 31 करोड येन के ऋण मे तुलनात्मक दृष्टि से 23 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार जापान-भारत को द्विपक्षीय आधार पर ऋण देने वाला दूसरा सबसे बडा देश बन गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी सम्बन्धी भारत-जापान समिति ने सितम्बर, 1986 मे नई दिल्ली मे हुई बैठक मे सम्भाव्य सहयोग के दस से अधिक क्षेत्रो का पता लगाया। नवम्बर, 1987 मे भारत में जापान मास मनाया गया।

भारत और कोरिया

कोरिया गणराज्य तथा कोरिया जनवादी गणराज्य दोनो के साथ भारत के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण है और द्विपक्षीय यात्राओ का क्रम चलता रहता है।

भारतीय विदेश मन्त्रालय के सचिव एरिक गोसाल्वेज ने जून, 1980 में प्योगयाग की यात्रा की। नवम्बर, 1980 मे भारत ने एक अन्तरमन्त्रालयी प्रतिनिधि मण्डल कोरिया गणराज्य भेजा ताकि दोनो देशो के बीच आर्थिक सहयोग की सम्भावनाओ का पता लगाया जा सके। नवम्बर, 1980 में कोरिया गणराज्य के विशेष दूत चोई कुंग्सन मूसो भारत आए। 1981–82 में कोरिया गणराज्य के साथ भारत के सम्बन्ध में विकास की गति यथावत बनी रही, विशेष रूप में

व्यापार और आर्थिक क्षेत्रों मे । भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग चैम्बर परिसंघ तथा कोरियाई वाणिज्य एवं उद्योग चैम्बर की संयुक्त व्यापार परिषद् ने यह सिफारिश की कि दुतरफा व्यापार तेजी से होना चाहिए और तीन-चार वर्ष की अवधि में इसे एक अरब अमेरिकी डॉलर के लक्ष्य को प्राप्त कर लेना चाहिए। कोरिया जनवादी गणराज्य के साथ भारत के सम्बन्ध 1981–82 में और विकसित हुए। द्विपक्षीय सहयोग के नए क्षेत्र तय किए गए। सहयोग के एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर हुए। जुलाई मे प्योंगयांग में भारत और कोरियाई जनवादी गणराज्य के बीच 1981-82 के लिए एक सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम पर हस्ताक्षर हुए।

1982-83 मे पहले ही की भांति भारत ने दोनो कोरिया के एकीकरण का समर्थन किया। कोरिया गणराज्य के विदेश मन्त्री ने जनवरी, 1983 तक भारत की यात्रा की। कोरिया गणराज्य के साथ भारत के आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धो को सविदाओ के माध्यम से काफी प्रोत्साहन मिला लेकिन व्यापार सन्तुलन कोरिया गणराज्य के हक मे और अधिक झुक गया। 1982-83 के दौरान वाणिज्य तथा अन्य क्षेत्रो के कई प्रतिनिधि मण्डलो ने एक-दूसरे की यात्रा की।

1983-84 मे विदेश मन्त्री ने 7 से 10 मई तक कोरिया गणराज्य की यात्रा की। इससे पहले कोरिया गणराज्य के विदेश मन्त्री ने इन यात्राओ के दौरान विकासमान द्वि-पक्षीय सम्बन्धो की—विशेषकर आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रो के सम्बन्धो की समीक्षा की गई। अक्तूबर, 1983 मे भारत ने सिओल मे 70वें *अन्तर्राष्ट्रीय ससदीय सघ के सम्मेलन मे भाग लिया। कोरिया गणराज्य के* राष्ट्रपति के विशेष दूत डॉ तई सूओली ने 6 से 9 दिसम्बर, 1983 तक भारत की यात्रा की। सस्कृति के क्षेत्र मे भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के सहयोग से नई दिल्ली मे 'दक्षिण कोरियाई मृतिकाशिल्प' की एक प्रदर्शनी लगाई गई। नई दिल्ली मे सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन मे कोरियाई जनवादी-गणराज्य के प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व उप-राष्ट्रपति पाक सोंग चोल ने किया। 1984-85 मे कोरिया गणराज्य और कोरिया जनवादी-गणराज्य के साथ सम्बन्ध विकास की प्रक्रिया और तेज हुई। भारत ने सिओल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेला 1984 मे भाग लिया। अक्तूबर, 1984 मे ही कोरिया गणराज्य के एक आर्थिक मिशन ने भारत की यात्रा की और आर्थिक सहयोग, सयुक्त उद्यम तथा द्वि-पक्षीय व्यापार सवर्द्धन पर विचार-विमर्श किया। भारत-कोरिया जनवादी-गणराज्य सम्बन्धो के आर्थिक पक्ष को मजबूत करने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। भारत और कोरिया लोकतान्त्रिक जन-गणराज्य के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम के अधीन कला, सस्कृति, शिक्षा, प्रौढ-शिक्षा, फिल्म इत्यादि के क्षेत्रो मे दोनो देशों की ओर से एक-दूसरे के यहाँ यात्राएँ की गई।

मार्च, 1986 मे कोरिया गणराज्य के प्रधान मन्त्री के यात्रा के दौरान कुछ मामलो मे एक-मुश्त आर्थिक योजना पर सहमति हुई। भारत ने सितम्बर, 1986 मे सीओल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेले मे भाग लिया। भारत और कोरिया गणराज्य

के बीच विविध तथा सन्तुलित व्यापार की वृद्धि के लिए प्रयास किए गए। भारत ने सितम्बर-अक्तूबर, 1986 मे सीओल में आयोजित दसवें एशियाई खेलो में भाग लिया। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी एन भगवती तथा न्याय राज्य मन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय विधि सघ सम्मेलन मे भाग लेने के लिए अगस्त, 1986 मे सीओल गए। उच्चस्तरीय द्वि-पक्षीय यात्राओ का आदान-प्रदान होता रहा जिससे पारस्परिक सम्बन्ध और मजबूत बने। भारत के एक ससदीय प्रतिनिधि मण्डल ने जून, 1986 मे कोरिया जनवादी-गणराज्य की यात्रा की। जुलाई, 1986 में प्योंगयांग में आयोजित गुट-निरपेक्ष देशो के शारीरिक शिक्षा एव खेलकूद सम्बन्धी द्वितीय महासम्मेलन में भारत ने भाग लिया। दोनो देशो के बीच व्यापार को बढाने की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए कोरिया जनवादी-गणराज्य के बहुत से प्रतिनिधि मण्डलो ने भारत की यात्रा की। कोरिया लोकतान्त्रिक जन-गण-राज्य के जस्ते की सप्लाई के बदले में भारत से 1,00,000 टन गेहूँ की सप्लाई के एक सौदे को अन्तिम रूप दिया गया। भारत-सोवियत सघ के साथ करार के तहत भारत-कोरिया लोकतान्त्रिक जन गणराज्य को 2,73,000 टन गेहूँ की सप्लाई करने हेतु सहमत हुआ।

भारत और अफगानिस्तान

भारत और अफगानिस्तान ने अपने परम्परागत मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखा है। भारत यह मानता रहा है कि अफगानिस्तान में हुई घरेलू राजनीतिक घटनाएँ वहाँ का आन्तरिक मामला है। विगत कुछ वर्षो मे दोनो देशो में निकटता बढी है। भारतीय तकनीकी एव आर्थिक सहयोग कार्यक्रम और सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम के अन्तर्गत अफगानिस्तान के साथ औषधि, लघु उद्योग, छोटी पन-बिजली परियोजनाओ आदि क्षेत्रो में भारत द्वारा तकनीकी और आर्थिक सहयोग तथा अफगानिस्तान के साथ भारत का सांस्कृतिक सहयोग अत्यधिक उत्साह के साथ कायम रहा है।

1986-87 के दौरान अफगानिस्तान के साथ भारत के सम्बन्ध बराबर सन्तोषजनक ढग से विकसित होते रहे। आर्थिक, व्यापारिक और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी भारत-अफगानिस्तान सयुक्त आयोग की मध्यकालीन समीक्षा बैठक जून, 1986 में काबुल में हुई। दोनो पक्षो ने इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया कि 7वें भारत-अफगान सयुक्त आयोग के अधिकांश निर्णय क्रियान्वित हो चुके हैं। भारत-अफगान सहयोग के मुख्य प्रतीक इन्दिरा गांधी बाल स्वास्थ्य सस्थान, काबुल में अतिरिक्त शल्य चिकित्सा वार्ड तथा एक पालीक्लीनिक का निर्माण कार्य शुरू किया गया। भारत-अफगानिस्तान को जन-स्वास्थ्य औद्योगिक विकास, तथा शिक्षा सहित कई क्षेत्रों मे बराबर सहायता देता रहा।

अफगानिस्तान की राजनीतिक स्थिति के बारे में भारत निरन्तर चिन्तित रहा है क्योंकि इसकी वजह से हमारे सुरक्षा वातावरण पर भी प्रभाव पड़ा है।

अफगानिस्तान के बारे में भारत का दृष्टिकोण समरूप और सैद्धान्तिक है। भारत-अफगानिस्तान में बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध रहा है। भारत अफगान समस्या के राजनीतिक समाधान के पक्ष में है। उसे अफगानिस्तान की प्रभुसत्ता, गुट-निरपेक्षता तथा उसके स्वतन्त्र दर्जे में गहरी रुचि है। इस सन्दर्भ में भारत ने सयुक्त राष्ट्र महासचिव की पहल का समर्थन किया।

अफगानिस्तान के विदेश मन्त्री श्री अब्दुल वकील 7 से 10 फरवरी, 1987 तक स्वय अपनी पहल पर भारत की राजकीय यात्रा पर आए। यह यात्रा मुख्यत इसलिए की गई थी कि अफगानिस्तान में शुरू की गई राष्ट्रीय समझौते की कार्रवाइयों के बारे में भारत सरकार को अवगत कराया जा सके और अधिक सान्निध्य वार्ता के अगले दौर से पहले हमारे साथ विचार-विमर्श कर सके।

भारत-अफ्रीका सम्बन्ध

शुरू से ही भारत दुनिया के किसी भी हिस्से में रगभेदवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध रहा है। निर्गुट आन्दोलन, राष्ट्रकुल तथा सयुक्त राष्ट्रसघ तक उसने बार-बार उसके खिलाफ आवाज उठाई है और उन सभी सगठनों को पूरा समर्थन देता रहा है, जो इस प्रकार के भेदभाव के खिलाफ सघर्षरत रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका की रगभेदवादी सरकार के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय अभियान चलाने में भारत की अग्रणी भूमिका है। इस विषय पर राष्ट्रकुल में ब्रिटेन को अलग-थलग करने के प्रयास में भी भारत सक्रिय रहा है।

प नेहरू की नीति का अनुसरण करते हुए श्रीमती गाँधी ने भारती-अफ्रीका सम्बन्धों को मुखरता प्रदान की और राजीव गांधी ने भारत-अफ्रीका सम्बन्धों की नींव पर नई इमारत खडी करने का प्रयत्न किया है। यह इस बात का सकेत है कि भारत-अफ्रीकी और दक्षिणी-पूर्व एशियाई देशों को राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से अपने लिए महत्वपूर्ण समझता है। पूर्वी-अफ्रीकी सागर तट के किसी भी हिस्से पर महाशक्तियों का प्रभुत्व भारतीय आजादी के लिए खतरनाक हो सकता है। भारतीय विदेश नीति में राजनीति तथा सामरिक हितों के साथ ही व्यापारिक हितों के साथ ही व्यापारिक हितों को भी महत्त्व मिला है।

भारत की एक प्रमुख उपलब्धि रही है निर्गुट नीति। उसने अफ्रीकी देशों में यह विश्वास जमाया है कि निर्गुट आन्दोलन में कमजोर और अविकसित देशों को भी बडी ताकतों से दबाव से मुक्त होकर विश्व मामलों में स्वायत्तता कायम रखने में मदद की है।

भारत और दक्षिण अफ्रीकी देशों के सम्बन्ध के 41 वर्षों के इतिहास पर नजर डालें तो इसे 5 चरणों में बाँटा जा सकता है (1) 1946 से 1962 तक के 15 वर्ष, जिस दौरान जवाहर लाल नेहरू ने विदेश नीति को एक स्वरूप प्रदान किया, (2) 1962 से 1971 तक का अनिश्चय काल, जब भारत को चीन के साथ सीमा-विवाद से जूझना पडा था, (3) 1971 से 1977 तक का श्रीमती गांधी का शासन काल, (4) 1977 के बाद केन्द्र में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार का

समय और (5) 1980 के बाद अक्तूबर, 1984 तक श्रीमती गांधी की वापसी का समय और फिर राजीव गांधी का प्रधान मन्त्रित्वकाल।

प. जवाहरलाल नेहरू का मानना था कि एशिया और अफ्रीका के देशों के उपनिवेशवादी शासन की सामान्य पृष्ठभूमि तथा समस्याएँ उन्हें एक-दूसरे के नजदीक लाने में मदद करेंगी। 1966 के आरम्भ में भारत ने संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 10 और 14 के अन्तर्गत रंगभेद की समस्या को विश्व मंच पर उठाया। उसने दक्षिण अफ्रीकी सरकार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उल्लंघन का आरोप लगाया और कहा कि विभिन्न अध्यादेशों के जरिये भारतीय मूल के लोगों को अपंग कर देने की कोशिशें की जा रही हैं। यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाने के साथ ही भारत ने दक्षिण अफ्रीका से अपना उच्चायुक्त वापस बुला लिया और व्यापार सम्बन्ध तोड़ दिया। प. नेहरू की आम अफ्रीकी नीति के प्रमुख तत्त्व थे—(1) उपनिवेशवाद का अन्त और बहुमत के शासन की प्राप्ति, (2) पूर्वी, मध्य और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेदवाद का विरोध, (3) भारतीयों को अफ्रीकियों के साथ एकजुट होने की सलाह।

अफ्रीकियों के प्रति समर्थन के बावजूद भारत ने उन्हें हिंसक तरीके न अपनाने की सलाह दी थी, भारत का मानना था कि अफ्रीकी गुटों द्वारा हिंसा का मार्ग अपनाया जाना उनके हितों को नुकसान पहुँचा सकता है। पाँचवां दशक पूरा होते होते भारत की विश्व चिन्ता का एशियाई अफ्रीकी दायरे के बाहर विस्तार शुरू हुआ। एशियाई-अफ्रीकी आन्दोलन में भारत की प्रमुख भूमिका, जो बाण्डुंग सम्मेलन में स्पष्ट दिखाई पड़ी थी, क्षीण होने लगी और उसकी जगह मिस्र ने ले ली। 1957 में एफ्रो-एशियाई पीपुल्स कान्फ्रेंस काहिरा में हुई। नेहरू और क्वामे एनक्रूमा के बीच व्यक्तिगत मतभेद बेलग्रेड सम्मेलन में उभर कर सामने आ गए। 1962 में भारत-चीन युद्ध के दौरान एशियाई-अफ्रीकी गुट से भारत का अलगाव बिल्कुल स्पष्ट हो गया। कांगो, इथियोपिया, लीबिया और नाईजीरिया, केवल चार अफ्रीकी देशों ने भारत को राजनयिक समर्थन दिया। 6 अन्य देशों ने केवल सहानुभूति जाहिर की तथा घाना, गहनिया और तंगानिका ने भारत के प्रति असहयोग का रास्ता अपनाया। गहनिया ने चीन के सीमा सम्बन्धी दावे का समर्थन किया, घाना ने भारत को ब्रितानी सैनिक मदद पर आपत्ति की और तंगानिया ने पांच सूत्री प्रस्ताव पेश किया जिनमें से दो चीन के पक्ष में तथा 3 भारत के पक्ष में थे। चीन के हाथों भारत की पराजय का भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा। एशियाई-अफ्रीकी विश्व ने समझ लिया कि सैनिक और आर्थिक दृष्टि से भारत विश्व शक्ति के रूप में खड़ा होने की स्थिति में नहीं है। नेहरू के निर्गुट सिद्धान्त को भी गहरा धक्का लगा। भारत-चीन संघर्ष ने यह साबित कर दिया कि यद्यपि निर्गुटता दोनों सैनिक ब्लाकों से समान दूरी रखने की बात को सुनिश्चित कर सकती है लेकिन किसी भी सदस्य द्वारा दूसरे पर सैनिक आक्रमण के खिलाफ कोई गारन्टी नहीं दे सकती।

चीन के साथ लड़ाई के बाद भारत ने अपनी अफ्रीका नीति को नया रूप देने की कोशिश शुरू की। स्वाभाविक था कि वह उन देशों के साथ घनिष्ठ राजनयिक और आर्थिक सम्बन्ध विकसित करे, जो संकटकाल में उसके साथ खड़े थे। उसने इथियोपिया और नाइजीरिया को तकनीकी मदद बढ़ाने की घोषणा की। इथियोपिया में सैनिक मिशन के अलावा एक बड़ी सूती मिल लगाने के लिए भारतीय पूंजी उपलब्ध कराई गई। छठे दशक में भारत इथियोपिया आयात का तीसरा सबसे बड़ा स्रोत बन गया। पूर्वी अफ्रीका में भारत ने केनिया का दिल जीतने पर ध्यान केन्द्रित किया। नैरोबी में निवेश करने के लिए भारतीय उद्योगपतियों को प्रोत्साहित किया गया। केनिया का विश्वास जीतने के प्रयास के पीछे तीन कारण थे—एक तो केनिया में विदेश पूंजी-निवेश की सुविधा थी, दूसरे वह चीन विरोधी था और तीसरे यहां के भारतीय समुदाय के लोग हर तरह से मदद करने को तैयार थे। इस प्रकार अफ्रीका में भारत ने चीन विरोधियों का समर्थन हासिल करने का अभियान छेड़ दिया। 1965 में भारत-पाक युद्ध के बाद पाक विरोधी समर्थन पाने की कोशिश भी की गई।

चीन और पाकिस्तान के बीच बढ़ती दोस्ती के कारण भारत ने इन दोनों पड़ोसियों को एशियाई अफ्रीकी ब्लाक से अलग-अलग करने की कोशिश शुरू की। 1963 में नई दिल्ली में हुए भारतीय राजनयिकों के सम्मेलन में चीन और पाकिस्तान के खिलाफ अफ्रीका में व्यापक प्रचार अभियान छेड़ने का निश्चय किया गया। बाद में श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधिमण्डल अफ्रीकी देशों की यात्रा पर गया। इस यात्रा का उद्देश्य अफ्रीका में चीन के प्रभाव का पता लगाना, भारत की पराजय का कारण स्पष्ट करना, भारतीय मूल के 4 लाख 20हजार लोगों के भविष्य का अनुमान करना तथा अफ्रीकी देशों के साथ सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगाना था। प्रतिनिधिमण्डल ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि अफ्रीका के नए नेता चीन समर्थक नहीं हैं और भारत के प्रति उनके मन में अच्छी धारणा है, जिसका सदुपयोग किया जा सकता है। 1965–66 के आस-पास भारत के रंगभेद विरोधी और उपनिवेश विरोधी ताकत के रूप में अपनी छवि पुनर्जीवित करने की पुरजोर कोशिश की। चीन द्वारा बराबर यह प्रचार किया जा रहा था कि भारत साम्राज्यवादियों के खेमे में चला गया है। इस प्रचार का जवाब देने के लिए अपनी छवि सुधारना जरूरी था। भारत ने दक्षिण अफ्रीका के मुक्ति आन्दोलनों की मदद देने की जरूरत महसूस की। उसने रोडेशिया का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाया। इयान स्मिथ को सत्ता के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए उसने नेमिलनग्रों ने अपना दूत वापस बुला लिया। इसके ठीक 5 माह बाद रोडेशिया की गोरी सरकार ने एकपक्षीय आजादी की घोषणा कर दी इसके अलावा भारत ने दारे-सलाम स्थित अफ्रीकी यूनिटी आर्गेनाइजेशन कमेटी के जरिये आजादी के संघर्षों को धन देना भी शुरू कर दिया।

निधि की स्थापना, परिवहन और संचार व्यवस्था को सुदृढ करना। तेल एवं अन्य ऊर्जा स्रोतों की निरन्तर उपलब्धता को सुनिश्चित करना। आधारिक संरचनात्मक संस्थापनाओं और नेटवर्क की सुरक्षा निश्चित करना। नकारात्मक व्यापार प्रभावों का निष्प्रभावित करना प्रशिक्षित जनशक्ति साधनों का विकास व अन्तर्राष्ट्रीय जनमत तथा निधि के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वित्तीय समाधान तैयार करना।

अफ्रीका एकता संगठन की स्थापना की वर्षगांठ अफ्रीका दिवस 25 मई को दिल्ली में विगत वर्षों की अपेक्षा अधिक उत्साह के साथ मनाई गई जिसमें स्वापो के अध्यक्ष सामनुजोमा ने मुख्य अतिथि के रूप में भाग लिया। श्री नुजोमा ने इस यात्रा के दौरान दिल्ली में स्वापो राजदूतावास का औपचारिक रूप से उद्घाटन किया। जुलाई 1986 में वियना में हुए नामिबिया सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि ने भाग लिया। सेशल्स के राष्ट्रपति अल्बर्ट रेने ने अप्रेल 1986 में भारत की राजकीय यात्रा की। विभिन्न क्षेत्रों में दोनों देशों के बीच सहयोग पर सहमति प्रकट की गई।

हमारे प्रधानमन्त्री की जाम्बिया और अंगोला की यात्रा के अनुवर्तन के रूप में जाम्बिया के प्रधान मन्त्री परम आदरणीय श्री केब्बी मुसोक स्वाना सितम्बर अक्तूबर 1987 में भारत आए और अंगोला के विदेश व्यापार मन्त्री के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल अक्तूबर 1987 में भारत आया। इन यात्राओं के दौरान भारत ने 10 करोड़ रुपए का एक सरकारी ऋण, 15 करोड़ रुपए के व्यापार-करार, और आर्थिक-तकनीकी-वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक सहयोग सम्बन्धी करार पर भी हस्ताक्षर किए। बेनिन लोक गणराज्य के साथ एक सांस्कृतिक सहयोग करार पर भी हस्ताक्षर किए गए जिसके विदेश मन्त्री ने जुलाई 1986 में भारत की यात्रा की।

भारत के प्रधानमन्त्री ने जुलाई 1986 में मारिशस की राजकीय यात्रा की। इस यात्रा के दौरान आपसी हित के विभिन्न मसलों पर विचार के अतिरिक्त 5 करोड़ रुपए के सरकार से ऋण और इतनी ही राशि के मारिशस को एक्जिम बैंक ऋण के करार पर हस्ताक्षर किए। तीन अन्य मन्त्रियों सहित एक प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व करते हुए मारितनिया के उप प्रधानमन्त्री चार्ल्स गेयतल दुवाल ने 29 जनवरी से 5 फरवरी 1986 तक भारत की सरकारी यात्रा की। मारितरिया के प्रतिनिधि मण्डल और विदेश मन्त्री श्री नारायण दत्त तिवारी के नेतृत्व में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के बीच विचार विमर्श के दौरान अधिक द्विपक्षीय व्यापार और अन्य आर्थिक सहयोग पर बल दिया गया।

भारत के उपराष्ट्रपति ने बोत्सवाना की स्वाधीनता की बीसवीं वर्षगांठ के समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया। अप्रेल 1986 में स्वाजीलैण्ड के राजकुमार मखोसेतिव के राज्याभिषेक में भारत का प्रतिनिधित्व संसद सदस्य सरदार दरबारा सिंह ने किया।

भारत और संयुक्तराज्य अमेरिका

भारत और अमेरिका विश्व के दो महान् प्रजातान्त्रिक राष्ट्र हैं। दोनों के सम्बन्ध काफी उतार-चढाव के रहे हैं और दुर्भाग्यवश विगत कुछ वर्षों से ये अधिक कटु बन गए है। तथापि दोनो ही देश सम्बन्ध सुधार के लिए प्रयत्नशील है।

नेहरू युग मे भारत और अमेरिकी सम्बन्ध (1947-1964)

एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे भारत का उदय होने के बाद से ही अमेरिका की विदेश नीति का यह मुख्य उद्देश्य रहा कि भारत को अमेरिकी शिविर मे लाया जाए और इसके लिए 'दबाव तथा सहायता की नीति' अपनाई गई। जब दिसम्बर, 1947 मे कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ मे ले जाया गया तो अमेरिका ने पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया और आज भी इस प्रश्न पर अमेरिका का भारत-विरोधी रवैया पूर्ववत् विद्यमान है। जब साम्यवादी चीन का उदय हुआ तो अमेरिका ने भारत पर दबाव डाला कि वह चीन को मान्यता न दे, किन्तु भारत ने अपनी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति का उपयोग कर दिसम्बर, 1949 म चीन को मान्यता दे दी। कोरिया युद्ध के समय भारत ने प्रारम्भ मे अमेरिका के साथ मिलकर उत्तर कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और सुरक्षा परिषद् मे अमेरिकी प्रस्ताव का समर्थन भी किया। लेकिन बाद मे जब अमेरिकी कमान के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रीय सेना ने 38वी अक्षांश रेखा पार कर उत्तरी कोरिया पर आक्रमण किया तो भारत ने इसका विरोध किया। कोरिया युद्ध मे भारत की गुट-निरपेक्ष नीति और शान्ति प्रयासो की अमेरिका ने कटु आलोचना की। पश्चिमी प्रेस ने प० नेहरू को 'डॉन क्विकजोट' तक कह दिया। जब सितम्बर, 1951 मे जापान के साथ शान्ति-सन्धि के लिए आयोजित सानफ्रांसिस्को सम्मेलन म भारत ने शामिल न होने का निर्णय किया और अमेरिका की इस एक-तरफा शान्ति-सन्धि का (जिसमे युद्धकालीन मित्रराष्ट्रो—चीन तथा रूस को शामिल नही किया गया था) विरोध किया तो अमेरिका के समाचार-पत्र भारत पर उबल पडे। हिन्द-चीन की समस्या पर भी दोनो देशो के दृष्टिकोणो म मौलिक अन्तर रहा। भारत शान्तिपूर्ण समाधान के पक्ष मे था जबकि अमेरिकी प्रशासन बल प्रयोग मे विश्वास करता था।

भारत मे मई, 1954 म अमेरिका के प्रति तब बहुत अधिक क्षोभ फैला जब उसने पाकिस्तान के साथ एक सैनिक सन्धि कर उसे इस बहाने भारी सैनिक सहायता देना शुरू किया कि अमेरिकी हथियारो का प्रयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए किया जाएगा। लेकिन 1965 और 1971 के युद्धो ने भारत की इस आशंका को भली प्रकार सत्य सिद्ध कर दिया कि अमेरिका के हथियारो का प्रयोग लोकतान्त्रिक देश भारत के विरुद्ध होना था। अमेरिकी सैनिक सहायता नीति का पर्दाफाश करते हुए भूतपूर्व राजदूत चेस्टर बाउल्स ने कहा—"विगत 15 वर्षों मे यूरोप के बाहर हमारी अधिकांश सैनिक सहायता नई सरकार को इस उद्देश्य से दी गई है कि वह अमेरिकी विदेश नीति का समर्थन करे।" 1954 मे

अमेरिका ने पाकिस्तान को सीएटो और सेण्टो का भी सदस्य बना लिया। भारत और अमेरिका के बीच सैन्य सगठनो पर भी व्यापक मतभेद रहे। श्री नेहरू ने हर प्रकार के सैनिक सगठनो का तीव्र विरोध किया और इनकी स्थापना को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग मे बाधक तथा सयुक्त राष्ट्रसघ के मूल उद्देश्यो के विपरीत माना। उन्होने ट्रूमैन-सिद्धान्त और आइजनहॉवर-सिद्धान्त की कटु आलोचना कर अमेरिकी प्रशासन को क्रुद्ध कर दिया। दोनो देशो के सम्बन्धो मे तब और भी बिगाड आया जब भारत ने लेबनान और जोर्डन मे अमेरिकी हस्तक्षेप का विरोध किया।

गोआ की समस्या भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न था, किन्तु नवम्बर, 1955 मे अमेरिकी विदेश मन्त्री डलेस ने कहा—"जहाँ तक मै जानता हूँ, सम्पूर्ण संसार गोआ को पुर्तगाल के एक प्रान्त के रूप मे स्वीकार करता है।" जब दिसम्बर, 1961 मे भारत ने गोआ को पुर्तगाल की दासता से मुक्त किया तो सुरक्षा परिषद् मे अमेरिका के प्रतिनिधि स्टीवेंसन ने अमेरिका का रोष इस प्रकार व्यक्त किया—"आज रात्रि को हम उस नाटक का प्रथम अक देख रहे है जिसका अन्त सयुक्त राष्ट्रसघ की मृत्यु के साथ हो सकता है।" नीग्रो, नि शस्त्रीकरण, वियतनाम आदि समस्याओ पर भी भारत और अमेरिका मे गम्भीर मतभेद रहे। भारत का दृष्टिकोण यह था कि अमेरिका को वियतनाम मे बमवर्षा बन्द कर शान्ति स्थापना की दिशा मे रचनात्मक कदम उठाना चाहिए।

असहयोग और तनाव के बावजूद भारत और अमेरिका मे सहयोग का क्षेत्र भी काफी व्यापक रहा। अमेरिका ने भारत को अपने पक्ष मे करने के लिए दबाव-नीति के साथ-साथ आर्थिक और अनाज-कूटनीति का सहारा भी लिया। न केवल अमेरिका से भारत को विशाल आर्थिक सहायता प्राप्त हुई, बल्कि मुख्यत अमेरिकी प्रेरणा से ही विश्व विकास-ऋण-कोष, तकनीकी सहयोग आदि सस्थाओ ने भी ऋण तथा उपहार के रूप मे भारत को काफी आर्थिक एव प्राविधिक सहायता प्रदान की। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे भी सहयोग का विस्तार हुआ। फुलब्राइट योजना के अन्तर्गत दोनो देशो ने एक बडी सख्या मे विद्वानो का आदान-प्रदान किया। अमेरिका ने भारत को आर्थिक सहायता और खाद्य सकट मे अनाज देकर उदारता दिखाई, लेकिन साथ ही अपनी कूटनीतिक चालो से किए कराए पर पानी फेरने का काम भी किया। उदाहरणार्थ कभी तो अनाज के उपहार को ऋण मे बदला गया, कभी ऋण के बदले मे मेगनीज की मांग की गई तो कभी सहायता इसलिए स्थगित कर दी गई कि अमुक प्रश्न पर भारत ने अमेरिका का समर्थन नही किया। प नेहरू ने अमेरिका की दबाव-नीति का साहसपूर्वक सामना किया। दिसम्बर, 1959 मे अमेरिकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर की भारत-यात्रा से आशा की गई कि दोनो देशो के बीच सहयोग के नए युग का प्रादुर्भाव होगा। अमेरिका के राजनीतिक क्षेत्रो मे कहा जाने लगा कि भारत का आर्थिक विकास अमेरिकी विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य है। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भारत को विशेष सम्मान

देते हुए 4 मई, 1960 को वाशिंगटन में भारत के खाद्य मन्त्री श्री एस. के. पाटिल के साथ स्वयं एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अन्तर्गत फसल की कमी का सामना करने तथा गल्ले को सुरक्षित रखने के लिए अमेरिका ने भारत को आगामी 4 वर्षों में चावल तथा गेहूँ के भरे हुए 1,500 जलयान भेजने का निश्चय किया। मई, 1960 का यह समझौता ही 'सार्वजनिक कानून-480' (पी.एल. 480) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 4 वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर इस समझौते की अवधि में वृद्धि कर भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्न सहायता दी जाती रही।

राष्ट्रपति कैनेडी के समय यद्यपि गोआ के प्रश्न पर भारत अमेरिका सम्बन्धों में काफी कटुता आ गई थी, तथापि अक्तूबर, 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण के उपरान्त इन सम्बन्धों में एकाएक सुधार प्रारम्भ हुआ। भारत के अनुरोध पर अमेरिका ने बड़ी तेजी और तत्परता के साथ भारत को युद्ध-सामग्री पहुँचाई। अमेरिका की इस संकटकालीन सहायता ने भारतीयों के पिछले सभी घावों को भर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि मतभेदों के बावजूद दोनों राष्ट्र मित्रता के स्थायी आधार-स्तम्भ पर खड़े हैं। अमेरिका ने भारत को यह सहायता बिना किसी शर्त के प्रदान की। चीनी आक्रमण के समय भी भारत जिस प्रकार अपनी गुट-निरपेक्ष नीति पर डटा रहा उसकी अमेरिकी विदेश सचिव डीन रस्क ने प्रशंसा की। भारत अपनी स्वतन्त्र नीति से डिगा नहीं, इसका एक बड़ा प्रमाण यही है कि एक ओर तो भारत ने अमेरिका से सैनिक सहायता की माँग की, दूसरी ओर उसके एक दिन बाद ही जब संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को उसका स्थान देने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो भारत ने चीन के पक्ष में मत दिया। मार्च, 1963 में भारत ने लगभग 100 करोड़ डॉलर की अमेरिकी सैनिक सहायता की माँग की, लेकिन अमेरिका ने केवल 6 करोड़ डॉलर दिए। इस तरह मूल रूप में अमेरिका की भारत के प्रति अप्रसन्नता बनी रही।

शास्त्री-काल में भारत-अमेरिका सम्बन्ध (1964–1965)

कैनेडी के बाद लिण्डन बी. जॉनसन अमेरिका के राष्ट्रपति बने। उनका विचार था कि भारत के नये प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री प. नेहरू के मुकाबले एक कमजोर नेता सिद्ध होंगे, अतः उनको दबाव द्वारा अमेरिका के पक्ष में सरलता से झुकाया जा सकेगा। लेकिन शास्त्री जी ने गुट-निरपेक्ष नीति का प. नेहरू से भी अधिक दृढ़ता के साथ अनुसरण किया और उसे पहले की तुलना में अधिक यथार्थवादी रूप दिया।

प्रारम्भ में तो दोनों देशों के सम्बन्धों में कोई बिगाड़ नहीं आया, लेकिन जब उत्तर वियतनाम पर अमेरिकी बमवर्षा की भारत के सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में आलोचना हुई तो अमेरिका ने अपनी अप्रसन्नता का भोंडा प्रदर्शन किया। राष्ट्रपति जॉनसन के निमन्त्रण पर शास्त्रीजी को मई, 1965 में अमेरिका जाना था परन्तु राष्ट्रपति ने अपनी व्यस्तता के बहाने निमन्त्रण वापस ले लिया।

पहले कच्छ के रन मे और फिर 1965 के भारत-पाक युद्ध मे पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से भारत-अमेरिका के सम्बन्धों मे अधिक कटुता उत्पन्न हो गई। युद्धकाल मे भी अमेरिका का रुख बहुत कुछ भारत-विरोधी रहा। 1965 मे भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपने 6 जहाजों को, जिनमें भारत के लिए रक्षा सामग्री थी, भारतीय तट से मात्र 15 मील की दूरी से लौटा लिया। यही नही अमेरिका ने न तो पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सामग्री का भारत के विरुद्ध प्रयोग करने से रोका और न उसकी इस कार्यवाही की निन्दा की। इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह हुई कि जब 1966 मे पाकिस्तान ने चीन के साथ घनिष्ठ मैत्री स्थापित कर ली और चीन से विशाल मात्रा मे सैनिक सहायता भी प्राप्त की, तो भी अमेरिकी प्रशासन के पाक-समर्थक रुख में कोई परिवर्तन नही आया।

फिर भी, दोनो देशों के सम्बन्धो में सुधार के प्रयत्न जारी रहे और इससे कुछ सुपरिणाम भी दृष्टिगोचर हुए। एक तो अमेरिका ने यह निर्णय किया कि भारत को खाद्यान्न की सहायता पुनः चालू की जाएगी। दूसरे अमेरिका ने ताशकन्द सम्मेलन को आघात पहुँचाने की कोई कार्यवाही नही की।

इन्दिरा गाँधी-काल में भारत-अमेरिका सम्बन्ध (1966-मार्च, 1977)

10 जनवरी, 1966 को शास्त्रीजी के देहान्त के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमन्त्री बनी। राष्ट्रपति जॉनसन ने नए प्रधानमन्त्री से अनुरोध किया कि वह शीघ्र ही अमेरिका यात्रा का कार्यक्रम बनाएँ। यह आशा की जाने लगी कि दोनो देशों के बीच मैत्री के नए युग का सूत्रपात होगा लेकिन अमेरिका की दबाव नीति ने इस आशा को धूमिल कर दिया। जॉनसन प्रशासन-काल में दोनो देशों के बीच मतभेद जारी रहे और निक्सन-युग मे तो चरम सीमा पर पहुँच गए।

मार्च, 1966 मे श्रीमती गाँधी ने अमेरिका की यात्रा की, किन्तु उसके कोई अनुकूल परिणाम नही निकले। अमेरिकी प्रशासन का प्रयत्न रहा कि भारत की आर्थिक कठिनाइयों से लाभ उठाकर नए प्रधान मन्त्री को अमेरिका की ओर झुकने पर विवश किया जाए। जॉनसन-प्रशासन ने अपनी दबाव नीति मे उत्तरोत्तर वृद्धि की। खाद्यान्न के मामले मे कैनेडी के चार वर्षीय सहायता-कार्यक्रमों को पुन लागू नहीं किया गया। उसके स्थान पर अल्पकालीन कदम उठाने की नीति अपनाई गई। भारतीय रुपए के अवमूल्यन के लिए भी प्रत्यक्ष रूप से दबाव डाला गया। भारत-पाक युद्ध काल में बन्द की गई आर्थिक सहायता यद्यपि पुन चालू कर दी गई, तथापि यह निराशाजनक थी। कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान की पीठ थपथपाई जाती रही और अप्रैल, 1967 मे नागा विद्रोही फिजो को अमेरिका मे शरण दी गई। अमेरिकी रक्षा-सचिव मैकनमारा ने भारत-पाक संघर्ष को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की संज्ञा दी और भारत को अपना विरोध प्रकट करना पड़ा। 1967 मे यह भी रहस्योद्घाटन हुआ कि भारत मे अनेक संगठनों के माध्यम से सी आई. ए. (अमेरिकी जासूसी विभाग) अपनी भारत विरोधी कार्यवाही कर रहा था। 1968 मे भारत को अमेरिका की ओर से जो सहायता राशि स्वीकृत की गई वह पिछले

20 वर्षों में सबसे कम थी। अमेरिकी सहायता में कटौती से भारत की आर्थिक योजनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा, लेकिन श्रीमती गांधी ने घुटने टेकने से इन्कार कर दिया। 1969–70 का वर्ष भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में एक प्रकार से शीतयुद्ध का वर्ष था। वियतनाम के प्रश्न पर दोनों में तनाव बढ़ गया। भारत सरकार ने अमेरिका की अप्रसन्नता की परवाह न कर जनवरी, 1970 में उत्तर वियतनाम के साथ पूर्ण दौत्य सम्बन्धों की घोषणा कर दी। फरवरी, 1970 में भारत सरकार के एक आदेश के फलस्वरूप अमेरिका को बगाल और हैदराबाद, लखनऊ, पटना तथा तिरुअनन्तपुरम् के अपने सांस्कृतिक केन्द्र बन्द कर देने पड़े। भारत का यह कदम जिनेवा समझौते के नियमों के अनुकूल था जिसमें सभी दूतावासों को उन नगरों में अपने सांस्कृतिक केन्द्रों को बन्द करने का आदेश दिया गया था जहां उनके उप-दूतावास नहीं थे। लगभग इसी समय कम्बोडिया में अमेरिकी सेनाओं के प्रवेश का भी भारत द्वारा विरोध किया गया। अगस्त, 1970 में भारत ने 'यूनाइटेड नेशंस एटलस 20' नामक प्रकाशन की ओर अमेरिकी दूतावास का ध्यान आकर्षित करते हुए इस बात पर विरोध प्रकट किया कि भारतीय क्षेत्र से जम्मू-कश्मीर को हटा दिया है। दोनों देशों के बीच तनाव इतना बढ़ गया कि जब श्रीमती गांधी न्यूयॉर्क यात्रा पर रवाना हुईं तो अमेरिकी राजदूत हवाई अड्डे पर उन्हें विदा करने नहीं पहुँचा। न्यूयॉर्क हवाई अड्डे पर भी भारतीय प्रधानमन्त्री के स्वागत के लिए कोई अमेरिकी वरिष्ठ अधिकारी उपस्थित नहीं था। इस स्थिति में स्वभावतः श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन का वाशिंगटन आने का निमन्त्रण ठुकरा दिया और सीधी भारत लौट आई।

1971 का वर्ष दोनों देशों के सम्बन्धों में विस्फोटक रहा। पाकिस्तानी अत्याचारों से पीड़ित लगभग एक करोड़ शरणार्थियों के भरण-पोषण का भार भारत पर आ पड़ा। पाकिस्तान का भारत पर यह अप्रत्यक्ष आक्रमण था जिसने देश की आर्थिक व्यवस्था पर भार ला पटका। भारत और विश्व के अनेक देशों के अनुरोध के बावजूद अमेरिका ने इस मानवीय समस्या की ओर से आँखें बन्द कर ली। पाकिस्तान को सैनिक तथा अन्य सहायता प्राप्त होती रही। जब अगस्त, 1971 में भारत और रूस के बीच मैत्री सन्धि हो गई तो अमेरिकी विदेश नीति को काफी धक्का लगा। दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध काल में सुरक्षा परिषद् में अमेरिका ने भारत-विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किए जो सोवियत वीटो के कारण निरस्त हो गए। अमेरिका ने 'युद्ध-पोत कूटनीति' के रूप में अपना सातवां बेड़ा बगाल की खाड़ी में भेजा ताकि बगलादेश में घिरी पाक फौजों की सहायता की जा सके तथा भारत को सैनिक दबाव द्वारा आतंकित किया जा सके। किन्तु, अमेरिकी कूटनीति बुरी तरह असफल हुई। हिन्दमहासागर में रूसी नौ-सैनिक बेड़े ने अमेरिका को सचेत कर दिया कि यदि उसने भारत के विरुद्ध नौ-सैनिक कार्यवाही की तो रूस केवल दर्शक मात्र नहीं रहेगा। अमेरिका ने भारत की आर्थिक सहायता रोक दी, किन्तु भारत ने अपने विकास कार्यक्रमों में ढील नहीं आने दी। 1972 के प्रारम्भ

में अपनी फ्रांस-यात्रा के समय श्रीमती गांधी ने वहाँ के प्रधानमन्त्री पियरे मेदीज से कहा—

("आज संयुक्तराज्य अमेरिका कहता है कि वह हमें आर्थिक सहायता नहीं देगा। कोई बात नहीं, हमें आर्थिक सहायता की जरूरत नहीं और अगर जरूरत होगी तो भी हम यह सहायता अपनी आजादी को खतरे में डालकर नहीं लेंगे। हम अपनी आजादी को हर कीमत पर कायम रखेंगे। हम उन पर निर्भर नहीं करते। जो हथियार उन्होंने हमें दिए, उनकी हमने पूरी कीमत चुका दी है।")

फरवरी, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने कांग्रेस के नाम अपने वार्षिक विदेश नीति सन्देश में कहा—"अमेरिका भारत से आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर बातचीत के लिए तैयार है, किन्तु उसकी रुचि इस बात में है कि दक्षिण एशिया का यह शक्तिशाली देश अपने पड़ोसियों के प्रति कैसा रवैया अपनाता है।" निक्सन के इस वक्तव्य की भारत में प्रतिकूल प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। भारत सरकार के प्रवक्ता ने कहा कि निक्सन झूठे आरोप दुहराकर दुनिया को बतलाना चाहते हैं कि भारत एक शक्तिशाली देश बनकर पड़ोसियों को दबाना चाहता है। भारत-सोवियत सन्धि के सन्दर्भ में निक्सन की धारणा भारत को एक प्रकार से यह धमकी थी जिसमें संकेत दिया गया था कि अमेरिका और भारत के सम्बन्धों में सुधार तभी हो सकता है जब भारत सभी महाशक्तियों के साथ समान सम्बन्ध स्थापित करने को सहमत हो अर्थात् सोवियत संघ के साथ भारत के कोई विशेष सम्बन्ध न हों। 21 फरवरी को अमेरिका ने पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता फिर से शुरू किए जाने की चर्चा की। आर्थिक सहायता पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। लेकिन सैनिक सहायता का अर्थ भारतीय उपमहाद्वीप में पुनः अशान्ति को बढ़ावा देना था। इसके तुरन्त बाद ही निक्सन पेकिंग गए और निक्सन-चाऊ वार्ता के सन्दर्भ में श्रीमती गांधी ने चेतावनी दी कि यदि अमेरिका और चीन ने एशिया के भविष्य के बारे में कोई निर्णय किया तो उसे अन्य एशियाई देश स्वीकार नहीं करेंगे। श्रीमती गांधी ने कहा कि यदि अमेरिका-चीन वार्ता शान्ति के लिए हो रही है तो स्वागत योग्य है, लेकिन हमें आशंका है कि इस वार्ता का उद्देश्य एक नए शक्ति गुट का निर्माण करना है। वियतनामी जनता ने सिद्ध कर दिया कि बड़ी शक्तियों द्वारा छोटे राष्ट्रों के भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त अब पुराना पड़ चुका है। निक्सन-यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में पाकिस्तान क्षेत्र से भारतीय सेना की वापसी और जम्मू-कश्मीर की जनता के 'आत्म-निर्णय के अधिकार' की माँग की गई। यह भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप जैसी बात थी, अतः संयुक्त विज्ञप्ति पर भारत ने अपना विरोध व्यक्त कर दिया।

मार्च, 1973 में जब यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया है तो भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार की सम्भावना बहुत कम हो गई। 1973-74 में ईरान को विशाल मात्रा में शस्त्रास्त्र देने की योजना मई, 1973 में प्रकट हुई।

भारत ने इस पर चिन्ता प्रकट की क्योंकि 1971 के युद्ध के पश्चात् पाकिस्तान ने ईरान के साथ अपनी मित्रता बढ़ानी शुरू कर दी थी और ईरान ने हर प्रकार से इसकी सहायता का समर्थन भी किया था। दिसम्बर, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव की भारत-यात्रा से अमेरिका में यह चिन्ता बलवती हो गई कि यदि भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार न लाया गया तो अमेरिका को महान् लोकतान्त्रिक देश की सहानुभूति से हाथ धोना पड़ सकता है। अतः भारत के प्रति अनुकूल रवैया अपनाया जाने लगा तो 13 दिसम्बर, 1973 को पी. एल. 480 के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। पी. एल. 480 तथा कुछ अन्य ऋणों की मद में भारत द्वारा अमेरिका को 24 अरब रुपये देने थे। समझौते के अनुसार अमेरिका ने 1■ अरब 68 करोड़ रुपये पाँचवीं योजना के लिए भारत को अनुदान के रूप में प्रदान कर दिए और शेष रुपया अमेरिकी दूतावास के खाते में तथा नेपाल की सहायता के लिए छोड़ दिया गया। पी. एल. 480 की वास्तविकता को देखते हुए अमेरिका का यह कोई अहसान नहीं था, तथापि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-सुधार की दिशा में यह एक शुभारम्भ अवश्य था।

अमेरिका द्वारा हिन्दमहासागर में स्थित ब्रिटिश अधिकृत द्वीप डियागो गार्सिया में अपना नौ-सैनिक अड्डा स्थापित करने के निर्णय से 1974 में भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार के प्रयत्नों को पुनः आघात पहुँचा। श्रीमती गांधी ने इस निर्णय की भर्त्सना की और इसे शान्ति के लिए खतरा बताया। उन्होंने कहा कि हिन्दमहासागर में नौ-सैनिक तथा परमाणु-अड्डा स्थापित करने का निर्णय संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव के विपरीत है। जिसमें केवल तनाव में वृद्धि होगी और एशिया में अशान्ति बढ़ेगी। 18 मई, 1974 को एक सफल भूगर्भीय आणविक परीक्षण द्वारा जब भारत परमाणु बिरादरी का छठा देश बन गया तो अमेरिका सहित पश्चिमी देशों की बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इससे भी दोनों देशों के बीच तनाव में वृद्धि हुई।

अगस्त, 1974 में निक्सन के स्थान पर जेराल्ड फोर्ड अमेरिका के राष्ट्रपति बने और यह आशा की गई कि नया नेतृत्व भारत के प्रति सहयोग और मैत्री की नीति अपनाएगा। लेकिन कुछ ही समय में यह आशा मिथ्या सिद्ध हुई। फरवरी, 1975 में अमेरिका ने पाकिस्तान को हथियार देने की निश्चित घोषणा कर दी और भारत को वही पुराना घिसापिटा आश्वासन दिया कि इन हथियारों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जाएगा। भारत सरकार ने इसे अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही मानते हुए स्पष्ट कर दिया कि भारत की प्रतिरक्षा नीति इन थोथे आश्वासनों से प्रभावित नहीं हो सकती क्योंकि भूतकाल में पाकिस्तान ने अमेरिकी हथियारों का हर बार भारत के विरुद्ध उपयोग किया है। अप्रैल, 1975 में कम्बोडिया और वियतनाम से अमेरिका के पलायन ने सिद्ध कर दिया कि हिन्द-चीन के प्रति भारत की नीति सही थी और अमेरिका का इस प्रश्न पर भारत-विरोध निरर्थक था। यदि अमेरिका वियतनाम में सैनिक हस्तक्षेप न करता अथवा वहाँ से पहले ही हट

जाता तो न तो वियतनाम युद्ध इतना लम्बा खिंचता और न अमेरिकी विदेश नीति को ऐसा धक्का लगता।

मतभेदों के बावजूद परिपक्व एवं रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए भारत-अमेरिका के बीच वार्ता और आदान-प्रदान का क्रम 1975 में चालू रहा। आमतौर पर यह अनुभव किया गया कि दृष्टिकोण, प्राथमिकता और सदस्यागत अन्तर के बावजूद दोनों देशों के बीच राष्ट्रीय हित के स्तर पर कोई विवाद नहीं है और शान्ति, स्थिरता तथा सहयोग को सुदृढ़ करने के लिए वे निःसन्देह बहुत कुछ कर सकते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में द्विपक्षीय आदान-प्रदान के लिए एक संस्थात्मक ढाँचा बनाने की प्रक्रिया भी जारी रही और इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए। अक्तूबर, 1975 में भारत के विदेश मन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की और भी कई सरकारी प्रतिनिधिमण्डल अमेरिका गए। अमेरिका से भारत की यात्रा पर आने वालों में प्रमुख थे वित्त मन्त्री विलियम साइमन और सिनेटर जॉर्ज मैकगवर्न। 1975 की विशेष उल्लेखनीय बात थी भारत-अमेरिकी संयुक्त आयोग की वार्षिक बैठक में शामिल होने के लिए तथा अमेरिकी विदेश मन्त्री से बातचीत करने के लिए हमारे विदेश मन्त्री का वाशिंगटन जाना। इस बातचीत में तथा बाद में राष्ट्रपति फोर्ड और दूसरे अमेरिकी नेताओं के साथ बातचीत में विदेश मन्त्री ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार-विमर्श किया और इस बात पर जोर दिया कि भारत की नीति भारतीय उपमहाद्वीप में शान्ति और स्थिरता के संवर्द्धन की है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि भारत किस प्रकार प्रभुसत्तात्मक सम्मान और पारस्परिक समानता के आधार पर अपने पड़ोसियों के साथ पारस्परिक सहयोग एवं सम्बन्ध विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है तथा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति, एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के सृजन के प्रति उनका समर्थन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के आर्थिक, वित्तीय, ऊर्जा, खाद्य एवं सम्बद्ध समस्याओं के प्रति एक रचनात्मक दृष्टिकोण तैयार करने में उसकी क्या भूमिका है। इस उपमहाद्वीप में हथियारों की होड़ के खतरे के प्रति और हिन्द-महासागर को एक शान्ति-क्षेत्र बनाए रखने की आवश्यकता पर भी संयुक्तराज्य अमेरिका का ध्यान आकर्षित किया गया। जहाँ तक द्विपक्षीय सम्बन्धों का प्रश्न है हमारे विदेश मन्त्री ने भारत की इस इच्छा की पुनः पुष्टि की कि भारत अमेरिका के साथ पारस्परिक समानता, सम्मान और समझबूझ के आधार पर अच्छे सम्बन्ध चाहता है। राष्ट्रपति फोर्ड और विदेश मन्त्री कीसिंगर दोनों ने शान्ति और गुट-निरपेक्षता के क्षेत्र में भारत की भूमिका को स्वीकार किया।

दोनों देशों के सम्बन्धों में रचनात्मक सुधार की प्रक्रिया 1976 में भी आगे बढ़ी। भारत ने अमेरिका के साथ समझौता और सहयोग वृद्धि के प्रयत्न चालू रखे। ऐसा महसूस हुआ कि भारत तथा अमेरिका के बीच बहुत कुछ ऐसा था कि दोनों देश शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सुदृढ़ करने के लिए प्रयत्न कर सकते थे। भारत-अमेरिका सम्बन्धों में कुछ निश्चयात्मक तत्त्व था दोनों देशों की

अपने द्विपक्षीय सम्बन्धों को सदृढ करने, व्यावसायिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सुधार करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान करने की इच्छा। समस्त विश्व में तनाव दूर कर, सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से इस बात की आशा की गई कि भारत-अमेरिकी सम्बन्ध भी समानता तथा पारस्परिक मैत्री के आधार पर विकसित और सौहार्द्रपूर्ण होंगे। इस वर्ष दोनों देशों के मन्त्री तथा पदाधिकारियों ने एक-दूसरे देश की यात्राएँ की।

व्यापार-परिषद् ने, जिसकी बैठक फरवरी, 1977 में वाशिंगटन में हुई थी, *इस बात का निर्देश किया कि भारत और अमेरिका के बीच वाणिज्यिक सम्बन्ध* दोनों देशों में संयुक्त रूप से व्यापारिक और औद्योगिक सहयोग की वृद्धि द्वारा सुदृढ किए जा सकते हैं। परिषद् ने अमेरिका को भारत के साथ व्यापार-सम्बन्धों की सम्भावना से अवगत कराने के लिए कार्यवाही करने का निर्णय लिया। संयुक्तराज्य अमेरिका की स्वतन्त्रता की 200वीं वर्षगाँठ के अवसर पर भारत ने कई कदम उठाए जैसे—उस दिन भारत सरकार ने एक विशेष टिकिट जारी किया, गत 200 वर्षों में भारत-अमेरिकी सम्बन्धों पर एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित की और भारत की मैत्रीपूर्ण भावनाओं को अमेरिका की जनता तक पहुँचाने के लिए एक सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डल अमेरिका भेजा। *दिवंगत राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद की* अन्त्येष्टि पर राष्ट्रपति कार्टर ने अपनी माता श्रीमती लिलियन कार्टर के नेतृत्व में एक विशेष प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर सद्भावना व्यक्त की।

जनता सरकार और अमेरिका (मार्च, 1977–दिसम्बर, 1980)

अमेरिका ने भारत में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक तरीके से निष्पक्ष और मुक्त चुनाव द्वारा सरकार बदलने की प्रशंसा की। मई, 1977 में भारत के वित्तमन्त्री श्री एच एम पटेल ने अमेरिका की यात्रा की जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से भारत को अमेरिकी सहायता प्राप्त होने के संकेत मिले। अमेरिका ने एक तरफ *पाकिस्तान को ए–7 समवर्यक देने की घोषणा की तथा दूसरी ओर* भारत को जाने वाली यूरेनियम सप्लाई पर प्रतिबन्ध हटा लिया। हिन्दमहासागर के विसैन्यीकरण के बारे में श्री कार्टर ने सोवियत संघ के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि रूस के इस क्षेत्र से हटने पर अमेरिका भी हट जाएगा। जनवरी, *1978 में* राष्ट्रपति कार्टर ने भारत यात्रा की। दोनों पक्षों में इस बात पर सहमति पाई गई *कि अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ स्वयं निर्धारित करने का* प्रत्येक राष्ट्र को अधिकार है। दोनों पक्षों ने परस्पर यह वचन दिया कि दूसरों के साथ अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाया जाएगा और नाभिकीय अस्त्रों के प्रसार के खतरे को रोकने के लिए दोनों पक्ष कार्य करेंगे। भारत-अमेरिकी द्विपक्षीय सम्बन्ध, व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में सहयोग के माध्यम से निरन्तर विकसित होते रहे। अमेरिका भारत का सबसे

बडा व्यापारिक साझेदार बना रहा। जून, 1978 मे प्रधानमन्त्री देसाई ने अमेरिका की यात्रा की। सयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया कि विश्व-शान्ति के लिए हथियारो की होड रोकने हेतु प्रभावशाली उपाय किए जाने चाहिए। दोनो पक्षो ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि जनवरी, 1978 मे राष्ट्रपति कार्टर की भारत-यात्रा के समय सयुक्त घोषणा पत्र मे जिन समान सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया था उनके आधार पर दोनो पक्षो के सम्बन्धो को जारी रखना और बढाना चाहिए। दोनों पक्षो ने स्वीकार किया कि मध्य-पूर्व की समस्याओ का व्यापक, न्यायोचित और स्थायी समाधान निकालने की तात्कालिक आवश्यकता है। अफ्रीका की समस्याओ का समाधान किसी ऐसे बाहरी हस्तक्षेप के बिना किया जाना चाहिए जिसके कारण क्षेत्रीय सघर्ष के गम्भीर होने का खतरा हो। राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि इथियोपिया-सोमालिया विवाद प्रादेशिक अखण्डता के ढाँचे के भीतर क्षेत्र की जनता की उचित आकाँक्षाओ का सम्मान करते हुए और सयुक्त राष्ट्रसघ तथा अफ्रीकी एकता सगठन के घोषणा-पत्रो मे निहित सिद्धान्तो के अनुरूप शान्तिपूर्ण तरीको से निपटाया जाना चाहिए। राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री ने अफ्रीकी जनता के आत्म-निर्णय और बहुमत शासन की उचित आकाँक्षाओ के प्रति समर्थन व्यक्त किया और सभी रूपो मे जातिवाद की निन्दा की। उन्होने जिम्बाब्वे और नामीबिया की जनता के प्रभुसत्ता और स्वतन्त्र विकास के अलघनीय अधिकारो और सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रस्तावो की भावना के अनुरूप अफ्रीकी बहुमत को तेजी से सत्ता सौंपे जाने को सुनिश्चित करने की आवश्यकता की पुष्टि की। दोनो पक्षो ने विश्व के औद्योगिक और विकासशील राष्ट्रो के बीच सम्बन्धो की समीक्षा की। दोनो नेता इस बात के पक्ष मे थे कि इस सम्बन्ध मे अमेरिका तथा भारत के वरिष्ठ अधिकारियो तथा अन्य विकसित तथा विकासशील देशों के बीच और विचारो का आदान-प्रदान होना चाहिए। इस तरह के आदान-प्रदान से विकसित और विकासशील दोनो ही प्रकार के देश विश्वव्यापी आर्थिक प्रणाली के न्यायपूर्ण सचालन के बारे मे समान हितों और जिम्मेदारियों के सम्बन्ध मे सद्भाव बढ़ा सकते हैं।

विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने 20-25 अप्रेल, 1979 तक अमेरिका की यात्रा की। वे भारत-अमेरिकी सयुक्त आयोग की चौथी बैठक मे भाग लेने के लिए गए थे। विभिन्न क्षेत्रो मे दोनों पक्षों द्वारा सहयोग का विस्तार किया गया। *भारतीय विदेश मन्त्री ने अमेरिकी नेतृत्व से आग्रह किया कि श्रेष्ठ यूरेनियम की* सप्लाई के वचन को अमेरिका निभाए। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि अमेरिका पाकिस्तान पर दबाव डाले कि वह हथियारो की होड शुरू न करे। अणु शक्ति विकसित करने के पाकिस्तान के प्रयत्नो पर दोनो देशो ने यह स्वीकार किया कि उसका उद्देश्य शान्तिपूर्ण उपयोग नहीं है। बातचीत के दौरान पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक के उस प्रस्ताव पर भी चर्चा हुई जिसमे उन्होने कहा था कि भारत और पाकिस्तान अपने-अपने परमाणु ऊर्जा

सम्बन्धी सयन्त्रों का पारस्परिक निरीक्षण कराने की घोषणा करें। श्री वाजपेयी ने अमेरिकी नेताओं को यह स्पष्ट किया कि अगर पाकिस्तान अपने परमाणु कार्यक्रम के अन्तर्गत अणुशक्ति का प्रयोग गैर-शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करने पर ही तुला हुआ है तो वैसी स्थिति में उक्त घोषणा का कोई मतलब नहीं रह जाता। इस विषय पर राष्ट्रपति जिया उल हक और प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के बीच बातचीत हो सकती है। अमेरिका ने श्री वाजपेयी को यह आश्वासन दिया कि वह पाकिस्तान को अणुशक्ति विस्फोट के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने से रोकने की गम्भीर कोशिश करेगा। श्री वाजपेयी ने यह भी कहा कि भारतीय जनता दक्षिण एशिया में परमाणु अस्त्र मुक्त क्षेत्र के निर्माण के विरुद्ध उस स्थिति में है जिसमें चीन को उससे अलग रखा जाता है।

श्रीमती गांधी का दूसरा कार्यकाल और अमेरिका (जनवरी, 1980 अक्तूबर, 1984)

जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी के पुन सत्तारूढ़ होने के उपरान्त भारत-अमेरिका सम्बन्धों में एक नए मोड़ की शुरूआत हो गई। 1980-81 के दौरान दोनों देशों के अधिकारियों द्वारा जो यात्राएँ की गईं उनसे भारत-अमेरिकी सम्बन्धों की स्थिरता बढ़ी क्योंकि इनसे प्रमुख द्विपक्षीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर एक-दूसरे के विचारों को अधिक अच्छी तरह समझने का अवसर मिला। सयुक्तराज्य अमेरिका की कुछ गलतफहमियाँ दूर हुईं और यह भी स्पष्ट हो गया कि मतभेदों के बावजूद दोनों देशों के सम्बन्ध परस्पर विश्वास और सद्भाव पर आधारित है। अक्तूबर, 1980 के प्रारम्भ में सयुक्त राष्ट्र महासभा में भाग लेने के लिए अमेरिका की यात्रा के दौरान भारत के विदेश मन्त्री नरसिंहराव ने अमेरिका के विदेश मन्त्री एडमण्ड मस्की से विचार-विमर्श किया।

जनवरी, 1981 में रोनाल्ड रीगन ने अमेरिका के राष्ट्रपति का कार्यभार सम्भाला और रीगन के शासनकाल में भारत-अमेरिका के सम्बन्धों में पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सहायता के प्रश्न को लेकर अभी तक तनाव बढ़ता रहा फिर भी अनेक मसलों पर सहमति के मुद्दे भी हुए हैं। 1981 में दोनों देशों के बीच अनेक यात्राओं का आदान-प्रदान हुआ और अफगानिस्तान सहित विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर दोनों ने एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश की। भारत ने तनाव की स्थिति खत्म किए जाने की आवश्यकता व्यक्त की और अपना यह मत भी व्यक्त किया कि सोवियत सेनाओं की वापसी को सुविधाजनक बनाने के लिए बातचीत करके राजनीतिक समाधान का रास्ता खोजना होगा। पाकिस्तान की सैनिक शक्ति को मजबूत करने के सयुक्तराज्य के निर्णय पर अपनी चिन्ता से भारत ने उनको अवगत कराया क्योंकि इस प्रकार की कार्यवाही से इस क्षेत्र के तनाव में वृद्धि ही होगी। एक अन्य समस्या, जो भारत के लिए चिन्ता का विषय बनी रही, वह थी तारापुर के लिए परमाणु ईंधन की सप्लाई। अमेरिका

द्वारा दोनों देशों के बीच आर्थिक सहायता संहिता लागू न करने का एक बार निर्णय कर लिए जाने के बाद भारत अमेरिका के इस तर्क से सहमत नहीं हुआ कि सयुक्त-राज्य द्वारा भारत से आयात किए जाने वाले माल पर क्षति परीक्षण किए बिना किसी तरह का प्रतिपूरक शुल्क लगाया जाए। अमेरिका द्वारा हिन्दमहासागर के क्षेत्र मे अपना सैनिक जमाव बराबर बढ़ाते रहने पर भारत का अधिकाधिक चिन्तित होना स्वाभाविक था। भारत ने स्पष्ट किया कि बडी शक्तियो द्वारा अपनी सैनिक उपस्थिति बढाने से इस क्षेत्र मे तनाव निश्चय ही बढेगा। इस बात पर बल दिया गया कि शान्ति बनाए रखने और तटवर्ती राज्यो की सुरक्षा को सुदृढ करने का इन बाह्य शक्तियो के लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि वे इस क्षेत्र से यथाशीघ्र अपनी सभी सैनिक, नौ-सैनिक और वायु सैनिक उपस्थिति समाप्त कर दे। भारत-अमेरिका सयुक्त आयोग के अन्तर्गत स्थापित चारो उप-आयोगो ने 1980-81 के दौरान अपनी बैठके की। इसमें कृषि पर नवगठित उप-आयोग की पहली बैठक भी शामिल थी। उप-आयोग की बैठको से विभिन्न क्षेत्रो मे द्विपक्षीय सहयोग को विस्तृत करने की दिशा मे मूल्यवान सहयोग मिला।

1981–82 मे, कुछ क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर दोनो सरकारो के दृष्टिकोण मे अन्तर के कारण, द्विपक्षीय विचार-विनिमय को विशेष महत्त्व दिया गया। मतभेदो के बावजूद भारत ने सयुक्तराज्य अमेरिका के साथ आपसी लाभप्रद सम्बन्धो को और सुदृढ करने की कोशिश की क्योंकि भारत इस बात को स्वीकार करता है कि भारतीय उप-महाद्वीप मे और उसके आस-पास के क्षेत्रो मे स्थायित्व दोनो देशो के हित मे है। अक्तूबर, 1981 मे उत्तर-दक्षिण वार्ता के लिए आयोजित केनकुन शिखर सम्मेलन मे प्रधानमन्त्री और अमेरिकी राष्ट्रपति के बीच हुई बैठक भारत-अमेरिका सम्बन्धो की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। दोनो नेताओ की बातचीत के दौरान पाकिस्तान को आधुनिकतम हथियारो की सप्लाई के बारे मे अमेरिका के निर्णय के परिणामो के सम्बन्ध मे भी चर्चा हुई। अक्तूबर मे उपराष्ट्रपति श्री एम हिदायतुल्ला और सितम्बर मे लोकसभा अध्यक्ष डॉ. बलराम जाखड की सयुक्तराज्य अमेरिका की यात्रा भी उल्लेखनीय रही। सयुक्तराज्य अमेरिका की ओर से भी अनेक उच्च स्तरीय यात्राएँ हुई। वार्षिक रिपोर्ट 1981-82 के अनुसार अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप को आधार बना कर पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा आधुनिकतम हथियार सप्लाई किए जाने के निर्णय से भारत मे आशका बनी रही क्योंकि भारत कई बार पाकिस्तानी आक्रमण का शिकार बन चुका है। भारत और अमेरिका के बीच मतभेद का एक मुद्दा दोनो राज्यो के बीच 1963 के करार का उल्लघन करते हुए तारापुर परमाणु बिजलीघर के लिए ईंधन की सप्लाई न करने से सम्बन्धित था। वर्ष के शुरू मे ही भारत ने औपचारिक रूप मे सयुक्तराज्य अमेरिका से कहा था कि ईंधन की निरन्तर सप्लाई के लिए आश्वासन दिया जाए, लेकिन इस प्रकार का कोई आश्वासन नही दिया गया।

जुलाई-अगस्त, 1982 मे प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अमेरिका की यात्रा के दौरान राष्ट्रपति रीगन और वरिष्ठ अधिकारियो से क्षेत्रीय मामलो तथा अन्तर्राष्ट्रीय ममलो पर बातचीत की। इस यात्रा का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि अमेरिकी प्रशासन और अमेरिकी जनता की कुछ गलतफहमियाँ दूर अथवा कम हो गईं और भारत के प्रति अमेरिकी दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से कुछ मुक्त हुआ। तारापुर परमाणु बिजलीघर के लिए ईंधन की सप्लाई हेतु यह फार्मूला निकाला गया कि फ्रांस ईंधन की सप्लाई भारत को करेगा। बाद मे भारत और फ्रांस ने 26 नवम्बर को एक करार पर हस्ताक्षर किए और 30 नवम्बर को भारत सरकार तथा अमेरिका के बीच टिप्पणियो का आदान-प्रदान हुआ जिसमे इस सहमति की औपचारिक रूप से पुष्टि की गई। सम्बन्धो के सुधार के वातावरण के बावजूद भारत और अमेरिका मे ऐसे कई मसलो पर मतभेद बने रहे जिन्हे लेकर भारत विशेष रूप से चिंतित है। अमेरिकी प्रशासक की ओर से पाकिस्तान को ऐसे अत्याधुनिक हथियारो की सप्लाई करने के निर्णय पर जो कि उस देश की वास्तविक रक्षा आवश्यकताओ के अनुपात की दृष्टि से बहुत अधिक है, पुन विचार करने का कोई सकेत नही मिला। पश्चिमी और दक्षिणी-पश्चिमी एशिया की राजनीतिक घटनाओ के प्रति उनके दृष्टिकोण पर भी दोनो देशो के बीच मतभेद बना रहा। अमेरिकी कार्यवाहियो के परिप्रेक्ष्य मे हिन्दमहासागर मे गैर-तटीय देशो की नौसैनिक उपस्थिति भारत के लिए निरन्तर चिन्ता की विषय बनी रही थी। आर्थिक क्षेत्र मे, भारत बहुपक्षीय विकास बैंको के प्रति अमेरिका की नीति से चिंतित बना रहा। भारत के लिए विशेष चिन्ता का विषय आई वी आर डी. के आई डी ए कार्यक्रमो पर अमेरिकी निर्णय का नकारात्मक प्रभाव और ऊर्जा जैसे कतिपय प्रमुख क्षेत्रो मे सहायता के लिए भारत का अनुरोध रहा। द्विपक्षीय सरकारी विचार-विमर्श का सिलसिला 1982 मे पुनः प्रारम्भ किया गया। 1982 मे भारत की ओर से अमेरिका की ओर भी कई महत्वपूर्ण यात्राएँ की गईं।

प्रधानमन्त्री ने जुलाई-अगस्त, 1982 के दौरान अमेरिका की यात्रा की थी और इस समय लिए गए कई निर्णय 1983 मे विभिन्न परिणामो म कार्यान्वित किए गए। सितम्बर, .983 मे प्रधानमन्त्री की सयुक्त राष्ट्र यात्रा के अवसर पर, अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन से विभिन्न द्विपक्षीय और बहुपक्षीय मसलो पर विचार-विनिमय हुआ। जून जुलाई, 1983 के दौरान अमेरिका के विदेशमन्त्री की भारत-यात्रा के फलस्वरूप उच्च स्तरीय सम्पर्कों का सिलसिला जारी रहा। इस यात्रा के फलस्वरूप नई दिल्ली मे भारत-अमेरिका सयुक्त आयोग का छठा अधिवेशन हुआ। 1983--84 मे भी, पाकिस्तान को उसकी वास्तविक रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओ से कही अधिक अत्याधुनिक हथियार सप्लाई करने के बारे मे अमेरिका के निर्णय से भारत अमेरिकी सम्बन्ध प्रभावित रहे। विशेष रूप से हार्पून प्रक्षेपास्त्र सप्लाई करने के निर्णय का भारत ने बडा विरोध किया। अमेरिका के विदेश मन्त्री श्री शुल्ज की भारत-यात्रा के दौरान सयुक्तराज्य ने तारापुर परमाणु शक्ति केन्द्र के लिए

ऐसे फालतू पुर्जों की सप्लाई पर अपनी सहमति व्यक्त की थी, जो अन्य स्रोतों से उपलब्ध न हो। इसके परिणामस्वरूप भारत ने पश्चिमी यूरोप से फालतू पुर्जे प्राप्त करने की सम्भावना का पता लगाना शुरू कर दिया लेकिन वर्ष के अन्त तक भी फालतू पुर्जों का मसला हल नहीं हो सका। तथाकथित खालिस्तान आन्दोलन के नेता जगजीतसिंह चौहान को अमेरिका में प्रवेश के लिए वीजा प्रदान करने का और वहाँ राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने की अनुमति देने के सम्बन्ध में अमेरिका का निर्णय काफी वाद-विवाद का कारण बना। इस फैसले पर भारत सरकार ने अमेरिका सरकार को अपनी अप्रसन्नता से अवगत कराया। यात्राओं और आयोगों की बैठकों का सिलसिला चलता रहा। वाणिज्यिक संविदाओं के निष्पादन में तेजी लाने की दृष्टि से संयुक्तराज्य अमेरिका के समुद्रपार निजी निवेश निगम के प्रतिनिधि-मण्डलों ने फरवरी-मार्च, 1983 में भारत की यात्रा की। भारत इंजीनियरी निर्यात प्रवर्द्धन परिषद् ने नवम्बर, 1983 में ह्यूस्टन (टैक्सास) में एक संगोष्ठी का आयोजन किया।

1984--85 में भी बेहतर सम्बन्धों के लिए उच्च स्तर पर विचार-विनिमय का सिलसिला जारी रहा। अमेरिका पाकिस्तान को आधुनिक अस्त्रों की निरन्तर सप्लाई करता रहा और यही दोनों देशों के बीच खिचाव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण बना। संयुक्तराज्य अमेरिका में कार्य कर रहे बहुत-से उग्रवादी नेताओं ने भारत में तथाकथित 'खालिस्तान आन्दोलन' का समर्थन किया। ऐसे उग्रवादी तत्वों ने संयुक्तराज्य अमेरिका में आयोजित भारतीय स्वाधीनता दिवस समारोहों में विघ्न डाला और लासएंजलेस में ओलम्पिक खेलों के दौरान भारतीय खिलाड़ियों के साथ दुर्व्यवहार भी किया तथा उन पर गालियों की बौछार की। भारत के निरन्तर इस आग्रह का बहुत कम प्रभाव हुआ कि ऐसी गतिविधियाँ भारत-अमेरिकी सम्बन्धों के लिए हानिकर हैं, हालांकि इस बात पर गौर किया गया कि अमेरिकी कांग्रेस की एशिया एवं प्रशान्त उप-समिति और मानवाधिकार समिति द्वारा की जाने वाली पंजाब के बारे में प्रस्तावित सुनवाई पहले स्थगित की गई और बाद में रद्द कर दी गई। भारत सरकार ने दुबई में इण्डियन एयरलाइन्स के बोइंग--737 विमान के अपहरण को असफल करने में अमेरिकी सरकार की भूमिका की सराहना की। 1984 के दौरान भारत-अमेरिकी आर्थिक और वाणिज्यिक सम्बन्ध विकसित हुए। भारत ने अमेरिकी अन्तरिक्ष शटल मिशन में एक भारतीय वैज्ञानिक को शामिल करने के लिए 'नासा' के निमन्त्रण को स्वीकार किया। दोनों देशों के बीच उच्च प्रौद्योगिकी के अन्तरण के बारे में एक ज्ञापन सम्पन्न करने के लिए बातचीत भी की गई। एक समझौता ज्ञापन पर आद्याक्षर किए गए। दोनों देशों के बीच कई यात्राएँ हुई। श्रीमती गांधी की अन्त्येष्टि में भाग लेने के लि अमेरिका के विदेश-मन्त्री श्री जॉर्ज शुल्ज संयुक्तराज्य अमेरिका के उच्च स्तरीय प्रतिनिधि-मण्डल को लेकर भारत आए।

राजीव गाँधी-काल (अक्टूबर, 1984 के उपरान्त)

भारत मे आठवी लोकसभा के चुनावो के बाद अमेरिका ने अचानक पी एल 480 समझौता पुनर्जीवित कर दिया। भारत-पाक युद्ध के बाद से ही पी एल. 480 के अन्तर्गत भारत को प्राप्त होने वाली सहायता बन्द पडी थी। मई, 1985 में अमेरिकी व्यापार मन्त्री बालड्रिज ने भारत की यात्रा की। नई भारत सरकार ने अमेरिकी पूँजी को भारत मे आमन्त्रित किया जबकि इन्दिरा गांधी सरकार इसके विरुद्ध थी। 17 मई, को एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसमें व्यवस्था है कि अमेरिका भारत को आधुनिकतम तकनीक प्रदान करेगा।

जून, 1985 मे राजीव गांधी की अमेरिका यात्रा के समय अमेरिका ने भारत-विरोधी आतंकवादी कार्यवाहियो से निबटने मे सहयोग का आश्वासन दिया। इस बात पर भी सहमति हुई कि दोनो देश भयंकर महामारी रोगो के लिए अच्छे किस्म के टीके तैयार करने के लिए दो नए कार्यक्रम शुरू करेंगे। दोनो देश कृषि, खानिकी, स्वास्थ्य और पोषण परिवार, कल्याण, औद्योगिक अनुसन्धान विकास में भी सहयोग करेंगे। संयुक्त विज्ञप्ति के अनुसार राष्ट्रपति रीगन ने बड़ी नदियो का प्रदूषण कम करने में सहायता देने की इच्छा व्यक्त की।

अमेरिका ने भारत को नए शस्त्र देने का प्रस्ताव किया, परन्तु यह शर्त लगाई कि भारत उनकी तकनीक को रूस से गुप्त रखेगा। राजीव गाँधी ने अमेरिका के पूँजीपतियो से भारत मे पूँजी लगाने का आग्रह किया। इस सब के बावजूद दोनो देशो के बीच राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर मतभेद बने हुए हैं। भारत और अमेरिका के बीच 1986 मे प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण सम्बन्धी समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत अमेरिका ने भारत के सरकारी और गैर-सरकारी संगठनो के लिए कुछ कम्प्यूटर व्यवस्थाओं के निर्यात की अनुमति दी। 1986 मे भारत ने अमेरिका को 247 करोड़ 83 लाख डॉलर के माल का निर्यात और उससे 164 करोड़ 19 लाख डालर का आयात करके भारत अमेरिका व्यापार का संतुलन अपने पक्ष मे बनाए रखा।

भारतीय नौसैनिक जहाज आई एन एस गोदावरी ने जून-जुलाई, 1986 मे स्वतन्त्रता की प्रतिमा के शताब्दी समारोह मे भाग लिया। यह भारतीय नौसैनिक जहाज की अमरीका की अपनी सद्भावना यात्रा थी। अमरीकियो के लिए भारत की एक अद्वितीय झाँकी प्रदान कर एक वर्ष लम्बा भारत समारोह नवम्बर, 1986 में औपचारिक रूप से समाप्त हुआ।

अगस्त 1987 मे प्रकाशित समाचारो के अनुसार रीगन प्रशासन ने पाकिस्तान को लगभग पांच अरब डॉलर के अत्याधुनिक हथियार तथा अन्य आर्थिक महायता देने का निर्णय किया साथ ही भारत पर राजनीतिक, आर्थिक दबाव डालने की दृष्टि से भारत को मिलने वाली अमेरिकी सहायता 6 करोड़ डॉलर से घटाकर केवल 3·5 करोड डालर कर दी गई। इस तनाव के बावजूद 9 अक्टूबर, 1987 को भारत तथा अमेरिका ने सुपर कम्प्यूटर के समझौते पर हस्ताक्षर किए। इन कम्प्यूटरो का इस्तेमाल विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विभाग मानसून सम्बन्धी अनुसंधान तथा अन्य कार्यों के लिए करेगा।

प्रधानमन्त्री राजीव गांधी वैंकूवर (कनाडा) के राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन में भाग लेने के बाद 20 अक्तूबर, 1987 को वाशिंगटन पहुँचे। इस अवसर पर राष्ट्रपति रीगन ने भारत-श्री लंका समझौते के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया। अफगानिस्तान के मामले में दोनों ने राजनैतिक समझौते की बात स्वीकार की जिसमें कहा गया कि विदेशी सेनाएँ अफगानिस्तान से हटा ली जाएँ और वहाँ की जनता को स्वतन्त्रता और शान्ति से रहने दिया जाय। उसे किसी भी बड़ी शक्ति के शिकार से बचाकर गुट-निरपेक्ष देश के रूप में पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ रहने का अवसर दिया जाए।

भारत और दक्षिण तथा मध्य अमेरिका और कैरियाई देश

भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट 1986-87 के अनुसार लेटिन अमेरिकी और कैरेबियाई देशों के साथ भारत के सम्बन्ध निरन्तर बढ़ते रहे हैं। उच्च स्तर की यात्राओं के आदान-प्रदान व द्विपक्षीय करारों पर हस्ताक्षर करने और इस क्षेत्र के देशों के साथ सक्रिय सहयोग से इन देशों के साथ भारत के सम्बन्ध सुदृढ़ हुए और सम्बन्धों के और विकास का आधार बना। निकारगुआ और पेरू के राष्ट्रपतियों की भारत यात्रा और भारत के प्रधानमन्त्री की मैक्सिको यात्रा महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थी। निकारगुआ के राष्ट्रपति डेनियल ओर्तेगा ने 8 से 11 सितम्बर, 1986 तक भारत की राजकीय यात्रा की। उनकी इस यात्रा के दौरान तीन द्विपक्षीय करारों पर हस्ताक्षरकिए गए। पेरू के राष्ट्रपति डॉ एलन गार्सिया पेरेज ने 23 से 29 जनवरी, 1987 तक भारत की राजकीय यात्रा की। यात्रा के दौरान द्विपक्षीय विचार-विमर्श हुआ और एक सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर किए गए, जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में भारत और पेरू के बीच सहयोग की बात है।

भारतीय तकनीकी-आर्थिक दल द्विपक्षी आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग की सम्भावनाओं का मूल्यांकन करने के लिए अप्रैल, 1986 में निकारगुआ गया। निकारगुआ के प्राधिकारियों के साथ विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप उद्योग, आधारिक संरचना और सम्बन्धित व्यापार में सहयोग के क्षेत्रों का पता लगाया गया। भारतीय संसद सदस्यों का प्रतिनिधिमण्डल नवम्बर, 1986 में सेंडिनिस्ट नेशनल लिबरेशन फ्रण्ट की 25वीं वर्षगांठ के समारोहों में भाग लेने के लिए निकारगुआ गया।

मध्य अमेरिका की स्थिति तनावपूर्ण और अस्थिर बनी रही। भारत ने संयुक्त राष्ट्र और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के मंचों पर यह विचार रखा कि मध्य अमेरिका के मसलों का समाधान बाहरी हस्तक्षेप या बड़ी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता के प्रवेश के बिना इस क्षेत्र के देशों के बीच शान्तिपूर्ण बात-चीत के माध्यम से किया जाना चाहिए। प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी ने शान्ति एवं निशस्त्रीकरण सम्बन्धी छह राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन के बाद 7 से 9 अगस्त, 1986 तक मैक्सिको की यात्रा की। तथा लोकसभा अध्यक्ष डॉ बलराम जाखड़ के नेतृत्व में एक सात

सदस्यीय ससदीय प्रतिनिधिमण्डल ने 30 जून से 6 जुलाई, 1986 तक वेनेजुएला की यात्रा की।

भारतीय नौसैनिक जहाज आई एन. एस गोदावरी इस क्षेत्र के विभिन्न देशो की यात्रा करते समय क्यूबा, जमैका, ट्रिनिडाड एव टोबागो, गुयाना और ब्राजील के बदरगाहो पर गया। 'तृष्णा' नौका म छह-सदस्यीय भारतीय सेना दल पूरे विश्व की समुद्र-यात्रा के दौरान गुयाना, ट्रिनिडाड एव टोबागो, पनामा, इक्वाडोर और जमैका गया। भारत के व्यापार मेला प्राधिकरण ने सोलहवें अन्तर्राष्ट्रीय मेले (5 से 23 जुलाई, 1986) मे भाग लिया। भारत ने भयकर बाढ की विपत्ति से पीडित लोगो की सहायता के लिए जमैका को 50,000 रुपये के मूल्य की दवाइयाँ दान मे दी। भारत के पर्यटन विकास निगम और भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के सहयोग से पनामा स्थित भारत के राजदूतावास ने नवम्बर, 1986 मे एक बहुपक्षीय भारतीय सांस्कृतिक समारोह का योगदान किया।

भारत और सोवियत संघ

1947 ई मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अब तक भारत के सोवियत सघ के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने साम्राज्यवाद के विरोध को अपनी विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य बनाया तथा एशिया व अफ्रीका के अन्य देशो की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। रूस की ही भाँति-भारत ने भी अनुभव किया कि साम्राज्यवाद भारतीय राष्ट्रीय हित मे नही है। एशिया तथा अफ्रीका के परतन्त्र देशो को साम्राज्यवादी शक्तियो से स्वतन्त्र कराना भारतीय विदेश नीति का एक मुख्य उद्देश्य रहा है। यहाँ स्पष्ट है कि रूस तथा भारत की विदेशनीतियों के एक उद्देश्य साम्राज्यवाद का विरोध मे साम्य है जो उन्हे परस्पर निकट लाने का एक कारण है।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ उस समय रूस तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य शीतयुद्ध प्रारम्भ हो चुका था। भारत ने शीतयुद्ध से पृथक् रहने की गुटनिरपेक्षता की नीति को प्रतिपादित किया और पचशील के सिद्धान्तो को अपनाया। पहले रूस को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त प्रिय नही लगा। रूसी विचारक पूँजीवाद के साथ समाजवाद के सह-अस्तित्व की कल्पना तक अधर्म मानते थे परन्तु जब उन्होंने देखा कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने पाँवो पर दृढता से खडी है तो उन मे भी सहनशीलता का भाव उत्पन्न हुआ। अब रूस ने विश्व मे विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की विवशता को स्वीकार किया। यह परिवर्तन सोवियत सघ और भारत को निकट लाने मे सहायक हुआ।

(क) स्टालिन काल

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही उपनिवेशवाद, निःशस्त्रीकरण, अणुबम, विशेषाधिकार आदि प्रश्नो पर भारत और रूस के बीच इतना मतैक्य था कि अमेरिका के विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस ने 18 जनवरी, 1947 को यहाँ तक कह दिया कि—"भारत मे सोवियत साम्यवाद अन्तरिम भारत सरकार के माध्यम

से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।" लेकिन आने वाले समय ने सिद्ध कर दिया कि भारत न तो पूँजीवादी जगत् के शिकंजे में है और न साम्यवाद के प्रभाव में।

स्वतन्त्र भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाई। साथ ही उसने ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाए और राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भी ग्रहण कर ली। ब्रिटेन के साथ भारत के आर्थिक सम्बन्धों के कारण स्टालिन को सन्देह हुआ कि भारत पश्चिमी गुट में चला गया है। तथापि भारत और सोवियत संघ के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान हुआ तथा सम्बन्ध निर्माण की प्रक्रिया चालू हुई।

यह एक संयोग ही था कि भारत और सोवियत संघ ने 1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में साम्राज्यवाद और जातिवाद का एक साथ विरोध किया, शान्ति का पक्ष लिया तथा इण्डोनेशिया में डचों द्वारा दमन की आलोचना की। यहीं से दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार होने लगा। नेहरू पश्चिम के साथ मैत्री सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए भी रूस की भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न करते रहे। पश्चिम की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता देकर श्री नेहरू ने भारत की स्वतन्त्र विदेश नीति का परिचय दिया। मास्को में भारतीय राजदूत डॉ राधाकृष्णन् के सद्प्रयासों से दिल्ली मास्को के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास में सहायता मिली। 1949 में दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ।

इस मैत्री को जून, 1950 में कोरिया-युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने में कोई संकोच नहीं किया। इससे सोवियत संघ में भारत के प्रति रोष पैदा हो गया, किन्तु जब कोरिया-समस्या के अग्रिम चरण में भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं को 38वीं अक्षांश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के विरुद्ध चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय-शक्ति स्वतन्त्र है, पश्चिम के दबाव से प्रेरित नहीं। इस घटना से दोनों देश समीप आए। यह समीपता तब बढ़ी जब सितम्बर, 1951 में भारत ने जापानी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया क्योंकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे में जकड़ने की एक चाल थी। अप्रेल, 1952 में रूस के लौह-शासक स्टालिन ने भारतीय राजदूत डॉ राधाकृष्णन् से भेंट की। यह भेंट इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थी कि पिछले दो वर्षों में स्टालिन किसी भी राजदूत से नहीं मिला था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस भेंट को भारत-रूस सम्बन्धों में सुधार का प्रतीक माना गया। दिसम्बर, 1952 में कोरिया के युद्धबन्दियों के प्रश्न पर दोनों के बीच पुनः अल्पकालीन मतभेद पैदा हो गए।

ख्रुश्चेव-काल

मार्च, 1953 में स्टालिन का देहान्त हो गया। अब सोवियत शासन की बागडोर पहले मेलेंकोव और फिर बुल्गानिन-ख्रुश्चेव के हाथों में आई। इस काल

में अमेरिका ने भारत द्वारा कोरिया के राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने का विरोध किया जिससे रूस और भारत के सम्बन्धों मे अधिक प्रगाढता आई। रूस ने पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता का विरोध करके भी भारत की सद्भावना अर्जित की। 1954 मे रूस ने 'पंचशील' के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। दूसरी ओर अमेरिका ने साम्यवाद का प्रसार रोकने के नाम पर सैनिक सगठनो का जो जाल बिछाया, उसकी भारत द्वारा कटु आलोचना की। इन घटनाओ से जो जाल बिछाया, उसकी भारत द्वारा कटु आलोचना की गई। इन घटनाओ से भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध और मधुर हो गए। जून, 1955 मे श्री नेहरू ने सोवियत सघ की यात्रा की तथा रूसियो को अपनी सह-अस्तित्व नीति से प्रभावित किया। सयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया कि दोनो देशो के सम्बन्ध पहले से ही मैत्री और सहिष्णुता पर आधारित हैं तथा भविष्य मे भी पचशील द्वारा निर्देशित होते रहेंगे। 1955-56 मे श्री बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद शायद पहली बार कोई रूसी प्रधान मन्त्री सद्भावना-यात्रा पर इस प्रकार अपने देश से बाहर निकला था। अपनी इस भारत यात्रा के समय सोवियत नेताओ ने सार्वजनिक रूप से इस बात का समर्थन किया कि गोआ भारत का अभिन्न अग है।

उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो पर दोनो देशो के दृष्टिकोण समान रहे। 1955 मे हगरी की घटना पर दोनो देशो के बीच मतभेद रहा, क्योकि हगरी मे सोवियत सैनिक कार्यवाही का भारत मे विरोध हुआ था। परन्तु इससे दोनो देशो के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो मे कोई विशेष बाधा उत्पन्न नही हुई। 1955 के बाद से ही दोनो देशो के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी विकसित होने लगे। कश्मीर-विवाद पर सोवियत सघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा परिषद् मे पश्चिमी राष्ट्रो के भारत-विरोधी प्रस्तावो पर 'वीटो' का प्रयोग करता रहा। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्रो मे भी दोनो देशो के दृष्टिकोण मे काफी समानता रही। 1959 और 1960 मे महासभा के अधिवेशनो मे भारत ने निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी सोवियत प्रस्तावो का समर्थन किया। 1962 मे गोआ-विलय के प्रश्न पर सुरक्षा-परिषद् मे पश्चिमी देशो द्वारा भारत की निन्दा का प्रयत्न 'रूसी वीटो' के प्रयोग द्वारा ही विफल हुआ।

अक्तूबर, 1962 मे चीनी आक्रमण के प्रारम्भ मे रूसी दृष्टिकोण भारत के के लिए निराशाजनक था। 25 अक्तूबर, 1962 के 'प्रावदा' के सम्पादकीय लेख मे खुले रूप से चीन की 24 अक्तूबर वाली शर्तो का समर्थन किया गया था। यह एक प्रकार से बिना भारत की निन्दा किए चीन के पक्ष का समर्थन था। इतना ही नही रूस ने भारत को मिग विमानो की सप्लाई रोक दी। इन सब बातो से भारत मे रूस के प्रति प्रतिकूल प्रतिक्रियाओ का ज्वार-सा आ गया, किन्तु भारत सरकार का यह विश्वास कायम रहा कि वस्तु-स्थिति का ज्ञान होने पर रूस चीन का पक्षपोषण नही करेगा, और हुआ भी यही। धीरे-धीरे भारत पर चीन-आक्रमण के·

सम्बन्ध में सोवियत दृष्टिकोण बदलने लगा और दिसम्बर, 1962 में तो सुप्रीम सोवियत में ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी हमले की खुली निन्दा की। 1963 में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव ठुकरा दिए जाने पर भी रूस ने चीन की कटु आलोचना की। भारत को मिग विमानों की सप्लाई की गई और मिग विमानों का एक कारखाना भी भारत में स्थापित किया गया। जुलाई, 1963 में सोवियत रूस से प्राप्त होने वाली सैनिक सहायता की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए भारत की ओर से एक मिशन सोवियत संघ स्थापित किया गया। 4 नवम्बर, 1963 के एक समझौते के अनुसार भारत में तेल एवं गैस की खोज तथा उन्हें विकसित करने के लिए रूस द्वारा तकनीशियनों को भेजने का निश्चय हुआ। रूस ने बोकारो कारखाना तथा एक शक्तिशाली रेडियो स्टेशन स्थापित करने में सहायता देने का भी वचन दिया।

ब्रेझनेव-कोसीगिन काल (1964-1980)

26 अक्तूबर, 1964 को रूस में ब्रेझनेव और कोसीगिन के नेतृत्व का उदय हुआ। नए नेताओं ने सोवियत राजदूत के माध्यम से भारत को आश्वासन दिया कि उसके प्रति सोवियत नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा, लेकिन आगामी कुछ वर्षों में भारत को रूस का वह समर्थन नहीं मिल सका जो ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी उसकी नीति कुछ इसी प्रकार की रही किन्तु पर्दे के पीछे जो कूटनीति खेल खेले गए उनके प्रति रूस ने खुले रूप में भारत को अपना समर्थन दिया। उदाहरणार्थ, एंग्लो-अमेरिकी गुट का यह प्रयास था कि भारत को आक्रमणकारी घोषित किया जाए और यदि ऐसा न हो तो कम से कम कश्मीर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना भेज दी जाए, लेकिन सोवियत संघ द्वारा वीटो प्रयोग की धमकी के कारण एंग्लो-अमेरिकी गुट को इस भारत-विरोधी षड्यन्त्र का परित्याग करना पड़ा। जब 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया, तब भी सोवियत सरकार ने यह चेतावनी दी कि विदेशी शक्तियाँ भारत और पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप कर स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास न करें। सोवियत रूस ने भारत-पाक संघर्ष के बाद से ही इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया कि दोनों देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रहें और पाकिस्तान को चीनी प्रभाव से मुक्त कर, अपने प्रभाव में लाया जाए तथा शनैः-शनैः इस बात के लिए तैयार किया जाए कि वह भारत-विरोधी रुख छोड़ दे। इसी प्रकार की नीति पर चलते हुए रूस ने जनवरी, 1966 में ताशकन्द सम्मेलन का आयोजन किया और अपनी कूटनीति के बल पर भारत और पाकिस्तान के बीच ताशकन्द समझौता सम्पन्न करा दिया।

ताशकन्द समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा-सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया। सोवियत

कूटनीति की यह 'नई दिशा' भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डालने वाली थी। जुलाई, 1968 में पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निर्णय करते समय रूस ने भारत को यह आश्वासन दिया कि पाकिस्तान को दिए गए रूसी शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं हो सकेगा, पर पाकिस्तानी आचरण देखते हुए रूस के ऐसे किसी भी आश्वासन पर भारत को भरोसा नहीं हो सकता था।

सौभाग्यवश रूस शीघ्र ही समझ गया कि पाकिस्तान जैसे अस्थिर चित्त राष्ट्र पर विश्वास नहीं किया जा सकता, अतः कुछ ही समय बाद पाकिस्तान को रूसी शस्त्रों की सप्लाई रुक गई। इसके पश्चात् भारत-रूस सम्बन्धों में उत्तरोत्तर विकास होता गया। बंगलादेश की समस्या पर रूस का दृष्टिकोण भारत से मिलता-जुलता रहा। रूस ने पाकिस्तान को स्पष्ट कर दिया कि वह बंगलादेश में हत्याकाण्ड समाप्त कर समस्या का राजनीतिक हल खोजे।

भारत-सोवियत मैत्री सन्धि, 1971—9 अगस्त, 1971 को भारत और सोवियत संघ के बीच शान्ति, मैत्री और सहयोग की 20-वर्षीय ऐतिहासिक सन्धि सम्पन्न हो गई। इस सन्धि द्वारा भारत को एक महाशक्ति की ठोस मैत्री तो प्राप्त हुई ही, अपितु सोवियत संघ भी एशिया में एक प्रभावी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

यह सन्धि, जिसके दस्तावेजों का आदान-प्रदान मास्को में किया गया, आरम्भ में 20 वर्ष के लिए है, लेकिन कोई भी पक्ष सन्धि की अवधि समाप्त होने से 12 महीने पूर्व उसे समाप्त करने का नोटिस दे सकता है। ऐसा नोटिस न दिए जाने पर सन्धि की अवधि स्वतः हर बार 4 साल के लिए बढ़ जाएगी। इसका अर्थ यह है कि यह सन्धि स्थायी रूप से चालू रह सकती है।

सन्धि पर हस्ताक्षर करने के तुरन्त बाद कुछ क्षेत्रों में आरोप लगाया गया कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति त्याग कर सोवियत संघ के हाथों का खिलौना बन सकता है लेकिन ये सभी आशंकाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं। दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध और बंगलादेश के उदय के समय यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि भारत की स्वतन्त्र निर्णय शक्ति पर कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता। रूस और भारत की मैत्री-सन्धि सैनिक गुटबन्दी नहीं है। सन्धि में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि भारत पर आक्रमण सोवियत संघ पर आक्रमण माना जाएगा। सन्धि में केवल यह व्यवस्था है कि "दोनों में से किसी पर आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर दोनों पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाए और शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के लिए प्रभावकारी कदम उठाए जाएँ।" इन शब्दों में सैनिक गुटबन्दी जैसी कोई बात नहीं दिखाई देती। इससे यही प्रतीत होता है कि आक्रमण का खतरा होने पर आक्रमण के प्रतिकार का उपाय सोचा जाएगा। यह सन्धि भारत पर पाकिस्तान या अन्य किसी शत्रु देश के आक्रमण के विरुद्ध एक गारण्टी है। बहुत कुछ इस सन्धि के कारण ही अमेरिका और चीन दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में उलझने से दूर रहे और भविष्य

मे भी यह सन्धि भारत और सोवियत सघ दोनो देशों के लिए रक्षा-कवच का काम देगी। यह समानता पर आधारित मैत्री-सन्धि है जिसकी चौथी धारा मे सोवियत सघ ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वह भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति का सम्मान करता है।

भारत-पाक युद्ध 1971 पर सोवियत प्रतिक्रिया—दिसम्बर, 1971 मे भारत-पाक युद्ध मे सोवियत सघ ने भारत को पूर्ण समर्थन दिया। सोवियत समाचार-पत्रों मे श्रीमती गाँधी के उस भाषण को प्रमुखता प्रदान की गई जिसमे उन्होने पूर्वी बगाल का सकट हल करने के लिए वहाँ से पाकिस्तानी सेना की वापसी को आवश्यक बताया था। सुरक्षा परिषद् मे सोवियत सघ ने अमेरिका के उस प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग किया जिसमे युद्ध-विराम और सेनाओं की वापसी की माँग की गई थी। बदले मे सोवियत सघ ने यह प्रस्ताव रखा कि पूर्वी बगाल की समस्या का राजनीतिक समाधान निकाला जाए। वीटो के उपरान्त सोवियत सरकार ने सभी देशो से अनुरोध किया कि वे भारत-पाक सघर्ष से दूर रहे और ऐसे कदम न उठाएँ जिनमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय उपमहाद्वीप की स्थिति और भी जटिल बन जाए। सघर्ष को सीमित रखने का यह सोवियत प्रयत्न भारत के हित मे था। 6 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक मे अमेरिका ने पुन भारत-विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसको चीन ने पूर्ण समर्थन दिया। सोवियत सघ ने पुन वीटो का प्रयोग कर इसे निरस्त कर दिया। भारत के पक्ष मे सुरक्षा परिषद् मे रूस को पुन तीसरी बार भी वीटो का प्रयोग करना पड़ा। इस प्रकार रूसी समर्थन के कारण सुरक्षा परिषद् मे पिण्डी-पीकिंग-वाशिंगटन चाल भारत का अहित नही कर सकी। जब अमेरिका का सातवाँ बेडा बगाल की खाडी की ओर रवाना हुआ तो सोवियत युद्ध-पोत भी हिन्द-महासागर की ओर चल पडे ताकि अमेरिका के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का *प्रतिरोध किया जा सके। सोवियत चुनौती के कारण अमेरिका का भारत के* विरुद्ध 'युद्ध-पोत राजनय' व्यर्थ हो गया। भारत की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा का सोवियत सरकार ने खुले दिल से स्वागत किया। इसे शान्ति की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम माना गया। सोवियत सघ ने एक लम्बे वक्तव्य मे राष्ट्रों से अपील की कि वे स्थिति के सामान्यकरण मे योग दें।

सहयोग का बढ़ता हुआ दायरा (1972–मार्च, 1977)—भारत-सोवियत मैत्री उत्तरोत्तर विकसित होती रही। बगलादेश की समस्याओं के समाधान मे दोनो देशो ने मिल-जुलकर काम करने की नीति अपनाई। शिमला-समझौते को रूस ने अपना पूरा समर्थन *दिया। अगस्त, 1972 मे सुरक्षा परिषद् मे सयुक्त राष्ट्रसंघ की* सदस्यता के लिए जब बगलादेश के प्रार्थना-पत्र पर विचार हुआ तो भारत और रूस ने बगलादेश को अपना पूर्ण समर्थन दिया। चीन के वीटो के कारण उस समय बगलादेश को सदस्यता प्राप्त नही हो सकी। लगभग इसी समय एक भारत-सोवियत सयुक्त आयोग स्थापित करने का निश्चय हुआ जो आर्थिक क्षेत्र मे दोनो के सहयोग को और अधिक व्यवस्थित कर सके। 2 अक्तूबर, *1972 को दोनो देशो के बीच*

विज्ञान और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी समझौता हुआ। यह समझौता महत्त्वपूर्ण था क्योंकि भारत अभी तक विशेष रूप से पश्चिमी देशों से ही वैज्ञानिक और तकनीकी जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता रहा था।

दोनों देशों में सहयोग निरन्तर विकसित होता गया। 26 से 30 नवम्बर, 1973 तक नई दिल्ली में ब्रेझनेव-इन्दिरा भेंट के फलस्वरूप सम्बन्धों में काफी घनिष्ठता आ गई। लाल किले में आयोजित अभिनन्दन समारोह में श्री ब्रेझनेव ने कहा—"हमारी पारस्परिक मैत्री एक पर्वतारोहण की भाँति है। हम जितने भी ऊपर चढ़ते जाते हैं, मैत्री की नई सम्भावनाएँ खुलती जाती हैं।" ब्रेझनेव ने दिल्ली-प्रवास के समय ही 29 नवम्बर, 1973 को दोनों देशों के बीच तीन ऐतिहासिक समझौतों पर हस्ताक्षर किए जिनके द्वारा व्यापार एवं आर्थिक सहयोग बढ़ाने, दोनों देशों के योजना आयोगों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक दूसरे के सरकारी प्रतिनिधियों को विशेष सुविधाएँ सुलभ कराने की व्यवस्था की गई। सोवियत नेता की यात्रा के फलस्वरूप भारत में भिलाई और बोकारो इस्पात कारखानों के विस्तार, मथुरा में तेल-शोधक कारखानों की स्थापना तथा मध्य प्रदेश में ताँबा परियोजना के निर्माण में सोवियत सहयोग प्राप्त हुआ। आर्थिक क्षेत्र में दोनों देशों के बीच सहयोग का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सोवियत सहायता से भारत में 80 से भी अधिक औद्योगिक एवं अन्य परियोजनाएँ चालू हो चुकी हैं या चालू की जा रही हैं। अक्तूबर, 1974 में भारत-सोवियत व्यापार प्रतिनिधि मण्डल वार्ता मास्को में हुई। 1975-76 में भारत-रूस सम्बन्ध और विकसित हुए। कई घोषणाओं में सोवियत नेताओं ने गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण कार्य की पुष्टि की और विश्व-शान्ति तथा सहयोग में गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के अवदान के महत्त्व को मान्यता दी। भारत ने हेलसिंकी में यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग के शिखर सम्मेलन के सफल समापन के लिए सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के महत्त्वपूर्ण योगदान का स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की कि तनाव-शैथिल्य की भावना को स्थायी रखने तथा प्रभावी बनाने के लिए उसे विश्व के सभी भागों में फैलाना होगा।

भारत का पहला कृत्रिम उपग्रह, आर्यभट्ट सोवियत रॉकेट की सहायता से 19 अप्रैल, 1975 को सोवियत संघ से छोड़ा गया। 1977-78 में सोवियत रॉकेट की सहायता से दूसरा भारतीय वैज्ञानिक उपग्रह छोड़ने सम्बन्धी समझौते पर 22 अप्रैल, 1975 को हस्ताक्षर किए गए। कृत्रिम उपग्रह तथा अन्तरिक्ष खोज के पर्यवेक्षण के द्वारा एक अन्तरिक्ष अनुसन्धान सहयोगात्मक कार्यक्रम सम्बन्धी समझौते पर नवम्बर, 1975 में कार्य शुरू किया गया। 1975 में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत-सोवियत सहयोग में भारी वृद्धि हुई। जनवरी, 1976 में दोनों देशों ने 1976-77 वर्षों के लिए कृषि एवं जन्तु-विज्ञान में वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर किए। सोवियत संघ ने दिसम्बर, 1975 में चसनाला कोयला खान दुर्घटना में अत्यन्त मूल्यवान और तात्कालिक

सहायता प्रदान की। 15 अप्रैल, 1976 को दोनों देशों के बीच 1976-80 की अवधि के लिए नए व्यापार-समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

21 अक्तूबर, 1977 को प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने अपनी रूस-यात्रा के समय मास्को में रात्रि-भोज के अवसर पर कहा—"दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को दृढ़ बनाने की हमारी परस्पर इच्छा समानता पर आधारित है न कि विचारधाराओं पर। दोनों ही राष्ट्र इस बात को मानते हैं कि हम विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता एवं सहयोग के क्षेत्र में गहरी रुचि रखते हैं। हमारे प्रधान मन्त्री, श्री जवाहरलाल नेहरू की 1955 में सोवियत संघ की अपनी प्रथम यात्रा के समय दोनों देशों ने सह-अस्तित्व और सहयोग के सिद्धान्तों पर अपनी सहमति की पुष्टि की थी। उस समय कई देशों ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया था कि क्या ऐसे दो राष्ट्र जिनमें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रणाली की भिन्नता है, प्रतिष्ठा, समानता और परस्पर विश्वास के आधार पर सम्बन्धों का विकास कर सकते हैं। आज के समय में इन सम्बन्धों को कायम रखना दो स्वाभिमानी राष्ट्रों की परिपक्वता का उदाहरण है।"

26 अक्तूबर, 1977 के भारत-सोवियत संयुक्त घोषणा-पत्र में, हिन्द-महासागर के प्रश्न पर दोनों पक्षों ने इस क्षेत्र की जनता की हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की इच्छा के प्रति समर्थन व्यक्त किया था। हिन्दमहासागर से सभी वर्तमान सैनिक अड्डों को समाप्त करने तथा नए अड्डों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगाने का आह्वान किया गया। 1978 में दोनों देशों के पारस्परिक आदान-प्रदान में और बढ़ोत्तरी हुई। रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम ने मई, 1978 में सोवियत संघ की यात्रा की और सितम्बर, 1978 में विदेश मन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी रूस गए। मार्च, 1979 में सोवियत प्रधान मन्त्री श्री कोसीगिन भारत-यात्रा पर आए। संयुक्त विज्ञप्ति में इस बात की पुनः पुष्टि की गई कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों के आधार पर भारत-सोवियत संघ के सम्बन्धों को सुदृढ़ करना दोनों देशों की विदेश नीति का मूलाधार है। दक्षिण एशिया के देशों के साथ अपने सम्बन्धों को सामान्य बनाने की भारत की पहल की सोवियत संघ ने प्रशंसा की। इस यात्रा के दौरान कई करारों तथा प्रोटोकोलों पर हस्ताक्षर हुए। दोनों देशों के बीच सहमत सबसे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज का सम्बन्ध 10-15 वर्ष की अवधि के लिए आर्थिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग से सम्बद्ध एक दीर्घावधि कार्यक्रम से था। सोवियत संघ कुछ महत्त्वपूर्ण परियोजनाओं में भी भारत को सहयोग देने पर सहमत हुआ—भारत के पूर्वी तट पर एक अल्यूमिनियम संयन्त्र, कुछ विशिष्ट कोयला क्षेत्रों का संगठन और विस्तार तथा सिंचाई के क्षेत्र में सहयोग। पेट्रोलियम तथा रसायन मन्त्री हेमवती नन्दन बहुगुणा ने 28 मई से 2 जून, 1979 तक सोवियत संघ की यात्रा की। उन्होंने तेल अनुसन्धान तथा उत्पादन के क्षेत्र में भावी सहयोग के बारे में विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया। प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई तथा विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी 10 से

14 जून तक सोवियत संघ की यात्रा पर गए। संयुक्त वक्तव्य में भारत और सोवियत संघ के इस संकल्प की पुनः पुष्टि की गई कि दोनों देशों के आपसी सहयोग को और मजबूत बनाना चाहिए क्योंकि इससे न केवल इन दोनों देशों के हितों की रक्षा होती है अपितु इससे विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में भी मदद मिलती है। भारत-सोवियत संयुक्त आयोग की जून में मास्को में हुई बैठक के दौरान सोवियत सहयोग से विशाखापट्टनम् में एक इस्पात संयंत्र लगाने के लिए भी एक करार पर हस्ताक्षर किए गए। श्री कोसीगिन सितम्बर, 1979 में अपनी विदेश यात्रा के दौरान बम्बई रुके। भारत के राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी ने अक्तूबर, 1980 के अन्तिम सप्ताह में सोवियत संघ की यात्रा की। सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव दिसम्बर, 1980 में भारत आए। आर्थिक और तकनीकी सहयोग के एक करार पर और तीन अन्य प्रलेखों पर हस्ताक्षर हुए।

ब्रेझनेव-तिखोनोव काल (अक्तूबर, 1980 से नवम्बर, 1982)

अक्तूबर, 1980 में 76 वर्षीय प्रधान मन्त्री कोसीगिन के अवकाश ग्रहण करने के बाद उनके स्थान पर निकोलाई तिखोनोव ने पद सम्भाला। 1981-82 के दौरान भारत और रूस के बीच व्यापार तथा आर्थिक सम्बन्धों में और विस्तार हुआ तथा दोनों पक्ष 14 मार्च, 1979 के आर्थिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग के दीर्घावधि कार्यक्रम में निर्धारित प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए निकट सहयोग से कार्य करते रहे। नवम्बर, 1981 में सोवियत तेल उद्योग मन्त्री की भारत यात्रा बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। इस क्षेत्र में और सहयोग के लिए एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें उन विशिष्ट क्षेत्रों का उल्लेख था, जिनमें सोवियत संघ भारत की सहायता करेगा, विशेषतः समुद्र में तेल निकालने का कार्य। सितम्बर, 1982 में श्रीमती गाँधी सोवियत संघ की यात्रा पर गईं और इसे सोवियत-भारत मैत्री में 'एक और महत्वपूर्ण भू-चिह्न' माना गया।

यूरी आन्द्रोपोव-चेर्नेन्को काल (नवम्बर 1982–फरवरी, 1985)

दिसम्बर 1983 में वर्ष 1984 के लिये व्यापार में व्यापक वृद्धि पर सहमति हुई। 1983–84 में विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति जन-स्वास्थ्य और औषध के क्षेत्रों में द्विपक्षीय सहयोग जारी रहा। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित उप-आयोग ने दिसम्बर, 1983 में नई दिल्ली में अपनी बैठक की और 1984–85 के लिए सहयोग कार्यक्रम को अन्तिम रूप दिया। इस अवधि में भारत की ओर से कई महत्त्वपूर्ण यात्राएँ हुईं।

अगस्त, सितम्बर 1984 में मास्को में भारत के व्यापार मेला प्राधिकरण द्वारा मास्को में प्रदर्शनी आयोजित की गई। अर्थ-व्यवस्था के कई अन्य क्षेत्रों में लाभप्रद आदान-प्रदान हुआ। इस्पात एवं खान राज्य मंत्री जुलाई, 1984 में मास्को गए। भारत-रूस सहयोग की अन्य महत्त्वपूर्ण घटना संयुक्त अन्तरिक्ष उद्यम थी जो अप्रेल 1984 में हुई। दोनों ओर से उच्च-स्तरीय यात्राएँ सम्पन्न हुईं।

गोर्बाच्योव काल (मार्च 1985 से)

सोवियत नेतृत्व की बागडोर 11 मार्च, 1985 को गोर्बाच्योव के हाथों में आई। गोर्बाच्योव के निमन्त्रण पर प्रधानमन्त्री राजीव गांधी 2 मई, 1985 को छः दिन की सोवियत संघ की यात्रा पर गए थे। दोनों पक्ष इस बात पर सहमत थे कि मानवता को परमाणविक विनाश से बचाने के लिए परमाणविक शस्त्रों को पूरी तरह नष्ट किया जाना चाहिए और बाह्य अन्तरिक्ष का सैन्यकरण तुरन्त रोकना चाहिए। हिन्दमहासागर से सभी सैनिक अड्डे हटाए जाने चाहिए और दक्षिण पश्चिमी एशिया तथा पूर्वी एशिया के देशों में सभी तरह का बाह्य हस्तक्षेप रोका जाना चाहिए। दोनों पक्षों ने लेबनान से इजरायली सैनिकों की तत्काल पूर्ण वापसी *तथा फिलिस्तीनियों और नम्मीबिया की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। अन्तर्राष्ट्रीय* अर्थ-व्यवस्था के पुनर्गठन पर बल दिया गया। 22 मई, 1985 को भारत-रूस में एक व्यापारिक समझौता सम्पन्न हुआ।

1986–87 में सोवियत संघ के साथ द्विपक्षीय सम्बन्ध निरन्तर विकसित होते रहे। नवम्बर 1986 में गोर्बाच्योव भारत यात्रा पर आए। राजीव गांधी और गोर्बाच्योव ने महत्त्वपूर्ण द्विपक्षीय, क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर व्यापक और सौहार्दपूर्ण विचार-विमर्श किया। दोनों नेताओं ने परमाणु शस्त्रों से मुक्त और अहिंसात्मक विश्व के सिद्धान्तों के बारे में दिल्ली-घोषणा पर हस्ताक्षर किए जिसमें स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और अहिंसा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए एक व्यापक नई रूपरेखा प्रस्तुत की गई।

नई दिल्ली घोषणा पत्र, 1986—घोषणा पत्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात इस शताब्दी के अन्त तक परमाणु हथियारों को नष्ट कर देने की संयुक्त उत्कंठा थी। चार पृष्ठों के इस घोषणा पत्र में मानव जाति को परमाणविक शस्त्रों के बढ़ते खतरों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने का आह्वान किया गया है।

सोवियत नेता ने हिन्द महासागर क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता के लिए चार-सूत्री फार्मूले का प्रस्ताव रखा—

1 सोवियत संघ व अमेरिका इस क्षेत्र में अपनी नौ-सेना में कटौती के प्रश्न पर पुनः बातचीत करें तथा अपने नौ-सैनिक व वायु सैनिक अभ्यासों की सूचना से एक-दूसरे को अवगत करायें।

2 *हिन्द महासागर का उपयोग करने वाले सभी देशों के मध्य बहु-पक्षीय* बातचीत हो ताकि फारस की खाड़ी हरमुज व मल्लुका जल डमरू मध्य सहित समुद्री मार्गों की सुरक्षा तथा प्राकृतिक साधनों पर तटवर्ती देशों की सार्वभौम सत्ता की गारण्टी दी जा सके।

3 हिन्द महासागर के ऊपर वायु यातायात की सुरक्षा व आतंकवाद की समाप्ति के बारे में एक बहुपक्षीय समझौता हो।

4 समुद्र तथा आकाश में (हिन्द महासागर सहित) आतंकवाद रोकने के लिए एक समझौता किया जाना चाहिए।

सोवियत नेता ने 1988 तक हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के संयुक्त-राष्ट्र-प्रस्ताव का भी समर्थन किया।

सोवियत नेता ने भारत में एक अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरिक्ष केन्द्र खोलने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में तृतीय विश्व के देशों के अन्तरिक्ष यात्रियों को प्रशिक्षण की सुविधा देने तथा अन्तरिक्ष यानों के लिए एक प्रेक्षक केन्द्र खोलने की व्यवस्था है। उन्होंने इस अन्तरिक्ष केन्द्र की स्थापना के लिए विश्व के अन्य अन्तरिक्ष सुविधा सम्पन्न (विशेष रूप से अमेरिका) की मदद का भी आह्वान किया।

सोवियत संघ ने भारत को लड़ाकू विमान मिग–29, किलो व टांगो श्रेणी की पनडुब्बियों केशिन श्रेणी के ड्रेस टायर्स व SMA–11 युद्ध टैंक TU–142 एयर क्राफ्ट, Mi–17 व Mi–29 हैलीकाप्टर इन्फेंट्री काम्बेट रीकल व बख्तर बन्द गाड़ियों के साथ-साथ AWAC की प्रतिपक्षी प्रणाली देने की घोषणा की।

भारत व सोवियत संघ के मध्य एक आर्थिक तकनीकी सहयोग के समझौते पर भी हस्ताक्षर किए गए जिसके अनुसार सोवियत संघ भारत को 20 अरब रुपये (डेढ़ अरब रूबल) का ऋण तथा भारत की अनेक परियोजनाओं में सहयोग देगा। करार के अनुसार उत्तर प्रदेश के टिहरी क्षेत्र में 2600 मेगावाट की परियोजना स्थापित करने, झरिया में 4 कोयला खानों के विकास, बोकारो इस्पात कारखाने का पुनर्निमाण, पश्चिम बंगाल में हाइड्रोकार्बन की गहन खोज व खनन में सोवियत सहयोग प्राप्त होगा।

रूस के नेताओं ने श्रीलंका के जाफना क्षेत्र पर भारतीय विमानों द्वारा राहत सामग्री गिराना एक मानवीय कार्य बताकर भारत के पक्ष का समर्थन किया। भारतीय विदेश मन्त्री की यात्रा के दौरान जून 1987 में भारत और सोवियत संघ के बीच अनेक समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए। जिनके अन्तर्गत सोवियत संघ भारतीय तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग को ई सी 1061 माडल के तीन भू-भौतिकी कम्प्यूटर सिस्टम देगा। टिहरी ऊर्जा परिसर का निर्माण सोवियत सहयोग से करने के लिए जून के अन्त में एक अनुबन्ध किया गया।

जुलाई 1987 के आरम्भ में मास्को में भारत व सोवियत संघ ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में व्यापक सहयोग के एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसमें 2000 ई. तक भारत को प्रोद्योगिकी के हस्तान्तरण की व्यवस्था है। प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने अपनी दो दिवसीय मास्को यात्रा के दौरान रूस के नेता गोर्बाच्योव से अनेक विषयों पर विस्तृत वार्ता की।

भारत-रूस सम्बन्धों का मूल्यांकन

भारत तथा रूस दोनों के ही द्वारा परस्पर मैत्री में निरन्तरता बनाए रखने का कारण इस मैत्री में दोनों के राष्ट्र हितों की पूर्ति का होना है। भारत रूस से मैत्री रखने में आर्थिक और सुरक्षा दोनों दृष्टियों से लाभान्वित होता है। रूस द्वारा भारत को सरल शर्तों पर आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के लिए सहायता प्रदान की जाती है और सैन्य उपकरणों की नवीनतम तकनीक प्रदान करने के अलावा

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को समर्थन प्रदान किया जाता है। भारत-रूस मैत्री मात्र भारत के ही राष्ट्रहित मे नही है वरन् सोवियत सघ के भी हित मे है। चीन, पाकिस्तान, अमेरिका धुरी एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का निर्माण करती है जिसमे रूस स्वय को अकेला अनुभव करता है और उसे भारत की मैत्री की आवश्यकता पडती है। भारत के साथ रूस के अपने राष्ट्रीय हित जुडे हुए है। इसलिए भारत-रूस सम्बन्ध दोनो ही देशो के हित मे है किसी एक के हित मे नही है।

भारत और पूर्वी यूरोप

पूर्वी यूरोप के साथ भारत के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध है और दोनो पक्षो के आर्थिक सम्बन्ध उत्तरोत्तर विकास पर है। भारत और पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशो के बीच उच्च स्तरीय यात्राओ का आदान-प्रदान होता रहता है, जिससे विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक सहयोग की समीक्षा करने, सहयोग बढाने और अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर एक-दूसरे को समझने की प्रक्रिया आगे बढी है।

आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी भारत-बल्गारियाई सयुक्त आयोग का आठवाँ अधिवेशन सोफिया, बल्गारिया मे 5 से 10 अक्टूबर, 1986 तक हुआ। इस अवसर पर एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए गए जिसमे और अधिक सहयोग की सम्भावनाएँ निर्धारित की गई और आर्थिक, वैज्ञानिक एव तकनीकी क्षेत्रो मे दोनो देशो के बीच सहयोग को और विस्तृत करने तथा उनमे विविधता लाने के उपयुक्त उपायो की रूपरेखा प्रस्तुत की गई। पर्यटन के क्षेत्र मे सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए एक अन्य प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए गए। भारत और बल्गारिया के बीच जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र मे सहयोग की एक योजना पर 29 अप्रेल, 1986 को हस्ताक्षर किए गए। बल्गारिया के विदेश व्यापार मन्त्री की भारत यात्रा के दौरान मई, 1986 मे 1986 की व्यापार योजना पर हस्ताक्षर किए गए जिसमे 1985 मे 87 करोड रुपये के वास्तविक कुल व्यापार की तुलना मे 1986–87 मे 148 करोड रुपये के सतुलित दो तरफा कुल व्यापार की व्यवस्था है।

प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी मैक्सिको से लौटते समय 10 अगस्त, 1986 को प्राग मे रुके जहाँ उन्होने चैकोस्लोवाकिया के प्रधानमन्त्री स्तूगल के साथ द्विपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर विचार-विमर्श किया। राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे चैकोस्लोवाकिया के साथ द्विपक्षीय सम्पर्को मे सतोषजनक रूप से प्रगति हुई। भारत के सूचना एव प्रसारण मन्त्री जुलाई, 1986 मे चैकोस्लोवाकिया गये तथा दोनो देशो के बीच दोहरे करावान के परिहार-सम्बन्धी एक करार पर 31 मई-जून, 1986 को हस्ताक्षर किए गए।

जर्मन सघीय गणराज्य के परिवहन उपमन्त्री श्री एच रे तनेर फरवरी, 1986 मे भारत आए और उन्होने एक जहाजरानी प्रोटोकाल पर हस्ताक्षर किए। जर्मन सघीय गणराज्य के उच्चतर एव तकनीकी मन्त्री ने सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम के अनुसार 24 अगस्त से 4 सितम्बर, 1986 तक भारत की यात्रा की।

दोनो देशो ने अपने प्रमुख हित के कतिपय चुने हुए पण्यो के आयात और निर्यात को विनियमित करने के लिए 1987–90 की अवधि के लिए एक दीर्घावधि व्यापार प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए। जिसमे 1987 के लिए 490 करोड रुपये की व्यापार योजना निर्धारित की गई। भारत और जर्मन सघीय गणराज्य के बीच दोहरे कराधान के परिहार सम्बन्धी करार पर भी हस्ताक्षर हुए।

हगरी के विदेश व्यापार मन्त्री 14 और 15 अप्रैल को भारत आए और द्विपक्षीय व्यापार मामलो पर बातचीत की। 27 से 30 अक्टूबर, 1986 तक दिल्ली मे भारत-हगेरियाई सयुक्त आयोग के छठे अधिवेशन मे भारत-हगरी के बीच आर्थिक एव औद्योगिक सहयोग सम्बन्धो की गहराई से समीक्षा की गयी। दोहरे कराधान के परिहार सम्बन्धी करार पर हस्ताक्षर किए गए।

भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने नवम्बर, 1986 मे पोलेण्ड की सरकारी यात्रा की। आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग सम्बन्धी भारत-पौलिश सयुक्त आयोग का दसवां अधिवेशन 1 और 2 अप्रैल, 1986 को नई दिल्ली मे हुआ। इससे पहले वाणिज्य मन्त्री पी शिवशकर की 22 और 23 फरवरी, 1986 की वारसा यात्रा के दौरान दीर्घावधि व्यापार एव भुगतान करार पर हस्ताक्षर किए गए। 1987 के लिए भारत-पोलैंड व्यापार योजना मे 1986 के लिए 451 3 करोड रुपये के दोतरफा कुल व्यापार की व्यवस्था की गई। विज्ञान एव प्रोद्योगिकी राज्य मन्त्री शिवराज पाटिल ने 9 से 13 जुलाई, 1986 तक पौलैण्ड की यात्रा की और विज्ञान एव प्रोद्योगिकी के क्षेत्र मे सहयोग बढाने के बारे मे बातचीत की। पौलिश पक्ष ने बहुत से क्षेत्रो मे वैज्ञानिक सहयोग तेज करने मे रुचि दिखाई। सांस्कृतिक विनिमय मे नियमित, समन्वित और सम्वर्धित करने के लिए जून, 1986 मे एक सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम पर हस्ताक्षर किए गए।

भारत-रूमानिया व्यापार एव आर्थिक औद्योगिक सहयोग की प्रगति 1986-87 के दौरान जारी रही। 1985 मे 192 8 करोड रुपये की तुलना मे 1986 मे कुल व्यापार 300 करोड रुपये के आसपास पहुँच गया। भारत और युगोस्लाविया ने विभिन्न क्षेत्रों मे निकट, मैत्रीपूर्ण और बहुपक्षीय सहकारी द्विपक्षीय सयत्र विकसित हुए। युगोस्लाविया के प्रधानमन्त्री ने 28 जुलाई से पहली अगस्त, 1986 तक भारत की और भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने 30 अक्टूबर से 3 नवम्बर, 986 तक युगोस्लाविया की यात्रा की। इन यात्राओ से द्विपक्षीय सम्बन्धो तथा पारस्परिक हित के अन्तर्राष्ट्रीय मामले, जिसमे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन शामिल है, के बारे म उच्चतम स्तर पर भारत और युगोस्लाविया के नेताओ के बीच विचारो के लाभप्रद आदान-प्रदान के अवसर मिले। दोनो देशो के बीच सीधी विमान सेवाएँ लागू करने के लिए सिविल विमानन सम्बन्धी एक करार जुलाई, 1986 मे सम्पन्न हुआ। दोनों देशो के आकाशवाणी और दूरदर्शन सगठनो ने सहयोग सम्बन्धी करारों पर हस्ताक्षर किए।

भारत और राष्ट्रमण्डल

राष्ट्रमण्डल सदस्यता से लाभ

राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत को विभिन्न प्रकार के ठोस लाभ प्राप्त होते रहे हैं। इसमें सदस्य-देशों के विशेषज्ञों के बीच व्यावसायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक कानूनी और तकनीकी विषयों पर विचार और जानकारी का निरन्तर आदान-प्रदान शामिल है। इस प्रकार के लाभदायक सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण तकनीकी सहयोग के लिए 'राष्ट्रमण्डल निधि' की व्यवस्था है। भारत को इस राष्ट्रमण्डल निधि से तकनकी सहायता तथा शिक्षण, प्रशिक्षण और निर्यात बाजार विकास में उस राशि की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ मिला है जो भारत ने इसमें लगाई है। राष्ट्रमण्डलीय प्रतिष्ठान को, जो वैज्ञानिक और अन्य अनुसन्धानकर्ताओं के लिए व्यावसायिक आदान-प्रदान और विशेष प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करता है, भारत के लिए उपयोगी है। भारत प्रतिष्ठान के बजट में जो अंशदान देता है, उससे कहीं अधिक लाभ प्राप्त करता है।

राष्ट्रमण्डलीय सम्पर्क की उपयोगिता के अन्य उदाहरण राष्ट्रमण्डल दूर-संचार समझौता, राष्ट्रमण्डल वायु-परिवहन परिषद् और राष्ट्रमण्डल कृषि ब्यूरो है। वरिष्ठ राष्ट्रमण्डल अधिकारियों के लिए शासन में व्यावहारिक अध्ययन का कोर्स अपनाना सम्भव है और सरकारी प्रशासन के सामान्य क्षेत्र में वे अनुभव का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं। वैज्ञानिक व कानून सम्बन्धी प्रारूप तैयार करने वालों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम शुरू किए गए हैं।

विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच

राष्ट्रमण्डल सदस्य-देशों के नेताओं को विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच प्रदान करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमण्डलीय मामलों में उनके बीच अधिक सद्भाव और सहयोग उत्पन्न होता है। एक बार इस छोटे, पर अपेक्षाकृत अधिक संगठित मंच पर आम सहमति प्राप्त हो जाने के बाद अपेक्षाकृत बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे संयुक्त राष्ट्र में अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य किया जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रमण्डल ने दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया की नस्ल की नीतियों का खुलकर और स्पष्ट रूप से विरोध किया है। राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलनों में भी दक्षिण अफ्रीका चर्चा का मुख्य विषय रहता है और भारत दक्षिण सरकार के विरुद्ध व्यापक अनिवार्य प्रतिबन्ध लगाए जाने की माँग करता रहा है।

राष्ट्रमण्डल में भारत की भूमिका

राष्ट्रमण्डल के अधिवेशनों में भारत की भूमिका सदैव महत्त्वपूर्ण रही है। राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनों में जो निर्णय लिए जाते रहे हैं उन पर भारत के विचारों की प्रायः गहरी छाप रही है। भारत ने राष्ट्रमण्डल देशों के बीच परस्पर सहयोग तथा गुट-निरपेक्ष देशों के बीच पारस्परिक एकता पर बल दिया है ताकि आर्थिक

एवं राजनीतिक सहयोग के लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सके और समानता तथा न्याय पर आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विकसित हो सके। भारत ने राष्ट्रमण्डल के सम्मेलनों में उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाई है और राष्ट्रमण्डल को एक उपयोगी मंच बनाने में सहयोग दिया है। राष्ट्रमण्डल के क्षेत्रीय सम्मेलनों का उद्देश्य परस्पर द्विपक्षीय सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के साथ-साथ अपने क्षेत्र में एकता और अखण्डता की भावना को विकसित करना होता है। भारत ने राष्ट्रमण्डल के स्वरूप का निर्धारण करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राष्ट्रमण्डल हम सबके लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है अगर हम इसके गतिशील ढाँचे की उन्नत क्षमता का उपयोग बेहतर उद्देश्य के लिए करें। अनौपचारिक वातावरण में विचारों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया राष्ट्रमण्डल की भावना का निचोड़ है।

राष्ट्रमण्डल के प्रति भारत के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए श्रीमती गाँधी ने नई दिल्ली में नवम्बर, 1983 के राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन में कहा था—हम सच्चे अर्थों में एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं लेकिन जब तक सभी के हित समान नहीं होंगे इस प्रकार की परस्पर निर्भरता का कोई अर्थ नहीं होगा। राष्ट्रों तथा जनता के हितों की पारम्परिक समानता का लक्ष्य जो परस्पर निर्भर रहने वाले विश्व में अनिवार्य है, तभी सिद्ध हो सकता है जबकि हम न्याय और समानता पर आधारित एक नई विश्व व्यवस्था की स्थापना करने में सफल हो जाएँ। उन्होंने शान्ति और सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण और विकास की प्रमुख समस्याओं की रूपरेखा प्रस्तुत की तथा राष्ट्रमण्डल से आग्रह किया कि वह अपने लक्ष्यों के प्रति स्पष्ट और बातचीत द्वारा विश्व की समस्याओं से निपटने के लिए बदलती हुई स्थितियों के बारे में सचेष्ट रहे। परमाणु हथियारों के निरन्तर बढ़ते हुए भण्डार से उत्पन्न खतरे सामान्य और पूर्ण निशस्त्रीकरण, छोटे राष्ट्रों के मामलों में हस्तक्षेप की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, शक्ति के अवैध प्रयोग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के मानदण्डों की उपेक्षा, विकासशील राष्ट्र को प्रभावित करने वाली समस्याओं, जैसे मसलों पर भारत ने अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की। श्रीमती गाँधी ने कहा कि हम सभी मामलों पर सहमत नहीं हो सकते किन्तु कुछ समान आधार खोजने का प्रयत्न कर सकते हैं। प्रधानमन्त्री ने यह महसूस किया कि राष्ट्रमण्डल को संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ से यह अनुरोध करना चाहिए कि वे निशस्त्रीकरण वार्ता में गतिरोध दूर करें। प्रधानमन्त्री ने स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करने वाले छोटे देशों पर डाले जा रहे दबावों की चर्चा की और इस प्रवृत्ति को अनुचित ठहराया।

अक्तूबर 1985 को नसाऊ राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन में भी भारत ने अपनी छाप छोड़ी 1986–87 के दौरान विभिन्न विषयों में सम्बन्धित राष्ट्रमण्डल के क्रियाकलापों के साथ भारत सक्रिय रूप से जुड़ा रहा। राष्ट्रमण्डल के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या दक्षिण अफ्रीका की स्थिति रही जिसमें विशेष रूप से दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध पृथक्करण का संघर्ष और नामीबिया की आजादी का प्रश्न

शामिल है। प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने दक्षिण अफ्रीका पर नसाऊ समझौते की शर्तों के तहत लन्दन में 3 से 5 अगस्त 1986 तक हुई राष्ट्रमण्डल के नेताओं की समीक्षा बैठक में भाग लिया। प्रोटोरिया शासन पर और दबाव डालने के लिए आस्ट्रेलिया, बहामास, कनाडा, भारत, जिम्बाब्वे और जाम्बिया दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध नसाऊ समझौते में वर्णित किए उपायों के अलावा तत्काल अतिरिक्त चयनात्मक उपायों के लगाए जाने पर सहमत हुए। अक्तूबर 1987 में भारत ने वैंकुवर (कनाडा) के राष्ट्रमण्डल विश्व सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ

भारत उन देशों में से है जिन्होंने 1954 में सान फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जन्म से ही भारत उसके आदर्शों के लिए निरन्तर कार्य करता रहा है। भारत सदा इस बात का इच्छुक रहा है कि संयुक्त राष्ट्र सच्चे अर्थों में सारे संसार की प्रतिनिधि संस्था बने। इसी कारण उसने चीन को संयुक्त राष्ट्र में स्थान देने हेतु पक्ष लिया। भले ही चीन के साथ उसका क्षेत्रीय विवाद क्यों न हो संयुक्तराष्ट्र में भारत के शान्ति स्थापना के कार्यों को सभी ने सराहा। कोरिया में भारत का मुख्य रूप से बीच बचाव का काम रहा। कांगो में भारत ने जो काम किया वह ठोस था वहाँ उसने संयुक्तराष्ट्र की अपील पर अपने सैनिक भेजे। कुल मिलाकर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत हर प्रकार के उपनिवेशवाद का विरोध, जातिवाद को आघात पहुँचाने वाले प्रस्तावों का समर्थन संयुक्त राष्ट्रसंघ की उन अपीलों का सम्मान जो देश के हितों को आघात न पहुँचाने वाली हों, तथा संघ के निःशस्त्रीकरण प्रयासों में योगदान करता रहा है। भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध संस्थानों के कार्यकलापों में भी प्रचुर रूप से भाग लेता आया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ, यूनेस्को और विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्यों में उसकी विशेष रुचि रही है। भारत के प्रतिनिधियों ने संघ की विभिन्न शाखाओं तथा उसके विभिन्न आयोग और विशिष्ट समितियों में सक्रिय भाग लेकर देश के गौरव को बढ़ाया है। संयुक्तराष्ट्र महासभा में पारित अनेक संकल्पों का भारत प्रायोजक या सह-प्रायोजक रहा है। भारत का आग्रह रहा है कि सदस्य राष्ट्रमानवाधिकार और मौलिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित संयुक्तराष्ट्र चार्टर के उपबन्धों का पालन करें। महासभा में भारत अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों का विश्वसनीय मित्र रहा है। अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों के कार्यपत्रों को तैयार करने में भारत ने सदैव सक्रिय भाग लिया है।

संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में जून 1968 में पेरिस में आयोजित दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनुमोदित सम्मेलन, जुलाई 1986 में आयोजित नामीबिया को तत्काल स्वतन्त्र कराने से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और सितम्बर, 1986 में संयुक्तराष्ट्र महासभा के विशेष अफ्रीका सम्बन्धी सम्मेलन में भारत ने सक्रिय भाग लिया।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष की हैसियत से भारत को मई 1986 मे लदन मे आयोजित दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध शस्त्र प्रतिबन्ध के विषय पर सेमीनार मे एक विशेष आमन्त्रित के रूप मे बुलाया गया। लदन मे आयोजित इस सेमिनार के आधार पर आगे चलकर 1986–87 के दौरान सुरक्षा परिषद् मे आम सहमति से एक सकल्प पारित हुआ जिसका उद्देश्य उन समस्याओ पर ध्यान देना है जो दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शस्त्र प्रतिबन्ध की खामियो और उसके उल्लघन से सम्बन्धित हैं।

जातीय पृथग्वासन के विरुद्ध सयुक्तराष्ट्र विशेष समिति मे भारत सक्रिय भूमिका निभाता रहा है। सयुक्तराष्ट्र का यह एक ऐसा प्रमुख अग है जो जातीय पृथग्वासन की नीति पर निरन्तर निगाह रखता है। दक्षिण अफ्रीका की स्थिति और मुक्ति आन्दोलन को सहायता, दक्षिण अफ्रीका की जातिवादी सरकार के विरुद्ध आदेशात्मक प्रतिबन्ध, खेलो के क्षेत्र मे जातीय भेदभाव के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय का दर्जा, जातीय भेदभाव के विरुद्ध समिति की कार्य योजना, जातीय भेदभाव को समाप्त करने के लिए सगठित अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहियो पर इजरायल और दक्षिण अफ्रीका के बीच सम्बन्धो के प्रश्नो पर समिति मे तैयार किए गए छह प्रारूप सकल्पो से भारत निकट से जुडा रहा। इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध तेल प्रतिबन्ध तथा दक्षिण अफ्रीका के लिए सयुक्त राष्ट्र न्यासकोष से सम्बद्ध दो सकल्पो का प्रारूप क्रमश नार्वे और स्वीडन ने तैयार किया था। ये सकल्प महासभा मे बहुमत से स्वीकार किए गए। भारत ने इन सकल्पो के पक्ष मे आवाज बुलन्द की।

सितम्बर 1986 मे सयुक्तराष्ट्र महासभा ने नामीबिया के प्रश्न पर एक विशेष अधिवेशन बुलाया। इसमे भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व विदेशमन्त्री ने किया। इस विशेष अधिवेशन मे इस बात की पुन पुष्टि की गई कि जब तक नामीबिया आजाद नही हो जाता तब तक उसके बारे मे सयुक्तराष्ट्र प्रत्यक्ष रूप मे जिम्मेदार है। भारत नामीबिया सम्बन्धी सयुक्तराष्ट्र परिषद् मे सक्रिय हिस्सा लेता रहा और इस परिषद् का उपाध्यक्ष रहा है।

दक्षिण अफ्रीका की आक्रामक कार्यवाहियो को देखते हुए तथा उसके द्वारा अपनी पडौसी राज्यो मे अस्थिरता पैदा करने की कार्यवाहियो के सन्दर्भ मे सुरक्षा परिषद् ने समीक्षाधीन वर्ष के दौरान कई बार बैठक की। मई 1987 मे बोत्स्वाना, जाम्बिया और जिम्बाब्वे पर दक्षिण अफ्रीकी आक्रमणो के बाद सुरक्षा परिषद् मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्र के समूह ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आदेशात्मक प्रतिबन्ध लगाने की पुरजोर माँग की।

निकारागुआ के अनुरोध पर अक्तूबर 1986 को सुरक्षा परिषद् की एक और बैठक हुई जिसका उद्देश्य यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले के अनुरूप सयुक्तराज्य अमेरिका को आचरण करने के लिए कहा जाय। इस बहस मे भाग

लेते हुए भारत ने कहा कि कोन्टाडोरा शान्ति प्रक्रिया की सफलता के लिए और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है तथा कहा कि इस काम में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के पूरे-पूरे सहयोग की आवश्यकता है। भारत ने सदस्य राज्यों से इस बात का आह्वान भी किया कि संयुक्तराष्ट्र चार्टर के अधीन वे अपने-अपने दायित्वों का पूरा-पूरा निर्वाह करें। संयुक्तराष्ट्र महासभा के 41वें अधिवेशन में भी मध्य अमरीका की स्थिति पर व्यापक विचार-विमर्श किया गया और बहस में हस्तक्षेप करते हुए भारत के स्थाई प्रतिनिधि ने कहा कि इस क्षेत्र की समस्याओं को क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में बातचीत और पारस्परिक विचार-विमर्श के जरिए सुलझाने की जरूरत है। महासभा ने निकारगुआ द्वारा पारित एक अन्य संकल्प भी स्वीकार किया जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों को पालन की आवश्यकता पर बल दिया गया था। भारत ने इसका पक्ष लिया।

महासभा ने अपने 41वें अधिवेशन में अफगानिस्तान के सवाल पर विचार-विमर्श किया तथा एक संकल्प पारित हुआ। भारत ने इस अवसर पर कहा कि अफगानिस्तान समस्या को राजनीतिक समझौते के माध्यम से ही सुलझाया जा सकता है।

महासभा में 20 और 21 अक्तूबर 1986 को कम्पूचिया की स्थिति पर विचार किया गया। भारत ने इस अवसर पर स्पष्ट रूप से कहा कि एक-तरफा संकल्पों के पारित करने तथा यथा-स्थिति को बनाए रखने की कोशिश से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा नहीं हो सकती जिनमें इस समस्या का शान्तिपूर्ण स्थाई समाधान निकल सके।

संयुक्तराष्ट्र महासभा में 1986–87 के दौरान अनेक संकल्पों में से एक यह प्रस्तुत किया गया कि दक्षिण अफ्रीका को परामर्शदायी पक्ष की सभी बैठकों से बहिष्कृत किया जाय। भारत ने इस संकल्प के पक्ष में जोर दिया। पश्चिम एशिया की स्थिति पर विचार-विमर्श में भारत ने प्रभावी रूप में अपना दृष्टिकोण दोहराया। फिलिस्तीनी लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार के समर्थन की पुनः पुष्टि की गई जिसमें उनके लिए एक स्वतन्त्र देश का अधिकार शामिल है। भारत ने इस बात का भी समर्थन किया कि संयुक्तराष्ट्र के तत्वावधान में एक अन्तर्राष्ट्रीय नीति सम्मेलन बुलाया जाना चाहिए जिसमें अरब इजरायल से सम्बद्ध सभी पक्ष बराबरी के आधार पर शामिल हों—जिनमें फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन, संयुक्तराज्य अमेरिका सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ और अन्य सम्बद्ध राज्य शामिल हैं। इस सन्दर्भ में भारत ने सुरक्षा परिषद् के अन्तर्गत एक तैयारी समिति के प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें उसके स्थाई सदस्य भी शामिल हों ताकि इस सम्मेलन को बुलाने से सम्बद्ध आवश्यक कार्यवाही की जा सके।

महासभा के 41वें अधिवेशन में उपनिवेशन के सम्बन्ध में भारत अपनी परम्परागत स्थिति पर अडिग रहा और उसने खासतौर पर संयुक्त राष्ट्र की जिम्मेदारी पर और इस सिलसिले में बातचीत पर विशेष रूप से बल दिया। औपनिवेशिक देशों और लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान करने से सबद्ध घोषणा की

क्रियान्वित करने तथा उपनिवेशन से सबद्ध सूचना के प्रचार के विषयो पर भारत ने दो मुख्य प्रस्ताव सहप्रायोजित किए और इन दोनो ही प्रस्तावो को महासभा मे में स्वीकार किया गया। भारत ने दक्षिणी प्रशात मच द्वारा प्रायोजित सकल्प का भी समर्थन किया जिसमे न्यूकलेडोनिया को सयुक्त राष्ट्र के गैरस्वशासी प्रदेशो की सूची में पुन शामिल करने की बात कही गई है। महासभा ने भारत के उस सकल्प को सहप्रायोजित किया जिसमे पश्चिमी सहारा क्षेत्र मे तत्काल युद्ध विराम का अनुरोध किया गया ताकि सयुक्त राष्ट्र और अफ्रीकी एकता सगठन के तत्वावधान में जनमत सग्रह की तैयारी की जा सके। भारत ने एक अन्य सकल्प का भी समर्थन किया जिसमें अर्जेन्टीना और युनाइटेड किंगडम की सरकारो से अनुरोध किया गया कि वे फाकलैण्ड द्वीप (मालनिवास) की समस्या के सभी पहलुओ पर विचार करने के लिए बातचीत पुन शुरू करे।

निःशस्त्रीकरण और भारत

1986 के दौरान भारत ने सभी बहुपक्षीय नि शस्त्रीकरण मचो मे सक्रिय भाग लिया। नि शस्त्रीकरण सम्मेलन, सयुक्त राष्ट्र नि शस्त्रीकरण आयोग तथा सयुक्त राष्ट्र महासभा की प्रथम समिति मे भारत का यह मत रहा है कि इस परमाणिविक युग मे नि शस्त्रीकरण शान्ति के लिए ही नही बल्कि मानव जाति के अस्तित्व को बचाकर रखने के लिए भी आवश्यक है।

भारत ने महासभा में नि शस्त्रीकरण को बढावा देने के लिए अनेक बार पहल की। भारत के दो प्रस्तावो को अत्यधिक बहुमत से स्वीकार किया गया जिनमें क्रमश परमाणिवक हथियारो पर प्रतिबन्ध लगाने तथा उनके प्रयोग के निषेध से सम्बन्धित अभिसमय को सम्पन्न कराने की अपील की गई थी। सयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा स्वीकृति नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे 65 अन्य प्रस्तावो मे से भारत ने अधिकांश का समर्थन किया तथा ऐसे केवल कुछ ही प्रस्ताव हैं जिनमें मतदान मे हिस्सा नही लिया। अन्तर्राष्ट्रीय नि शस्त्रीकरण तथा विकास सम्मेलन न्यूयार्क मे 24 अगस्त, से 11 सितम्बर, 1987 में हुआ। भारत ने तैयारी समिति का अध्यक्ष होने के नाते इस सम्मेलन का सयोजन सक्रियता पूर्वक किया।

भारत छ राष्ट्रों की पहल के जरिए नि शस्त्रीकरण प्रयास करता रहा। दिल्ली घोषणा के बाद छ राष्ट्रो ने प्रयास किया कि अमेरिका और सोवियत सघ सभी प्रकार के नाभिकीय परीक्षणो पर रोक लगा दें तथा वह रोक व्यापक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि की दिशा मे पहला कदम होगा।

फरवरी, 1986 मे भारत सहित छ राष्ट्रो ने अमेरिका और सोवियत सघ को एक सदेश भेजा जिसमें इस बात के महत्त्व पर बल दिया गया था कि वह किन्ही ठोस उपायों पर अपनी सहमति व्यक्त करें ताकि अगले शिखर सम्मेलन की बैठक मे नाभिकीय हथियारो की होड पर रोक लगाई जा सके। साथ-साथ उक्त सन्देश में यह भी सुझाव दिया गया था कि तब तक एक-दूसरे को विश्वास दिलाने

के रूप में सभी नाभिकीय परीक्षणों को स्थगित रखा जाए। उन्होंने अक्तूबर, 1985 मे नाभिकीय परीक्षण के स्थगन के सांक्षाकन के सम्बन्ध मे जो पेशकश की थी उसे भी दोहराया।

छः राष्ट्रो के नेताओं की 6 अगस्त, 1986 को इक्सतापा मैक्सिको में पुन. बैठक हुई। सभी प्रकार के नाभिकीय परीक्षणो को समाप्त करने के महत्त्व पर बल देते हुए उन्होंने नाभिकीय अस्त्रो वाले दो बड़े राष्ट्रों से अपील की कि नाभिकीय अस्त्रो के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने पर सहमति व्यक्त करे तथा ऐसा कोई ठोस प्रस्ताव रखें जो साक्षांकन के लिए पर्याप्त सिद्ध हो।

नव वर्ष सन्देश (30 दिसम्बर, 1986) मे छः राष्ट्रों के नेताओं ने एक बार फिर रूस और अमेरिका के नेताओ से अपील की कि वे अन्तरिक्ष मे हथियारो की होड को रोकने पर और भूमि पर इसे समाप्त करने पर तथा सर्वत्र नाभिकीय हथियारो को समाप्त करने पर व्यापक वार्ता शुरू करें।

सितम्बर, 1986 में हरारे मे गुटनिरपेक्ष देशो के राज्याध्यक्षों के आठवें सम्मेलन मे अमेरिका तथा रूस को नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे अपील जारी की गई। उक्त अपील मे नाभिकीय निरस्त्रीकरण सम्बन्धी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की वचनबद्धता को दोहराया गया था। बड़ी शक्तियो से नाभिकीय युद्ध को रोकने के लिए कारगर अपील की गई। उक्त अपील मे इस बात की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया कि नाभिकीय परीक्षणों पर स्थायी प्रतिबन्ध लगाने हेतु कोई करार किया जाय। भारत ने इस अपील का जोरदार समर्थन किया।

भारत के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध

किसी भी देश के वैदेशिक सम्बन्ध उसका विदेश नीति का एक प्रमुख अग, एक प्रमुख शाखा है। आर्थिक एव व्यापारिक हित, विश्व के देशो के साथ आर्थिक सम्बन्ध, देश की विदेश नीति को विशेष दिशा मे अनुप्रेरित करते हैं। भारत के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धो की विविधता और उसके विकास के सम्बन्ध मे विदेशमन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 1986-87 का विवरण इस प्रकार है—

ढाका मे हुए पहले 'सार्क' शिखर सम्मेलन के निर्णय के अनुसरण में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मामलो पर दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग सघ (सार्क) के मन्त्रियों की बैठक अप्रेल, 1986 मे इस्लामाबाद मे हुई। इस्लामाबाद बैठक का उद्देश्य एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की स्थापना से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मसलो पर सयुक्त स्थिति बनाना और प्रशुल्क और व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार (जी ए. ए टी) के अन्तर्गत विश्व व्यापार पद्धति और उसमे सबद्ध मसलो म सुधार लाना था। बैठक मे मुद्रा, वित्त, व्यापार, ऋण, औद्योगिकरण कृषि आदि के क्षेत्रों के विभिन्न मुख्य मसलो पर, जिनमें बहुपक्षीय व्यापार समझौता (एम. टी. एन) की एक सूत्रीकरण शामिल है, घोषणा पत्र अपनाया गया, जो

कि बाद की बैठकों मे, जहां भी इस मसले पर विचार किया गया, बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

अमेरीका और जापान ने अन्य बडे औद्योगीकृत देशो के समर्थन से 1983 से जी ए ए टी. मे बहुपक्षीय व्यापार समझौतो के एक नए दौर की शुरुआत करने के लिए पहल की। अमरीका ने इस बात पर बल दिया कि प्रस्तावित नए दौर मे सेवाएँ, बौद्धिक सम्पत्ति और व्यापार से सम्बद्ध निवेश के पहलुओ जैसे नए क्षेत्र शामिल होंगे। विकासशील देशो ने इस प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि उनके विचार से सेवाएँ आदि जैसे विषय जी ए टी के क्षेत्राधिकार मे नही आते। आठवे गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन मे इस बात पर जोर दिया गया कि विकासशील देशो को प्राप्त वस्तुओ और सेवाओ के क्षेत्र मे उनके द्वारा दी गई रियायतों मे कोई सम्बन्ध न स्थापित किया जाए। सितम्बर, 1986 मे जी. ए टी टी के संविदाकारी पक्षो की उरुग्वे मे पुंटा डेल एस्टे में मन्त्रियो की एक विशेष बैठक हुई। इसमे दोनो पक्षो मे कुछ विषयो पर सहमति हुई। मन्त्रियो की बैठक ने नए एम टी. एन दौर के सम्बन्ध मे एक दो-तरफा दृष्टिकोण स्वीकार किया जो कि उरुग्वे दौर कहलाएगा। जी ए ए टी के संविदाकारी पक्षों द्वारा आयोजित की जाने वाली वस्तुओ से सम्बन्धित व्यापार की बातचीत और जी ए टी टी से औपचारिक रूप से स्वतन्त्र किसी अलग से एक मन्त्रियो की बैठक के प्राधिकार के अन्तर्गत आयोजित की जाने वाली व्यापार से सम्बन्धित सेवाओ पर बातचीत के के बीच स्पष्ट अन्तर कर लिया गया है। अतः विकासशील देश सेवाओ पर बहु–पक्षीय बातचीत करने पर सहमत हो गए है किन्तु विकसित देशो ने यह स्वीकार किया कि वे जी ए ए टी के सदस्य नही रहेंगे। पुटा डेल एस्टे की बैठक मे संरक्षणवाद को रोकने और परिवर्तित करने और व्यापार मे विसंगतियो को हटाए जाने से संबंधित अपने संकल्प को व्यक्त किया गया। घोषणा-पत्र में वस्तुओ के बाजार के सामने आयी गम्भीर कठिनाइयो की ओर भी ध्यान दिलाया गया और ऋणग्रस्त देशो को उनकी देनदारियाँ को पूरा करने के लिए सुविधा प्रदान कराए जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया और मुद्रा, वित्त तथा व्यापार के परस्पर सम्बन्ध क्षेत्रो में विदेशी सिद्धान्त की पुन. पुष्टि किए जाने और विकासशील देशो के साथ बिना कोई पारस्परिक बातचीत के उन्हे लाभ पहुँचाने की दृष्टि से अधिक अनुकूलतम व्यवहार करने के लिए प्रभावी कार्रवाई किए जाने पर बल दिया गया।

विकासशील देशो में आपसी लाभ के लिए विकासशील देशों के बीच निकटतम आर्थिक सहयोग से लाभ प्राप्त करने की जानकारी बढ रही है। विश्व के आर्थिक वातावरण मे लगातार गिरावट को देखते हुए विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग (ई. सी डी सी) की धारणाओ और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विकास से सम्बन्धित मुख्य मामलो पर उत्तर-दक्षिण की बातचीत की प्रगति मे हुई कमी से तत्कालिकता बढी है। विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग क

एक मुख्य घटनाक्रम यह है कि पिछले 5 वर्षों में कराकस कार्रवाई योजना (सी. पी. ए) के अन्तर्गत प्रगति की समीक्षा करने के लिए अगस्त, 1986 मे काहिरा मे विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग पर हुई दूसरी उच्च स्तरीय बैठक का आयोजन करना और इस प्रयोजन से 77 ग्रुप के पास उपलब्ध तकनीक को सुधारने मे बकाया दशक के भावी कार्यों के लिए हिदायतो को दिया जाना है। बैठक में विकासशील देशो के लाभ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो की पुन सरचना किए जाने के लिए विकाशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग की एक अपरिहार्य माध्यम के रूप मे प्रासगिकता की पुन. पुष्टि की गई और दक्षिण-दक्षिण सहयोग द्वारा अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं मे सुधार लाए जाने के लिए किए गए प्रयासो की प्रमुख भूमिका को दोहराया गया और सामूहिक आत्म-निर्भरता के उद्देश्य को पूरा करने के लिए सभी विकासशील देशो की राजनीतिक वचनबद्धता पर बल दिया गया और इस प्रयोजन से विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग के अपने प्रयासो को विस्तृत और तीव्र करने को कहा गया। काहिरा बैठक ने दो दस्तावेजो को अनुमोदित किया। (1) विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग (ई सी. डी सी.) पर काहिरा घोषणा-पत्र और (2) उच्च स्तरीय बैठक की रिपोर्ट। घोषणा-पत्र में अन्य बातो के साथ-साथ यह सिफारिश की गई कि निश्चित अवधि के अन्दर क्रियान्वित किए जाने वाले कार्यक्रमो/परियोजनाओ के चयन के लिए प्राथमिकताएँ विनिर्दिष्ट की जाएँ। यह भी सुनिश्चय करने का निर्णय लिया गया कि विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग (ई सी डी सी) स्व-उत्पादक और स्व-वित्तपोषक बने। बैठक की रिपोर्ट मे कराकस कार्यवाई योजना के क्रियान्वयन, सहायक यान्त्रिकी और विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग (ई. सी. डी सी.) ट्रस्ट निधि की समीक्षा की गई। अन्तर-सरकारी अनुवर्ती कार्यवाही और समन्वय समिति (आई. एफ. सी सी) के अलग सत्र में सीपीए उसके क्रियान्वयन को और बढाने की दृष्टि से क्षेत्रीय समीक्षा शुरु करेगा। सी पी ए के अन्तर्गत एक मूल रूप मे शुरुआत व्यापार तरजीही की विश्वव्यापी पद्धति (जी. एस टी पी) है।

व्यापार तरजीह की विश्वव्यापी पद्धति की स्थापना ही शायद ई सी डी सी द्वारा की गई बहुत महत्त्वपूर्ण शुरुआत है। भारत ने जुलाई, 1985 म दिल्ली मे व्यापार तरजीही मे विश्वव्यापी पद्धति (जी एस टी पी) के विषय पर मन्त्रियो की एक बैठक की मेजबानी की जिससे इस प्रस्ताव को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति मिली। बैठक मे जी एस. टी पी. की शुरुआत किए जाने के लिए एक निश्चित अवधि निर्धारित करने पर सहमति हुई। इसके परिणामस्वरूप ब्राजील में मई, 1986 मे अन्तर-मन्त्रियो के स्तर की एक बैठक हुई जिसमे जी एस टी पी की बातचीत का दौर शुरू हुआ।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की भावना के तहत भारत के विकासशील देशो के साथ आर्थिक और तकनीकी सहयोग बढ़ाने तथा इसमे वृद्धि किए जाने के प्रयास

जारी है। जिसके लिए भारत पूर्णत- वचनबद्ध है। बहुपक्षीय स्कीमो जैसे कोलम्बो योजना और विशेष राष्ट्रमण्डल अफ्रीकी सहायता योजना के अन्तर्गत दी गई सहायता के अलावा विदेश मन्त्रालय द्वारा प्रचालित भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग (आई टी ई सी) कार्यक्रम के माध्यम से विकासशील देशो को द्विपक्षीय सहायता प्रदान की गई। भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग (आई टी ई. सी) कार्यक्रम की शुरुआत 1964 में 4.46 लाख रुपए के परिव्यय से हुई और ये निरन्तर बढ़कर विगत वर्षों मे 1986-87 में 9 करोड़ रुपए हो गया ताकि एशिया अफ्रीका और लातिन अमेरिका के लगभग 60 देश इसके अन्तर्गत आ जाएँ।

भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग (आई टी ई. सी.) कार्यक्रम के अन्तर्गत तकनीकी सहयोग का मुख्य रूप भारत मे विभिन्न क्षेत्रों मे प्रशिक्षण देना, विदेशो मे भारतीय विशेषज्ञो को तैनात करना, व्यवहार्यता और तकनीकी-आर्थिक अध्ययनों को शुरू करना, विशेषज्ञो के प्रतिनिधिमण्डलो के दौरो का प्रयोजन करना, कार्यशालाओं और विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रमों को आयोजित करना और उपकरणो की आपूर्ति करना शामिल है।

पिछले वर्षों की तरह 1986-87 के दौरान विशेषज्ञता प्राप्त भारतीय सस्थानो मे प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए विकासशील देशो के नामाकित छात्रो के लिए 700 स्थान निर्धारित किए गए और लगभग 150 भारतीय विशेषज्ञों को विकासशील देशों मे कम अथवा लम्बी अवधि के लिए नियुक्त किया गया।

1986-87 के दौरान भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग (आई टी ई सी) के कुछ अन्य क्रियाकलाप अग्रलिखित रहे हैं—चूने और चावल के धान के प्रयोग द्वारा सीमेंट के उत्पादन मे परामर्श प्रदान करने के लिए पनामा को सीमेंट और इमारती सामग्री के सम्बन्ध मे राष्ट्रीय परिषद् के दो-सदस्यीय एक दल का दौरा निकारागुआ को भारतीय सहायता के लिए विशिष्ट परियोजनाओ का पता लगाए जाने के लिए एक सरकारी तकनीकी-आर्थिक प्रतिनिधिमण्डल का दौरा, मरीजो के इलाज के लिए यमन लोक जनवादी गणराज्य को एक तीन-सदस्यीय चिकित्सा विशेषज्ञों के दल (ग्रुप—1) का दौरा, और वियतनाम मे दो सप्ताह की अवधि के दो प्रशिक्षण कार्यक्रम, जिसमे से प्रत्येक को भारतीय विदेश व्यापार सस्थान के एक दल द्वारा आयोजित किया जाएगा। सचिवालय प्रशिक्षण और प्रबन्ध सस्थान के दो-सदस्यीय एक दल द्वारा अगुलिय मे एक छह साप्ताहिकी प्रशिक्षण कार्यक्रम का आयोजन किया गया। वियतनाम के दो प्रतिनिधिमण्डलो ने चावल की मिलो और भैंसो के प्रजनन के सम्बन्ध मे सयुक्त अनुसन्धान कार्यक्रमो का पता लगाने के लिए भारत का दौरा किया। दो उच्च स्तरीय प्रतिनिधिमण्डल लघु उद्योग के क्षेत्र मे और भारतीय बैंकिंग प्रणाली की जानकारी प्राप्त करने के लिए भारत आए। मारीशस से एक दो-सदस्यीय दल ने उत्तर, पूर्व और दक्षिण के सग्रहालयो का अध्ययन करने और मारीशस मे जातीय सग्रहालय स्थापित करने के

सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी की एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए दौरा किया। अफगानिस्तान, मारीशस और वियतनाम को इन देशों के संयुक्त आयोग के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत सहायता प्रदान की गई। एक ग्रामीण प्रौद्योगिकी प्रशिक्षण तथा प्रदर्शन केन्द्र की अफ्रीका आर्थिक आयोग (ई सी ए) के तत्वावधान के अन्तर्गत डक्कर में स्थापना की गई।

भारत का विदेश मन्त्रालय, विदेशी सरकारों की द्विपक्षीय आधार पर भारतीय विशेषज्ञों की भर्ती कराने में भी सहायता करता है।

हिन्द महासागर और महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा तथा भारतीय सुरक्षा

भारत की सुरक्षा एवं रक्षा के सन्दर्भ में हिन्द महासागर का अपना एक विशिष्ट स्थान है। भारत के राष्ट्रीय हित इस हिन्द महासागर से भी जुड़े हुए हैं। विश्व राजनीति में हिन्द महासागर का अत्यधिक महत्त्व है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले इसके अधिकांश तटीय क्षेत्रों पर ब्रिटेन का कब्जा था एवं तब इसे ब्रिटेन की झील कहा जाता था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय नौ सेना के महत्त्व में वृद्धि हो जाने के कारण विश्व के राजनीतिज्ञों की दृष्टि हिन्द महासागर पर जा टिकी। तभी से हिन्द महासागर का महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बढ़ गया। पिछले कई वर्षों से विश्व की बड़ी शक्तियों का तूफान हिन्द महासागर की तरफ है। बहुत समय पहले अमेरिकी लेखक एल्फ्रेड थेयर माहन ने कहा था कि ""इक्कीसवीं शताब्दी में दुनिया के भाग्य का फैसला समुद्रों से ही होगा।

हिन्द महासागर विश्व का तीसरा बड़ा महासागर है। यह 10,400 कि मी चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। यह 30° दक्षिणी अक्षांश से लेकर 40° दक्षिण अक्षांश तक एवं 26° पूर्वी देशान्तर से 115° पूर्वी देशान्तर तक फैला हुआ है। इस विशाल जल-क्षेत्र में सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण द्वीप जैसे मेडागास्कर, मारीशस, श्रीलंका, भारत के अण्डमान-निकोबार और लक्षद्वीप, क्रिसमस एवं मालद्वीप आदि हैं। पूर्व की तरफ सिंगापुर एक महत्त्वपूर्ण टापू है। भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सोकोत्रा द्वीप तथा फारस की खाड़ी के निकट बहरीन द्वीप समूह है।

अंग्रेजों के अभ्युदय से लेकर 1964 तक हिन्द महासागर पर ब्रिटेन का लगभग पूर्ण अधिकार रहा। 1964 में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया कि वह इस क्षेत्र में अपनी सैन्य शक्ति को सीमित करेगा। ब्रिटेन के इस निर्णय ने अमेरिका को इस क्षेत्र में आने के लिए आमन्त्रित किया। वस्तुतः हमेशा से अमेरिका की नीति यही रही कि जहाँ-जहाँ से ब्रिटेन हटे वहाँ-वहाँ उसे पहुँच जाना चाहिए। इस मान्यता की शुरुआत उस समय हुई जब ब्रिटेन ने चागोस द्वीप को मारीशस से संवैधानिक ढंग से अलग करके डियागो-गार्सिया द्वीप को 2016 तक के लिए अमेरिका को पट्टे पर दे दिया। इसके बाद हिन्द महासागर का पानी गर्म होना प्रारम्भ हो गया।

महाशक्तियों का संघर्ष

अमेरिका—हिन्द महासागर क्षेत्र में अमेरिकी सैन्य शक्ति के लक्ष्य अग्रांकित प्रकार हैं—

(1) तेल एवं अन्य कच्चे माल के स्रोतों पर सुदृढ़ नियन्त्रण स्थापित करना।

(2) अरब एवं अफ्रीकी देशों में व्याप्त एकता को तोड़ना।

(3) बड़े-बड़े सैनिक अड्डों की शृंखला द्वारा हिन्द महासागर को प्रशान्त व एटलांटिक महासागरों से जोड़ना एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वायु-मार्गों एवं जल-मार्गों पर नियन्त्रण स्थापित करना।

अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अमेरिका, सतत् रूप से प्रयत्नशील है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका ने एक बड़ी शक्ति के रूप में साम्यवाद के प्रचार व प्रसार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए पूरे विश्व में सैनिक अड्डों की स्थापना का सिलसिला प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन द्वारा डियागो-गार्सिया द्वीप को पट्टे पर देने के बाद अमेरिका ने इसे आधुनिकतम नौ-सैनिक तथा वायु सैनिक अड्डे के रूप में विकसित कर लिया है। अमेरिका के 50 से भी अधिक युद्धपोत हिन्द-महासागर तथा अरब सागर में विचरण करते रहे हैं। सम्पूर्ण हिन्द महासागर क्षेत्र में अमेरिका तथा उसके मित्र देशों के करीब 29 सैनिक अड्डे पहले से ही हैं। हिन्द महासागर में अमेरिका के आगमन व अड्डों के निर्माण का उद्देश्य वस्तुत सामरिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थलों— स्वेज नहर, मलक्का, केप ऑफ गुड होप आदि क्षेत्रों पर नियन्त्रण स्थापित करना है। अमेरिका ने हिन्द महासागर को तथा विशेषत फारस की खाड़ी एवं अरब सागर क्षेत्र को अपने महत्त्वपूर्ण हितों का क्षेत्र घोषित कर दिया है। केवल फारस की खाड़ी में 40 से भी अधिक अमेरिकी लड़ाकू पोत गश्त लगा रहे हैं। अमेरिका का दावा है कि हिन्द महासागर में उसकी नौ-सेना की उपस्थिति से इस क्षेत्र की सुरक्षा को बल मिला है एवं यहाँ पर आधिपत्य स्थापित करने वाली प्रवृत्तियों पर रोक लगी है। एक अमेरिकी प्रवक्ता डेविड एडमण्डसन का कहना है कि हिन्द महासागर से महाशक्तियों की सेना को हटाए जाने से न केवल आधारभूत अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों का उल्लंघन होता है वरन् इससे क्षेत्रीय सुरक्षा के लिए हानिकारक सैन्य असन्तुलन के उभर जाने का खतरा है।

वास्तव में अमेरिकी नीतियाँ हिन्द महासागर के तटीय देशों के हितों के विरुद्ध तथा गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों को आपस में भिड़ाने वाली है ताकि इस क्षेत्र में उसकी चौधराहट बनी रहे।

सोवियत संघ—हिन्द महासागर में पदार्पण करने वाली दूसरी महाशक्ति सोवियत संघ है। यद्यपि उसके पास इस क्षेत्र में डियागो-गार्सिया जैसा कोई अड्डा नहीं है फिर भी उसके पोत इस क्षेत्र में निर्बाध गति से चल रहे हैं। हिन्द महासागर के तटीय देशों से मधुर सम्बन्ध बनाने के लिए रूस औद्योगिक विकास के लिए आर्थिक सहायता देकर अपनी स्थिति मजबूत कर रहा है। हिन्द महासागर में रूस का प्रथम सैनिक प्रवेश 1967 में हुआ जब उसने अमेरिकी जहाजी बेड़े पर निगरानी रखने के लिए अपने कुछ जहाज भेजे थे। हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों में केन्या

को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर इसका पलड़ा भारी है। हिन्द महासागर के अफ्रीकी द्वीप देशों में से मेडागास्कर एवं सेशेल्स द्वीप सोवियत संघ के प्रभाव में हैं। कमारो व जिबूती में भी सोवियत प्रभाव व्याप्त है। सोमालिया में बारबेरा के पास सामरिक संचरण स्टेशन स्थापित कर लिया है। खबर है कि सोवियत संघ ने अपना एक अड्डा भी बना लिया है जो परमाणु शक्ति-सम्पन्न विध्वसकों से लैस है एवं इसमें लगभग 20 जहाज हैं। सोवियत संघ ने हिन्द महासागर में परमाणुचालित पनडुब्बियों इलैक्ट्रॉनिक मछुआरे पोत एवं युद्धपोत भी रख छोड़े हैं। ऐसा करके वह अमेरिका की घेरेबन्दी को तोड़ने पर आमादा है। दक्षिणी यमन का सोकोत्रा उनके युद्धपोतों के ठहरने का महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया है।

वास्तव में सोवियत संघ बातों से काफी चिन्ताग्रस्त है। पहला यह कि हिन्द महासागर में अमेरिका द्वारा तीव्र कार्यवाहियों से उसे अपने हित असुरक्षित दिखलाई दे रहे हैं। दूसरा तथा अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है कि उत्तर-पश्चिम हिन्द महासागर में अमेरिकी नौ-सेना की निरन्तर उपस्थिति—वह भी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों व पनडुब्बियों के प्रक्षेपास्त्रों सहित वह सोवियत संघ के लिए वास्तविक खतरा पैदा करती है क्योंकि अनेक सोवियत नगर व बन्दरगाह अमेरिकी प्रहार-क्षेत्र की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। इन्हीं दोनों कारणों से वह मिश्रित रणनीति अपनाए हुए हैं। इसके अनुसार एक तरफ तो अमेरिका के साथ इस क्षेत्र में शक्ति-सन्तुलन बनाए हुए हैं। दूसरी तरफ वह तटवर्ती देशों की इस माँग का कि हिन्द महासागर में अमेरिका की उद्दण्डतापूर्ण योजनाएँ समाप्त की जाएँ एवं इसे शान्ति क्षेत्र बनाया जाए, का समर्थन भी करता है ताकि यहाँ की राजनीतिक स्थिति पर प्रभाव डाला जाए व इस क्षेत्र में बहने वाली हवा में सोवियत समर्थक गंध भरी जा सके। आज स्थिति यह है कि उसके भी लगभग 50 युद्धपोत इस क्षेत्र में मण्डरा रहे हैं। रूस विश्व को यह दर्शाना चाहता है कि उसके पास भी एक विश्व-व्यापी सामुद्रिक शक्ति है।

चीन— चीन इस क्षेत्र में रूस के प्रभाव से चिन्तित है। उसे भय है कि कहीं सोवियत संघ स्थल मार्ग के अलावा जलीय मार्ग को भी अवरुद्ध न कर दे। इसीलिए उसने पाकिस्तान द्वारा कब्जे में लिए गए कश्मीर क्षेत्र में चीन से कराची जाने वाली सड़क बना ली है। अब वह तंजानिया, जाम्बिया, जंजीबार में नौ-सैनिक अड्डे बनाना चाहता है।

जापान—जहाँ तक जापान का सम्बन्ध है, उसने अभी तक अपने व्यापारिक समुद्री बेड़ों का ही विकास किया है। वह भारत व अन्य तटवर्ती देशों से खनिज व अन्य कच्चा माल आयात करता है एवं वह इन देशों को अपना औद्योगिक माल निर्यात करने की भी इच्छा रखता है। अतः कालान्तर में वह भी अपने व्यापारिक मार्गों की रक्षा के लिए सैनिक गतिविधियाँ बढ़ाने की बात पर गम्भीरता से विचार कर सकता है। इस महासागर में अब आस्ट्रेलिया ने भी अपने युद्धपोत रखने की घोषणा कर दी है।

फ्रांस—फ्रांस हिन्द महासागर का पुराना खिलाडो रह चुका है अत: वह महाशक्तियो पर-नजर रखते-हुए दो तरह से कार्य रहा है। एक तो खाडी-क्षेत्र में युद्धोपयोगी शस्त्रो के सौदागर के रूप में, दूसरे अपने अड्डो के संरक्षक के रूप में। फ्रांस के पास जिबोरी, रियूनियर, क्रोजेट, एम्वर्डम एव केण्डलेन, आदि सामरिक अड्डे हैं।

हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने का प्रयास

हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने का अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र मे बाहरी शक्तियो की सैन्य उपस्थिति रहे, बाह्य शक्तियो के सैनिक अड्डो तथा प्रतिद्वन्द्विता की समाप्ति हो, शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए सामुद्रिक स्वतन्त्रता हो और शान्ति क्षेत्र के निर्माण के लिए क्षेत्रीय सहयोग प्राप्त हो। हिन्द महासागर मे महाशक्तियों की घुसपैठ का राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर विरोध किया जाता रहा है। सर्वप्रथम भारत ने विरोध का झण्डा खड़ा किया और धीरे-धीरे अन्य तटवर्ती देशो ने भी स्थिति की गम्भीरता आंकते हुए हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करने के लिए आवाज़ उठाई।

सबसे पहले लुसाका मे सन् 1970 मे आयोजित तटस्थ राष्ट्रो के सम्मेलन मे भारत ने इसे शान्ति क्षेत्र घोषित करने की माँग की। मारीशस, बगलादेश, श्रीलका ने भी इसका समर्थन किया। यही भावना 1976 मे श्रीलका मे हुए पाँचवें गुट-निरपेक्ष सम्मेलन मे व्यक्त की गई। परन्तु विभिन्न प्रस्तावो के बावजूद महाशक्तियो का खेल जारी रहा। मार्च, 1979 मे रूस के प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने भारत यात्रा के दौरान भारत के साथ इस बात पर पूर्ण सहमति व्यक्त की कि हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखा जाय। उन्होने इस क्षेत्र मे अपना कोई अड्डा न बनाने का वचन दिया परन्तु साथ ही यह भी कहा कि जब तक अमेरिका भी ऐसा कोई वायदा नही करता, शान्ति की सम्भावना सदिग्ध है। अमेरिका फिलहाल ऐसी किसी सम्भावना से इन्कार करता है।

यह कहा जा सकता है कि हिन्द महासागर मे बडे देशो के अपने-अपने हित एव स्वार्थ है एव इनकी पूर्ति के लिए वे इस क्षेत्र मे अब अधिक सक्रिय हो गए हैं। अमेरिका एव सोवियत सघ जैसे बड़े देशो का प्रत्यक्ष ध्येय अपने राजनीतिक प्रभावों के क्षेत्र मे अधिक से अधिक विस्तार करने का ही है एव यदि तटवर्ती देश उनकी हां मे हाँ मिलाने से इन्कार कर दे तो वे इन पर सैनिक दवाव डालने की स्थिति मे भी हैं। ये महाशक्तियां ऐसा अपने राष्ट्रीय हितो की आड मे ही कर रही है। चीन तो वस्तुत एक छोटी मछली के समान ही है जिसकी न तो कोई विशिष्ट छवि ही है एव न ही एक प्रभावी सैनिक शक्ति। हाँ, भारत जैसे देशो के लिए जिसकी सीमाएँ इस महासागर से मिलती हैं, वह सीधा खतरा उत्पन्न करने की स्थिति मे अवश्य है। ब्रिटेन-फ्रांस व आस्ट्रेलिया जैसे देशो की भूमिकाएँ स्वतन्त्र रूप मे न होकर सहायक ही हो सकती हैं। यदि इस महासागरीय क्षेत्र मे राजनीतिक एव सैनिक प्रतिद्वन्द्विताओ को कुछ वर्षो के लिए अलग कर दिया जाय फिर भी यह रहा

जा सकता है कि इस क्षेत्र में विद्यमान असीम प्राकृतिक सम्पदा के दोहन का आकर्षण ही इन बड़ी शक्तियों की आपसी होड़ का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। अतः यह कहा जा सकता है कि हिन्द महासागर में बड़ी शक्तियों के बीच जो संघर्ष दृष्टिगोचर हो रहा है वह न केवल पूर्ववत् कायम ही रहेगा वरन् उसमें तीव्रता होने की भी सम्भावना है।

भारत के लिए हिन्द महासागर का महत्त्व

इस महासागर का नामकरण इस बात को सिद्ध कर देता है कि इससे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रिश्ता भारत का ही है। भारत एक प्रायद्वीप है जिसे तीन तरफ से हिन्द महासागर विस्तृत रूप से घेरे हुए है। भारत की तटीय रेखा हिन्द महासागर ही निर्धारित करता है। प्राचीन काल से ही भारत का इतिहास इस महासागर से सम्बद्ध रहा है।

भारत के लिये हिन्द महासागर के महत्त्व को निम्न बिन्दुओं के आधार पर आँका जा सकता है—

(क) हिन्द महासागर पर किसी विदेशी शक्ति के प्रभुत्व का सीधा प्रभाव भारत की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ सकता है। अतः उसे अपने राष्ट्रीय हितों व अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इस महासागर पर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहिए।

(ख) भारत अपने लगभग 3535 मील लम्बे तटीय क्षेत्र की समुचित रक्षा-व्यवस्था की दृष्टि से इस महासागर की अनदेखी नहीं कर सकता। भारत पर तीन दिशाओं से समुद्री आक्रमण की सम्भावना बनती है।

(ग) यह सत्य है कि अब तक भारत पर अधिकांश आक्रमण स्थल से ही होते रहे हैं फिर भी आज इस समुद्र से सशस्त्र आक्रमण की सम्भावनाएँ सर्वाधिक हैं क्योंकि यह बड़े देशों की सैनिक प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बन गया है। ये शक्तियाँ भारत के मर्मस्थल को भेदने की क्षमता रखती हैं।

(घ) हिन्द महासागर में स्थित द्वीपों का भी अपना एक सामरिक महत्त्व है। अतः भारत को अपने 1200 से भी अधिक द्वीपों की कारगर तरीके से रक्षा करने के साथ-साथ अपने 200 समुद्री मील तक के आर्थिक क्षेत्र की भी रक्षा करनी है।

(ङ) भारत का अस्सी प्रतिशत से भी अधिक व्यापार इसी समुद्री मार्ग से ही होता है एवम् इसी के माध्यम से उसका लगभग 130 देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध है. अतः उसे अपने इस व्यापार की समुचित सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(च) भारत के लिए तो इस महासागर का महत्त्व सर्वाधिक है ही परन्तु चालीस से अधिक तटवर्ती देशों के लिए भी यह अत्यन्त महत्त्व का है। भारत के इन तटवर्ती देशों के साथ इसी महासागर के माध्यम से राजनीतिक, आर्थिक,

सांस्कृतिक एवम् व्यापारिक सम्बन्ध कायम है इसलिए वे तटवर्ती देश सहज ही भारत से इस क्षेत्र मे शक्ति बनाए रखने की अपेक्षा करते हैं। अत: हिन्द महासागर पर प्रभाव तथा नियन्त्रण न केवल भारत के राष्ट्रीय हितो के सन्दर्भ मे ही अपरिहार्य है वरन् ऐसा अन्य तटवर्ती देशो की रक्षा के लिए भी जरूरी है।

भारत अपने सामुद्रिक मार्गों के विकास के लिए हिन्दमहासागर पर आश्रित है क्योंकि तीन तरफ से भारतीय तटो का स्पर्श हिन्दमहासागर ही करता है। हिन्दमहासागर के अतिरिक्त किसी अन्य सागर पर भारत अपने बन्दरगाहो के लिए अवलम्बित नही हो सकता। भारत का 85 प्रतिशत से भी अधिक व्यापार समुद्र द्वारा सम्पन्न होता है। तटवर्ती देशो मे भारत की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि चीन के बाद वही सबसे बडे क्षेत्रफल और सबसे अधिक जनसख्या वाला देश है। भारत के सामने यह गम्भीर समस्या है कि वह हिन्द महासागर मे महाशक्तियो की घुसपैठ को यथाशक्ति रोके। भारत अपने बलबूते पर तो ऐसा करने की क्षमता नही रखता परन्तु वह घुसपैठ के स्तर मे अन्य देशो के सहयोग से थोडा बहुत परिवर्तन अवश्य ला सकता है।

महाशक्तियो का प्रवेश रोकने के उपाय

(1) हिन्द महासागर के तटवर्ती देश अपना एक अलग सगठन बना कर यह निश्चय करें कि अपने यहां इन शक्तियो का कोई सैनिक अड्डा नही रहने देंगे। वस्तुत यह अत्यन्त दुष्कर काम है फिर भी यदि सम्भव हो जाए तो इतना तय है कि हिन्द महासागर मे महाशक्तियो के प्रवेश का द्वार बन्द हो जाए।

(2) दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सोवियत सघ और अमेरिका मे अपने पक्ष का प्रचार करके प्रबल जनमत बनाया जाए एव जनमत के माध्यम से उन देशो की सरकारो पर इस बात के लिए दबाव डाला जाए कि वे हिन्द महासागर म घुसपैठ न करें।

यह कहा जा सकता है कि ईरान से लेकर इन्डोनेशिया तक के हिन्द महासागरीय क्षेत्र मे यदि किसी देश की विशिष्ट स्थिति है तो भारत की ही है। इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि 1971 के भारत-पाक युद्ध के बाद से भारत दक्षिण एशिया मे निश्चित रूप से एक प्रादेशिक सत्ता या शक्ति के रूप मे उभर चुका है। जरूरत इस बात की है कि वह अपने प्रभाव को दक्षिण पूर्वी एशिया एवं पश्चिम एशिया तक बढ़ाए।

समय रहते ही यदि ईरान-ईराक युद्ध समाप्त नहीं हो जाता तो बडी शक्तियाँ इस स्थिति से अनुचित लाभ उठा सकती हैं एव जिसका प्रभाव हिन्द महासागर की मोर्चाबन्दी पर भी पडे बिना नही रहेगा। अत यह आवश्यक है कि भारत समूचे हिन्द महासागर क्षेत्र की राजनीतिक स्थिरता के लिए निरन्तर प्रयास करे।

भारत महाशक्तियों के घेरे में : एक विश्लेषण

इतिहास के इस साक्ष्य को यदि हम आज के परिप्रेक्ष्य मे देखें तो लगता है कि भारतीय जन-जीवन पर बार-बार आने वाले वे सकट आज भी टले नही हैं।

विश्व की महाशक्तियों मे अब भी होड है कि भारत किसके प्रभाव मे रहे। अतः हम कह सकते है—भारत आज विश्व की महाशक्तियों के घेरे में है। उसके चतुर्दिक ऐसे जाल बिछाए जा रहे है ताकि वह किसी न किसी महाशक्ति की शरण में आ जाए। अत इस कूटनीतिक और सामरिक परिवेश पर एक दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है।

सीमा और पड़ोसी—भारत की पश्चिमी सीमा जहाँ पाकिस्तान से जुड़ती है, वही पश्चिमोत्तर से उत्तर और पूर्वोत्तर सीमा तक चीन का विस्तार है। नेपाल और भूटान अवश्य ही दो स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, किन्तु नेपाल सैनिक शक्ति नही है। वह यदि भारत का शत्रु नही है, तो कोई बड़ा मित्र भी नही।

रही भूटान की बात, वह भारत का सहयोगी देश है। चीन की नजर उस पर भी है, लेकिन भूटान की प्रतिरक्षा का भार भारत पर है अत चीन सहमा हुआ है।

पूर्व के दो पड़ोसी बर्मा और बगलादेश चीन तथा महाशक्तियों के साथ अपने समीकरण जमाए हुए हैं। भारत की दक्षिणी की सीमा पर श्रीलका का विशेष महत्व है जिसका झुकाव अमरीका की ओर रहा है।

भारत की सामरिक स्थिति और पाकिस्तान—पाकिस्तान भारत के लिए एक प्रमुख चुनौती बन गया है। अमेरिका से मिलने वाली सारी सहायता पाकिस्तान के अनुसार अफगानिस्तान सीमा की सुरक्षा के उद्देश्य से प्राप्त हो रही है, किन्तु वास्तविकता यह है कि पाकिस्तान भारत की सामरिक घेराबन्दी में अमेरिका की मदद कर रहा है। पाकिस्तान की सीमा पश्चिमोत्तर भारत (जम्मू-कश्मीर सीमा) से लेकर अरब सागर तक फैली है। पजाब, राजस्थान, गुजरात ऐसे सवेदनशील प्रदेशों मे आए दिन पाकिस्तान से घुसपैठ जारी रहती है। तस्करी और विघटनकारी गतिविधियों का पाकिस्तानी जाल भारतीय सीमा पर इतना विशाल और जटिल है कि उसे वेध पाना भारतीय सीमा-सुरक्षा बल के लिए भी कठिन पड रहा है। थार के रेगिस्तान का विस्तार घुसपैठ के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है इसी तरह कच्छ की समुद्री सीमा भीषण दल-दल और अभेद्य वनराजि का क्षेत्र है। अतः उसको भी पार पाना कठिन हो जाता है। ये सारे ऐसे आधार हैं, जो सामरिक दृष्टि से भारत के विरुद्ध पडते है। पाकिस्तान ने चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित करके नई रणनीति तैयार की है। कराकोरम मार्ग के माध्यम से अब चीन और पाकिस्तान इस कदर जुड जाते हैं कि भारतीय सैनिक गतिविधि के किसी भी रहस्य को बनाए रखना दुष्कर हो जाता है।

भारत के विरुद्ध चीन-अमेरिका और पाकिस्तान का 'त्रिगुट' काम कर रहा है। भारत का मित्र सोवियत सघ अफगानिस्तान मे बैठकर भारतीय उप-महाद्वीप की प्रत्येक गतिविधि का जायजा ले रहा है।

भारत और उसके पड़ोसियो की भू-राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण कर लेने के बाद अब महाशक्तियों की कूटनीतिक और सामरिक गतिविधियों पर दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है।

आज विश्व दो सैनिक गुटो मे विभाजित है। (1) अमेरिकी तथा पश्चिमी यूरोपीय देशो का गुट (2) सोवियत तथा पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशो का समूह। इनके अतिरिक्त चीन एक ऐसी महाशक्ति है जो कि इन दोनों गुटो को सन्तुलित करने का प्रयास कर रहा है लेकिन भारत की दृष्टि से वह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हो जाता है क्योकि चीन भू-राजनीतिक दृष्टि से भारत को सर्वाधिक प्रभावित करता है। प. जवाहरलाल नेहरू ने इसलिए चीन को अपने साथ लेने का असफल प्रयास किया था। वे जानते थे कि चीन की ओर से आश्वस्त होने के बाद भारत न केवल एशिया अपितु विश्व मे नए मानदण्ड स्थापित करने मे सफल हो सकता है किन्तु अपने ही खेल मे व्यस्त है।

अमेरिकी राजनीति के विविध आयाम—भारत के सन्दर्भ मे अमेरिकी रणनीति दुरगी है। वह न केवल सामरिक और आयुध बल से भारत पर प्रभाव रखना चाहता है अपितु आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश को भी पूरी तरह प्रभावित कर रहा है।

पश्चिमी कूटनीति के प्रारम्भिक आधार—द्वितीय विश्व युद्ध के समय अमेरिका और ब्रिटेन मे जो गठबन्धन हुआ था उसने इस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रभावित किया। भारत का विभाजन इसी उद्देश्य से किया गया था ताकि पाकिस्तान पश्चिमी कूटनीति का केन्द्र बना रह सके। कश्मीर की समस्या भी उसी कूटनीति का अग है क्योकि गिलगिट जो कि विश्व का सबसे ऊँचा हवाई अड्डा कहा जाता है, पश्चिमी दूरदृष्टि का परिणाम था। अतः उसको पाकिस्तान के पास ही रहने देने की योजना पहले ही बना ली गयी थी। भारत के घेराव की दृष्टि से पाकिस्तान को भारत के दोनो ओर बनाया गया ताकि न केवल पर्वतीय क्षेत्र से अपितु समुद्री तट से भी भारत पर निगाह रखी जा सके। पाकिस्तान के साथ 1959 की द्विपक्षीय सुरक्षा सन्धि, सीटो और सेंटो सन्धियो मे पाकिस्तान को शामिल करने का उद्देश्य भी यही था।

इस प्रकार अमेरिका और ब्रिटेन ने सामरिक दृष्टि से घेराव की जो योजना बनायी थी वह कालान्तर मे प्रतिफलित हुई। चूंकि उस समय पाकिस्तान और चीन के सम्बन्ध नही थे अतः भारत कम से कम पाकिस्तान-चीन-अमेरिका की धुरी का शिकार नही था। पाकिस्तान और चीन एक-दूसरे से सडक मार्ग से जुड़े भी नहीं थे। 1962 मे चीनी आक्रमण के समय भारत को अमेरिकी मदद की जरूरत पडी थी और वह मिली भी थी लेकिन अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जॉन एफ कनेडी की हत्या के बाद राजनीति ने नयी करवट ली और जानसन ने भारत के प्रति बेरुखी दिखाई। 1965 के युद्ध मे अमेरिका ने खुलकर पाकिस्तान का साथ दिया और इसी समय से चीन और पाकिस्तान भी निकट आने को आतुर हुए और अब तो काराकोरम मार्ग बन जाने के बाद स्थिति और भी बदल गयी है।

सियाचिन ग्लेशियर—इस क्षेत्र मे चीन, पाकिस्तान गठबन्धन को अमेरिका और ब्रिटेन का आशीर्वाद प्राप्त है। नुब्रा घाटी का पूरा क्षेत्र है वहा से चीन और

पाकिस्तान संयुक्त रूप से जासूसी करते है। विदेशियो के लिए यह क्षेत्र खुल जाने से ग्रव उनकी मदद ग्रमेरिकी विशेषज्ञ भी कर सकते है। पाकिस्तान चाहता है कि सियाचिन ग्लेशियर उसे प्राप्त हो जाए ताकि ग्रक्साई चिन मार्ग से उसका सम्पर्क हो सके ग्रौर इस प्रकार युद्ध के समय उसे चीन से पर्याप्त सैन्य सामग्री प्राप्त हो सके।

यदि उसका यह प्रयास सफल हो जाता है तो लद्दाख मे लेह जाने वाले मार्ग पर वह कब्जा कर सकता है। ग्रमेरिका ग्रौर ब्रिटेन इस क्षेत्र को पाकिस्तान का बताने की कोशिश कर रहे हैं।

ग्रमेरिका को सुविधाऐं—पाकिस्तान ने ग्रमेरिका को समुद्री सुविधाएँ देने के साथ-साथ हवाई पट्टी बनाने की भी सुविधा प्रदान की है। सामरिक महत्त्व के मकरान समुद्री तट पर (कराची के पश्चिम) ग्वादार, पसनी ग्रौर जिवनी बन्दरगाहो पर ग्रमेरिकी युद्धपोतो के लिए विशेष सुविधाऐं उपलब्ध कराई गई है उनको ग्राधुनिक बनाया जा रहा है। यहाँ पर तीन हवाई पट्टियो का भी निर्माण हुग्रा है। कहने के लिए यह ग्रफगानिस्तान मे रूस की मौजूदगी के कारण पाकिस्तान की सुरक्षा व्यवस्था की तैयारी है किन्तु वास्तविकता भारतीय उपमहाद्वीप को निकट से परखने की ग्रमरीकी राजनीति है। ग्रमेरिका ने पाकिस्तान को ग्रपनी पकड मे और अधिक कर लेने के लिए उसे ग्रत्याधुनिक ग्रायुधो की पूर्ति के साथ ग्रति ग्राधुनिक तकनीक के हस्तान्तरण का भी ग्राश्वासन दिया है।

दियागो गार्सिया—कन्या-कुमारी से 1200 दक्षिण हिन्द महासागर मे स्थित यह नौसैनिक ग्रड्डा ग्रपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण भारत के घेराव का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र साबित हो सकता है। यहाँ से विश्वव्यापी वायु एव समुद्री सचार व्यवस्था को नियन्त्रित किया जा सकता है। यहाँ न केवल भारी सख्या मे हवाई पट्टिया ग्रौर युद्ध पोतो के ठहरने की व्यवस्था है यहाँ से कोई भी ग्रमेरिकी विमान भारतीय क्षेत्र मे ग्राकर ग्रौर बम वर्षा कर वापस जा सकता है। लीबिया पर ब्रिटिश हवाई ग्रड्डो से हमले इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इतना ही नहीं यहाँ परमाणु ग्रस्त्रो का भण्डार है। यहाँ तैनात बी–52 बम वर्षक ग्रासानी से हिन्द महासागर के किसी भी बन्दरगाह पर घण्टो तक प्रहार कर सकते है।

हिन्द महासागर मे महाशक्तियो की होड़—हिन्द महासागर मे महाशक्तियो के बीच बढती होड के पीछे भी भारत को नियन्त्रित रखने का उद्देश्य है क्योकि भारत इस क्षेत्र का बडा देश है। ग्रत महाशक्तियाँ उसके पडोसी छोटे-छोटे देशो को भारत के विरुद्ध भडकाती हैं ग्रौर इस तरह उनको ग्रपने ग्रायुधो के बेचने तथा उन्हे ग्रपने प्रभाव मे रखने का प्रयास कर रही है। इसमे ग्रमेरिका ही नही रूस, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस सभी सक्रिय है। इन महाशक्तियो का एक बडा स्वार्थ इस क्षेत्र से कच्चे माल खनिज तेल, कपास, चीनी रबर, कच्चा लोहा ग्रादि को प्राप्त करना भी है। वे इस बात से भी ग्रातकित हैं कि यदि भारत की तकनालाजी को ग्रौर ग्रधिक विकसित कर लिया जाता है तो उन्हे कच्चे माल की आपूर्ति बन्द हो सकती है ग्रौर उनके कारखानो मे ताले पड सकते हैं ग्रत. वे छोटे-छोटे देशो को ग्रार्थिक, सामरिक मदद के प्रलोभन भी देते रहते हैं। इतना ही नही इनके लिए ये महाशक्तियाँ ग्रपने जहाजी बेडो युद्ध पोतो को हिन्द महासागर मे सक्रिय रखती है ग्रौर

इस क्षेत्र के राष्ट्रों के साथ मिलकर सामुद्रिक अड्डे कायम करने या छोटे-छोटे देशों से व्यापारिक एवं सैनिक सुविधाएँ प्राप्त करने के जोड़-तोड़ करते रहते हैं।

अमेरिका का कहना है कि हिन्द महासागर उसके लिए अटलांटिक महासागर और प्रशान्त महासागर को मिलाने वाला द्वार है अतः उसको सुरक्षित जलमार्ग बनाए रखना उसका और उसके मित्र देशों के लिए अनिवार्य है। वह इसी तर्क के आधार पर फारस की खाड़ी से लेकर फिलीपीन्स तक निगरानी रखता है। उसके लिए मलक्का-जलडमरू मध्य पर नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। इसी बात को लेकर वह एशियान देशों से अपनी दोस्ती बनाए रहा है। दूसरी ओर रूस और चीन भी हिन्द-महासागर तक पहुँचने की होड़ में है। इनमें से चीन ने तो कराकोरम मार्ग से होकर कराची पहुँचने और इस तरह से अरब सागर (अरब खाड़ी) में प्रवेश का मार्ग बना लिया है। रूस का अफगानिस्तान में आने का उद्देश्य भी यही बताया जाता है। चूँकि अफगानिस्तान स्थल अवरुद्ध (Land-Locked) देश है अत उसे हिन्द-महासागर तट पर जाने के पाकिस्तानी क्षेत्र को पार करना है और इसी क्षेत्र में अमेरिकी रणनीति का गढ़ बन रहा है। वैसे कामरान्ह की खाड़ी में इसका प्रवेश हो गया है और वहाँ से वह हिन्द महासागर में आसानी से प्रवेश कर गया है फिर भी पश्चिम एशिया के क्षेत्र में उसकी सीधी पहुँच नहीं हो सकी है। अत इस दृष्टि से वह भारत को अपने प्रभाव में करके भारतीय बन्दरगाहों की सुविधा प्राप्त करना चाहता है। लियोनिद ब्रेझनेव ने जो एशिया की सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त प्रस्तावित किया था उसका उद्देश्य यही था। इस समय इसने एक नई रणनीति चीन के माध्यम से चली है। वैसे चीन इसे स्वीकार करेगा इसमें सन्देह है, किन्तु रूस और अमेरिका चीन के हमले का लाभ उठाकर भारत को अपने प्रभाव में रखने के लिए विशेष रूप से आतुर है। चीन स्वयं उनकी कूटनीति को मात देकर भारत पर अपना दबाव बनाये रखना चाहता है।

भारत एक परमाणु शक्ति के रूप में और इसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

18 मई, 1974 को एक सफल भूगर्भीय परमाणु-विस्फोट द्वारा भारत परमाणु बिरादरी का छठा देश बन गया। भारत सरकार ने स्पष्ट किया कि यह विस्फोट शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही है और भारत शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही परमाणु शक्ति का उपयोग करना चाहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि परमाणु शक्ति के रूप में भारत का उदय विश्व के अनेक राष्ट्रों को पसन्द नहीं आया, 'दबाव की राजनीति' मुखर हुई और कतिपय देशों में भारत के विरुद्ध गठबन्धन पुनः अधिक उग्र रूप में प्रकट होने लगा। भारत के परमाणु विस्फोट पर सबसे तीखी प्रतिक्रिया अमेरिकी क्षेत्र में हुई। अमेरिका ने न केवल अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की, बल्कि यह भी कहा कि भारत के परमाणु विस्फोट से विश्व में स्थायित्व को

आघात पहुँचेगा। अमेरिका की इस प्रतिक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि वह नही चाहता कि कोई अन्य देश परमाणु शस्त्र बनाए।

भारत की परमाणु नीति मे परिवर्तन

इस सन्दर्भ मे भारत सरकार की परमाणु-नीति पर कुछ अधिक स्पष्ट विचार अपेक्षित है।

भारत मे सफल भूमिगत परमाणु-परीक्षण की घोषणा करते हुए परमाणु ऊर्जा विभाग ने कहा था कि यह उस कार्यक्रम का अंग है जिसका उद्देश्य परमाणु-प्रायोगिकी के क्षेत्र मे, विशेषकर खनन और मिट्टी हटाने के कार्य मे, परमाणु शक्ति के उपयोग मे भारत को अन्य देशो के समकक्ष रखना है। भारत सरकार ने इस बात की पुष्टि की कि भारत का परमाणु हथियार बनाने का कोई इरादा नही है और परमाणु विस्फोटो के सैनिक उपयोग के सख्त खिलाफ है।

न्यूजवीक को दिए गए इन्टरव्यू मे स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने भारत की स्थिति को पुन स्पष्ट किया। परमाणु टेक्नोलोजी मे सक्षम देश और परमाणु हथियार रखने वाले देश मे अन्तर है। हमारा देश परमाणु हथियार वाला देश नही है, हमारे पास कोई परमाणु बम नही है। हमारा इरादा इस जानकारी का या इस शक्ति को शान्तिपूर्ण कार्यो के अलावा अन्य किसी कार्य मे इस्तेमाल का नही है। हमारे पडौसियो को किसी प्रकार का भय नही होना चाहिए। सच तो यह है कि हम इस परीक्षण को विज्ञान और टेक्नोलोजी मे हो रही प्रगति के समकक्ष रहने के लिए किए जा रहे अपने अनुसधान कार्य का एक अंग मानते है। इसके लिए कोई नई बजट-व्यवस्था नही की गई, इस पर कोई विदेशी मुद्रा खर्च नही की गई और इसके लिए हम किसी अन्य देश पर निर्भर नहीं थे।

भारत ने परमाणु-शस्त्र निषेध सन्धि 1968 पर हस्ताक्षर नही किए है क्योंकि यह सन्धि पक्षपातपूर्ण है। एक तरफ तो यह परमाणु हथियारो वाले राष्ट्रो को इस बात की छूट देती है कि वे आणविक हथियारो का परीक्षण करते रहे और दूसरी ओर अन्य राष्ट्रो को इस बात की छूट नही देती कि वे शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए भूमिगत परमाणु परीक्षण, टेक्नोलोजी का विकास कर सके। भारत ने वायु-मण्डल मे या समुद्र मे परीक्षण नही किया क्योंकि इससे वातावरण बहुत ज्यादा दूषित हो जाता है और आसपास के जन-जीवन को खतरा भी हो जाता है, हालांकि इस तरह के परीक्षण भारत दस वर्ष पहले भी कर सकता था।

भारत के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के आरम्भ मे ही दो मुख्य उद्देश्य रहे है—ऊर्जा का उत्पादन और उद्योग, चिकित्सा, कृषि-अनुसन्धान और अन्य क्षेत्रो मे रेडियो आइसोटोपो का उपयोग और अपने आणविक प्रयत्नो के लिए कौशल, साज-सामान और तकनीक के मामले मे आत्मनिर्भर हुआ जाए।

भारत की विदेश नीति का मूल्यांकन

भारत की विदेश नीति पर अत्यधिक आदर्शवादी और भावना-प्रधान होने का आरोप लगाया जाता रहा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी विदेश नीति

सोवियत संघ से प्रभावित है और इजरायल, अरब राज्यों आदि के सन्दर्भ में इसका रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि हमारी नीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुई है।

भारतीय विदेश नीति की आलोचनाएँ नेहरू और शास्त्री में अधिक तीव्र थी। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण रक्षा करते हुए उसे यथार्थवादी दिशा दी और राष्ट्रीय हितों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध कर दिखाया। किसी भी नीति की सफलता उसके कुशल क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। नेहरू-काल में आवश्यक था कि नवोदित भारत-राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला रखी जाए, विभाजन-जन्य परिस्थितियों को निपटाया जाए और पड़ोसी शत्रु-राष्ट्रों के प्रति भी तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए युद्ध की सम्भावनाओं को यथासाध्य टाला जाए। इसीलिए चीन के साम्राज्यवादी इरादों को कुछ-कुछ भाँपते हुए भी और पाकिस्तान की शत्रुता को भली-भाँति समझते हुए भी श्री नेहरू ने भारत को ऐसे नैतिक धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत को प्रतिष्ठा भी मिले, पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही शिविर उनकी आवाज सुनें और उसकी सहायता के लिए तत्पर रहें, साथ ही युद्ध की सम्भावना भी टलती रहे ताकि भारत भविष्य में शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके। श्री नेहरू को अपने उद्देश्य में 1962 से पूर्व तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। 1962 के चीनी आक्रमण ने उनकी शान्तिवादी नीति को गहरा आघात पहुँचाया, लेकिन गुट-निरपेक्षता की उपयोगिता में उनकी आस्था समाप्त नहीं हुई क्योंकि संकटकाल में सोवियत गुट और पश्चिमी गुट दोनों ने भारत को अपना समर्थन दिया। फिर भी इस आक्रमण ने श्री नेहरू को यह अनुभूति करा दी कि अब विदेश नीति को यथार्थवाद की ओर मोड़ा जाए तथा गुट-निरपेक्षता पर अमल करते हुए सैनिक दृष्टि से भी भारत को शक्तिशाली बनाया जाए। श्री नेहरू यथार्थवादी नीति का अनुसरण कर भारत को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से आवश्यक आर्थिक और सैनिक उद्योगों तथा कल-कारखानों की आधार-भूमि का पहले ही निर्माण कर चुके थे।

लाल बहादुर शास्त्री ने नेहरू नीति को आगे बढ़ाया और भारतीय विदेश नीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय किया। पाकिस्तान को उसके आक्रमण का मुँहतोड़ उत्तर देकर तथा अमेरिका जैसी महाशक्ति के दबाव के आगे न झुककर जहाँ श्री शास्त्री ने यथार्थवादी नीति का परिचय दिया वहाँ ताशकन्द समझौता करके आदर्शवाद को भी कायम रखा। यद्यपि ताशकन्द-समझौता व्यावहारिक रूप में सफल नहीं हुआ, तथापि प्रत्येक युद्ध के बाद इस प्रकार के समझौते न्यूनाधिक हेर-फेर के साथ करने ही पड़ते हैं। यदि पराजित राष्ट्र पर वर्साय की सन्धि जैसा कोई समझौता थोपा जाए तो उसके क्या दुष्परिणाम निकल सकते हैं, इसका इतिहास साक्षी है।

श्री शास्त्री का प्रधानमन्त्रित्व-काल अत्यल्प रहा उनके निधन के बाद भारत की बागडोर श्रीमती इन्दिरा गांधी के हाथों में आई। बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन, बंगलादेश को मान्यता, अमेरिका के प्रति दृढ़ता, रूस के साथ सम्मानजनक तथा गुट-निरपेक्षता पर आधारित मैत्री सन्धि, पाक शत्रुता का मुँह तोड़ उत्तर आदि कार्यों द्वारा उन्होंने भारत के राष्ट्रीय हितों की कुशलता से रक्षा की। शिमला-समझौते द्वारा उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का बिलकुल समर्थक नहीं है तथा पड़ौसी देशों के साथ और विश्व के हर राष्ट्र के साथ मैत्री का इच्छुक है।

भारत उन गिने-चुने देशों में से था जिन्होंने शुरू से ही कम्बोडिया और वियतनाम के मुक्ति-आन्दोलनों का समर्थन किया था। ऐसा करते हुए भारत ने अमेरिका तथा कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की अप्रसन्नता भी मोल ली, लेकिन बदले में उसे दक्षिणी एशिया की जनता से जो सद्भावना प्राप्त हुई वह कुछ कम नहीं थी। अब कम्बोडिया का गृह-युद्ध समाप्त हो चुका है, वियतनाम से अमेरिका पलायन कर चुका है और उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम का एकीकरण हो चुका है। सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों का अधिकाधिक दृढ होते जाना भारत की विदेश नीति की आश्चर्यजनक सफलता है। वास्तव में भारत का विकास सोवियत विदेश नीति का भी एक आवश्यक अंग बन गया है। सोवियत रूस चाहता है कि एशिया में चीन एकमात्र महाशक्ति न रहे। उसका मुकाबला करने के लिए कम से कम एक देश का होना जरूरी है। सोवियत नेता इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हैं कि यह देश केवल भारत ही हो सकता है, और इसीलिए न केवल यान्त्रिकी के क्षेत्र में बल्कि वाणिज्य, उद्योग तथा अन्य क्षेत्रों में भी सोवियत रूस भारत की सहायता कर रहा है। यह कहना गलत होगा कि भारत ने इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। सोवियत रूस से सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी प्रभुसत्ता को दाव पर नहीं लगाया है।

गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की व्यापक पृष्ठभूमि में भारत ने अपने पड़ौसी देशों के साथ तथा विश्व के अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने में सफलता प्राप्त की है। चीन और पाकिस्तान के प्रति भी भारत का रवैया बहुत ही रचनात्मक रहा है। उसके फलस्वरूप 1976 से दोनों देशों के साथ पुन: कूटनीतिक सम्बन्ध कायम हो सके हैं। पड़ौसियों के प्रति भारत की नीति का लक्ष्य सदैव यही रहा है कि परस्पर विश्वास, समझ-बूझ और सहयोग के आधार पर उनके साथ घनिष्ठ मैत्री, सम्बन्ध विकसित किए जाएं। भारत ने विश्व के सभी भागों में राष्ट्रवादी शक्तियों की विजय का सदैव स्वागत किया है। इसी प्रकार कोरिया और वियतनाम के एकीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए स्वागत-योग्य रही है। भारत का निश्चित मत है कि विकासशील राष्ट्रों के सहयोग न केवल वृहत्तर आत्म-विश्वास के लिए अनिवार्य हैं बल्कि बड़े राष्ट्रों के उन दवाव का मुकाबला करने के लिए भी आवश्यक हैं जो विकासशील देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने

के लिए डाला जा रहा है ताकि विश्व के विभिन्न भागो मे उनके अपने हित अधिकाधिक विस्तृत हो सके। विकासशील देश आत्मविश्वास, सहयोग और विकास के माध्यम से ही शान्ति और स्थिरता की दिशा मे अपना योगदान दे सकते है और तभी वे एक ऐसी नई आर्थिक व्यवस्था की स्थापना मे सहायक हो सकते हैं जो विश्व के सभी राष्ट्रो के बीच सहयोग और मित्रता के आधार पर स्थित हो।

मार्च, 1977 मे श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व मे जनता पार्टी ने सत्ता सम्भाली। नई सरकार ने भारत के बुनियादी हितो को ध्यान मे रखते हुए विदेश नीति मे मौलिक परिवर्तन नही किया। नई सरकार ने भारत-रूस मैत्री के समर्थन द्वारा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को यथावत् कायम रख कर रूसी शासको को आश्वस्त कर दिया। अमेरिका के प्रति विगत वर्षों का सम्बन्ध-शैथिल्य टूटना शुरू हुआ और चीन के साथ भावी सम्बन्ध स्थापना के बारे में सावधानीपूर्वक कदम उठाने की तैयारी की गई। किसी भी देश की विदेश नीति वस्तुत उसके मूल राष्ट्रीय हितो और आकांक्षाओ के अनुकूल होती है और भारत भी अपने व्यवहार मे यही कर रहा है। बगलादेश के साथ गगाजल पानी के विवाद के हल मे भारत ने जो उदारता दिखाई वह पड़ोसी देशों के प्रति उसकी सहयोगी नीति का उदाहरण थी।

जनवरी, 1980 मे श्रीमती गांधी के पुन सत्तारूढ होने के बाद देश की विदेश नीति और भी प्रभावी हुई। श्रीमती गांधी के प्रयत्नो से महाशक्तियो, बडी शक्तियो और अन्य राष्ट्रो ने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर भारत के रूप को ज्यादा अच्छी तरह समझा। श्रीमती गांधी की अमेरिका-यात्रा ने भारत के प्रति अमेरिका की गलतफहमियो को बहुत कुछ दूर किया और उनकी सोवियत सघ की यात्रा ने दोनों देशो की मैत्री को और मजबूत बनाया। श्रीमती गांधी के प्रधान-मन्त्रित्व काल मे भारत गुट-निरपेक्ष देशो के आन्दोलन का अध्यक्ष चुना गया और भारत ने सयुक्त राष्ट्र की विभिन्न संस्थाओ और निकायो का प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् मे भारत की विदेश नीति की छाप स्पष्ट परिलक्षित होने लगी।

31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गांधी की निर्मम हत्या के बाद भारत का नेतृत्व श्री राजीव गांधी के हाथो मे आया और उन्होने भारत की विदेश नीति को उसके परम्परागत आधारो पर बनाए रखा है, अफ्रो-एशियाई देशो तथा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे गहरी दिलचस्पी ली, तथा सोवियत सघ के साथ भारत की मैत्री को मजबूत बनाने के साथ-साथ अमेरिका के साथ सम्बन्ध सुधारने की भरपूर चेष्टा की है।

विदेश नीति की सफलता की सबसे बडी कसौटी है उसके द्वारा राष्ट्र की शक्ति मे वृद्धि। निश्चय ही भारत पिछले चालीस वर्षों मे शक्ति की दिशा मे अग्रसर हुआ है और आज वह एक ठोस आधार पर खडा है।

---

4 चीन की विदेश नीति

(The Foreign Policy of China)

साम्यवादी चीन अथवा चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना 1 अक्तूबर, 1949 को हुई। च्यांग-काई-शेक और उसका राष्ट्रवादी दल चीन के गृह युद्ध में साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका ने च्यांग-काई-शेक को वर्षों तक भरपूर सहायता दी, लेकिन माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी सेना ने अमेरिका की मनोकामना पूरी नहीं होने दी। च्यांग-काई-शेक ने भाग कर चीन की मुख्य धरती से कुछ ही मील दूर फारमोसा द्वीप में शरण लेकर वहीं चीन की 'निर्वासित सरकार' स्थापित कर ली। अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी सरकार को अर्थात् राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। चीन की मान्यता का प्रश्न 1949 से 25 अक्टूबर, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विवादास्पद विषय बना रहा। वास्तव में दो चीन की स्थिति कायम रही। दुनिया के लगभग 35 राज्यों की मान्यता साम्यवादी चीन को प्राप्त थी और 42 देश च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता देते थे। भारत ने प्रारम्भ से ही एक चीन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी थी। आखिर 26 अक्टूबर, 1971 को दो चीन वाली यह स्थिति समाप्त हो गई। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी (ताइवान या फारमोसा) सरकार के स्थान पर जनवादी (साम्यवादी) सरकार के प्रतिनिधि मण्डल को चीन का वैधानिक प्रतिनिधि मानने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 22 वर्ष का वह संघर्ष समाप्त हो गया जो चीन की साम्यवादी सरकार को संयुक्त राष्ट्र में चीन का प्रतिनिधि बनाने के लिए चल रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन का रुख सदा आक्रामक रहा, पर माओ की मृत्यु के बाद नया नेतृत्व उदार होता गया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्यवादी चीन के उदय के परिणाम

चीन में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की घटना थी जिसने सम्पूर्ण विश्व-राजनीति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया और उन

परिवर्तनो को जन्म दिया जो विश्व-राजनीति को लम्बे समय तक प्रभावित करते रहेगे—

प्रथम, स्वय चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भारी प्रभाव पडा है। साम्यवादी क्रान्ति मे पूर्व भी यद्यपि चीन को पाँच बडी शक्तियो मे स्थान प्राप्त था, तथापि सही अर्थों मे वह एक बडी शक्ति नही था। साम्यवादियो के नेतृत्व मे एक सुसगठित और शक्तिशाली चीन का उदय हुआ जो आज न केवल एक बडी शक्ति है बल्कि अमेरिका और रूस के बाद तीसरी महाशक्ति भी गिना जाने लगा है।

दूसरे, साम्यवादी चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे एक नया शक्ति-सन्तुलन स्थापित कर लिया है। जिधर वह झुक जाए, सन्तुलन का पलडा उधर ही झुक जाएगा। चीन के समक्ष भारत ही एक ऐसी शक्ति है जो चीन-विरोधी पक्ष के साथ मिलकर शक्ति-सन्तुलन के दोनो पलडो को बहुत कुछ बराबर ला सकता है। आज जबकि चीन सोवियत सघ का प्रतिद्वन्द्वी बनकर अमेरिका की ओर दोस्ती का हाथ बढा रहा है, भारत का एक सन्तुलनकारी शक्ति के रूप मे विशेष महत्त्व हो गया है।

तीसरे, साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप पश्चिमी देशो की नीति मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और चीन की शक्ति तथा प्रभाव आज भी उनकी नीति मे नित नए मोड लाने मे सहायक है। लाल चीन के उदय के उपरान्त साम्यवाद के बढते हुए प्रभाव को रोकने के लिए ही अमेरिका ने ताइवान अथवा फारमोसा मे च्यांग की राष्ट्रवादी सरकार की रक्षा का उत्तरदायित्व सम्भाला, एशिया मे साम्यवादी-अवरोध की नीति पर आचरण शुरू किया और गैर-साम्यवादी तत्त्वो को अधिकाधिक आर्थिक तथा सैनिक सहायता दी। साम्यवादी चीन के उदय से सोवियत गुट के शक्ति-सन्तुलन का जो पलडा झुक गया उसी से चिन्तित होकर साम्यवाद विरोधी प्रादेशिक सुरक्षा सगठनो की स्थापना के मार्ग का अनुसरण किया गया। चीन और रूस के बीच मतभेदो तथा प्रतिद्वन्द्विता का लाभ उठाते हुए अमेरिकी गुट का सर्वोपरि लक्ष्य यही है कि चीन को तोड कर पूरी तरह अपने पक्ष मे कर लिया जाए। पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के सुदृढ और सबल होने की आशका से रूस का चिन्तित हो उठना और फलस्वरूप भारत की मैत्री के महत्त्व को अधिकाधिक अनुभव करना स्वाभाविक है।

चौथे, लाल चीन के उदय ने अमेरिका और उसके साथी-राष्ट्रो के बीच कुछ मतभेद भी पैदा कर दिए, जो अब कम हो गए हैं। अमेरिका ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया था जबकि ब्रिटेन, फ्रांस आदि ने अपने व्यापारिक लाभो के कारण उसे मान्यता प्रदान की और उसके साथ सम्पर्क बनाए। अत उनके और अमेरिका के बीच कुछ मन-मुटाव हो जाना स्वाभाविक था। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों से विवश होकर अमेरिका स्वय चीन की मैत्री के लिए लालायित है, अत चीन के सम्बन्ध मे जो मतभेद पैदा हुए थे वे शिथिल पड गए है।

पांचवें, चीन मे साम्यवादियो की विजय सोवियत संघ के लिए वरदान और अभिशाप दोनो ही सिद्ध हुई है। वरदान इसलिए कि इससे जनसंख्या, साधन-स्रोत और सैन्य-शक्ति की दृष्टि से साम्यवादी जगत् अत्यधिक शक्ति-सम्पन्न हो गया और विश्व मे शक्ति-सन्तुलन स्थापित हुआ। अभिशाप इसलिए कि माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व मे चीन सोवियत संघ का घोर प्रतिद्वन्द्वी बन गया और आज सैद्धान्तिक संघर्ष की आड मे दोनो देश शक्ति-संघर्ष के भय से आशंकित है। 1949 तक सोवियत संघ साम्यवादी जगत् का एकछत्र असंदिग्ध नेता था और विश्व के सभी साम्यवादी देश उसके अनुयायी थे, लेकिन साम्यवादी चीन के उदय ने रूसी नेतृत्व को चुनौती दी है।

छठे, चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने एक ओर तो एशिया तथा अफ्रीका मे राष्ट्रवादी शक्तियो को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर एशियाई एकता के विकास मे बाधा पहुँचाई। चीन का नेतृत्व 'फूट डालो और अपना उल्लू सीधा करो' की नीति मे विश्वास रखता है। चीन भारत को अपना मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मानकर इस नीति पर चल रहा है कि एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों मे भारत-विरोधी वातावरण पैदा करे। भारत उपमहाद्वीप मे शान्ति की स्थापना मे चीन की कोई रुचि नही है, इसलिए वह पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देकर भारत के विरुद्ध उकसाता रहता है।

सातवें, चीन न केवल साम्यवादियो के लिए बल्कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशो के लिए साम्यवादी सिद्धान्त और कुटिल दावपेचो के विकास का परीक्षण स्थल बन गया है।

आठवें, साम्यवादी चीन के उदय का पूर्वी एव दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति पर सबसे अधिक प्रभाव पडा है। चीन स्वय को पूर्ण रूप से एक महाशक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित देखना चाहता है और इसके लिए उसने संघर्ष तथा दबाव नीति का मार्ग चुना है। सुदूरपूर्व मे जो संघर्ष है वह बहुत कुछ चीन की महत्त्वाकांक्षा का भी परिणाम है। चीन मे साम्यवाद के उदय ने एशिया मे चीन और अमेरिका को तथा अब चीन, अमेरिका और रूस को एक-दूसरे का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना दिया है जिससे यह प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय नीति का विस्फोटक केन्द्र बना हुआ है।

1921 मे जनरल स्मट्स ने कहा था—"विश्व-राजनीति का रंगमंच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर मे पहुँच गया है।" ये शब्द सम्भवतः उस समय सत्य नही थे, लेकिन साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप विश्व-राजनीति मे उत्पन्न परिवर्तनो से आज सत्य सिद्ध हो रहे हैं।

साम्यवादी चीन की विदेश-नीति के आधारभूत तत्त्व

साम्यवादी चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे जो नीति अपनाई है उसे भली प्रकार तभी समझा जा सकेगा जब हम चीनी विदेश नीति के सैद्धान्तिक आधार को समझ लें और इस बात से परिचित हो जाएं कि वह किन तत्त्वों, साधनों और लक्ष्यो पर आधारित है।

आधारभूत तत्त्व

साम्यवादी विचारधारा—रूस की भाँति चीन की विदेश नीति भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों से पूर्णतः प्रभावित है। ल्यूशाओची के शब्दों में, 'हमारी असफलताएँ मार्क्सवाद-लेनिनवाद की नवीन पुष्टियाँ और नवीन सफलताएँ हैं।" साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, पूँजीवाद का साम्राज्यवादी रूप आदि से चीन की विदेश नीति पर्याप्त प्रभावित है, इसलिए एशिया एवं अफ्रीका में साम्यवाद के प्रसार को चीन अपना उत्तरदायित्व मानकर व्यवहार कर रहा है। चीनी नेताओं का विश्वास है कि विजय की प्राप्ति के लिए किसी एक ओर झुकना होगा—साम्राज्यवाद की ओर अथवा समाजवाद की ओर तटस्थता तो केवल धोखा है, तीसरा मार्ग पाया ही नहीं जाता। माओ-त्से-तुंग ने मार्क्स लेनिन के सिद्धान्तों को चीनी संस्करण का रूप दिया, उनका चीन के इतिहास और उसकी समस्याओं के समाधान में उपयोग किया। माओ की मान्यता रही कि मार्क्सवाद निराधार नहीं है बल्कि ठोस रूप में है जिसे राष्ट्रीय रूप में ग्रहण किया जाना तथा देशकालीन परिस्थितियों की अनुरूपता के सन्दर्भ में अपनाया जाना चाहिए। राज्य शासक वर्ग के हाथ में दमन का एक साधन है।

राष्ट्रीय हित—चीन की विदेश नीति में सिद्धान्त तथा राष्ट्रीय हित साथ-साथ चलते हैं। सिद्धान्त राष्ट्रीय हित को प्रभावित करते हैं और राष्ट्रीय हित के अनुसार ही सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है। चीनी नेतृत्व के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति-स्तर (Power-status) में वृद्धि होता है। माओ की स्पष्ट धारणा रही कि जो देश चीन को महान् शक्ति न माने उसे मानने के लिए बाध्य किया जाए अथवा कोई बड़ी शक्ति उसे अपने समान न समझे तो उसको इसका पाठ पढ़ाया जाए। शक्ति की प्राप्ति और अभिवृद्धि के लिए साम्यवादी चीन किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं मानता।

पूँजीवाद का विरोध—चीन की विदेश नीति पूँजीवादी देशों के साथ घोर प्रतिद्वन्द्विता की है। माओ पूँजीवाद के विनाश पर साम्यवाद का महल खड़ा करना चाहता था। विश्व के देशों में राष्ट्रवादी तत्त्वों को उभारकर वहाँ साम्यवादी क्रान्ति के उपयुक्त वातावरण बनाना चीन की विदेश नीति का मूल सिद्धान्त है जो माओ के बाद भी जीवित है।

माओ का अनुगमन—अपने जीवनकाल में माओ चीन की सम्पूर्ण नीतियों का निर्माता और संचालक रहा और उनकी सीख को चीन शायद ही कभी भूल सकेगा। माओ ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद की नीतियों की व्याख्या की, चीन के साहित्य और कला के आदर्श एवं स्तर निर्धारित किए तथा सभी राजनीतिक-सैनिक आर्थिक कार्रवाइयाँ उसी के नाम से प्रचारित होती रहीं। माओ के नेतृत्व में चीन द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई हैं वे शायद ही किसी अन्य नेता के नेतृत्व में अपनाई जा सकती थीं। माओ का यह अभिमत चीनी विदेश नीति का केन्द्र-बिन्दु है कि राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से प्रादुर्भूत होती है। आणविक आयुधों से भी

माओ के अनुयायियों को भयभीत न होने की शिक्षा दी गई है। माओ का कहना था कि इन आयुधों के प्रयोग के बाद भी इतनी बड़ी संख्या में चीनी बच जायेंगे कि वे अपने स्वप्न की पूर्ति द्वारा एक उत्कृष्ट सभ्यता का सृजन कर सकेंगे। माओ ने विदेश नीति को लचीला बनाया ताकि परिस्थितियों के अनुसार उसे ढाला जा सके इसलिए चीन की विदेश नीति में कभी एकरूपता या स्थायित्व नहीं रहा है।

राष्ट्रवादिता–चीन की विदेश नीति राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत है। साम्यवादी चीन को अपने देश की प्राचीन सभ्यता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का गर्व है जिसकी पुनः प्राप्ति के लिए वह हर बलिदान के लिए तैयार है। माओ ने 1949 में कहा था—"हमारा राष्ट्र अब कभी भी अपमानित राष्ट्र नहीं होगा, हम उठ खड़े हुए हैं।" उग्र राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन की नीति दूसरे देश की नीति से मेल नहीं खाती।

चीनी विदेश नीति के साधन

साम्यवादी चीन विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का आकांक्षी है। जिस किसी भी भू-भाग पर चीन का कभी अस्थायी या नाममात्र का भी अधिकार रहा था, उसे वर्तमान चीन अपना 'खोया हुआ भाग' मानता है। चीन की विदेश नीति के साधन नैतिक सीमाओं से प्रतिबद्ध नहीं हैं, अपने लक्ष्यों को पाने के लिए चीन कोई भी साधन अपनाने में संकोच नहीं करता। चीनी विदेश नीति के मुख्य साधन ये है—

1. युद्ध एवं हिंसा—माओ ने लिखा है—"हम साम्यवादी युद्ध को सर्वव्यापक मानते हैं। युद्ध अनुचित होकर भी मार्क्सवादी होने पर सर्वथा उचित हो जाता है। माओ की सीख है कि सारा संसार बन्दूक की सहायता से ही बदला जा सकता है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति क्रान्ति के विरुद्ध तथा संशोधनवाद की प्रतीक है।

2 लम्बे संघर्ष की योजना—चीन के साम्यवादी नेताओं के अनुसार विश्व में साम्यवाद के प्रसार के लिए संघर्ष की योजना का अनुसरण करना होगा। यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित है, लेकिन इसकी व्याख्या माओ की अपनी है। माओ का मत है कि पूँजीवादी देशों में दृढ़ निश्चय और साहस नहीं होता, अतः जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देखकर लम्बा संघर्ष छेड़ा जाएगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। साम्यवादी राष्ट्रों के पीछे सिद्धान्त का बल होता है और राजनीति का अवलम्बन, इसलिए पूँजीवादी देशों में तोड़-फोड़ कर सकते हैं। लम्बे संघर्ष की योजना के अधीन पश्चिमी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और दूसरे देशों में साम्यवादी दलों की सहायता की जाती है।

3 साम्यवादी प्रचार—माओ चीन की विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विश्व के सभी गैर-साम्यवादी देशों में—विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप में साम्यवादी प्रचार का पक्ष-पोषक रहा है और नए नेतृत्व का

दृष्टिकोण भी कुछ विपरीत प्रतीत नही होता। माओ का कहना था कि विश्व के साम्यवादी आन्दोलन चीन को आदर्श मानकर सशस्त्र रूप धारण कर लेंगे।

4. सैनिक सहायता कार्यक्रम—साम्यवाद की स्थापना के लिए चीन दूसरे देशों को सैनिक सहायता देने का पक्षधर है, लेकिन उसे यह भरोसा होना चाहिए कि उस समय देश के लक्ष्य लगभग वही हैं जो स्वय चीन के हैं तथा चीनी सहायता की प्रतिक्रिया स्वरूप यथासम्भव किसी बड़े देश का मुकाबला न करना पड़े और सहायता से चीन की सुरक्षा को खतरा पहुँचने की सम्भावना न हो।

5 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व—इस साधन का उपयोग प्राय लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए किया जाता है। चीनी नेताओं ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति की व्याख्या इस प्रकार की है कि वे समय के अनुकूल युद्ध और शान्ति दोनों ही मार्ग अपनाने के लिए स्वतन्त्र हैं।

6 दोहरी नीति—चीन की विदेशी नीति पर विचारधारा और राष्ट्रीय हित इन दो तत्वों का विशेष प्रभाव है जिनमें असन्तुलन पैदा हो जाने अथवा सामञ्जस्य न रहने पर जो नीति बन जाती है उसका अनुमान चीन और रूस के सम्बन्धों को देखकर लगाया जा सकता है। इन दोनों देशों की नीति एक ही साथ सहयोग और प्रतिस्पर्द्धा की है। दोनों ही देश साम्यवाद का प्रसार करना चाहते हैं और दोनों ही पूँजीवाद के शत्रु हैं लेकिन दोनों ही के हित परस्पर विरोधी हैं। चीन रूसी नेतृत्व का अनुचर नही रहना चाहता। नेतृत्व की होड़ व्यापक राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अत्यधिक संघर्षपूर्ण हो गई है और दोनों साम्यवादी राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध तोड़-फोड़ के कूटनीतिक दाँव-पेच खेल रहे हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर भी सहयोग-असहयोग का विचित्र संघर्ष है। रूस की वर्तमान विदेश नीति चीनियों की दृष्टि मे सशोधनवादी, बुर्जुआवादी तथा प्रतिक्रियावादी है पर यह समझ मे नही आता कि चीन फिर स्वय अमेरिका की ओर मित्रता का हाथ क्यों बढाने लगा है।

चीनी विदेश नीति के लक्ष्य या उद्देश्य

सितम्बर, 1949 मे जन-परामर्श सम्मेलन मे साम्यवादी चीन की विदेश नीति का निरूपण इन शब्दों मे किया गया—

"चीनी गणराज्य की विदेश नीति का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता व प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना, स्थायी विश्व शान्ति को सुरक्षित रखना, विभिन्न राज्यों मे मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण व युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना है। चीनी गणराज्य विदेशों मे बसने वाले चीनियों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए भरसक प्रयास करेगा। वह उन सभी लोगों को राजनीतिक शरण प्रदान करेगा जो जन-हित, शान्ति तथा जनतन्त्र के लिए सचालित संघर्ष में भाग लेने के कारण अपनी सरकारों द्वारा पीड़ित हों।"

जब 1 अक्तूबर, 1949 को चीन की साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो विदेश नीति के ये लक्षण घोषित किए गए—(1) चीन की स्वतन्त्रता और

अखण्डता की रक्षा करना, (2) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सब देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिए प्रयत्न करना, (3) उन विदेशी सरकारों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना जो राष्ट्रवादी चीन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुकी हों; (4) साम्राज्यवादियों और विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष में साम्यवादी देशों का साथ देना, एवं (5) प्रवासी चीनियों के हितों और अधिकारों की रक्षा करना, आदि।

चीनी विदेश नीति के उपर्युक्त सभी लक्ष्य बड़े आकर्षक है, लेकिन इनकी व्याख्या चीन स्वेच्छाचारी विस्तारवादी दृष्टि से करता है जिसका कोई भी शान्तिप्रिय राष्ट्र स्वागत नहीं करेगा। स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा से अभिप्राय है कि साम्यवादी चीन उन भागों पर अपना ही अधिकार मानता है जिन पर अधिराष्ट्रीय सरकार का अधिकार है। वे भाग जिन पर चीन का अधिकार था और जो कालान्तर में चीन से पृथक् हो गए तथा जिन्हें राष्ट्रीय सरकार वापस नहीं ले सकी, उन्हें भी चीन अपना मानता है। चीन सुदूरपूर्व मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशियायी क्षेत्रों में साम्राज्यवादी आन्दोलनों को प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन देकर विस्तारवाद आकांक्षाओं को पूरा करना चाहता है। भारतीय जनतन्त्र को वह अपने मार्ग में बाधा समझता है और उसके शत्रुओं को अपना मित्र। वह भारत और बर्मा द्वारा नियन्त्रित सीमावर्ती क्षेत्र तथा मंगोलिया और कोरिया पर अपना अधिकार चाहता है। उसने मेकमहोन रेखा को मान्यता न देकर भारत के साथ सीमा-संघर्ष छेड़ रखा है। अपनी विदेश नीति में साम्यवादी चीन ने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की बात कही है। इस सम्बन्ध में चीन का विशेष मन्तव्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में स्थायित्व तभी आ सकता है जबकि विश्व में साम्राज्यवाद की समाप्ति और साम्यवाद की स्थापना हो जाए और इस उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र उपाय युद्ध है। मैत्रीपूर्ण भावना वाले देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की नीति से साम्यवादी चीन का आशय यह है कि गैर-साम्यवादी देशों में अस्थायी मित्रता स्थापित कर साम्राज्यवादी देशों की शक्ति को कमजोर किया जाए। अन्तिम रूप में चीनी विदेश नीति का लक्ष्य विश्व में साम्यवादी चीन के एकछत्र नेतृत्व की स्थापना है। इस दिशा में चीन रूस का कठोर प्रतिद्वन्द्वी है। चीन की विदेश नीति में प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा का भी उल्लेख है। चीन, मलाया, सिंगापुर, थाईलैंड, कम्बोडिया, दक्षिण वियतनाम उत्तर वियतनाम, इण्डोनेशिया, बर्मा, लाओस आदि देशों को, प्रवासी चीनियों के साथ दुर्व्यवहार करने के आरोप में आतंकित करता रहा है। किन्तु इसके विपरीत ये प्रवासी उन देशों को खतरा पैदा किए हुए है जहाँ वे रह रहे हैं।

चीन की विदेश नीति की व्याख्या के उपरान्त हमें उन लक्ष्यों पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा जिनकी पूर्ति के लिए आज चीन प्रयत्नशील है। ये लक्ष्य अग्र प्रकार हैं—

1. सम्पूर्ण एशिया में साम्यवाद का प्रसार रूसी ढंग का न होकर चीन प्रणाली का हो।

2 हिंसा, छल, बल और कौशल द्वारा साम्यवादी चीन की सीमाओं का अधिकाधिक विस्तार किया जाए और एशिया में पूर्वी यूरोपीय ढंग के कठपुतली राष्ट्रों की स्थापना की जा सके।

3. एशिया के समस्त देशों पर प्रभावशाली राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया जाए।

4 सम्पूर्ण एशिया और सुदूरपूर्व में महाशक्तियों का प्रभाव समाप्त कर दिया जाए ताकि उसकी (चीन की) सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में कोई बाधा न पड़े।

5 एशिया ही नहीं अपितु समस्त विश्व का एकछत्र साम्यवादी नेता बनने की दिशा में हर उपाय से आगे बढ़ा जाए, चाहे इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे सोवियत संघ से ही संघर्ष क्यों न मोल लेना पड़े। रूस-चीन अन्तर्विरोध का यही एक मुख्य कारण है।

6 सेना को आधुनिकतम और आणविक अस्त्रास्त्रों एवं सैनिक उपकरणों से सुसज्जित करके तथा चीन की राष्ट्रीय शक्ति का सैनिक आधार पर पूर्णतः गठन करके उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त किया जाए।

7 एशिया में प्रभुत्व की स्थापना के लिए भारत को घेरने की नीति अपनाई जाए और इस दृष्टि से भारत के पड़ौसी राज्यों को पूरी तरह अपने पक्ष में किया जाय। पाकिस्तान के साथ पूरा सैनिक गठबन्धन करने में तो चीन सफल हो ही चुका है।

चीनी विदेश नीति की प्रधान अवस्थाएँ
(Main Stages of China's Foreign Policy)

साम्यवादी चीन की विदेश नीति पर टिप्पणी करते हुए डाक बार्नेट ने ठीक ही लिखा है कि—"पेकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी-चुपड़ी बातों अथवा दबावों की नहीं रही। इसमें प्रलोभन, धमकी और तोड़-फोड़ का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रण रहा है।" चीन अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार कभी एक तत्त्व पर तो कभी दूसरे तत्त्व पर विशेष बल देता रहा है। उसका मूलभूत उद्देश्य यही रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों को अधिकाधिक अपने अनुकूल बनाकर उनका भरपूर लाभ उठाया जाए और अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया जाए। इस दृष्टि से चीनी विदेश नीति अभी तक चार प्रधान अवस्थाओं में होकर गुजरी है, चौथी अवस्था जारी है—

(1) आन्तरिक पुनर्गठन एवं उग्र नीति का युग (1949–1953)
(2) उदारतावादी युग (1954–1959)

(3) नया उग्रवादी एव क्रान्तिकारी युग (1959–1969)

(4) सहयोग और मैत्री की नई कूटनीति का काल (1970 से अब तक)

प्रथम युग : आन्तरिक पुनर्गठन का युग (1949–1953)

इस युग मे चीन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति देश की आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ करने मे लगा दी। इस अवधि मे उसकी विदेश नीति कठोर और उग्र रही—विशेषकर पश्चिमी राष्ट्रो के प्रति। चीन ने सर्वप्रथम दिसम्बर, 1949 मे सोवियत संघ से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किए और तत्पश्चात् उसके साथ विभिन्न मैत्रीपूर्ण सुरक्षा एव पारस्परिक सहायता सम्बन्धी तथा आर्थिक सन्धियाँ सम्पन्न की। चीनी नेताओ ने सोवियत सहायता से विश्व के अन्यान्य देशो मे, विशेषकर अफ्रो-एशियायी राष्ट्रो मे साम्यवाद के प्रसार का बीडा उठाया। इसी उद्देश्य से नवम्बर, 1949 मे ट्रेड-यूनियनो के विश्व-संघ के तत्वावधान मे पेकिंग मे एशिया और आस्ट्रेलिया के देशो का ट्रेड-यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। इसमे उपर्युक्त महाद्वीपो के वामपंथी श्रमिक नेता सम्मिलित हुए। सम्मेलन मे श्री ल्यू-शाओ-ची द्वारा यह घोषणा की गई कि इस सम्मेलन को सम्पूर्ण एशिया मे राष्ट्रीय मुक्ति-संग्रामो का समर्थन करना चाहिए। श्री ल्यू-शाओ-ची ने वियतनाम, बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, फिलीपाइन आदि के मुक्ति-संघर्षो की ओर संकेत करते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधियो को उपदेश दिया कि—"चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भागो मे क्रान्ति का प्रसार किया जाना चाहिए।" चीनी नेता ने चीनी जनता के पथ का स्वरूप भी स्पष्ट किया। उसने इस सम्बन्ध मे चार बातो पर विशेष बल दिया—(i) श्रमिक वर्ग को साम्राज्यवाद-विरोधी सभी दलो और संगठनो के साथ मिल जाना चाहिए, (ii) श्रमिक वर्ग को केन्द्र बनाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी संयुक्त मोर्चा स्थापित किया जाना चाहिए और इसका केन्द्र साम्यवादी दल होना चाहिए, (iii) साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष मे सफलता प्राप्त करने के लिए मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तो से पूर्णतया परिचित और जनता से घनिष्ठतम सम्बन्ध रखने वाला साम्यवादी होना आवश्यक है, एव (iv) साम्यवादी दल के नेतृत्व मे शत्रुओ से लड़ने के लिए राष्ट्रीय सेना का संगठन भी किया जाना चाहिए।

आन्तरिक पुनर्गठन की दिशा मे चीनी साम्यवादियो ने दो उद्देश्यो पर विशेष बल दिया—चीन से विदेशी प्रभाव को पूर्णतः समाप्त कर देना और चीन का एकीकरण कर सब चीनी प्रदेशो को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाना। इस समय मे ही चीनियो ने रूसियो को छोडकर पाश्चात्य देशो के अन्य सभी लोगो को चीन से निकालना आरम्भ कर दिया। चीन के एकीकरण के लिए 'चीनी प्रदेशो' को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से 1950 मे पेकिंग द्वारा तिब्बत पर आक्रमण और कोरिया युद्ध मे हस्तक्षेप किया गया, तथापि कतिपय कारणो से चीन ने अपनी युद्ध-नीति मे परिवर्तन वांछनीय समझा। पहला कारण व्यापारिक प्रतिबन्धो से उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयाँ थी। इन्हे हल करने के लिए अप्रेल, 1952 मे मास्को

मे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिससे साम्यवादी देशों का गैर-साम्यवादी देशो के साथ व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ। दूसरा कारण 1952 की स्टालिन की यह घोषणा थी कि—"पूँजीवाद और साम्यवाद का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है।" अपने एक लेख मे स्टालिन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि समाजवाद के प्रसार के साथ-साथ पूँजीवादी देशो की मण्डियाँ कम हो रही हैं। परिणामत पूँजीवादी विश्व नाना सकटो और सघर्षों का शिकार बनेगा और अन्तत समाजवाद से पराजित होगा, अत साम्यवादियो को पश्चिम के साथ आर्थिक प्रतियोगिता करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बिना युद्ध किए ही पूँजीवाद की इतिश्री हो जाएगी। तीसरा कारण चीन द्वारा यह अनुभव किया जाना था कि एशिया में सयुक्तराज्य अमरिका की शक्ति का विस्तार हो रहा है। चौथा कारण कोरिया-युद्ध के कारण चीन की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ना था। अपनी पचवर्षीय योजनाओ के सफल सचालन के लिए दूसरे देशों का सहयोग अपेक्षित था और इसके लिए उदार नीति अपनाना अधिक उचित था। इन्ही सब कारणों से प्रभावित होकर साम्यवादी चीन के प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् के सम्मुख भी उपस्थित हुए और उन्होने 1951 से 1953 तक कोरिया मे युद्ध-विराम सम्बन्धी वार्ताएँ की।

1949 से 1953 तक की अवधि मे साम्यवादी चीन ने विदेश नीति के क्षेत्र में प्रधानत रूस का अनुसरण किया। उसका अपना कोई स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम नही था। रूस से मित्रता और अमेरिका से शत्रुता—ये दो बातें उनके सम्पूर्ण कार्यों का आधार रही।

द्वितीय युग उदारवादी युग (1954-1959)

यह युग 1954 से 1959 तक रहा, यद्यपि इसका श्रीगणेश 1952-53 में ही हो चुका था। चीन की उग्र और युद्धवादी क्रान्तिकारी नीति मे परिवर्तन की पहली सूचना पेकिंग मे अक्तूबर, 1952 में होने वाले एशियायी और प्रशान्त क्षेत्रीय शान्ति-सम्मेलन मे मिली। इसमे 1954 के ट्रेड-यूनियन-सम्मेलन के सर्वथा विपरीत क्रान्ति और हिंसा के स्थान पर शान्ति एव सह-अस्तित्व की चर्चा की गई। इस सम्मेलन ने सयुक्त राष्ट्रसघ से अनुरोध किया कि वह वियतनाम, मलाया एव अन्य देशों में युद्ध समाप्त कर सन्धि-वार्ता द्वारा न्यायपूर्ण समझौता कराने की दिशा में प्रयत्नशील हो। सम्मेलन मे चीनी प्रतिनिधि द्वारा घोषणा की गई कि विभिन्न सामाजिक पद्धतियों का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है। जून, 1953 में कोरिया की युद्ध-विराम-सन्धि से चीन की इस परिवर्तित नीति की पुष्टि हुई। 1954 मे चीन ने विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। इस वर्ष उसने जेनेवा सम्मेलन मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया और शान्तिवादी नीति का अनुसरण करते हुए 17वीं अक्षांश रेखा पर वियतनाम का विभाजन तथा लाओस और कम्बोडिया की पृथक् व्यवस्था स्वीकार कर ली। इस प्रकार चीन ने अपनी शान्तिवादिता का ढिंढोरा पीटा जबकि वास्तविकता यह थी कि उसने समझौता इसलिए स्वीकार

किया था कि इससे आधे वियतनाम के साम्यवादी राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो रही थी और इसे अड्डा बनाकर चीनी साम्यवाद आगे बढ़ सकता था। इस सम्मेलन में तत्कालीन चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ ने यह अनुभव किया कि विभिन्न सरकारों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और सन्धियों द्वारा चीन की शक्ति-वृद्धि के प्रयास करने चाहिए ताकि अवसर आने पर चीन उस शक्ति का अपने पक्ष में उपयोग कर सके। इस नीति का अनुसरण कर चीन ने सर्वप्रथम अप्रैल, 1954 में तिब्बत के बारे में सन्धि की और पचशील के सिद्धान्तों में 'हार्दिक' आस्था प्रकट की।

पश्चिमी राष्ट्रों ने चीन की नेकनीयती पर भरोसा नहीं किया और पचशील की घोषणा को कोरा प्रचार बताया। फिर भी एशिया के विभिन्न देशों को अपने शब्दजाल और अपनी कुशल कूटनीति द्वारा प्रभावित करने में चीन को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। कोरिया-युद्ध में अमेरिका को टक्कर देकर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में अपनी सैनिक शक्ति का आतंक वह पहले ही पैदा कर चुका था, अत: उन्हें शक्तिशाली चीन को अपना मित्र बना लेने में क्या सकोच हो सकता था। चीन को अपनी छद्मवेशी उदार नीति में सफलता इसलिए भी प्राप्त हुई कि चीन ने पश्चिमी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो जिहाद छेड़ा था उससे सभी एशियायी देशों को सहानुभूति थी क्योंकि वे सब उससे पीड़ित रह चुके थे। चीनी सफलता का एक और भी कारण था। कोरिया-युद्ध के बाद से ही संयुक्तराज्य अमेरिका साम्यवाद से सुरक्षा के लिए सैनिक-सन्धियों का जाल बुन रहा था और भारत जैसे देशों की मान्यता थी कि इन सैनिक-सन्धियों द्वारा 'शीत-युद्ध' को एशिया के इस भाग में लाया जा रहा है। चीन ने एशियायी राष्ट्रों की इस मनोदशा का पूरा लाभ उठाया। उसने पश्चिम द्वारा समर्थित सैनिक-सन्धियों और अड्डों के विरुद्ध आग उगली, पश्चिम की इस नीति को नवीन साम्राज्यवादी चाल की संज्ञा दी और शान्ति का क्षेत्र विस्तृत करने पर बल देते हुए विदेशों के साथ दौत्य सम्बन्ध विकसित करने प्रारम्भ किए। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में चीनी राजदूत प्रतिष्ठित हो गए। अप्रैल, 1955 में चीन ने बाँडुग-सम्मेलन में भाग लिया और एशिया तथा अफ्रीका के 29 राष्ट्रों के सम्मुख कूटनीतिज्ञता का प्रदर्शन करते हुए शान्तिवादी उदार नीति का समर्थन किया। बाँडुग-सम्मेलन में चाऊ-एन-लाई ने दो कार्यों से अपने राष्ट्र को शान्ति-प्रेमी सिद्ध करने में सफलता पाई— (i) प्रवासी चीनियों के बारे में इण्डोनेशिया के साथ सन्धि करके उसने एशियायी देशों को आश्वस्त किया कि उन्हें अपने यहाँ के चीनी प्रवासियों से आशंकित नहीं होना चाहिए, एवं (ii) ताइवान क्षेत्र में तनाव कम करने के लिए चाऊ ने सन्धि-वार्ता का प्रस्ताव रखा। बाँडुग-सम्मेलन के अवसर पर चीन की बहुत प्रशंसा हुई और बाद में 1958 तक चीन की शान्तिप्रियता का यह ढोंग बदस्तूर चलता रहा।

तृतीय युग नया उग्रतावादी युग (1959 से 1969 तक)

यह युग 1959 से प्रारम्भ हुआ, यद्यपि इसके लक्षण 1957 के उत्तरार्द्ध से ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। 1957 से ही पश्चिमी देशों के साथ-साथ एशियाई

देशो के प्रति भी चीनी व्यवहार में कठोरता आने लगी। नवम्बर में मास्को में बोल्शेविक क्रान्ति की 40वी वर्षगाँठ के अवसर पर ससार के सभी साम्यवादी दलो के सम्मेलन मे चीन की नवीन उग्र नीति का स्पष्ट सकेत मिला। माओ-त्से-तुग ने 18 नवम्बर के अपने भाषण मे पूर्व और पश्चिम के सघर्ष पर बल देते हुए चीन की नवीन नीति का सिहनाद इन शब्दों मे किया—"इस समय विश्व मे दो हवाएँ हैं—पूर्वी हवा और पश्चिमी हवा। चीन मे एक कहावत है 'यदि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी नही होगी तो पश्चिमी हवा पूर्वी हवा पर हावी हो जाएगी।' मेरे विचार मे वर्तमान स्थिति की यह विशेषता हैं कि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी है अर्थात् समाजवाद की शक्ति पूँजीवाद की शक्ति से अधिक है।"

अपनी नई उग्रवादी नीति का श्रीगणेश करते हुए चीन ने सर्वप्रथम उन मांगो का प्रबल विरोध किया जिनके अनुसार साम्यवादी नीति मे कुछ सशोधन होना चाहिए था। तत्पश्चात् 1958 के लेबनान-सकट मे चीन के तटवर्ती टापुओ के सकट मे तथा 1959 के लाओस-सकट में पेकिंग ने कठोर रुख अपनाया। 1959 से तो चीन की विदेश नीति मे अति स्पष्ट रूप मे एक नया मोड आया और वह अधिकाधिक उग्र, आक्रामक तथा साम्राज्यवादी बनती गई। 1959 मे अपने वचनो का उल्लघन कर चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता को नष्ट कर दिया और दलाईलामा को अपना देश छोड कर भागना पडा। इसी समय से चीन भारत के साथ सीमा-विवाद मे कठोर नीति का अनुसरण करने लगा और शनै-शनै भारतीय सीमा पर उसके अतिक्रमण बढते गए। 1959 मे ही श्री ख्रुश्चेव ने सयुक्तराज्य अमेरिका की यात्रा की जिसे चीनी नेताओं ने पसन्द नही किया और उनका दृष्टिकोण रूस के प्रति आलोचनात्मक हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे रूस अधिकाधिक शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का समर्थक बनता गया और चीनी दृष्टिकोण इस नीति तथा रूस का अधिकाधिक विरोधी होता गया। 1962 मे चीन के आक्रमण ने उसके साम्राज्यवादी स्वरूप को पूरी तरह उजागर कर दिया।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर, 1963 से एक नवीन कूटनीतिक अभियान छेड दिया। अफ्रीका महाद्वीप को क्रान्ति के लिए एकदम अनुकूल समझ कर वहाँ अपने प्रभाव का तीव्र गति से विस्तार करने के उद्देश्य से दिसम्बर, 1963 में चाऊ-एन-लाई ने विभिन्न अफ्रीकी देशों की 8 सप्ताह की यात्रा की। चीनी प्रधान मन्त्री सयुक्त अरब गणराज्य, अल्जीरिया, मलावी, ट्यूनीशिया, घाना, माली, गिनी, सूडान, इथोपिया, सोमालिया आदि देशो मे गए और फरवरी, 1964 मे बर्मा, पाकिस्तान और श्रीलका की यात्रा भी की। अपनी यात्रा के दौरान श्री चाऊ ने इस बात का भरसक प्रयास किया कि प्रथम तो इन देशो पर सोवियत व पश्चिमी प्रभाव क्षीण होकर चीनी प्रभाव मे वृद्धि हो जाए और दूसरे, भारत और रूस के साथ सीमा विवाद मे उसे इन देशो का समर्थन प्राप्त हो जाए, परन्तु 1965 के अन्त तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ ने चीन की विदेश नीति और नवीन कूटनीतिक अभियान की असफलताओ को उजागर कर दिया। वह अल्जीरिया मे

अफ्रेशियायी राष्ट्रों का बांडुग जैसा सम्मेलन बुलाने में असफल रहा। अफ्रीका में अपने शिष्य बेनबेल्ला द्वारा शासित अल्जीरिया में सम्मेलन का आयोजन कर माओ-त्से-तुग अफ्रेशियायी देशों पर चीन की धाक बैठाना चाहता था, परन्तु सम्मेलन आरम्भ होने से पहले ही बेनबेल्ला का पतन हो गया। सम्मेलन के आयोजन में सफलता पाने के उद्देश्य से चीन ने अल्जीरिया की नई सरकार का समर्थन किया परन्तु भारत आदि राष्ट्रों ने सम्मेलन को स्थगित करवा दिया। बेनबेल्ला के विरोधियों का समर्थन कर चीन ने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए चीन साम्यवाद की भी उपेक्षा कर सकता है। इससे अफ्रेशियायी देशों में उसे बदनामी मिली। पाकिस्तान के प्रति चीन की सहानुभूति की पोल भी उस समय खुल गई, जब भारत-पाक संघर्ष के समय चीन भारत को केवल धमकी देता रहा और इस तरह उसने पाकिस्तान की आशा को आघात पहुँचाया कि चीन भारत को गहरी क्षति पहुँचाकर पाकिस्तान के प्रति अपनी दोस्ती का सबूत देगा। चीन के इस ढंग से पाकिस्तान को मन ही मन बहुत अप्रसन्नता व निराशा हुई। इसके अतिरिक्त साम्यवादी देशों को भी इस बात से बड़ी ठेस पहुँची कि चीन अपने घोर शत्रु संयुक्तराज्य अमेरिका के पिट्ठू और उससे सैनिक सहायता पाने वाले पाकिस्तान का खुल्लम-खुल्ला समर्थन कर रहा था। 1965 में ही इण्डोनेशिया में चीन प्रेरित साम्यवादी क्रान्ति असफल हुई और इण्डोनेशियायी सेना ने साम्यवादियों का पूरी तरह दमन कर दिया। विश्व के साम्यवादी दलों में इण्डोनेशियायी साम्यवादी दल का एक विशिष्ट स्थान था। उसके अध पतन से विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को गहरा आघात पहुँचा और साथ ही पेकिंग-पिंडी-जकार्ता धुरी छिन्न-भिन्न हो गई। अफ्रेशियायी देशों में भी चीन का प्रभाव क्षीण हो गया और वे चीनी साम्यवाद के खतरे को समझने लग गए। दिसम्बर, 1965 में मलावी के प्रधानमन्त्री डॉ हेस्टिंग्स बाण्डा ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—

चीनी यह समझते हैं कि अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद की समाप्ति के कारण रिक्त स्थान की पूर्ति उन्हीं के द्वारा होनी है। पेकिंग के लोग चंगेजखाँ की कल्पना से भी बड़ा ऐसा साम्राज्य स्थापित करना चाहते है जिसमें सम्पूर्ण एशिया तथा अफ्रीका सम्मिलित हों तथा यदि जनता आपत्ति न करे तो इसमें यूरोप और अमेरिका भी सम्मिलित हों। जब मैं अफ्रीका के बारे में विचार करता हूँ तो मुझे रूसियों से उतना भय नहीं लगता जितना कि चीनियों से समय की गति के साथ रूसी नरम पड़ गए हैं, किन्तु चीनी नरम नहीं पड़े हैं।

अफ्रीका महाद्वीप में चीन तेजी से अपनी प्रतिष्ठा खोता गया और पेकिंग से कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद का क्रम आरम्भ हो गया। इसी बीच चीन तथा रूस के सम्बन्धों में भी काफी बिगाड़ आ गया। दोनों के मतभेद उग्र हो गए। चीन सोवियत संघ को संशोधनवादी और सोवियत संघ चीन को कट्टरपंथी कहकर एक-दूसरे को बदनाम करने लगे। वास्तव में साम्यवादी जगत् के नेतृत्व की होड़ शुरू हो गई क्योंकि चीन ने रूसी नेतृत्व अस्वीकार कर दिया। दोनों देशों में कटु सीमा-

विवाद भी उत्पन्न हो गए और मार्च, 1969 में सीमा पर सैनिक झड़पें भी हुईं। स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई कि दोनों देशों के सम्बन्ध विच्छेद के कगार पर पहुँच गए।)

चतुर्थ युग सहयोग और मैत्री की कूटनीति का युग (1970 से अब तक)

उग्रतावादी एवं क्रान्तिकारी युग में साम्यवादी चीन ने आतंक और तोड़-फोड़ की जिस विदेश नीति का अनुसरण किया उससे वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में काफी बदनाम हो गया और उसके दो पुराने मित्र भारत और रूस उसके विरुद्ध हो गए। चारों ओर से उसका विरोध होने लगा और वह लगभग अलग-थलग पड़ गया। चीन ने अपनी इस पृथकता की स्थिति को तोड़ने के लिए एशिया और अफ्रीका के छोटे देशों में अपने प्रभाव-विस्तार की चेष्टाएँ कीं, किन्तु उनमें भी वह लगभग असफल रहा। नासिर के नेतृत्व में अरब जगत् चीनी कूटनीति का शिकार होने से बचा रहा। अतः यह आवश्यक हो गया कि चीन अपनी विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन कर आतंक एवं तोड़-फोड़ के स्थान पर सहयोग, मैत्री एवं सह-अस्तित्व की नीति अपनाए—चाहे मौलिक रूप में उसका इनमें विश्वास नहीं था। 1970 के प्रारम्भ से ही चीन ने अपनी विदेश नीति का संचालन पुनः इस रूप में प्रारम्भ किया ताकि अधिकाधिक मित्र और समर्थन प्राप्त किया जा सके तथा पुरानी नीति के कारण विदेश नीति के स्वरूप में जो बिगाड़ पैदा हुए थे, उन्हें सुधार कर विश्व के देशों को अपनी 'सदाशयता' में विश्वास दिलाया जा सके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने कुछ ऐसी करवट ली कि चीन का मार्ग सुगम हो गया। राष्ट्रपति निक्सन के नेतृत्व में अमेरिका ने अपना चीन-विरोधी रवैया शिथिल कर दिया, चीन की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया तथा अमेरिकी सहयोग से रूसी नेतृत्व का मुकाबला करने के लिए चीन को आकर्षित किया। चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी प्रवेश मिल गया जिससे उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अधिक सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। सांस्कृतिक क्रान्ति की सफलता आर्थिक और सैनिक शक्ति में तीव्र विकास तथा महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा ने चीन को प्रेरित किया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उच्छृंखलता त्याग दे।

(मैत्री, सहयोग और संयम की नई कूटनीति अपनाते हुए चीन ने एक ओर अमेरिका के साथ सम्बन्ध स्थापित करने शुरू किए तथा दूसरी ओर रूस के विरुद्ध अपना प्रचार-अभियान शिथिल किया। 1970 में ही रूस और चीन के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके बाद से एक-दूसरे पर कठोर शब्दों का प्रयोग कम होता गया।) अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की यात्रा की तथा दूसरे देशों के साथ भी चीन 'पिंग-पॉंग कूटनीति' के मार्ग पर चलने लगा। भारत के प्रति चीनी रवैया यद्यपि पूर्ववत् रहा। दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक संघर्ष में उसने सीमा पर सैनिक हलचल द्वारा तनाव पैदा किया। कूटनीतिक क्षेत्र में चीन का

भारत विरोधी रवैया किसी भी अनुपात में रहा हो, लेकिन व्यवहार में उसने भारत को सैनिक दृष्टि से भड़काने वाली कार्यवाही करने में संयम रखा है। पाकिस्तान को सैनिक सहायता और कूटनीतिक समर्थन देकर अपने पक्ष में करने की चीनी नीति पूर्ववत् सक्रिय है, लेकिन चीनी नेताओं ने अपने व्यवहार से यह संकेत दे दिया है कि पाकिस्तान को ऐसी कोई आशा नहीं करनी चाहिए कि उसके कारण वह भारत से सैनिक संघर्ष में उलझने की भूल करेगा। 1976 में पेकिंग में भारतीय राजदूत की नियुक्ति के बाद दोनों देशों में कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए।

फरवरी, 1979 में वियतनाम पर चीनी आक्रमण के विरुद्ध विश्व के विभिन्न देशों और अधिकांश अफ्रेशियाई राष्ट्रों में जो तीव्र प्रतिक्रिया हुई उसने चीन को पुनः यह सोचने को मजबूर कर दिया कि उसे अपनी आक्रामकता पर अंकुश लगाना होगा। यद्यपि चीन की विदेश नीति आज भी विस्तारवादी, सैनिकवादी और 'मेमना-भेड़िया' कहावत को चरितार्थ करने वाली है, तथापि प्रत्यक्ष आक्रमण की दिशा से वह विमुख हो रहा प्रतीत होता है। रूस के साथ सीमान्त झड़पें लगभग बन्द हैं, भारत के साथ सीमान्त विवाद को शान्ति वार्ताओं द्वारा हल करने की उत्सुकता चीनी नेतृत्व दिखा रहा है, विश्व राजनीति में चीन का व्यवहार पूर्वापेक्षा अधिक संयत हो रहा है, ताईवान के प्रश्न पर हथियारों की बात करने की अपेक्षा वह ताईवान को मुख्य भूमि में मिलाने की समस्या पर कूटनीतिक प्रयास कर रहा है और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर वह कूटनीति की भाषा में बात करने लगा है। प्रत्येक राष्ट्र के अपने हित होते हैं और राष्ट्रीय हितों तथा लक्ष्यों के अनुरूप उसे अपनी विदेश नीति का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मर्यादाओं के भीतर करना होता है। चीन से भी यही अपेक्षा है।

1970 के बाद से सहयोग और मैत्री के नए कूटनीतिक काल में चीन ने विभिन्न देशों के साथ संवाद की नीति भी अपनाई और चीनी नेताओं तथा अधिकारियों ने विभिन्न देशों की यात्राएँ कीं। 26 अक्तूबर, 1971 को चीन की साम्यवादी सरकार को संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी मान्यता मिल गई। अनेक प्रमुख देशों के साथ चीन के व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक समझौते हुए। विश्व में सोवियत विस्तारवाद को रोकने के नाम पर चीन ने जून, 1981 में अमेरिका के साथ एक समझौता किया। इस युग में चीनी विदेश नीति की दो सर्वप्रमुख प्रवृत्तियाँ रहीं—अमेरिका से अधिकाधिक दोस्ती और पाकिस्तान को सैन्य सहायता देते हुए भी भारत के साथ सन्तुलित सहयोग और संवाद का प्रारम्भ।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हमें देखना चाहिए कि प्रारम्भ में चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कैसे रहे, विभिन्न देशों के साथ उसकी विदेश नीति किस रूप में संचालित हुई तथा वर्तमान चीनी नीति का व्यावहारिक रूप क्या है?

चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(International Relations of China)

विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के साथ चीन के जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रहे है उनका विवेचन सयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत सघ और भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ मे विस्तार से किया जा चुका है। अत. यहाँ चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का सांकेतिक विवेचन ही अपेक्षित है।

अमेरिका-चीन सम्बन्ध
(U. S A–China Relations)

राजनीति मे कोई किसी का स्थायी मित्र नही होता और न कोई स्थायी शत्रु होता है। अमेरिका और चीन पहले एक-दूसरे के घोर शत्रु थे किन्तु अब एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आते जा रहे हैं।

वर्तमान साम्यवादी चीन अथवा चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना 1 अक्तूबर, 1949 को हुई। च्यांग-काई-शेक और उसका राष्ट्रवादी दल चीन के गृह-युद्ध मे साम्यवादियो के हाथो बुरी तरह पराजित हुआ। सयुक्त राज्य अमेरिका ने च्यांग-काई-शेक को वर्षों तक भरपूर सहायता दी, लेकिन माओ-त्से-तुग के नेतृत्व मे साम्यवादी सेना ने अमेरिका की मनोकामना पूरी नही होने दी। च्यांग-काई-शेक ने भाग कर चीन की मुख्य धरती मे कुछ ही मील दूर चीन के फारमोसा द्वीप मे शरण लेकर वहीं चीन की 'निर्वासित सरकार' स्थापित कर ली। अमेरिका और उसकी हठधर्मी के कारण सयुक्त राष्ट्रसघ इसी सरकार को अर्थात् राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। चीन की साम्यवादी सरकार की मान्यता का प्रश्न 1949 से 25 अक्तूबर, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विषय रहा। वास्तव मे दो चीन की स्थिति कायम रही। दुनिया के लगभग 35 देशो को मान्यता साम्यवादी चीन को प्राप्त थी और 42 देश च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता देते थे। भारत ने प्रारम्भ से ही एक चीन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी थी। आखिर 26 अक्तूबर, 1971 को दो चीन वाली यह स्थिति समाप्त हो गई। सयुक्तराष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताइवान या फारमोसा) की मान्यता समाप्त करके उसके स्थान पर जनवादी (साम्यवादी) सरकार को चीन की वैधानिक सरकार के रूप मे मान्यता देने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतो से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 22 वर्ष का वह सघर्ष समाप्त हो गया जो साम्यवादी चीन को विश्व-सस्था का सदस्य बनाने के लिए चल रहा था। सयुक्त राष्ट्रसघ के इतिहास मे यह पहला अवसर था जब सघ के किसी सदस्य और सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य को सघ की सदस्यता से निष्कासित कर उसके स्थान पर किसी अन्य देश को सदस्य बनाया गया हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन का रुख सदा आक्रामक रहा, पर माओ की मृत्यु के बाद नया नेतृत्व उदार बन रहा है।

चीन-अमेरिका सम्बन्ध (1944–68) . उग्रवादी नीति

राष्ट्रपति निक्सन द्वारा चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढाने से पूर्व दोनो देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त शत्रुतापूर्ण थे। अमेरिका ने नवोदित साम्यवादी चीन को न केवल मान्यता देने से इन्कार कर दिया बल्कि संयुक्तराष्ट्र मे उसके प्रवेश के विरुद्ध भी मोर्चाबन्दी की। अमेरिका की नीति मुख्यत यह रही है कि साम्यवादी चीन के साथ मैत्री और सहानुभूति रखने वाले देश अमेरिका के मित्र नही माने जा सकते। 1950 मे कोरिया-युद्ध मे सयुक्त राष्ट्रसघीय सेनाओं ने अमेरिकी कमान के नेतृत्व में युद्ध लडा। जब सयुक्त राष्ट्रसघीय सेनाएँ 38वी अक्षाश रेखा को पार कर यालू नामक स्थान पर पहुँची तो उत्तर कोरिया की ओर से चीनी सैनिक टिड्डी दल की भाँति उन पर टूट पडे। कोरिया का युद्ध अब प्रधानत. अमेरिका व चीन का युद्ध बन गया। अक्तूबर, 1951 मे माओ-त्से-तु ग ने कहा—"हम अपने देश की रक्षा के लिए ही 'साम्राज्यवादी आक्रमणों' के विरुद्ध लड रहे है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि अमेरिकी सेनाओ ने हमारे ताइवान (फारमोसा) पर कब्जा न किया होता और हमारे साम्यवादी मित्र-राज्य पर दक्षिणी कोरिया ने आक्रमण न किया होता तथा स्वय अपनी कार्यवाहियो का विस्तार हमारी उत्तर-पूर्वी सीमा तक न किया होता तो हम आज अमेरिकी सेनाओ के विरुद्ध न लड रहे होते।"

कोरिया-युद्ध के फलस्वरूप अमेरिका ने फारमोसा को साम्यवादी चीन के सम्भावित आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए खुलकर सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया। अमेरिका के इस निश्चय ने दोनो देशो के सम्बन्धों को और भी अधिक कटु बना दिया। चीन मे वाशिंगटन—विरोध प्रचार-अभियान तीव्र कर दिया गया। क्लाड बस (Claud Buss) के शब्दो मे—"चीनवासियो ने अमेरिका पर जापान मे फासिस्टवाद तथा सैनिकवाद की पुनर्स्थापना करने तथा एशिया मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जापान का एक साधन के रूप मे प्रयोग करने के आरोप लगाए। इसी तरह उन्होंने अमेरिका को दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति सिगमन री की सहायता करने एव कोरिया मे गृह-युद्ध छेड़ने के लिए भी दोषी ठहराया।"[1] चीन के साम्यवादी नेताओ ने कोरिया-युद्ध की व्याख्या करते हुए कहा कि—"यह युद्ध कोरिया, फारमोसा, हिन्द-चीन एव फिलीपाइन्स पर कब्जा करने तथा उसके पश्चात् एशियायी मामलों मे हस्तक्षेप करने के अमेरिकी षड्यन्त्र का ही अग्रिम भाग है।"

साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका ने विभिन्न सैनिक और प्रतिरक्षात्मक सगठनों का निर्माण किया। अमेरिका द्वारा निर्मित और प्रेरित नाटो, सीटो, अजुस (ANZUS), बगदाद पैक्ट (अब सैंटो) तथा मध्य-पूर्वी कमान सन्धियों की साम्यवादी चीन ने यह कहकर तीव्र भर्त्सना की

1 *Buss C. A.*: The Far Fast, p. 53.

कि इन सबका उद्देश्य विश्व में अमेरिकी प्रभुत्व की स्थापना करना है। अमेरिकियों के लिए चीन की मुख्य भूमि के द्वार बन्द कर दिए गए। अनेक बार तो अमेरिकी पत्रकारों तक को प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। चीन स्थित अमेरिकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। अमेरिका के साथ व्यावहारिक सम्बन्ध पूर्णत भंग कर दिए गए। उसके साथ सभी प्रकार के सम्पर्कों पर—चाहे वे सामाजिक हों, सांस्कृतिक हों या कूटनीतिक हों—रोक लगा दी गई। कोरियाई युद्ध में जिन अमेरिकी चालकों को बन्दी बना लिया गया था, उन्हें भी सोवियत रूस के आग्रह पर बड़े वाद-विवाद के बाद मुक्त किया गया।

1954 में हिन्द-चीन के प्रश्न पर भी दोनों देशों में काफी तनाव पैदा हो गया। डीन-बिन-फू में फ्रेंच सेनाओं की निर्णायक पराजय के उपरान्त जब वाशिंगटन ने फ्रांस की सहायतार्थ भारी संख्या में अपनी सेनाएँ भेजने का निश्चय किया तो अमेरिका और साम्यवादी चीन में प्रत्यक्ष युद्ध का खतरा पैदा हो गया। जिनेवा समझौता सम्पन्न हो जाने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति टल गई। 1959 में चीन और अमेरिका के बीच संघर्ष के नए-कारण उत्पन्न हो गए। लाओस में संघर्ष के लिए चीन ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। तिब्बत की क्रान्ति के बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका के रवैये से भी चीन को भारी क्षोभ हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी, 1960 में जापान तथा अमेरिका के बीच जो पारस्परिक सहयोग एवं सुरक्षा की सन्धि सम्पन्न हुई, उससे भी चीन के सम्बन्ध कटु बने। चीन ने हर सम्भव प्रयत्न द्वारा जापान व अमेरिका के गठबन्धन को निरस्त करने का प्रयास किया। पीकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया में साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। 9 सितम्बर, 1962 को साम्यवादी चीन की वायु सेना के एक यू-2 सैनिक जाँच वायुयान को चीन की मुख्य भूमि पर मार गिराया। चीन सरकार ने इस घटना पर एक विस्तृत वक्तव्य प्रसारित किया और अमेरिका को इस विमान की उड़ान के लिए उत्तरदायी ठहराया। अक्तूबर, 1962 में 'क्यूबा-संकट' के समय साम्यवादी चीन द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका के विरुद्ध भारी विष-वमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किए गए, क्यूबा समर्थक नारे लगाए गए और क्यूबा के नेताओं के चित्रों का प्रदर्शन किया गया। 1962 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को जो प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी, उससे भी साम्यवादी चीन के आक्रोश में वृद्धि हुई।

1965-66 में वियतनाम-समस्या के प्रश्न पर दोनों देशों के सम्बन्धों में कटुता में और भी वृद्धि हुई। वियतनाम में शान्ति-स्थापना के हर प्रयास को चीन ने असफल बनाने की कोशिश की। चीन की प्रेरणा से ही उत्तर वियतनाम ने सभी शान्ति प्रस्तावों के विरुद्ध कठोर रुख अपनाते हुए केवल अपने ही प्रस्ताव को मानने पर बल दिया। जब हनाई सरकार धर्ने-धर्ने. पीकिंग की अपेक्षा मास्को के अधिक

निकट आने लगी तो यह भी चीन को बुरा लगा और उसका प्रयत्न यही रहा कि हनोई चीन के सैनिक निर्देशन मे दक्षिण वियतनाम से युद्धरत रहे।

राष्ट्रपति जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। वे यह मानते रहे कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का सहारा लिया है, संयुक्त राष्ट्रसंघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है, उसे संघ मे प्रवेश के योग्य एक शान्तिप्रिय राष्ट्र नही माना जा सकता तथा अमेरिका उसे मान्यता नही दे सकता।

1966 तक चीन अमेरिका पारस्परिक विरोध की भावनाओ मे परिवर्तन नही हुआ। ताइवान और वियतनाम सम्बन्धी प्रश्न दोनो देशो के बीच तनाव का मुख्य कारण थे। अमेरिका विदेश मन्त्री डीन रस्क और चीनी प्रधानमन्त्री चाउ-एन-लाई के दो वक्तव्यो से हमे स्पष्ट रूप से पता चलता है कि दोनो देशो की एक-दूसरे के प्रति क्या नीति थी, दोनो राज्य पारस्परिक विरोध की भावनाओं से कितना ग्रस्त थे—

अमेरिका विदेश मन्त्री डीन रस्क ने 16 मार्च, 1966 को अपने एक वक्तव्य मे चीन के प्रति अमेरिकी नीति का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित 10 मुख्य सूत्रो का वर्णन किया—

प्रथम, अमेरिका को उन राष्ट्रो की सहायता करने के लिए, जो चीन द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धमकी और बल प्रयोग का विरोध कर पाने के लिए, अमेरिका की सहायता मांगते है दृढ निश्चय रहना चाहिए।

द्वितीय, अमेरिका को एशिया मे गैर-साम्यवादी सरकारो की स्थापना और समर्थन करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

तृतीय, ताइवान के प्रति अपने वचन पूरे करने चाहिए और चीन को भी ताइवान क्षेत्र मे बल प्रयोग का त्याग कर देना चाहिए।

चौथे, संयुक्त राज्य को संयुक्त राष्ट्र मे चीन की सदस्यता का विरोध करते रहना चाहिए।

पाँचवें, चीन के साथ युद्ध का भय होते हुए भी अमेरिका चीन पर आक्रमण करना नही चाहता।

छठे, चीन की नीति मे कभी परिवर्तन आ सकता है अत संयुक्त राज्य को दोनो देशो मे निश्चित और स्थायी विरोध की स्थिति को महत्त्व नही देना चाहिए।

सातवें, साम्यवादी चीन के साथ गैर-सरकारी सम्बन्धो को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे धीरे-धीरे संयुक्त राज्य के प्रति पीकिंग के विचारो मे परिवर्तन आ सके।

आठवें, वारसा मे अमेरिका को चीन के साथ प्रत्यक्ष कूटनीतिक सम्बन्ध बनाए रखने चाहिए।

नवें, अमेरिका, पीकिंग और अन्य देशो के साथ मिलकर नि शस्त्रीकरण और परमाणु शस्त्रो के अत्यधिक उत्पादन पर रोक लगाने की गम्भीर समस्याओं पर विचार करने के लिए तत्पर है।

दसवें, अमेरिका की सरकार को साम्यवादी चीन से सम्बन्धित सूचना को ढूंढने और उसके विश्लेषण के प्रयत्न मे रहना चाहिए। जब पीकिंग बल-प्रयोग को त्याग देता है और संयुक्त राज्य के प्रति विरोध समाप्त करने को तैयार हो जाता है तो दोनो मे विस्तृत और सुधरे हुए सम्बन्धो की सम्भावना हो सकती है।[1]

डीन रस्क के इस वक्तव्य के प्रति चीन सरकार की प्रतिक्रिया विरोध पूर्ण थी। 1 अप्रेल, 1966 के 'पीकिंग रिव्यू' ने आरोप लगाया कि 15 वर्ष से अमेरिकी साम्राज्यवाद चीन के प्रति विरोध की नीति अपनाए हुए है, उसने बलपूर्वक चीनी क्षेत्र 'ताइवान' पर कब्जा कर रखा है, चीन के विरुद्ध नौ-सैनिक शक्ति तैनात कर रखी है और चीन मे विध्वंसकारी कार्यवाहियो के लिए गुप्त एजेण्ट भेज रखे है, पत्र मे कहा गया—"संयुक्त राज्य साम्राज्यवाद की कार्यविधियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह चीन के लोगो का बहुत बड़ा शत्रु है। चीन के प्रति संयुक्त राज्य सरकार की नीति ट्रूमैन और आइजनहॉवर के समय से लेकर कैनेडी और जॉनसन प्रशासन तक वही रही। जॉनसन प्रशासन ने भी आक्रमण और चीन के प्रति विरोध की नीति मे कभी कोई परिवर्तन नही आने दिया। वास्तव मे अब इस नीति का पालन अधिक कठोरता और निर्लज्जता से किया जा रहा है। यह सार्वजनिक घोषणा की जा चुकी है कि चीन संयुक्त राज्य का मुख्य शत्रु है। अमेरिका ने अपनी विश्व-नीति का प्रभाव-क्षेत्र अब एशिया को बना लिया है और चीन के घेराव के लिए सैनिक गतिविधियो को तीव्र कर दिया है। वियतनाम युद्ध को चीन की ओर लाने का भी बहुत गम्भीरता से प्रयत्न किया है। उच्च अमेरिकी सैनिक और नागरिक अधिकारी चीन के साथ शक्ति-परीक्षण की बात खुलेआम कर रहे हैं। जॉनसन प्रशासन के कहने और करने मे अत्यधिक विरोधाभास था।

चीन ने आरोप लगाया कि विश्व के सभी भागो मे चीन के प्रति घृणा का प्रचार किया जा रहा है। 'चीन-विरोधी मोर्चे' मे संयुक्तराज्य अमेरिका के साम्राज्यवादी, सोवियत संशोधनवादी, जापानी-सैन्यवादी और भारतीय प्रतिक्रियावादी सम्मिलित हैं। तत्कालीन चीनी प्रधानमन्त्री चाउ-एन-लाई ने अमेरिका के प्रति अपने देश की नीति को स्पष्ट करते हुए एक वक्तव्य मे कहा—

(1) चीन संयुक्त राज्य के साथ युद्ध छेड़ने मे पहल नही करेगा। चीन ने हवाई (Hawai) मे कोई सेनाएँ नही भेजी है जबकि संयुक्त राज्य ने ताइवान प्रदेश पर कब्जा कर लिया है फिर भी चीन इस संघर्ष को वार्तालाप द्वारा सुलझाने के पक्ष मे है। (2) चीन के लोग जो महसूस करते है, वही कहते हैं। यदि एशिया, अफ्रीका या किसी अन्य देश के किसी भाग पर साम्राज्यवादियो द्वारा आक्रमण किया गया तो चीन की सरकार उसे अवश्य ही सहायता और आश्रय प्रदान करेगी। यदि इस न्यायोचित कार्य मे संयुक्त राज्य चीन पर भी आक्रमण कर दे तो वह बिना हिचकिचाहट के उनका भी मुकाबला करेगा और अन्त तक युद्ध करता रहेगा।

1 के के मिश्र एवं इन्दु बन्ना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृ. 376

(3) यदि सयुक्त राज्य चीन को युद्ध के लिए मजबूर करता है तो चीन उसके लिए भी तैयार है। चाहे सयुक्त राज्य कितने ही सैनिको को भेज दे और परमाणु तथा कैसे भी अस्त्रो का प्रयोग कर लें, चीन के लोग सयुक्त राज्य की सेनाओं को वापिस जाने नहीं देंगे। यदि वियतनाम के 14 लाख लोग सयुक्त राज्य के बीस लाख सैनिकों का मुकाबला कर सकते है तो चीन के 650 लाख लोग निश्चिततया ही अमेरिका के दस लाख सैनिको का सामना कर पाएँगे। (4) एक बार युद्ध आरम्भ हो जाने पर, उसकी सीमा निर्धारित नही की जा सकेगी। कुछ सयुक्त राज्य-योजना-निर्माता नौ-सेना और वायु-सेना की सहायता से चीन पर बम गिराकर स्थल युद्ध से बचना चाहते है। यह तो केवल कल्पना है। एक बार वायु या जल की दिशा से युद्ध आरम्भ हो जाए तो फिर यह निर्णय केवल सयुक्त राज्य के हाथ में नही होगा कि युद्ध किस प्रकार जारी रखा जाएगा। यदि अमेरिका की सेनाएँ आकाश की ओर से आती है तो उसका प्रत्युत्तर चीन स्थल-युद्ध से क्यों नही दे सकता? यह सयुक्त राज्य को स्पष्ट चेतावनी थी कि चीनी क्षेत्र पर सयुक्त राज्य द्वारा बम गिराए जाने का अर्थ होगा कि चीन स्थलीय शक्ति द्वारा इण्डोचीन सघर्ष मे हस्तक्षेप आरम्भ कर देगा।[1]

चीन-अमेरिका विरोध पर अपनी टिप्पणी और फेयरबैंक तथा टेलर के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए डॉ मिश्र एव खन्ना ने लिखा है—इन विवादों के विनिमय की अपेक्षा भी चीन और सयुक्त राज्य ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध आरम्भ नही किया। फेयरबैंक और टेलर (Fairbank and Tayler) ने 1960 के दशक में चीन की नीतियो के दो विभिन्न परीक्षण किए। फेयरबैंक का कहना था कि चीनी साम्यवादी मुख्यत चीनी ही थे और अपनी प्रशासनिक परम्पराओं के प्रति वफादार थे। टेलर का विचार था कि वे मुख्यत साम्यवादी थे और उनमे राष्ट्रीयता के कोई गुण नही थे। फेयरबैंक ने इस बात पर बल दिया कि चीन में जातीय तत्त्व शक्तिशाली थे और विश्व-क्रान्ति मे अधिक योगदान नही दिया जा रहा था। टेलर ने इस विचार से इन्कार किया और कहा कि साम्यवादी विश्व बहुकेन्द्रीय बन रहा था। फेयरबैंक ने चीन के विस्तारवाद को न मानते हुए माओ के विश्व-क्रान्ति के कार्यक्रम को साहित्यिक ही बताया। टेलर ने लिन पीआओ (Lin-Piao) की विश्व-क्रान्ति की पुकार और चीन द्वारा तीसरे विश्व-देशों मे वियतनाम जैसे उपद्रव छेड़ देने की धमकी को गम्भीरता से लिया। टेलर साक्षात्कार की नीति बनाए रखना चाहता था। फेयरबैंक का सुझाव था कि चीन के प्रति अमेरिका की नीति पर फिर से विचार किया जाए और वियतनाम के प्रति समझौता, पीकिंग शासन को मान्यता, सयुक्त राष्ट्र मे चीन की सदस्यता और च्यांग-काई शेक शासन को आश्रय देने की समाप्ति इसके लिए आधारभूत रखे जाएँ।

1 के. के. मिश्र एव इन्दु खन्ना : वही, पृ. 377–78

चीन अमेरिका सम्बन्ध (1969–1987)
तनाव-शैथिल्य तथा अमेरिका से दोस्ती

20 जनवरी, 1969 को रिचार्ड निक्सन संयुक्त राज्य अमेरिका के 37वें राष्ट्रपति बने। निक्सन ने ऐसे प्रयत्न आरम्भ किए जिनका उद्देश्य चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना था ताकि एक ओर तो वियतनाम युद्ध से अमेरिका सम्मान पीछा छुड़ा सके और दूसरे, सोवियत प्रभुत्व को सफल चुनौती देते हुए राजनीतिक क्षेत्र में पीकिंग-पिन्डी-वाशिंगटन धुरी का निर्माण कर, शक्ति-सन्तुलन अपने पक्ष में कर ले। अमेरिका को यह लालसा भी रही कि लगभग 70 करोड़ की विशाल जनसंख्या वाले देश से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अमेरिका व्यापक व्यापारिक और आर्थिक लाभ प्राप्त कर सकेगा। चीन की यह आकांक्षा थी कि सोवियत रूस के नेतृत्व को चुनौती देने के लिए वह अमेरिका जैसे सबल राष्ट्र को अपने पक्ष में कर ले।

संयुक्त राज्य और चीन पर 'आगामी दशक' (Next Decade) नामक प्रथम राष्ट्रीय समारोह न्यूयार्क में 20-21 मार्च, 1969 को हुआ। लगभग 2500 व्यक्तियों ने, जिनमें चीन के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ भी सम्मिलित थे, इस समारोह में भाग लिया। उन्होंने पुरानी नीति का पुनःपरीक्षण किया और नए निर्देशों का सुझाव दिया। एडवर्ड केनेडी ने समारोह में घोषणा की—"पिछले बीस वर्षों से चीन के प्रति हमारी नीति युद्ध की नीति की रही है। हमने बहुत देर से विश्व के एक महत्वपूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध राजनीतिक, कूटनीतिक और आर्थिक विरोध की नीति अपनाई है। अब हमें अपनी युद्ध की नीति छोड़कर शान्ति की नीति अपनानी है। अब हमें एक नई नीति ढूंढनी है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी वर्तमान स्थिति में कोई कमजोरी है या हम चीन के प्रति नम्र हो गए हैं, परन्तु इसलिए कि ऐसा करना हमारे तथा अन्य सभी राष्ट्रों के हित में है।"

सम्बन्ध-सुधार के प्रयत्न शुरू हुए और चीन-अमेरिका के बीच 'पिंगपोंग कूटनीति' का उदय हुआ। अमेरिका ने चीन के साथ व्यापार, यात्रा और जहाजरानी सम्बन्धी कानूनी रुकावटों में ढील दे दी तथा अपनी टेबल टेनिस टीम को पिंगपोंग खेलने के लिए चीन भेजा। 1970 में माओ-त्से-तुंग ने अमेरिकी पत्रकार एडगर स्नो के साथ बातचीत में अमेरिकी राष्ट्रपति का स्वागत चीन में करने की इच्छा प्रकट की। दोनों देशों में सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने हेतु वारसा, पेरिस आदि स्थानों पर दोनों देशों के अधिकारियों के बीच वार्ताओं का दौर आरम्भ हुआ जिनकी प्रगति के आधार पर 15 जुलाई, 1971 को बहुत ही नाटकीय ढंग से राष्ट्रपति निक्सन ने मई, 1972 के पूर्व अपनी चीन यात्रा की घोषणा की। भारत सहित विश्व के अनेक देशों ने इस घोषणा का स्वागत किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में एक नया अध्याय प्रारम्भ करने वाली घटना बतलाया। 21 फरवरी, 1972 को राष्ट्रपति निक्सन दलबल सहित पीकिंग पहुँचे। संयुक्त विज्ञप्ति के अनुसार दोनों देशों में अनेक विषयों

पर मतभेदों के बावजूद सौहार्द्रपूर्ण वार्ता हुई। दोनों देशों ने ज्ञान और कला के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक विनिमय और सम्पर्क का निश्चय किया। आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों में वृद्धि पर भी विचार-विमर्श किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि सामान्य हित के विषयों पर विचार-विनिमय और सम्बन्धों के सामान्यीकरण के लिए विभिन्न माध्यमों से अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित किया जाए। निक्सन की पीकिंग यात्रा के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध तेजी से सामान्य बनते गए। बंगलादेश के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में दोनों ने आपस में सहयोग किया। फरवरी, 1973 में निक्सन के निजी सलाहकार हेनरी किसिंगर ने पीकिंग में चाऊ-एन-लाई तथा अन्य नेताओं से वार्ता की। अमेरिका और चीन द्वारा एक-दूसरे के यहाँ सम्पर्क कार्यालय खोलने का निश्चय किया गया। यद्यपि इन कार्यालयों को दूतावास की संज्ञा नहीं दी गई तथापि व्यवहार में इनका कार्य दूतावास जैसा ही रखा गया। दोनों देशों के बीच अनेक क्षेत्रों में सहयोग में वृद्धि हुई। पारस्परिक व्यापार-विस्तार का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया गया। चीन ने अमेरिका के दो बन्दी वायुयान-चालकों को मुक्त कर और अमेरिका ने ताइवान में अपनी सेना में पर्याप्त कटौती का संकेत देकर यह प्रदर्शित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दोनों देश अधिकाधिक निकट आने को उत्सुक हैं।

दोनों देशों के सम्बन्धों में सामान्यीकरण की प्रक्रिया तब कुछ मन्द हो गई जब चीन ने देखा कि अमेरिका रूस के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण विषयों पर वार्ता में चीन की उपेक्षा कर रहा है। नवम्बर, 1974 में जब अमेरिकी विदेश मन्त्री डॉ किसिंगर चीन गए तो उनके स्वागत में उदासीनता प्रकट कर चीनी नेताओं ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की। इस अप्रसन्नता के दो प्रमुख कारण थे—अमेरिका द्वारा ताइवान सम्बन्धी उस शंघाई समझौते को क्रियान्वित न किया जाना जो साल भर पहले दोनों के बीच हुआ था, एवं अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेझनेव द्वारा वार्ता के लिए व्लाडीवोस्टक को चुनना। व्लाडीवोस्टक कभी चीन का हिस्सा था अतः चीन ने सोचा कि उसे चिढ़ाने के लिए इसे वार्ता-स्थल चुना गया है। 1972 की शंघाई विज्ञप्ति में किए गए वायदों में एक महत्त्वपूर्ण वायदा यह था कि अमेरिका ताइवान को चीन का हिस्सा मान लेगा। अप्रैल, 1975 में च्यांग-काई-शेक की मृत्यु के बाद ताइवान फिर से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षण केन्द्र बन गया। मार्शल च्यांग के निधन का न केवल ताइवान की आन्तरिक राजनीति पर बल्कि अन्य देशों के सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वैसे च्यांग के उत्तराधिकारी उनके पुत्र तथा प्रधानमन्त्री च्यांग-चुग-कुओ ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपने देश पर कभी भी साम्यवाद की छाया नहीं पड़ने देंगे और चीन की मुख्य भूमि को साम्यवाद से मुक्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहेंगे।

निक्सन के हटने के बाद से ही अमेरिका और चीन के सम्बन्धों में कुछ शिथिलता उत्पन्न हो गई जैसा कि अमेरिकी विदेश-नीति के सन्दर्भ में बताया जा

चुका है, जब डॉ किसिंगर ने अक्तूबर, 1975 मे और राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 मे चीन की यात्रा की तो उनका बहुत ही फीका स्वागत हुआ।

निक्सन काल मे अमेरिका-चीन सम्बन्धो का मूल्यांकन करते हुए डॉ मिश्र एव खन्ना ने लिखा है कि निक्सन प्रशासन ने किसिंगर की व्यक्तिगत कूटनीति का प्रयोग करते हुए 1970 के दशक मे चीन अमेरिकन सम्बन्धो की नीव रखी। सयुक्त राष्ट्र ने 'दो चीन' की नीति त्याग दी। पीकिंग को चीन की वैधिक सरकार के रूप मे मान्यता दी, सयुक्त राष्ट्र मे चीन की सदस्यता का समर्थन और सुरक्षा परिषद् मे स्थायी स्थान दिए जाने का वचन दिया। ताइवान से सेनाएँ निकाल लिए जाने को स्वीकार कर लिया तथा वियतनाम सघर्ष के सुझाव के लिए वार्तालाप की स्वीकृति दे दी। अन्त मे दक्षिणी वियतनाम से अपनी सेनाएँ पूर्णतया हटा लेने का वचन दिया। धीरे-धीरे सभी इण्डोचीन राज्यो से अमेरिकन प्रभाव पूर्णतया समाप्त हो गया और दक्षिणी वियतनाम, कम्बोडिया और फिर लाओस मे साम्यवाद पक्षीय शासन स्थापित हो गए। जापान और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य अमेरिकन साथी देशो ने चीन के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित कर लिए। चीन के साथ साक्षात्कार की अमेरिकन नीति तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे हस्तक्षेप से सयुक्त राज्य को कोई लाभ नही हुआ।

20 जनवरी, 1977 को अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर जिम्मी कार्टर आरूढ हुए। अगस्त, 1977 मे विदेश मन्त्री साइरस वेन्स ने चीन की यात्रा की। ताइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग से अन्य मुद्दो पर मतैक्य नही हो सका। कुल मिलाकर यह यात्रा दोनो देशो के बीच सम्बन्ध सुधार मे सहायक नही हुई। इसके बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिस्की ने पीकिंग की यात्रा की। कार्टर ने चीन के प्रति अपनी नीति मे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया और चीन को विभिन्न किस्मो के हथियारो तथा विद्युत प्राणविक उपकरणो के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धो मे ढील देने का निश्चय किया। ताइवान के प्रश्न पर मतभेद घटते गए और 1 जनवरी, 1979 को कार्टर ने चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। कार्टर ने अपने वक्तव्य मे यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है, तथापि यह स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है। दोनो पुराने शत्रु देश एक-दूसरे के निकट आते गए और फरवरी, 1979 मे डेंग क्सिआओ पिंग अमेरिका की यात्रा पर गए। डेंग-कार्टर सयुक्त वक्तव्य मे कहा गया कि चीन एव अमेरिका किसी एक देश या कुछ देशो के समूह द्वारा अन्य देशो पर आधिपत्य या बन्धनकारी शक्ति स्थापित करने के विरुद्ध हैं। स्पष्ट था कि यह वक्तव्य रूस को ध्यान मे रखते हुए दिया गया। अमेरिका ने फ्रांस द्वारा चीन को अणुशक्ति यन्त्र दिए जाने का समर्थन किया। चीन ने अमेरिका को विश्वव्यापी सैनिक गतिविधियों को स्वीकार किया और अमेरिका ने भी विश्वास प्रकट किया कि शक्तिशाली तथा सुरक्षित चीन विश्व-सम्बन्धो मे रचनात्मक भूमिका निभा सकता

है। जुलाई, 1980 में टोकियो में राष्ट्रपति कार्टर और प्रधानमन्त्री हुआ-कुश्रो-फेंग मे पहली बार वार्ता हुई। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का विरोध दोनो देशों ने एक स्वर से किया। कार्टर ने एक दूरदर्शन भेटवार्ता मे कहा कि रूसी सैनिक शक्ति का मुकाबला करने के लिए अमेरिका, चीन और जापान को एक हो जाना चाहिए। यद्यपि चीन के प्रति अमेरिकी नीति मे परिवर्तन बहुत पहले हो गया था। और दोनो देशों के बीच अभी तक व्यापारिक तथा अन्य असैनिक क्षेत्रों मे सहयोग बढता जा रहा था लेकिन सोवियत सघ के खतरे का मुकाबला करने के लिए वह नया सहयोग दोनो देशो को सैनिक क्षेत्रों में भी ले आया। इस बात को नजरअन्दाज कर दिया गया कि सोवियत सघ ने यदि कोई दबावी कार्यवाही की तो अन्तत एशिया की शान्ति खतरे में पड़ जाएगी।

20 जनवरी, 1980 को रीगन ने राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण की। रीगन प्रशासन के दौरान 1982 के अन्तिम चरण तक दोनों देशो के सम्बन्ध लगभग वैसे ही रहे जैसे कार्टर प्रशासन के दौरान थे। 'वाशिगटन-पीकिंग-पिण्डी-धुरी' को रीगन प्रशासन ने और शक्तिशाली बनाया तथा इस बात के अनुसार स्पष्ट हो गए कि निकट भविष्य मे रूस के विरोध में 'वाशिगटन-टोकियो-पीकिंग-पिण्डी-धुरी' शक्तिशाली रूप मे अस्तित्व में आ जाएगी। फिर भी सयुक्त राज्य अमेरिका में इस बात में काफी चिन्ता बनी रही कि पीकिंग और इस्लामाबाद (पाकिस्तान) के बीच ऐसा गुप्त समझौता है कि जिसके अन्तर्गत परमाणु बम तथा आणविक शस्त्र बनाने की जानकारी चीन से पाकिस्तान पहुँच रही है। राजनीतिक क्षेत्र मे यह अटकलें तक लगाई गई कि पाकिस्तान अपना परमाणु परीक्षण चीन में कर चुका है या करने जा रहा है। अमेरिका काँग्रेस की विदेश सम्बन्ध समिति के सामने साक्ष्य देते हुए अमेरिका के परमाणु नियन्त्रण सस्थान के अध्यक्ष डॉ पाल लेवेन्थाल ने इस तथ्य की पुष्टि की कि परमाणु ऊर्जा सम्बन्धी जानकारी पीकिंग से इस्लामाबाद हस्तान्तरित ही नही हो रही, बल्कि उसका स्तर अत्यन्त खतरनाक और नाजुक होता जा रहा है। अमेरिकी राजनीतिक क्षेत्रों का यह स्पष्ट मत है कि चीन के साथ सहयोग और मैत्री पथ पर आगे बढते हुए भी अमेरिका की पाकिस्तान पर पकड़ कमजोर नही होनी चाहिए। अमेरिका को यह डर भी है कि चीन से पाकिस्तान आई गुप्त जानकारी भारतीयो के हाथ न पड जाए। अप्रेल, 1984 के अन्त में राष्ट्रपति रीगन ने पीकिंग की पाँच दिवसीय यात्रा की। उन्होने एक समारोह में कहा कि अमेरिका को चीन के साथ अपने सम्बन्धो पर गर्व है और मतभेदो के बावजूद दोनों देश पिछले 14 वर्षों से उत्तरोत्तर एक-दूसरे के निकट आ रहे है। इस यात्रा के दौरान दोनो देशो के बीच परमाणु सहयोग बढ़ाने के एक समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए। रीगन की यात्रा का एक उद्देश्य यह भी रहा कि चीन में अमेरिकी उत्पादन की खपत बढाई जाए।

रोनाल्ड रीगन पुनः राष्ट्रपति चुने गए और उनका नया कार्यकाल 20 जनवरी, 1985 मे आरम्भ हुआ। रीगन प्रशासन चीनो के प्रति अपनी मैत्री

आधार को मजबूत बनाता रहा। दोनो देशो के बीच गोपनीय सूचनाओं का आदान-प्रदान चलता रहा और चीन ने अमेरिकी नौ-सेना के जहाजो को अपने बन्दरगाहो मे आने की अनुमति देने की घोषणा की। यह पहला अवसर था जब चीन ने अमेरिका को ऐसा अवसर दिया। अमेरिकी नौ-सेना के जहाज अब प्रशान्त महासागर मे रूस के नौ-सैनिक जहाजो पर नजर रखने की स्थिति मे पहुँच गए। चीन ने यह शर्त अवश्य लगाई कि अमेरिकी जहाज चीनी बन्दरगाहो मे चीन की पूर्व-स्वीकृति से ही आ सकेगे। चीन ने अमेरिका से बडी सख्या मे सिकोरस्काई हैलीकोप्टर प्राप्त करने का अनुबन्ध किया।

1985–86 मे यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि अमेरिका चीनी नौ-सेना के आधुनिकीकरण के लिए शस्त्रास्त्र तथा अन्य उपकरण उपलब्ध कराने को तैयार है। दोनो देशो के बीच 1987 मे भी सम्बन्ध सुधार की सामान्य प्रक्रिया जारी रही और इस बात के सकेत मिलते रहे है कि 'वाशिगटन-पेकिंग-मैत्री' और अधिक मजबूत हुई है।

सोवियत संघ और चीन के सम्बन्ध : चीन-सोवियत संघर्ष

(U. S. S. R. & China Relations Sino-Soviet Conflict)

सोवियत सघ और चीन—इन दो साम्यवादी राष्ट्रों के सम्बन्ध मैत्री और शत्रुता, सहयोग और स्पर्द्धा, भाईचारे और कटु-वैमनस्य की कहानी रहे हैं। 1 अक्टूबर, 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के तुरन्त बाद रूसी-चीनी मैत्री तेजी से विकसित हुई, लेकिन कुछ ही वर्षों बाद दोनों के बीच साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के लिए तीव्र स्पर्द्धा छिड गई, विभिन्न स्थानो पर सैद्धान्तिक मतभेद उग्र हो गए, सीमा-विवाद उठ खडे हुए और सशस्त्र सीमा-सघर्ष भी हुए। आज स्थिति यह है कि एक ओर तो चीन और अमेरिका, जो एक-दूसरे के घोर शत्रु थे, रूसी शक्ति के विरुद्ध अपने हाथ मिला रहे हैं, तो दूसरी ओर अमेरिका और रूस सह-अस्तित्व और सहयोग की बात करते हुए चीन की विस्तारवादी आकाँक्षाओं पर अकुश लगाने को सचेष्ट हैं। रूस-चीन-अमेरिका का यह त्रिकोणात्मक संघर्ष विश्व-राजनीति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहा है। यह शक्ति सन्तुलन की राजनीति है।

रूस-चीन सहयोग काल

चीन के जनवादी गणतन्त्र की स्थापना होते ही सोवियत रूस ने उसे अपनी मान्यता दी और माओ-त्से-तुग ने फरवरी, 1950 मे रूस की यात्रा कर 24 फरवरी को दोनों देशो के बीच तीन सन्धियाँ सम्पन्न की—(1) 30 वर्ष के लिए मैत्री और पारस्परिक सन्धि, (2) चांगच्यांग रेलवे, पोर्ट आर्थर तथा डाइरन से सम्बन्द्ध सन्धि, एव (3) ऋण सम्बन्धी सन्धि। प्रथम सन्धि के अन्तर्गत जापानी अथवा उसके सहयोग से किसी भी विदेशी आक्रमण की स्थिति मे दोनो देशो ने एक-दूसरे की सहायता करने तथा साथ ही पारस्परिक हितो पर आँच लाने वाली किसी भी सन्धि मे शामिल न होने का निश्चय किया। जापान के साथ शान्ति-सन्धि के लिए प्रयास करने, समान हितो के अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर आपसी विचार-विमर्श करते रहने

तथा पारस्परिक निकटतम आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर भी सहमति प्रकट की गई। द्वितीय सन्धि द्वारा सोवियत संघ ने च्यांग चुन-रेल्वे को जापानी शान्ति-सन्धि के बाद और अधिक से अधिक 1952 के अन्त तक चीन को हस्तान्तरित करने का वचन दिया। यह भी निश्चित हुआ कि 1952 तक सोवियत संघ की सेनाएँ पोर्ट आर्थर से वापिस बुला ली जाएँगी। तृतीय सन्धि द्वारा सोवियत संघ ने चीन को 5 वर्ष की अवधि के लिए 3 करोड डालर का ऋण देना स्वीकार किया। इस ऋण को 5 किश्तो मे दिया जाना तथा 31 दिसम्बर, 1954 के पश्चात् 10 किश्तों मे लौटाया जाना निश्चित हुआ।

सन्धियो के सम्पन्न होने के उपरान्त कुछ वर्षों तक रूस-चीन मैत्री विकसित होती रही। सितम्बर, 1952 मे च्यांग चुन-रेल्वे चीन को लौटा दी गई, परन्तु पोर्ट आर्थर के बारे मे यह निश्चय हुआ कि वह तब तक नही लौटाया जाएगा जब तक रूस और चीन के साथ जापान की शान्ति-सन्धि नही हो जाती। बाद मे 1954 मे यह तय किया गया कि पोर्ट आर्थर 1955 मे चीन को दे दिया जाएगा। मई, 1955 मे इसे चीन को हस्तान्तरित कर दिया गया। इस अवधि मे सोवियत संघ द्वारा चीन को दी जाने वाली वित्त, वाणिज्य और प्राविधिक सहायता मे भी निरन्तर वृद्धि होती गई। चीन का लगभग 70% व्यापार रूस के साथ होने लगा जिसमें 1950 के बाद निरन्तर वृद्धि होती चली गई। 1954 मे ही रूस ने चीन को अणुशक्ति-उत्पादन मे भी सहयोग देना स्वीकार किया, परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि चीन द्वारा रूस की पूर्व-अनुमति के बिना अणु-परीक्षण नही किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त चीन-रूसी मैत्री संगठन स्थापित किए गए।

सोवियत संघ ने चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ मे स्थान दिलाने के लिए निरन्तर प्रयास किया। 1954–55 मे दोनो देशो ने पश्चिमी शक्तियो, विशेषकर अमेरिका स्थापित प्रादेशिक सैनिक संगठनों की कटु आलोचना की। 1956–57 मे दोनो ने मिस्र पर ब्रिटेन व फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी और पोलैण्ड मे जब दक्षिणपंथी दंगे हुए तब भी दोनो देशो मे नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहे। 1958 मे टीटो के संशोधनवाद की कटु आलोचना भी दोनों ही देशो द्वारा की गई। सोवियत संघ की भाँति ही अन्य समाजवादी देशो के साथ चीन ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखे।

रूस-चीन मे मतभेद और कटु वैमनस्य का काल

रूस और चीन के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों मे तनाव का बीजारोपण 1954 म ही स्पष्ट हो गया। सोवियत साम्यवादी दल की 23वी कांग्रेस मे श्री ख्रुश्चेव ने युद्ध की अवश्यम्भाविता और हिंसात्मक क्रान्ति की अनिवार्यता से इन्कार करते हुए विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया और संसदीय पद्धति से समाजवाद की स्थापना की वकालत की। ख्रुश्चेव की ये मान्यताएँ चीनी नेताओं के गले नही उतरी। चीनी साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और आलोचना प्रत्यालोचना की खुली शुरुआत हुई। 1956 मे और तत्पश्चात् 1961 मे रूसी

साम्यवादी दल की कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की निन्दा ने दोनों देशों में मतभेद और सैद्धान्तिक संघर्ष उग्र कर दिए। ख्रुश्चेव के स्टालिन विरोधी अभियान को विस्टालिनीकरण की संज्ञा दी गई। जब मास्को यूगोस्लाविया को साम्यवादी भ्रातृत्व में वापस बुलाने को तत्पर हुआ तो भी चीन को बुरा लगा। सितम्बर, 1959 में ख्रुश्चेव की अमेरिका-यात्रा चीन को पसन्द न आई और इसलिए चीन की यात्रा के समय सोवियत नेता का कोई विशेष स्वागत नहीं किया गया। 1959 में अपनी चीन-यात्रा के समय ख्रुश्चेव ने पुनः यह बात दोहराई कि साम्यवादी चाहे कितने ही सशक्त हो जाएँ, उन्हें पूँजीवादी जगत् के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहना चाहिए। चीनी मार्क्सवादियों को ख्रुश्चेव का उपदेश 'प्रतिक्रियावादी शक्तियों की प्रगतिशील शक्तियों पर विजय' जैसा लगा। 1959–60 में भारत-चीन सीमा विवाद पर ख्रुश्चेव की यह टिप्पणी भी चीनी नेताओं को अखरी कि दोनों देश अपना सीमा-विवाद शीघ्र ही शान्तिपूर्ण ढंग से निपटा लें।

दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद तीव्र होते गए। जून, 1960 में बुखारेस्ट में रूमानियाँ-कर्मचारी-दल के तृतीय सम्मेलन में ख्रुश्चेव ने पुनः कहा कि लेनिन का 'पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त' अब लागू नहीं होता। दूसरी ओर चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने घोषणा की कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है, युद्धों का खतरा बना रहेगा। जुलाई, 1960 से रूस द्वारा चीन की विकास योजनाओं में कार्यरत सोवियत वैज्ञानिकों को वापस बुला लिया गया। चीन को सामग्री, मशीनें आदि भेजना भी बन्द अथवा सीमित कर दिया गया। 1961 में प्रकाशित सोवियत साम्यवादी दल के कार्यक्रम के माध्यम से 20 वर्ष की अवधि में रूस में साम्यवाद का अर्थ वस्तुओं की प्रचुरता बतलाया गया। चीनी साम्यवादी दल को यह व्याख्या अधूरी लगी। 1962 में रूस द्वारा भारत को मिग विमान देने और उन्हें बनाने के कारखानों में सहायता देने का समझौता चीनी नेताओं को अपने लिए घातक प्रतीत हुआ। 1962 में ही क्यूबा काण्ड के सम्बन्ध में चीनी नेताओं ने कहा कि रूस का पहला दोष 'दुस्साहस' का था और दूसरा दोष 'कागजी शेर' अमेरिका के आगे 'घृणित आत्म-समर्पण' करने का। 1962 में ही भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में अपनाई गई रूसी नीति ने भी चीन को नाराज किया।

जुलाई, 1963 में मास्को में रूसी और चीनी साम्यवादी दलों की वार्ता न केवल असफल हुई बल्कि दोनों देशों ने एक-दूसरे की कटु आलोचना की। रूस ने पश्चिम के साथ सह-अस्तित्व के विचार का पोषण किया जबकि चीन ने कहा कि साम्राज्यवाद के पूर्ण विनाश के लिए युद्ध अपरिहार्य है और तृतीय महायुद्ध अमेरिका तथा रूस को ही समाप्त करेगा, चीन को नहीं। 25 जुलाई, 1963 को महाशक्तियों में हुई अणु-परीक्षण-निरोध-सन्धि का चीन ने बहिष्कार किया। रूस पर आरोप लगाया गया कि वह अमेरिका के साथ मिलकर आणविक अस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार कायम रखना चाहता है।

अक्तूबर, 1964 में ख्रुश्चेव के हटने पर पीकिंग में खुशियाँ मनाई गई लेकिन जब रूस के नए नेतृत्व ने भी पश्चिमी जगत् के साथ सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास प्रकट किया तो चीनियों को बडी निराशा हुई। रूसी बोलेशेविक क्रान्ति के 47वें वार्षिक उत्सव के समय चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई की कूटनीतिक वार्ता भी असफल रही क्योंकि रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एकता के क्रांतिकारी प्रयासों में चीन का साथ देने से इन्कार करते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में आस्था प्रकट की।

सैद्धान्तिक संघर्ष के अतिरिक्त दोनों देशों के बीच सीमा-विवाद भी उभरे जिन्होंने शस्त्र सीमा-संघर्षों का रूप ले लिया। मार्च, 1969 में पूर्वी एशिया में उसूरी नदी के टापू दमिस्क के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में सैनिक मुठभेड़ें हुईं। रूस और चीन की वर्तमान सीमाओं का निश्चय रूस के जारों और चीन के मंचू सम्राटों के बीच हुई सन्धि द्वारा हुआ था। ये सन्धियाँ 1858 और 1860 में की गई थीं, जिनके अन्तर्गत चीन ने लगभग 5 लाख वर्गमील क्षेत्रफल रूस को सौंपा था। चीन ने आरोप लगाया कि उस समय चीनी निर्बलता का लाभ उठाकर रूस ने ये सन्धियाँ लाद दी थीं। रूस का कहना है कि ऐसी कोई बात नहीं थी और रूसी भूमि ही रूस ने प्राप्त की थी। चीन और रूस में झगड़े का असली कारण वस्तुतः मंगोलिया रहा है। चीन अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए मंगोलिया पर दाँत गड़ाए हुए है जो चीन की सरहद पर है तथा बहुत कम बसा हुआ है। मंगोलिया का पूर्वी भाग चीन के पास है और चीनी नेता चाहते है कि दोनों मंगोलिया संयुक्त होकर चीन का एक प्रदेश बन जाएँ। रूस इसे मनाने को तैयार नहीं है। पीकिंग ने मंगोलिया पर अपना दावा पहले पहल 1964 में किया था कि रूस ने इस 'स्वतन्त्र राज्य' को हड़प लिया है, लेकिन रूसी चीनी दावे को ठुकराते रहे है।

विवाद तब पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब 1965 में पहली बार यह चीनी आरोप पूरी तरह स्पष्ट किया गया कि प्रथम साम्यवादी क्रान्ति का जन्मस्थल सोवियत संघ पूँजीवाद के पुनरुद्धार में सक्रिय रूप से लगा हुआ है और प्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति-संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ मित्रता के लिए लालायित है। एक ऐसे राज्य के विरुद्ध जो मार्क्सवाद-लेनिनवाद में विश्वास करता था, सम्भवतः इससे अधिक गम्भीर आरोप नहीं लगाया जा सकता था। इस समय तक स्थिति यह हो गई थी कि दोनों देश खुलमखुल्ला एक-दूसरे के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों को विफल करने वाली विदेश नीतियों का अनुसरण करने लगे थे। दोनों ही देश इस बात के लिए भी प्रयत्नशील थे कि उन्हें साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अधिकाधिक समर्थन मिले।

रूस और चीन के मध्य मतभेदों की खाई निरन्तर गहरी और चौड़ी होती जा रही है। फरवरी, 1979 में वियतनाम पर चीन का आक्रमण यदि लम्बा चलता तो इस बात की पूरी आशंका थी कि चीन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में रूसी सैनिक

भी वियतनामी सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर लड़ते। नवम्बर, 1982 में ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद सोवियत राष्ट्रपति यूरी आन्द्रोपोव के समय भी रूस-चीन सम्बन्धों की कटुता कम नहीं हो पाई। वैसे फरवरी, 1983 में चीन के उप-विदेश मन्त्री वयान कुचेन की मास्को यात्रा का उद्देश्य सम्भवत यही था कि रूस के साथ सम्बन्ध सामान्य बनाने की दिशा में आगे बढ़ा जाए। यूरी आन्द्रोपोव के बाद सोवियत राष्ट्रपति चेरनेन्को के समय रूस-चीन सम्बन्धों में व्यवहार में कोई सुधार नहीं आ सका। चेरनेन्को की मृत्यु के बाद 11 मार्च, 1985 को मिखाइल गोर्बाच्योव महासचिव बने। गोर्बाच्योव ने कम्युनिस्ट, पार्टी की केन्द्रीय समिति के पूर्णाधिवेशन में बोलते हुए सभी बिरादराना कम्युनिस्ट, मजदूर तथा क्रान्तिकारी जनवादी पार्टियों के साथ घनिष्ठ सहयोग की बात की। इस प्रकार गोर्बाच्योव ने यह संकेत दिया कि वह चीन और अन्य साम्यवादी जगत् के साथ मधुर सम्बन्धों का पक्षधर है। सीमा-विवाद सुलझाने के सम्बन्ध में भी दोनों देश कुछ आगे बढ़े हैं।

रूस-चीन विवाद के मुख्य कारण

1 दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद है। स्टालिनोत्तर युग की सोवियत नीति विश्व-क्रान्ति और युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करती, जबकि लाल चीन क्रान्ति, हिंसा और युद्ध द्वारा पूंजीवादी जगत् के विनाश में विश्वास करता है। रूसी सरकार के सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' के दिसम्बर, 1971 के अंक में प्रकाशित एक लेख में रूसी लेखक जी. एपलिन ने लिखा था कि—"माओ की विदेश नीति लड़ाकू, खतरनाक तथा रक्तरंजित है जिससे चीनी लोकतन्त्र को भारी हानि हुई है। यह न तो मार्क्सवादी है और न ही लेनिनवादी।"

2. नेतृत्व का नशा दोनों ही देशों पर छाया हुआ है। रूस द्वारा साम्यवादी जगत् का एकछत्र नेतृत्व सहन करने को चीन तैयार नहीं है। एशिया में रूस के प्रभाव-विस्तार को चीन सन्देह की दृष्टि से देखता है।

3. भूमध्यसागर रूस और चीन के तनाव का एक केन्द्र है। रूस और अमेरिका के जहाज तो भूमध्यसागर में घूमते ही हैं, चीन की पनडुब्बियों ने भी इस सागर में घूमना प्रारम्भ कर दिया है। भूमध्यसागर में चीन की कुछ सैनिक और राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं। चीन चाहता है कि—(i) भूमध्यसागरीय देशों पर उसकी बात का वजन रहे, (ii) रूसी मंसूबों को हर क्षेत्र में चुनौती दी जाए या उसके मार्ग में कुछ न कुछ बाधा उत्पन्न की जाए, (iii) अल्बानिया जैसे साम्यवादी देशों को चीन ने अपने प्रभाव में ले लिया है, उन पर और रोब आतंकित रखा जाए, (iv) प्रक्षेपास्त्रों से सज्जित जिन पनडुब्बियों का विकास चीन कर रहा है उनकी सैनिक गतिविधियों का क्षेत्र पहले से ही तैयार कर लिया जाए ताकि रूस और अमेरिका के मुख्य क्षेत्र चीन की मार में आ सकें।

4. चीन का 1969 से पहले तक का नारा था विश्व के दो भाग हैं—साम्यवादी और समाजवादी। लेकिन 1969 में चीनी साम्यवादी दल ने जो

साम्यवादी व्याख्या नी उमने सोवियत रूस को भी असमाजवादी अथवा साम्राज्यवादी राष्ट्रों की श्रेणी में ला दिया।

5. एक परमाणु शक्ति के रूप में चीन के विकास को न केवल रूस वल्कि अन्य देश भी एक बडे खतरे के रूप में देखते हैं। प्रारम्भ में सोवियत संघ ने चीन को परमाणुविक जानकारी दी, लेकिन ज्यों-ज्यों चीन के इरादे स्पष्ट होते गए, रूस ने इस सम्बन्ध में आधुनिकतम प्रविधि के बारे में गोपनीयता वरती। 1959 में 1957 के उस समझौते को भग कर दिया गया जिसमें रूस द्वारा चीन को परमाणु बम की प्रक्रिया का ज्ञान कराने का प्रावधान था। परमाणु अस्त्रों के प्रश्न पर चीन और रूस के मतभेद बढते ही गए।

6. विवाद का एक बडा कारण मगोलिया है। चीन अपनी बढती हुई आबादी को बसाने के लिए प्रादेशिक विस्तारवाद के मार्ग का अनुसरण कर रहा है। रूसी मगोलिया पर, जिसे 'स्वतन्त्र मगोलिया प्रजातन्त्र' कहते हैं, चीन की आँख है। मगोलिया का पूर्वी भाग चीन के अधिकार में है। चीन चाहता है कि दोनों मगोलिया एक होकर चीन का प्रदेश बन जाएँ। चीन का आरोप है कि रूस ने 'स्वतन्त्र मगोलिया' को हडप लिया है। मगोलिया के कारण दोनो देशों की सीमाओं पर भारी सैनिक जमाव रहता है और कितनी ही बार सैनिक झडपे भी हो चुकी है जिनमें पराजित होकर चीनियों को पीछे हटना पडा।

7 अमेरिका भी रूस और चीन के मतभेदों को उकसाने के लिए उत्तरदायी है। जब 1969 के बाद रूस-चीन सीमा पर झडपें हुई तो अमेरिकी समाचार-पत्रों में प्रचार किया कि 1969 में रूसी सैनिक अधिकारी इस बात पर विचार कर रहे थे कि चीन पर आकस्मिक हमला किया जाए ताकि उसकी परमाणु शक्ति समाप्त हो जाए। वास्तव में अमेरिका यह तो नहीं चाहेगा कि रूस और चीन के बीच बडे पैमाने पर परमाणु युद्ध हो क्योंकि इसका प्रभाव रूस और चीन के बाहर दूर-दूर तक पडेगा। इसके अतिरिक्त चीन की समाप्ति से रूस की शक्ति बढ जाएगी। मगर अमेरिका यह अवश्य चाहता है कि दोनों के बीच इस प्रकार का तनाव बना रहे जिससे अमेरिका लाभान्वित हो।

8 चीन दुनिया के हर देश में रूस विरोधी प्रचार कर रहा है। यूरोपीय कम्युनिस्ट देशों में उसने रूस के प्रति आग भडकाने की हर सम्भव चेष्टा की है। अल्बानिया को रूस से विमुख करने में चीन को सफलता प्राप्त भी हुई है। रूसी नेतृत्व चीन की इन कार्यवाहियों से परेशान है और अपने प्रभुत्व की रक्षा के लिए व्यग्र है।

9 चीन को विश्वास होने लगा है कि पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थाई है जबकि जापान निरन्तर शक्तिशाली होकर पूर्वी एशिया में स्थाई रूप से छा जाने को प्रयत्नशील है अत अमेरिका से सन्तुलन कायम रखकर पूर्वी एशिया में सोवियत संघ की उपस्थिति को असम्भव बनाकर, चीन को सैनिक

उपस्थिति की सम्भावनाओं को सुदृढ कर सकता है। चीन और अमेरिका दोनों इस बात से सहमत है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत सघ द्वारा नही होनी चाहिए।

10 पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के सम्बन्धो में सुधार रूस को अभीष्ट है, लेकिन वह चीन और अमेरिकी सम्बन्धों मे सुधार को पसन्द नही करता।

11 रूस का विचार है कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है और विध्वसक अस्त्रो के निर्माण के कारण यह वांछनीय भी नही है जबकि चीन का मत है कि समाजवाद की तथाकथित सैनिक सर्वोच्चता के कारण सशस्त्र नीति व्यावहारिक है। चीनी नेतृत्व का यह विश्वास था कि साम्राज्यवादियों को झुकने के लिए विवश किया जा सकता है और यदि ऐसा न हो तो युद्ध द्वारा उसके भाग्य का निर्णय किया जाना चाहिए चाहे उसमे एक-तिहाई या आधी मानव सभ्यता ही नष्ट क्यों न हो जाए। सितम्बर, 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन के दृष्टिकोण मे कुछ अन्तर आया है तथा ऐसा आभास होने लगा है कि नया नेतृत्व सघर्ष की बजाय सहयोग की राजनीति पर चलने का प्रयत्न करेगा।

12 रूसियो का अपने समाज के सम्बन्ध में तर्क है कि वर्ग-सघर्ष की विजय पूर्ण हो चुकी है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को सम्पूर्ण जनता के राज्य का रूप दे दिया गया है। चीनी उसको मात्र कुतर्क कहकर अस्वीकार करते हैं। उनके विचार से यह सोवियत सघ के अन्तर्गत प्रभुरता से बढे नौकरशाही तत्वो पर आवरण डालने की एक योजना है जो सर्वहारा तानाशाही एव वर्ग-सघर्ष सम्बन्धी लेनिनवादी विचारधारा के लिए खतरा है।

13 चीन सोवियत सघ से प्राप्त आर्थिक सहायता से कभी भी सन्तुष्ट नही रहा। कोरिया युद्ध के लिए प्राप्त ऋण के दायित्व ने उन्हे और भी अप्रसन्न कर दिया। जब रूस ने चीन की सहायता बन्द कर दी तो चीन ने इसका अर्थ यह लगाया कि रूस उस पर साम्यवादी दल से वार्ता के लिए अधिक दबाव डालना चाहता है। रूसी नेतृत्व को यह विश्वास हो गया कि चीन को आर्थिक सहायता देने का वही अवांछनीय परिणाम होगा जो सैनिक सहायता का हुआ है।

14 अल्बानिया का प्रश्न विदेश नीति का विषय होते हुए भी दल का प्रश्न बन गया। प्रश्न था कि क्या सोवियत साम्यवादी दल को यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौनसा शासक दल साम्यवादी गुट में है और वास्तविक समाजवादी देश कौनसा है? सोवियत साम्यवादी दल ने अल्बानिया को एक-पक्षीय कार्यवाही द्वारा गुट से निकाल दिया क्योंकि उसने मास्को की अवज्ञा की थी। चीनियों ने रूस की इस कार्यवाही की भर्त्सना की और अल्बानिया चीनी गुट में शामिल हो गया।

15 सोवियत सघ के विरुद्ध चीन के अविश्वास का एक बड़ा ऐतिहासिक आधार भी है। राजनीतिक विचारको और इतिहासकारो का तर्क है कि अभी तक इतिहास मे चीन की ओर से सोवियत सघ पर कभी कोई आक्रमण नही हुआ जबकि

इसके विपरीत क्रान्ति के पूर्व रूसी शासको ने चीन पर कई बार आक्रमण करके उसके भू-भाग को हड़प लिया था। वास्तव मे सोवियत सघ मूलतः यूरोपीय देश है और एशिया मे उसका इतना विस्तार क्रान्ति के पूर्व रूसी शासको की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियो का ही फल है।

इस प्रकार सोवियत-चीन वैमनस्य साधारण और तथ्यपूर्ण है। सीमा पर दोनो ओर सैनिक जमाव है और जब तक झड़पे हो जाती हैं। विगत कुछ वर्षों मे चीनी नेता आरोप लगाते आ रहे है कि सोवियत सघ ने उसकी सीमा पर भारी सैनिक जमाव कर रखा है जिससे चीन की प्रभुसत्ता एव अखण्डता को काफी खतरा उत्पन्न हो गया है। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए चीन तेजी से सामरिक तैयारियाँ कर रहा हे पर यह कहना कठिन है कि सोवियत रूस की ओर से यह तथाकथित खतरा वास्तविक है या काल्पनिक। हाल ही के वर्षों का इतिहास चीनी विस्तारवादी मनोवृत्ति की पुष्टि करता है। चीन ने जिस प्रकार भारत की भूमि हड़पी, पाकिस्तान द्वारा अनाधिकृत रूप से दी गई कश्मीर की भूमि को हड़पा उसे देखते हुए चीन के बारे मे कुछ कहना वस्तुत. कठिन हे। जो भी हो, सोवियत-चीन सघर्ष आज राजनीतिक और राजनयिक पर्यवेक्षकों के लिए विचारणीय विषय बना हुआ है। जहाँ तक सीमा पर सैनिक जमाव का प्रश्न है, यह एक स्थापित तथ्य है। सोवियत सघ के अनुसार चीन-सोवियत सीमा पर नियमित चीनी सेना बनी हुई है। चीन के वहाँ प्रक्षेपास्त्र, तोपे और राइफले है जिनके मुँह उत्तरी पड़ोसियो की ओर है।

चीन और सोवियत सघ मे सीमा सम्बन्धी दर्जनो लिखित और अलिखित सन्धियाँ और समझौते हैं। ये सन्धियाँ और समझौते 1889 और 1915 के बीच हुए थे। इन सन्धियो और समझौतो का समय-समय पर जायजा भी लिया जाता रहा है लेकिन चीनी अधिकारियो की मान्यता है कि बहुत-सा इलाका अभी भी विवादास्पद है। चीन के अनुसार उसके 32 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र तक किसी न किसी पड़ोसी देश का अधिकार है। इसमे से 15 लाख वर्ग किलोमीटर सोवियत सघ के अधीन है। चीन के अनुसार जब तक इस विवादास्पद क्षेत्र को सुलझा नही लिया जाता तब तक किसी भी तरह की वार्ता या सवाद बेमतलब और प्रभावहीन साबित होगी। चीन ने यह स्पष्ट तौर पर कहा है कि यदि सोवियत सघ समुचित शान्ति चाहता है तो प्रमुख मुद्दो पर सहमति होनी चाहिए। सीमा पर यथास्थिति बनाए रखने पर सहमति और सशस्त्र सेनाओ को एक-दूसरे से दूर रखने का आश्वासन, उसके बाद परस्पर वार्ता द्वारा विवाद को सुलझाने की कोशिश की जानी चाहिए। चीन ने यह भी माँग की है कि सोवियत सेनाएँ मगोलिया से भी हट जाएँ। 1960 की सोवियत-चीन सीमा को ही वास्तविक सीमा माना जाए। इन्ही दो प्रस्तावो को चीन अपने ठोस सुझाव बताता है।

कम्युनिस्ट खेमे मे चीन लगभग अलग-थलग पड गया है। यूरोप मे उसका एकमात्र साथी अल्बानिया भी उससे अलग हो गया है। इसलिए सोवियत सघ से

ब्रिगाड के बाद अल्बानिया से उसे जो थोड़ा-बहुत सहयोग और समर्थन मिलता था वह भी अब तकरार में बदल गया है। एशियाई देशों में भी वियतनाम पर उसका दबदबा नहीं है और कम्बोडिया वियतनाम के मुकाबले कमजोर है। यही कारण है कि उसका झुकाव पश्चिमी देशों की ओर अधिक होता जा रहा है और पश्चिमी प्रौद्योगिकी की जानकारी प्राप्त करने के लिए चीनी इंजीनियर और वैज्ञानिक इन देशों में देखे जा रहे हैं। *अब इस मसले ने और व्यापक रूप अख्तियार कर लिया है।* चीन में नेतृत्व परिवर्तन जरूर हुआ है लेकिन सोवियत संघ की मान्यता है कि अभी भी माओवाद का हौवा चीन पर हावी है और जब तक माओवाद का हौवा रहेगा चीन-सोवियत सम्बन्धों में अधिक सुधार की गुंजाइश नहीं है।

वस्तुतः रूस और चीन के बीच संघर्ष के मूल कारण उतने सैद्धान्तिक नहीं हैं जितने कि राजनीतिक और सामरिक। साम्यवादी जगत् का नेतृत्व कौन करे—यह झगड़े की मूल जड़ है।

सोवियत संघ और चीन के बीच समझौते के प्रयास

तीव्र मतभेदों के बावजूद रूस और चीन दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे के शत्रु नहीं बने रह सकते, क्योंकि उससे अमेरिका की 'बन्दर-बाँट' नीति सफल हो जाएगी। पश्चिमी जगत् विशेषतः अमेरिका के निहित स्वार्थों और वास्तविक इरादों से दोनों ही देश अच्छी तरह परिचित हैं लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने-अपने वर्चस्व हेतु तथा 'शक्ति-सन्तुलन' को अपने पक्ष में करने के लिए दोनों ही अमेरिका की मैत्री के आकांक्षी हैं। वस्तु स्थिति को समझ कर ही रूस और चीन समय-समय पर अपने मतभेदों को सुलझाने के लिए बातचीत करते रहे हैं तथा 1970 से दोनों के बीच सैनिक संघर्ष की सम्भावना बहुत-कुछ कम हुई है। 1970 की 13 *जनवरी को दोनों देशों ने सीमा-समस्या के समर्थन के लिए आपस में जो* वार्ता की उससे उनके बीच मतभेद कुछ कम हुए हैं। अक्तूबर, 1970 में हुई सोवियत-चीन व्यापार सन्धि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-सुधार की दिशा में एक कदम था जिसके अनुसार सोवियत रूस ने चीन से अपने व्यापार में 1971-72 में 200% वृद्धि कर देने का आश्वासन दिया था।

9 सितम्बर, 1976 को माओ-त्से-तुंग की मृत्यु के बाद चीन के नए नेतृत्व का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ उदार बनता जा रहा है और फलस्वरूप रूस-चीन विवाद में कटुता कुछ कम हुई है। यद्यपि विरोध बदस्तूर जारी है। समय-समय पर दोनों देशों के *बीच समझौता वार्ताएँ भी चली हैं, तथापि कोई ठोस नतीजा नहीं निकला।* 24 जुलाई, 1981 को चीन ने अफगान-सोवियत संघ की सीमा सन्धि को अवैध घोषित किया। वास्तव में लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे पर रूस-चीन मतभेद बरकरार हैं और निकट भविष्य में कोई ऐसी आशा नहीं दिखाई देती कि दोनों देशों का विवाद समाप्त हो सकेगा। चीन अनेक अवसरों पर एशिया में 'रूसी विस्तारवाद' की बात कह चुका है और इसे रोकने के लिए अमेरिका के सहयोग की उसे अपेक्षा है।

1982 मे दोनो देशो के बीच व्यापार समझौता हुआ, फलस्वरूप दोनो के बीच सीमा-व्यापार शून्य से बढकर 1984 मे 1.4 अरब डॉलर तक पहुँच गया और 1990 तक 5 अरब डॉलर तक पहुँच जाने की सम्भावना है। चीन के दक्षिण-पश्चिम मे सीमा पर स्थित चीनी नगर सिकियाग मे सडकें एक-दूसरे के यातायात के लिए खोल दी गई हैं जिनसे माल के अतिरिक्त सीमा के दोनो ओर रहने वाले सगे-सम्बन्धियो तथा मित्रो को आने-जाने की अनुमति मिल गई है।

लगभग 1982 से दोनो देशो मे आपसी सम्बन्ध सुधारने के जो ठोस प्रयत्न शुरू हुए उसका एक अन्य अच्छा परिणाम तब निकला जब 8 जून, 1986 को दोनो देशो ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए जिमके तहत दोनो देश एक-दूसरे के यहाँ कान्सुलेट स्थापित करने पर सहमत हुए। रूसी कान्सुलेट शघाई मे और चीनी कान्सुलेट लेनिनग्राड मे खोलने का निश्चय हुआ। 1960 मे दोनो देशो के मध्य विवाद उत्पन्न होने के बाद यह कान्सुलेट बन्द कर दिए गए थे। सीमा-विवाद सुलझाने की दिशा मे भी दोनो देश आगे बढे। 21 अगस्त, 1987 को पेकिंग मे रूस और चीन के मध्य सीमा-समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। यह तय हुआ कि दोनो देशो के बीच पूर्वी क्षेत्रो की सीमा उन नदियो के मध्य मे होगी जिनमे जहाज नही चलते हैं और जिन नदियो मे जहाज चलते हैं उनमे उस क्षेत्र के मध्य की रेखा होगी जिस क्षेत्र मे जहाज चलते है। सीमा-निर्धारण करने के लिए दोनो देश विशेषज्ञो की टीम बनाने को सहमत हो गए हैं। यह समझौता सोवियत नेता गोर्वाच्योव के जुलाई, 1986 मे किए गए उस प्रस्ताव द्वारा हो सका जो चीन के 'थालवेक' सिद्धान्त के समान ही था। इस समझौते से चीन को उसुरी मे कई टापू प्राप्त हो जाएँगे।

अब तक रूस और चीन के बीच सम्बन्धो मे इतना सुधार हो चुका है कि रूस मे सैकडो चीनी छात्र अध्ययन कर रहे है। दोनो देशो ने चीन मे शघाई और रूस मे लेनिनग्रेड मे वाणिज्य दूतावास स्थापित कर लेने के लिए समझौता कर लिया है। रूस के प्रधान मन्त्री श्री चेरनेंको की शव-यात्रा मे सम्मिलित होकर पीकिंग लौट आने पर चीन के उप-प्रधान मन्त्री ली पेंग ने पत्रकारो को बताया कि सोवियत रूस का साम्यवादी दल चीनी साम्यवादी दल के साथ भाई-चारे के आधार पर सम्बन्ध बनाने का इच्छुक है और कुछ समय बाद दोनो देशो के बीच खुला व्यापार होने लगेगा। बीजिंग और शघाई के जो समाचार-पत्र पहले रूस की कटु आलोचना छापने से बाज नही आते थे वही पत्र आज रूस को साम्यवादी भाई बताने लगे है। कदाचित् इसी आधार पर रूस के कम्यूनिस्ट पार्टी महासचिव श्री गोर्वाच्योव ने कह दिया था कि चीन से सम्बन्ध अच्छे हो जाएँगे।

मैत्री स्थापित करने के लिए चीन ने रूस से तीन माँगें की है—अफगानिस्तान से रूसी सेना हटा ली जाए, रूस-चीन सीमा और मगोलिया मे सैनिक सख्या बहुत कम कर दी जाए और कम्पूचिया मे सेना हटा लेने के लिए रूस वियतनाम पर जोर डाले। हांगकांग के पत्र बताते हैं कि बीजिंग ने अपनी शर्तों की सख्या घटाकर केवल

एक कर दी है कि वियतनाम पर दबाव डालकर कम्पूचिया से वियतनामी सेना हटवा दी जाए। दूसरी तरफ रूस द्वारा चीन से समझौता करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि रूस चीन को अमेरिका की गोद में जाने से रोकना चाहता है।

सोवियत रूस ने अफगानिस्तान से सेना हटाना शुरू कर दिया है और कम्पूचिया से वियतनामी सेनाओं की वापसी शुरू हो गई है। चीन सीमा पर रूस ने तनाव कम किया है। दोनों के बीच समझौता-वार्ता जारी है।

चीन ने पहले सोचा था कि अमेरिका उसकी मैत्री के लिए ताइवान को ठोकर मार देगा परन्तु ऐसा न होने और चीन की इच्छानुसार अमेरिका से वस्तुएँ न मिल पाने के कारण चीन ने रूस का दरवाजा फिर खटखटाया है। बिना रूस की सहायता के रूसी डिजाइनों पर आधारित चीनी विमानों और हैलीकोप्टरों में कोई तकनीकी उन्नति नहीं की जा सकती है।

चीन अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन द्वारा प्रवर्तित स्टार वार कार्यक्रम से भी घबरा गया है, इस कारण वह अपना पक्ष सम्भालना चाहता है। यही हाल रूस का है। फिर कुछ ऐसी परिस्थिति बन गई है कि अमेरिका-चीन-जापान धुरी रूस के लिए खतरनाक हो सकती है।

चीन और भारत

भारत और चीन के सम्बन्धों पर विस्तार से प्रकाश भारतीय विदेश नीति के पिछले अध्याय में डाला जा चुका है। लगभग 1960 तक दोनों देशों के सम्बन्ध सामान्य थे, यद्यपि सीमा-विवाद अधिक उग्र हुआ और अक्तूबर, 1962 में भारत पर चीन के विशाल सुनियोजित आक्रमण के उपरान्त अब तक दोनों देशों के सम्बन्ध कटुतापूर्ण ही हैं। चीन की परराष्ट्र नीति का एक मुख्य तत्त्व यह रहा है कि वह उन सभी राष्ट्रों के माध्यम से भारत की नाकाबन्दी करे जो या तो उसकी नीतियों के समर्थक हैं या प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से उससे सहायता चाहते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में पाकिस्तान चीन का अच्छा साथी बन गया है और चीनी नेता भारत के विरोध में हिन्द महासागर की जल-सीमा का अतिक्रमण करते देखे गए हैं। यह स्थिति भारत के लिए चिन्ताजनक है। सोवियत-भारत मैत्री-सन्धि के बाद तो चीन का यह पूर्ण प्रयास रहा है कि पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी का सुदृढ़ निर्माण हो जाए। चीन भारत के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने में नहीं चूकता। सिक्किम के भारत में विलय के अवसर पर चीन और पाकिस्तान ने तूफान मचा

दिया था। पिछले कुछ वर्षों से भारत-चीन मे कटुता कम हुई है और अपने विवादो को शान्तिपूर्ण ढग से हल करने की दिशा मे दोनो ही देश प्रयत्न कर रहे हैं। भारत की ईमानदारी पर तो कोई सन्देह नही है लेकिन चीन की कूटनीतिक पैतरेबाजियाँ कुछ इस प्रकार की हैं जिनसे ऐसा लगता है कि 1962 के आक्रमण मे हड़पी हुई भारत की जमीन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा वह अपने कब्जे मे रखना चाहता है अथवा सौदेबाजी करना चाहता है।

भारत को चिन्ता का एक विषय यह है कि तिब्बत को चीन ने सैनिक शिविर मे बदल दिया है। चीन ने तिब्बत मे भारत तिब्बत सीमा पर प्रक्षेपास्त्र तैनात किए हैं। इन परमाणु प्रक्षेपास्त्रो का निशाना भारत की ओर है। इनसे भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है।

भारत-चीन सीमा-वार्ता का सिलसिला 1981 से निरन्तर चल रहा है लेकिन कोई ठोस परिणाम नही निकला है और चीन नए-नए मुद्दे उठाता रहा है। यही नही, भारत के अरुणाचल प्रदेश के वांग-थांग क्षेत्र मे चीनी अतिक्रमण को भी चीन की सरकार सही ठहराती रही है। (इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन के लिए भारत की विदेश नीति देखें)।



चीन और पाकिस्तान

भारत की स्वाधीनता के प्रथम दशक मे और उसके कुछ समय बाद तक भी चीन ने भारत के प्रति का स्वांग अच्छी तरह निभाया। इस अवधि मे पाक-चीन सम्बन्धो मे कोई 'विशेष प्रेमालाप' नही हुआ, यद्यपि इस दिशा मे प्रयत्न 1956 से ही शुरू हो गए थे। 1955 मे तत्कालीन पाक प्रधानमन्त्री श्री सुहरावर्दी ने चीन की ओर प्रधानमन्त्री श्री चाऊ ने पाकिस्तान की यात्रा की। इस पारस्परिक दौरे के बाद दोनो देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान शुरू हुए। चीन ने पूर्वी पाकिस्तान को अपना कार्यक्षेत्र चुनकर ढाका मे एक पाक-चीन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना की, पर यह क्रम अधिक नही चल सका और अक्तूबर, 1958 मे पाकिस्तान मे सैनिक तानाशाही की स्थापना के साथ ही समाप्त हो गया।

पाकिस्तान की भारत-विरोधी नीति सैनिक तानाशाही के युग मे निरन्तर उग्र होती गई। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध दुनिया के हर देश से सैन्य सामग्री प्राप्त करने की पूरी कोशिश की। भला चीन ऐसे मौके को कब चूकने वाला था। उसने पाकिस्तान को अपने पक्ष मे करने के लिए कूटनीतिक पासे फेंके। जब

अमेरिकी राष्ट्रपति कैनेडी ने भारत से सम्बन्ध बढाने के प्रयास शुरू किए तो पाक राजनेताओं ने इसे पसन्द नहीं किया और चीनी शासकों ने परिस्थितियों का लाभ उठाया। सीमा-विवाद के फलस्वरूप भारत-चीन संघर्ष की आशंका बढने पर अमेरिका ने भारत को अधिक आर्थिक और शस्त्र सहायता देना आरम्भ किया तथा पाकिस्तानी अप्रसन्नता की उपेक्षा कर दी तो पाकिस्तान ने चीन की ओर झुकते हुए पहली बार सयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की सदस्यता के प्रश्न पर अमेरिका ने विरोध मे मतदान दिया।

चीन पाकिस्तान को अपने अंक मे समेटने को तैयार हो बैठा था। तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खाँ ने पाक-चीन मैत्री की पृष्ठभूमि तैयार करनी शुरू कर दी कि 1964 मे सैंटो सगठन की बैठक होने से पहले ही अयूब खाँ ने चेतावनी दी कि पाकिस्तान चीन के साथ सीमा समझौता करेगा। 1960 में पाकिस्तान की ओर से इस दिशा मे पहल की गई और चीन से उसे हर तरह भडका कर 1962 मे उसके साथ एक सीमा-समझौता सम्पन्न किया। पाकिस्तान इस समझौते के माध्यम से अमेरिका को और चीन सोवियत संघ को चिढाना चाहता था। यह सीमा-सन्धि भारतीय हितों पर कठोर प्रहार थी। इसके अन्तर्गत सिकियांग और पाक-अधिकृत कश्मीर के बीच सीमा-निर्धारण की व्यवस्था थी। सन्धि द्वारा पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का 2050 वर्ग मील क्षेत्र अवैध रूप से चीन को सौंप दिया। समझौते के बहुत गम्भीर परिणाम निकले क्योंकि एक तो चीन की सीमा-प्रतिरक्षा सुदृढ हो गई और दूसरे इस उपमहाद्वीप मे प्रवेश करने की सुविधा मिल गई। दोनों देशों ने एक सडक का भी निर्माण किया जो हिमालय के दर्रे में होकर जाती है और सर्दी मे भी खुली रहती है। इस सडक से दोनो देश जुड गए, विशेष लाभ चीन को मिला। चीन भारी अप्रत्याशित लाभ के बदले पाकिस्तान को पूर्ण राजनीतिक और सैनिक समर्थन देने लगा।[1]

पिण्डी-पेकिंग धुरी की स्थापना को विश्व के देशों ने प्रारम्भ में अनमेल विवाह की दृष्टि मे देखा और उस पर सन्देह किया, लेकिन दोनो के बढते हुए प्रेमालाप ने उनकी आँखें खोल दी। चीन से विपुल सैनिक सहायता प्राप्त कर पाकिस्तान ने सैंटो और सिएटो सगठनों की उपेक्षा शुरू करदी तथा मनीला मे आयोजित सीएटो की बैठक में भाग लेने से इन्कार कर दिया। अक्तूबर, 1962 मे भारत-चीन युद्ध के समय पाकिस्तान ने खुले आम अपने 'बडे आका' चीन का समर्थन किया और भारत को आक्रामक ठहराया। भारत की पराजय पर पाकिस्तान में खुशियाँ मनाई गई।

पाक-चीन की दोस्ती बढती गई और दिसम्बर, 1963 मे चीन के विदेश व्यापार उपमन्त्री श्री नानहान चैन ने अपनी पाक-यात्रा के समय यह आश्वासन दिया कि किसी भी भारत-पाक युद्ध मे चीन पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन देगा। 1964 मे चीनी प्रधानमन्त्री ने पाक-यात्रा के समय उपयुक्त आश्वासन की पुष्टि की। पाकिस्तान ने चीन की खुले दिल से जो सेवाएँ की उसने पुरस्कार स्वरूप जुलाई, 1964 मे चीन ने पाकिस्तान को 6 करोड डॉलर का व्याज-मुक्त ऋण प्रदान किया। चीन की भारी मात्रा मे सैनिक सामग्री भी पाकिस्तान को अनुदान स्वरूप मिलती रही। उधर अमेरिका भी पाकिस्तान को चीन की ओर विमुख करने हेतु आर्थिक और सैनिक सहायता प्रदान करता रहा, ये समझते हुए भी कि अमेरिकी हथियारो का प्रयोग पाकिस्तान चीन के विरुद्ध नही बल्कि भारतीय लोकतन्त्र के विरुद्ध करेगा।

चीन से प्रत्यक्ष प्रोत्साहन पाकर पाकिस्तान ने अप्रैल, 1965 मे कच्छ पर आक्रमण कर दिया। इस समय और बाद मे भी कुछ माह तक प्रमुख चीनी राजनेता पाकिस्तान मे उपस्थित रहे। दोनो देशो मे एक हवाई समझौता भी हुआ जिसके अधीन चीन को पूर्वी पाकिस्तान से होकर वर्मा तथा दक्षिण एशिया तक विमान उड़ाने की सुविधा प्राप्त हो गई। यह एक ऐसी सुविधा थी जिसका प्रयोग चीन भारत के विरुद्ध आसानी से कर सकता था। तत्पश्चात् नौकायन और सचार सम्बन्धो के विषय मे भी दोनो देशो के बीच महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। चीन को पूरी तरह अपनी पीठ पर पाकर पाकिस्तान ने सितम्बर, 1965 मे भारत पर आकस्मिक रूप से भीषण आक्रमण कर दिया। रूसी भय एव अन्य कतिपय कारणो से तथा भारत की विकसित सैन्य-शक्ति का अनुमान लगाकर चीन ने यद्यपि भारत के उत्तरी सीमान्त पर पाकिस्तान के समर्थन मे कोई आक्रमण नही किया, तथापि वहाँ सैनिक गतिविधि तेज करके तथा भारत को तीन-दिवसीय अल्टीमेटम देकर पाकिस्तान को 'आश्वस्त' करने की चेष्टा की। कूटनीतिक क्षेत्र मे पाकिस्तान को चीन से पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ। चीनी अल्टीमेटम भी तब दिया गया जब पाक विदेश मन्त्री न्यूयार्क मे थे। यदि सयुक्त राष्ट्रसघीय प्रयत्नो से 23 सितम्बर को युद्ध-विराम न होता तो सम्भवत. चीन पाकिस्तान को बचाने के लिए सैनिक कार्यवाही कर बैठता।

1965 मे पाक-चीन सम्बन्धो म एक नया चरण शुरू हुआ जिसके अनुसार चीन ने पाकिस्तान को भारी आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति अपनाई। लगभग इसी वर्ष मे पाकिस्तान ने अमेरिका पर पूरी तरह निर्भर रहना छोड़ दिया

और मार्च 1966 में स्पष्ट रूप में घोषित किया कि उसे चीन से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र, विमान और टैंक मिल रहे हैं। चीन से पाकिस्तान को जो सामरिक सहायता मिली, वह अमेरिका सैन्य सहायता से कहीं अधिक थी।

दिसम्बर 1971 के भारत-पाक युद्ध के पश्चात् पिण्डी-पेकिंग सम्बन्धों में एक नए चरण का सूत्रपात हुआ। युद्ध काल में चीन ने पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र सहायता और राजनीतिक समर्थन देने तक ही अपने को सीमित रखा। चीन पाकिस्तान की इस आशा को मिटाना चाहता था कि अमेरिका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को हर प्रकार की सहायता करेगा। पाक-अमेरिका प्रतिरक्षा-सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका ने वचन दिया था कि वह पाकिस्तान की अखण्डता और प्रभुसत्ता की रक्षा करेगा, लेकिन पाकिस्तान का विभाजन हो गया और अमेरिका का वचन कोरा कागजी सिद्ध हुआ। इस प्रकार चीन को पाकिस्तान से यह कहने का अवसर मिल गया कि अमेरिका पर भरोसा नहीं किया जाना चाहिए।

पाकिस्तान के रक्षा बजटों में चीन तथा अन्य मित्र देशों से बिना मूल्य प्राप्त हथियारों और उपकरणों की चर्चा नहीं की जाती। गैर-कम्युनिस्ट देशों में चीन ने पाकिस्तान को जितनी सैनिक सहायता दी है उतनी किसी दूसरे को नहीं दी गई है।

अप्रैल-मई 1984 में अमेरिका तक को इस बात से चिन्ता होने के समाचार प्राप्त हुए कि पाकिस्तान और चीन के बीच ऐसा गुप्त समझौता है जिसके अन्तर्गत परमाणु बम तथा आणविक शस्त्र बनाने की जानकारी चीन से पाकिस्तान को पहुँच रही है। चीन ने 1983 में पाकिस्तान को परमाणु बम सम्बन्धी जानकारी देनी शुरू की। परमाणु क्षेत्र में चीन-पाकिस्तान के बीच बढ़ रहे सहयोग पर चिन्ता प्रकट करते हुए अमेरिका सीनेटर अलेन क्रैंस्टन ने कहा था कि बगैर विस्फोट किए ही 1990 तक पाकिस्तान के पास 30 यूरेनियम बमों का भण्डार होगा। विस्फोट ही करना हो तो पाकिस्तान के बमों का विस्फोट चीन में भी हो सकता है।

चीन और पाकिस्तान में राजनीतिक एवम् सैनिक गठबंधन निरन्तर मजबूत होता जा रहा है। चीन के प्रधानमंत्री झाओ झियाग ने 20 से 23 जून, 1987 तक पाकिस्तान की राजकीय यात्रा के दौरान राष्ट्रपति जिया और प्रधानमंत्री जुनेजो से भारत, श्रीलंका, अफगानिस्तान, दक्षिण एशिया तथा ईरान-इराक युद्ध के बारे में बातचीत की। बातचीत में प्रत्येक मसले पर दोनों देशों के समान दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया। प्रधान मन्त्री झाओ और राष्ट्रपति जिया ने अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी की माँग की। दोनों नेताओं ने सार्क देशों द्वारा क्षेत्रीय

सहयोग पर बल दिए जाने की प्रशंसा की है। यही नहीं प्रधान मन्त्री झाओ ने कहा कि दक्षिण एशिया और हिन्द महासागर को परमाणु अस्त्र विहीन क्षेत्र घोषित किया जाए। झाओ ने एशिया के उस क्षेत्र का कोई जिक्र नहीं किया जिसमे चीन स्वय एक परमाणु शक्ति के रूप मे है।

13 जुलाई, 1987 को सम्पन्न हुए एक समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान और चीन अपनी सेनाओं के बीच और अधिक मित्रता तथा सहयोग बढाने पर सहमत हुए है। समझा जाता है कि पाकिस्तान ने इस समझौते के द्वारा चीन से लड़ाकू जैट विमान, टैंक, तोप और अन्य सैनिक सामान प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त कर ली है। चीन पाकिस्तान को 2001–7 H विमान देने को तैयार हो गया जिसमे अमेरिका GE404 इंजिन लगाने को तैयार है।

चीन और अन्य राष्ट्र

साम्यवादी चीन के यूरोप, एशिया और अफ्रीका के विभिन्न राष्ट्रो के साथ अधिकाँशत उतार-चढाव और मन-मुटाव के सम्बन्ध रहे हैं। पूर्वी यूरोप के एक छोटे से देश अल्बानिया ने 1961 मे तब एक धमाका किया था जब उसने साम्यवादी आन्दोलन के एकमात्र मुखिया सोवियत सघ से मतभेदो के कारण सम्बन्ध-विच्छेद करके चीन से नाता जोड़ा था। चीन ने सोवियत सघ की आलोचना करते हुए तब एक सच्चे और विश्वसनीय मित्र के रूप मे अल्बानिया का स्वागत किया था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के भीतर एक और धुरी के निर्माण की सम्भावना उत्पन्न हुई जिसने आगे चलकर अक्तूबर, 1962 मे चीन और सोवियत संघ के बीच सम्बन्ध-विच्छेद के बाद साकार रूप ग्रहण कर लिया। अल्बानिया ने दूसरा धमाका जुलाई, 1977 म किया जब वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के समाचार-पत्र 'जेरी पापुलिन' ने अप्रत्यक्ष रूप मे चीन की विदेश नीति के कई तत्वो की सैद्धान्तिक आधार पर कटु आलोचना की। सम्पादकीय मे 'तीसरी दुनिया' के सिद्धान्त की भी भर्त्सना की गई जिसका प्रतिपादन माओ-त्से-तुग ने किया था और अप्रैल, 1974 मे संयुक्त राष्ट्र मे चीन के भूतपूर्व उपप्रधानमन्त्री तेग सियाओ पिंड ने प्रथम बार अधिकारिक तौर पर उसकी सार्वजनिक अभिव्यक्ति की। तब से विकासशील देशो को 'तीसरी दुनिया' के देश कहकर सम्बोधित किया जा रहा है। सम्पादकीय मे 'तीसरी दुनिया' के सिद्धान्त को लेनिनवाद विरोधी कहकर उसके समर्थकों पर यह आरोप लगाया गया कि उन्ह अनेक विकासशील देशो मे वास्तविक साम्राज्यवाद विरोधी, क्रान्तिकारी शक्तियो और साम्राज्यवाद समर्थक,

प्रतिक्रियावादी फासीवादी शक्तियों के बीच पहचान नही है। इस प्रकार समाचार-पत्र ने चीन पर खुला प्रहार किया जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष मे एक प्रमुख शक्ति माना जाता था। अल्बानिया रातो-रात चीन विरोधी नही बन गया जब 1974 मे चीन ने 'शत्रु का शत्रु अपना मित्र' का सिद्धान्त अपनाकर अमेरिका से सम्पर्क स्थापित किया तभी से इस विरोध का आभास होने लगा था। फिर भी मई, 1976 तक अल्बानिया और चीन मित्र बने रहे। अक्तूबर, 1976 मे चीन मे सत्ता-परिवर्तन के साथ ही दोनो की 'पक्की मित्रता' मे दरार पड गई जो उत्तरोत्तर चौडी होती गई है। चीन के प्रति अल्बानिया के रवैये को एक साधारण घटना नही माना जा सकता। यह अल्बानिया के साम्यवादी आन्दोलन सम्बन्धी सैद्धान्तिक सघर्ष की ही एक कडी है। अल्बानिया नही मानता कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के केवल कोई एक या दो केन्द्र-बिन्दु ही हो सकते हैं।

चीन और सोवियत सघ के बीच बिगाड पैदा होने से पहले तक सोवियत नेतृत्व स्वय को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का एक मात्र नेता मानता था, किन्तु चीन ने उसकी इस प्रतिमा को खण्डित कर दिया। कुछ वर्ष पहले तक साम्यवादी आन्दोलन के दो केन्द्र रहे जिनमे सख्या और प्रभाव की दृष्टि से चीन का स्थान निश्चय ही सोवियत सघ के बाद था। पिछले कुछ वर्षों मे साम्यवादी आन्दोलन का एक और केन्द्र उभरा जिसे यूरोपीय केन्द्र की सज्ञा दी गई और जिसके प्रवक्ता पश्चिमी यूरोप के साम्यवादी दल हैं।

युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने सितम्बर, 1977 मे चीन की राजकीय यात्रा करके चीन-युगोस्लाविया के रिश्ते मे एक नए मोड का सूत्रपात किया। नि सन्देह मार्शल टीटो की चीन-यात्रा चीन-युगोस्लाविया सम्बन्धो की एक महान् घटना थी क्योकि मार्शल टीटो चीन की दृष्टि मे 'सशोधनवादी' थे और चीनी नेताओ को फूटी आँख नही सुहाते थे। यात्रा की समाप्ति पर किसी सयुक्त विज्ञप्ति का प्रसारित न किया जाना इस बात का सकेत था कि दोनो पक्षो के बीच अनेक विषयो पर मतैक्य नही था। मार्शल टीटो की मृत्यु के बाद सम्बन्ध सुधार की प्रक्रिया शिथिल हो गई और अभी तक दोनो देशो के सम्बन्ध लगभग यथापूर्वक हैं।

बाह्य मगोलिया पूर्वी एशिया का छोटा-सा देश है जो यद्यपि सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य है, तथापि व्यवहारत. सोवियत रूस के प्रभाव और सरक्षण मे है। मगोलिया पर प्रभुत्व के मामले मे चीन रूस का प्रतिद्वन्द्वी है। ससार की छत कहे जाने वाले तिब्बत की स्वायत्तता चीन ने समाप्त कर दी है। अरब-जगत् मे भी वह अपने पैर फैलाने को प्रयत्नशील है हालांकि इस दिशा मे उसे कोई उल्लेखनीय

सफलता नहीं मिल सकी है। चीन की दृष्टि हिन्द महासागर पर भी है। मॉरिशस, तंजानिया, जाम्बिया आदि को सहायता देने के नाम पर चीन हिन्द महासागर के जल-मार्गों का प्रयोग अपने हित में कर रहा है। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें घनिष्ठ बनाने की दिशा में चीन काफी समय से प्रयत्नशील है। रूमानिया, बल्गेरिया, चैकोस्लोवाकिया, पोलेण्ड आदि से चीन के सम्बन्ध यथावत् चले आ रहे हैं। ये राष्ट्र सोवियत रूस के प्रभाव में हैं तथा रूस विरोधी किसी भी चीनी कार्यवाही के प्रति सजग हैं। पिछले लगभग 15 वर्षों से चीन ने जापान की ओर भी दृष्टिपात किया है। 1972 में चीनी प्रधानमन्त्री द्वारा जापान के नए प्रधानमन्त्री को पीकिंग आने का निमन्त्रण इस बात का सूचक था कि चीन जापान के साथ अच्छे सम्बन्ध कायम करके जापानी सैन्यवाद के खतरे से अपनी सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है। 1978 में चीन-जापान संधि हुई जो दोनों देशों के बढ़ते हुए सम्बन्धों की द्योतक है। चीन बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को प्रत्येक क्षेत्र में कम करना चाहता है।

चीन और पुर्तगाल भी निकट आए हैं। 13 अप्रेल, 1987 को चीन के दौरे पर गये पुर्तगाल के प्रधानमन्त्री कवाको सिल्वा और चीन प्रधान मन्त्री श्री झाओ झियाग ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार पुर्तगाल द्वारा शासित मकाओ द्वीप 20 दिसम्बर, 1999 को चीन को हस्तान्तरित कर दिया जायेगा। चीन के शासन में आ जाने के पश्चात् मकाओ एक विशेष प्रशासनिक इकाई के रूप में ही रहेगा, जिसकी रक्षा और विदेशी मामलों को छोड़ कर हर क्षेत्र में काफी स्वतन्त्रता प्राप्त रहेगी। चीनी प्रधान मन्त्री के अनुसार एक देश दो प्रणाली का सिद्धान्त वास्तविक और व्यवहारिक दृष्टियों से उपयुक्त है।

अफ्रीका में चीन की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य है—नव स्वतन्त्र अफ्रीकी राष्ट्रों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना, इन राष्ट्रों में अमेरिका, रूस और क्यूबा के प्रभाव को कम करते हुए चीनी प्रभाव का विस्तार करना, इन देशों में साम्यवाद का विस्तार करना। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये चीन ने जिन नीतियों और साधनों का सहारा लिया है, उनमें मुख्य है—आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग, द्विपक्षीय व्यापार-समझौते, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, क्रान्ति के चीनी सिद्धान्तों का निर्यात चीन को सोवियत संघ की तुलना में क्रान्तिकारी आन्दोलन के अधिक सक्षम नेता के रूप में प्रस्तुत करना, मुक्ति आन्दोलनों को समर्थन देना और रूसी प्रभाव को कम करने के लिए अमेरिका का प्रत्यक्ष-परोक्ष समर्थन करना।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में चीनी महत्वाकांक्षा और रूस-विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयत्न

चीन के नेताओ ने कई बार कहा है कि रूस हमारे चारो ओर घेरा डालने की चेष्टा कर रहा है। वे कहते है कि चीन के पडोसियो को रूस एक चीन-विरोधी मोर्चे मे बांधना चाहता है। इसका प्रमाण, उनके अनुसार, 1978 की रूस वियतनाम सधि है। यह चीन-विरोधी है, जिसके द्वारा रूस, वियतनाम की सहायता से, चीन को दक्षिण-पूर्वी एशिया से अलग करना चाहता है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया मे करोडो चीनी लोग बसे हुए हैं। यह चीन से प्रभावित क्षेत्र समझा जाता रहा है। चीन अपनी भाषा मे इसे नानयाग (बादल आच्छादित प्रदेश) कहता है। चीन को यह पसन्द नहीं है कि यह क्षेत्र पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो। यही कारण है कि जब वियतनाम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर चीन तथा रूस के साथ, अपनी आवश्यकताओ के अनुसार, सामान्य व्यवहार करने लगा तो चीन के नेता अप्रसन्न हो गए। उन्हें आशा थी कि स्वतन्त्र होने पर वियतनाम अपने निकटवर्ती देश चीन के प्रति अधिक निकटता का प्रदर्शन करेगा और रूस-विरोधी सघर्ष मे उसका साथ देगा लेकिन जब वियतनाम अपनी आर्थिक आवश्यकताओ तथा अन्य कारणो की वजह से रूस से सामीप्य बनाए रहा तो चीन रुष्ट होकर वियतनाम को दक्षिण-पूर्व का क्यूबा या रूस का दक्षिण-पूर्वी एजेण्ट कहने लगा।

चीन ने यह कोशिश भी की कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो का रूस-विरोधी मोर्चा बनाया जाए। इस प्रयास मे चीन के उप-प्रधानमन्त्री तेङ् सियाओ पिङ् 1978 मे थाईलैण्ड, मलेशिया तथा सिंगापुर की यात्रा पर निकले।

रूस-विरोधी मोर्चा-बन्दी—चीन के अनुसार अगर रूस-विरोधी मोर्चा बनाना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि रूस की प्रमुख विरोधी शक्ति के साथ सामान्य तथा अच्छे रिश्ते कायम किए जाएँ, यह शक्ति सयुक्त राज्य अमेरिका है। इसका प्रभाव विश्वव्यापी है। बहुत से देशो को इसने सन्धियो से बांध रखा है। एशिया के देशो मे इसके सैनिक अड्डे विद्यमान है। प्रशान्त तथा हिन्द महासागर मे इसकी नौसेना गश्त लगाते हुए सदैव सचेत है। इससे रिश्ते कायम करने पर अनेक छोटे-मोटे देशो के साथ, जो इस पर आश्रित हैं, अपने आप सम्बन्ध बन जाते हैं। अमेरिका के पास एक सदैव तैयार रूस-विरोधी मोर्चा है। चीन को अगर रूस का विरोध करना है तो उसके लिए एक नया मोर्चा खड़ा करने की जरूरत नहीं है।

उसे पहले से ही स्थित मोर्चे को मान लेना चाहिए। चीन का अमेरिका के साथ सामान्य रिश्ता कायम करना उसका आज की स्थिति मे रूस-विरोधी मोर्चे की ओर बढ़ने का महत्त्वपूर्ण कदम है।

अमेरिका और चीन बहुत बडे देश हैं। वे एक-दूसरे की सहायता बिना रह सकते हैं। पिछले तीस सालो मे वे इस तरह रहे हैं। इन तीस सालों में वे बीस वर्ष तक एक-दूसरे को अपना दुश्मन समझते रहे तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे कोरिया, ताइवान तथा वियतनाम मे लडते रहे।

लेकिन अब चीन के लिए दुश्मन की परिभाषा बदल गई है। उसने घोषित कर दिया है कि सोवियत रूस उसका सबसे बडा खूँखार दुश्मन हो गया है। उसको सबसे पहले इस दुश्मन से लडने की आवश्यकता मालूम होती है। उसे यह भी स्पष्ट मालूम है कि यह लडाई वह अकेले नही लड सकता। यह तो एक मोर्चे के माध्यम से ही लडी जा सकती है।

तटस्थ-पड़ोसी—इस कार्य के लिए अमेरिका के साथ सामान्य रिश्ते कायम करना काफी नही है। अपने मित्र तथा पडोसी देशो को रूस-विरोधी मोर्चे मे शामिल करने की चीन को आवश्यकता महसूस होती है। इसको पूरा करने के लिए वह अब सचेष्ट है, लेकिन चीन के निकटवर्ती देश ऐसे मोर्चे मे शामिल नही होना चाहते हैं, साथ ही चीन से दुश्मनी भी मोल लेना नही चाहते। चीन उनका समीपवर्ती देश है और उसकी वे अवहेलना नही कर सकते।

इस क्षेत्र की राजनीतिक समस्याएँ बहुत जटिल हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया के करीब-करीब सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ सशस्त्र लडाइयाँ लड रही हैं। इन सब का चीन की कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसकी स्थापित राज्यसत्ता के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है।

1949 में कम्युनिस्टों के सत्तारूढ होने पर चीन लगातार दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियो की सहायता हथियारों तथा अन्य प्रकार से करता चला आ रहा है। ये सब कम्युनिस्ट पार्टियाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया की सरकारों से, जिनके साथ चीन अब मित्रता स्थापित करना चाहता है, सशस्त्र टक्करें ले रही हैं।

पेचीदा सवाल—चीन एक तरफ शस्त्र इत्यादि प्रदान कर इस क्षेत्र की कम्युनिस्ट पार्टियो से घनिष्ठता बनाए हुए है और दूसरी तरफ इस क्षेत्र की सरकारों से, जिनके उन्मूलन तथा विनाश के लिए यह कम्युनिस्ट पार्टियाँ कटिबद्ध हैं, मित्रता कायम करना चाहता है। यह एक अन्तर्विरोधपूर्ण विदेश नीति है।

इस ओर थाईलैंड, मलेशिया तथा सिंगापुर ने चीन का ध्यान आकर्षित किया। चीन का उत्तर था कि चीन कम्युनिस्ट पार्टी से दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियो के सम्बन्ध बहुत पुराने है। ये सम्बन्ध उस समय के है जब चीन तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोग पश्चिमी उपनिवेशवादियो से संघर्ष कर रहे थे। स्वतन्त्र होने पर चीन दक्षिण-पूर्वी एशिया की सरकारो से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। लेकिन इस नई चेष्टा मे उसके लिए यह सम्भव नही है कि वह इस क्षेत्र की कम्युनिस्ट पार्टियो के साथ अपने रिश्ते एकदम खत्म कर दे। ये रिश्ते समयानुकूल धीरे-धीरे कम किए जा सकते है, लेकिन उनको अचानक खत्म करना सम्भव नही है।

दूसरी ओर आज स्थिति यह है कि यदि चीन इन कम्युनिस्ट पार्टियो को सहायता देना बन्द कर दे तो उससे इन पार्टियों का अन्त नही हो जाएगा। वे तब रूस से सहायता मांगने लगेंगी और रूस ऐसी स्थिति के इन्तजार मे है।

रूसी सहायता दक्षिण-पूर्वी एशिया की सरकारो के लिए खतरनाक सिद्ध होगी। इसका उदाहरण रूस द्वारा अफ्रीकी देशो को दी गई सहायता है। जिस पार्टी को रूस ने सहायता दी, (इथोपिया, अगोला, मोजाम्बिक इत्यादि) वह अपने विपक्षियो को नष्ट करके सत्तारूढ हो गई।

तटस्थ पड़ौसी—इस तरह की सामरिक तथा आर्थिक सहायता यदि रूस दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियो को देना आरम्भ करेगा तो निश्चय ही ये पार्टियाँ अधिक बलवान हो जाएँगी और मौजूदा सरकारो का अन्त करने मे अधिक समर्थ होगी। अतः इन पार्टियो का चीन के साथ सम्बन्ध रखना दक्षिण-पूर्वी एशिया की सरकारों के हित मे है।

मलेशिया का विचार है कि कोई भी स्वतन्त्र देश दूसरे किसी भी देश को अपने अन्दरूनी मामलो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही दे सकता। यह सिद्धान्त का प्रश्न है। चीन द्वारा मलेशिया कम्युनिस्ट पार्टी को दी जा रही सहायता चीन का मलेशिया के अन्दरूनी मामलो मे हस्तक्षेप है, जिसे मलेशिया कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। चीन यदि मलेशिया से पूर्ण मित्रता चाहता है तो उसे मलेशियाई कम्युनिस्टों को सहायता देना सर्वथा बन्द करना पड़ेगा।

तब यदि रूस मलेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी को सहायता देना शुरू करेगा तो उसका असर रूस और मलेशिया के रिश्तो पर अवश्य पड़ेगा। मलेशिया रूस या किसी भी देश को अपने अन्दरूनी मामलो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही देगा। चीन ने मलेशिया को आर्थिक प्रलोभन दिए और कहा कि चीन मलेशिया से

अधिक रबड़ तथा ताड़ का तेल (पाम ऑयल) खरीदेगा, ताकि चीन-मलेशिया व्यापार, जो अभी तक चीन के पक्ष में है, सन्तुलित हो सके। परन्तु मलेशिया ने स्पष्ट कर दिया कि व्यापार की बात राजनीतिक रिश्तों से भिन्न है और व्यापारिक लाभ के लिए मलेशिया अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता कभी नहीं बेचेगा।

सिंगापुर—सिंगापुर की 76 प्रतिशत जनसंख्या चीनी नस्ल की है। सिंगापुर अमेरिका-जापान-चीन गठबन्धन के पक्ष में है लेकिन वह भी खुलेआम रूस-विरोधी संयुक्त मोर्चे में शामिल नहीं होना चाहता।

इस प्रकार चीन द्वारा रूस-विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयास विफल रहा है। अब अमेरिका से सामान्य रिश्ते कायम कर चीन वही कार्य दूसरे रूप में करना चाहता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमेरिका के प्रभाव का इस्तेमाल करके चीन रूस को इस क्षेत्र से दूर रखना चाहता है।

चीन का सैन्यवाद और साम्राज्यवाद गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लिए एक जबरदस्त चुनौती है। 1962 में भारत पर और 1979 के प्रारम्भ में वियतनाम पर आक्रमण करके चीन ने अपनी विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं को स्पष्ट कर दिया है। वह ऊपर से सहयोग और मैत्री का स्वांग रचता है, लेकिन उसकी वास्तविक मंशा दूसरे देशों के भू-भागों को हड़पने की है।

वह गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को कुछ समय पहले तक बुरा-भला कहता था परन्तु अब उसका प्रशंसक बन गया है, यही नहीं, पीकिंग के नेताओं ने यह स्पष्ट संकेत भी दिया है कि चीन इस आन्दोलन का अभिभावक और यहाँ तक कि नेता भी बनने के लिए तैयार है। जिन लोगों को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के संस्थापकों पर पीकिंग के हमलों की आज भी याद है, जिन पर चीन पूर्व में एक 'नई म्यूनिख सौदेबाजी' के षडयन्त्र में शामिल होने का आरोप लगता था, वे चकित होकर यह पूछ रहे हैं कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की निन्दा से सहसा एकदम उलट कर उसकी प्रशंसा करने लगने का क्या अर्थ है?

5 ब्रिटेन और फ्राँस की विदेश नीति

(The British and French Foreign Policy)

ब्रिटेन और फ्रांस दोनों को ही द्वितीय महायुद्ध में प्रबल आघात सहने पड़े और उनके हितों को कल्पनातीत क्षति पहुँची। उनकी स्थिति तीसरी श्रेणी के राष्ट्रों से सदृश हो गई। धुरी राष्ट्र तो अपना साम्राज्य खो ही बैठे, लेकिन ब्रिटेन, फ्रांस आदि विजेता राष्ट्र भी अपने साम्राज्यों की रक्षा नहीं कर सके और एक-एक करके उनके अधीनस्थ लगभग सभी प्रदेश स्वतन्त्र हो गए।

ब्रिटेन की विदेश नीति
(British Foreign Policy)

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ब्रिटेन की विदेश नीति दो सिद्धान्तों पर आधारित थी—प्रथम, यूरोप में सन्तुलन की शक्ति (Balance of Power) को कायम रखना तथा द्वितीय, अपनी बस्तियों (Colonies) में अपना प्रभुत्व स्थापित रखना, परन्तु इस दूसरे महासमर ने तो उसका चित्र ही परिवर्तित कर दिया। किसी ने लिखा है "इंग्लैण्ड जो दूसरों को जीतने के लिए था, उसने स्वयं को विजित कर लिया।" चूँकि ब्रिटेन में अब इतनी शक्ति नहीं रही कि वह यूरोप में सन्तुलनकारी सत्ता के रूप में रह सके, अतः उसके शान्तिकाल में ही सुरक्षा-सन्धियों की व्यवस्था करना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु इस सन्धि व्यवस्था में भी उसके मस्तिष्क में शक्ति-सन्तुलन का भूत समाया रहा ताकि वे तो आपस में लड़ें और ब्रिटेन अछूता रह सके।

ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल

युद्धोपरान्त अपने साम्राज्य के सम्बन्ध में ब्रिटेन ने एक नई नीति का अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप अधीनस्थ देश स्वतन्त्र तो हो गए पर ब्रिटेन के साथ उनका सम्बन्ध कायम रहा। पुराने ब्रिटिश साम्राज्य ने अब ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth) का स्वरूप ग्रहण किया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ब्रिटेन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान कायम रख सका। आज ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का जो रूप है उसमें सब सदस्य-राज्यों की स्थिति बराबर है। सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता

को अक्षुण्ण रखते हुए वे राष्ट्रमण्डल के सदस्य है। यदि वे चाहे तो इसमें पृथक् भी हो सकते हैं। भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका आदि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की सदस्यता आज भी ग्रहण किए हुए है। राष्ट्रमण्डल मे कतिपय ऐसे प्रदेश भी हैं जिन्हे अभी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नही हुई है। हिन्द महासागर और भूमध्यसागर में अनेक ऐसे द्वीप हैं जिन पर ब्रिटिश प्रभुत्व विद्यमान है।

अक्तूबर, 1987 मे कनाडा के वैंकुवर मे राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। फिजी को औपचारिक रूप से राष्ट्रकुल से निकाले जाने से राष्ट्रमण्डल की सदस्य सख्या 49 से घटकर 48 रह गई है। दक्षिणी अफ्रीका पर और अधिक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के प्रश्न पर सम्पूर्ण सम्मेलन की कार्यवाही के दौरान ब्रिटेन की प्रधान मन्त्री मार्ग्रेट थ्रैचर की अडगा नीति के कारण विवाद बना रहा। तथापि सम्मेलन मे ब्रिटेन इस प्रश्न पर अलग-थलग पड गया। जिस राष्ट्रकुल का गठन लगभग 60 वर्ष पूर्व स्वय ब्रिटेन ने किया था, उसी सगठन मे वह न केवल अकेला पड गया बल्कि आस्ट्रेलिया, कनाडा, तथा न्यूजीलैण्ड देशो ने भी उसका साथ नही दिया।

ब्रिटेन और कोलम्बो योजना

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्यों की आर्थिक उन्नति के लिए किए गए सामूहिक प्रयासो मे कोलम्बो योजना का विशेष महत्त्व है। जनवरी, 1950 मे ब्रिटेन के प्रयत्नो से श्रीलका की राजधानी कोलम्बो मे एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमे एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न देशो की आर्थिक उन्नति में सहायता के लिए एक योजना तैयार की गई। इस योजना मे प्रारम्भ में केवल ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्य ही सम्मिलित थे, पर अब पश्चिमी एशिया के भी अनेक राज्य इससे लाभान्वित हो रहे है।

ब्रिटेन और अमेरिका

युद्धोत्तर-काल मे ब्रिटेन ने अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी नीति अपनाई। ब्रिटेन आर्थिक विपन्नता की अवस्था मे था और उसे अपने पुनर्निर्माण तथा आर्थिक स्थिरता के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, अत यह स्वाभाविक था कि ब्रिटेन ने अमेरिका का सहयोग प्राप्त किया और अपनी विदेश नीति का मुख्य आधार अमेरिका का समर्थन करना बना लिया। यद्यपि पेरिस शान्ति-सम्मेलन में ब्रिटेन ने घोषणा की थी कि हम किसी भी गुट मे मिलना नही चाहते, लेकिन कथनी और करनी म अन्तर यह रहा कि अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए ब्रिटेन ने अमेरिका से मार्शल-योजना के अन्तर्गत पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त की। श्रमदलीय विदेश मन्त्री श्री बेविन ने ट्रूमैन सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया। यद्यपि ब्रिटेन अमेरिकी गुट मे एक सहायक के रूप मे ही रहा, तथापि यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य जगत् का नेतृत्व ब्रिटेन के नही, अमेरिका के हाथ में है। अनेक क्षेत्रों म ब्रिटेन का स्थान अमेरिका लेता गया। न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया जैसे पुरान डोमिनियनो ने राष्ट्रमण्डल से बाहर सुरक्षा' प्राप्त करने के लिए 'अजुयस पैक्ट'

(Anzus Pact) करना उचित समझा। मध्य-पूर्व में ग्रीस, फिलिस्तीन, टर्की और अन्य क्षेत्रों में ब्रिटेन के चले जाने से जो शक्ति-शून्यता पैदा हो गई उसे अमेरिका ने भरा। नाटो (NATO) में सम्मिलित होकर ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ खुला सैनिक गठबन्धन कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि साम्यवाद के विरुद्ध जेहाद में वह पूरी तरह अमेरिका के साथ है।

नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी सभी वार्ताओं में ब्रिटेन और अमेरिकी नीति में सामान्यत: सामञ्जस्य रहा और लन्दन ने वाशिंगटन को पूर्ण समर्थन दिया। सितम्बर, 1954 में ब्रिटेन ने संयुक्तराज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाईलैण्ड आदि के साथ पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO) को जन्म दिया (जो 30 जून, 1977 को विघटित कर दिया गया)।[1] ब्रिटेन ने 1957 में प्रतिपादित आइजनहॉवर सिद्धान्त के प्रयोग में पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित की और जोर्डन में तो इस सिद्धान्त के प्रयोग की दिशा में उसका व्यावहारिक व सक्रिय सहयोग रहा। जर्मनी के प्रश्न पर भी ब्रिटेन का अन्य सम्बन्धित पश्चिमी शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोगी रुख है। 1953 में अमेरिका, रूस और ब्रिटेन द्वारा मास्को में अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए और फिर 1968 की परमाणविक सन्धि पर भी ब्रिटेन प्रमुख हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र था।

अमेरिका के साथ अपना घनिष्ठ सहयोग करते हुए भी अनेक विषयों पर ब्रिटेन का अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा है। विरोध करते समय दोनों देश यह मान कर चले हैं कि एक व्यक्ति को अपने मित्र की आलोचना करने का अधिकार है। अगस्त, 1945 में ब्रिटेन को तब अप्रसन्नता हुई जब अमेरिका द्वारा एकदम लैण्ड-लीज (Land-Lease) को बन्द कर दिए जाने से ब्रिटिश अर्थ-नीति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्धोत्तरकाल में ब्रिटेन में जो समाजवादी आन्दोलन छिड़ा और श्रमिक सरकार द्वारा नीतियाँ अपनाई गईं उनके प्रति अमेरिका में सन्देहपूर्ण वातावरण पैदा हुआ। साम्यवादी रूस के प्रति अमेरिका की कठोर नीति की ब्रिटेन ने विशेष सराहना नहीं की। ब्रिटेन की यही धारणा रही कि रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों के साथ अधिकाधिक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए और रूस तथा चीन को समझौतेपूर्ण रवैये द्वारा अपने निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिए। ब्रिटेन ने अमेरिका की अप्रसन्नता की परवाह न कर जनवरी, 1950 में ही चीन की साम्यवादी

1 साम्यवाद के विरुद्ध शीतयुद्ध के लिए गठित दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन सीटो को शान्तिपूर्वक दफना कर शोक मनाते हुए 30 जून, 1976 को समाप्त कर दिया। 23 वर्ष पुराने इस संगठन को इसके सदस्य-देशों के इस दृष्टिकोण के कारण बन्द किया गया कि हिन्दचीन में कम्युनिस्टों की विजय के कारण परिस्थितियाँ बदलती हैं तथा 1950 से अब तक साम्यवाद के प्रति पाश्चात्य देशों के दृष्टिकोण में काफी सुधार हुआ है। सीटो का जन्म कम्युनिस्ट विरोधी संयुक्त सुरक्षा सन्धि के रूप में 1954 में मनीला समझौते के अधीन हुआ था। सैनिक गठजोड़ को समाप्त करने के बावजूद मनीला समझौता अभी भी कायम रहेगा।

सरकार को मान्यता देने के विचार की घोषणा कर दी। उपनिवेशवाद के सम्बन्ध मे भी अमेरिकी रुख के प्रति ब्रिटेन मे असन्तोष रहा। उसका यही मत है कि हिन्द चीन, उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया आदि प्रदेशो मे ब्रिटिश लक्ष्यो और हितो के प्रति अमेरिका का दृष्टिकोण विशेष सहानुभूतिपूर्ण नही रहा है। स्वेज का 1956 मे नासिर द्वारा राष्ट्रीयकरण किए जाने पर ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा जो आक्रामक नीति अपनाई गई उसका अमेरिका ने समर्थन नही किया। अमेरिका का यह दृष्टिकोण ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के लिए बडा अनपेक्षित था। अरब-इजरायल के 1967 के सघर्ष मे भी ब्रिटिश और अमेरिकी नीतियो मे विशेष निकटता नहीं थी। 1982 मे बेरुत (लेबनान) पर इजरायल के भयकर हमले और बेरुत मे फिलिस्तीनियो के नृशस हत्याकाण्ड के सन्दर्भ मे भी दोनों देशो के बीच मतैक्य का अभाव रहा।

अगस्त, 1980 मे अमेरिका, ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी मे आधुनिक प्रक्षेपास्त्रो के विकास पर सहमति हुई और अप्रेल-मई, 1982 मे फाकलैण्ड की समस्या के हल के लिए अमेरिकी विदेश मन्त्री अलेक्जेण्डर हेग मध्यस्थता-प्रयास करते रहे। फाकलैण्ड विवाद पर अमेरिका ने ब्रिटेन को सहयोग और समर्थन दिया परन्तु उसकी नीति प्रारम्भ मे स्पष्ट नही रही। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्रीमती थ्रेचर ने राष्ट्रकुल के सदस्य ग्रेनाडा पर अक्तूबर, 1983 मे अमेरिकी आक्रमण को लेकर इस बात पर अपनी नाराजगी प्रकट की, कि अमेरिका ने इस सम्बन्ध मे ब्रिटेन से कोई परामर्श नही किया। 13 मार्च, 1985 को सयुक्त राष्ट्रसघ की सुरक्षा परिषद् मे भारत के प्रतिनिधि ने एक प्रस्ताव रखा जिसके अन्तर्गत लेबनान पर कब्जा जमाने वाली इजरायली फौजो के व्यवहार और उसकी बर्बर हरकतो की निन्दा की गई। फ्रांस, चीन, सोवियत सघ, मिस्र, पेरू और थाईलैण्ड सहित 11 देशो ने भारत के प्रस्ताव का समर्थन किया जबकि अमेरिकी खेमे के तीन प्रमुख देशो—आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन और डेनमार्क ने वोट नही डाला। इस तरह अमेरिका सुरक्षा परिषद् मे बिल्कुल अकेला पड गया और ब्रिटेन तक का उसे समर्थन नही प्राप्त हो सका। तथापि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के अधिकतर प्रश्नो पर ब्रिटेन की नीति अमेरिका के समर्थन की है। 1987 की समाप्ति तक नि शस्त्रीकरण, खाडी-युद्ध, चीन से सहयोग के विस्तार आदि मामलो मे ब्रिटेन और अमेरिका के दृष्टिकोणो मे कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित नही हुआ है।

परन्तु विभिन्न मतभेदो के बावजूद दोनो देशो के मौलिक हित परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और 1954 मे चर्चिल द्वारा कहे गए ये शब्द आज भी वजन रखते हैं—"हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण नींव सयुक्तराज्य अमेरिका के साथ सन्धि, मित्रता और बढती हुई भाईचारे की भावना पर आधारित है।" कुल मिलाकर ब्रिटिश नीति सयुक्तराज्य अमेरिका की नीतियो की यथासम्भव कम आलोचना करने की रही है। विशेषकर ब्रिटेन के कजरवेटिव राजनेता इसका अधिक ध्यान रखते है। राजनीतिक क्षेत्रो मे यह भी लगभग सुनिश्चित माना जाता

है कि जब तक पूर्व और पश्चिम के बीच संघर्ष विद्यमान है, तथा ब्रिटेन द्वितीय कोटि की शक्ति है, तब तक ब्रिटेन को अमेरिका के साथ सहयोग करना होगा।

ब्रिटेन के फ्रांस तथा अन्य पश्चिमी देशों से सम्बन्ध

ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के अतिरिक्त अन्य पश्चिमी देशों को भी साथ लेने की कोशिश की और अपनी सुरक्षा की दृष्टि से क्षेत्रीय योजनाओं का विकास किया। 4 मार्च, 1947 को उसने फ्रांस के साथ डकर्क-सन्धि (Dunkirk Treaty) सम्पन्न की जो भावी जर्मन आक्रमणों के विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता करने के उद्देश्य से हुई। इसके बाद 17 मार्च, 1948 को ब्रिटेन ने बेल्जियम, नीदरलैण्ड, लक्जमबर्ग और फ्रांस के साथ मिलकर ब्रूसेल्स सन्धि की जिसके परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) का निर्माण हुआ। इस सन्धि-संगठन के सदस्यों में यह निश्चय हुआ कि हस्ताक्षरकर्त्ता देशों में से किसी देश पर यदि यूरोप में सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 51 के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण के शिकार देश को प्रदान करेंगे।

डकर्क, ब्रूसेल्स और नाटो सन्धियों का सदस्य बन जाने के बाद ब्रिटेन ने यूरोपीय परिषद् (Council of Europe) के निर्माण में रुचि ली। 5 मई, 1949 को इस परिषद् की स्थापना हुई।

जनवरी, 1958 में यूरोपियन सामान्य मण्डी या साझा बाजार की स्थापना हुई जिसमें बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड और लक्जमबर्ग सम्मिलित हुए। ब्रिटेन इस मण्डी में सम्मिलित नहीं हुआ। परन्तु जब यूरोपियन सामान्य मण्डी से ब्रिटेन और अन्य देशों को काफी हानि पहुँचने लगी तो इसके दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए ब्रिटेन ने यूरोपियन मुक्ति व्यापार संघ (European Free Trade Association) का निर्माण किया। यह संघ यूरोपियन सामान्य मण्डी का मुकाबला न कर सका। 1961 तक ब्रिटेन का यूरोप के साथ निर्यात व्यापार घट गया, उसकी कृषि वस्तुओं की मण्डी समाप्त प्राय हो गई, अत विवश होकर उसने यूरोपियन सामान्य मण्डी का सदस्य बनने का प्रयत्न किया किन्तु फ्रांस की हठधर्मी के कारण उसके सदस्य बनने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया। ब्रिटेन यूरोपियन सामान्य मण्डी का सदस्य बनने का निरन्तर प्रयास करता रहा और उसका सदस्य बन जाना लगभग निश्चित-सा हो गया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विल्सन ने मई, 1967 में ब्रिटिश संसद् में इस बात की घोषणा भी की, किन्तु डिगॉल का रुख इस निश्चय को क्रियान्वित करने में सहायक नहीं हुआ। अप्रेल, 1969 में डिगॉल ने राष्ट्रपति पद छोड़ दिया और अन्ततः दस वर्ष से भी अधिक समय के प्रयास के बाद ब्रिटेन यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सदस्य बन ही गया।

28 सितम्बर, 1971 को ब्रिटेन और साझा बाजार के सदस्यों के बीच समझौता हो सका। साझा बाजार के विस्तार से सम्बन्धित रोम की सन्धि पर 22 जनवरी 1972 को ब्रिटेन, नार्वे, डेनमार्क और एयरे (उत्तर आयरलैण्ड) तथा

यूरोपीय आर्थिक समुदाय के वर्तमान छः सदस्य देशों (पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड, इटली और बेल्जियम) ने ब्रूसेल्स में हस्ताक्षर किए। साझा बाजार का विधिवत् विस्तार जनवरी, 1973 में हुआ और नए चार सदस्यों ने अपने-अपने देश की संसद् में सन्धि की पुष्टि कराई। ब्रिटेन में संसद् तथा नार्वे, डेनमार्क और एयरे में वहाँ के मतदाताओं ने उसकी पुष्टि की। पुष्टि से सम्बन्धित प्रपत्र 31 दिसम्बर, 1972 तक साझा बाजार के मुख्यालय में जमा कराए गए। सन्धि के अनुसार नए सदस्य देशों को साझा बाजार की भविष्य में होने वाली बैठकों में भाग लेने का अधिकार मिल गया।

ब्रिटेन एवं साम्यवादी देश

अमेरिकी गुट में रहते हुए विभिन्न अवसरों पर साम्यवादी देशों की कटु आलोचना करने पर भी युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन ने साम्यवादी गुट के देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किए हैं। वास्तव में साम्यवादी देशों में प्रमुखतः रूस और चीन के प्रति ब्रिटेन ने द्विमुखी नीति का अनुसरण किया है। एक ओर तो यूरोप में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को तथा विश्व के अन्य भागों में साम्यवादी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए वह 'शीत-युद्ध' में सम्मिलित हो गया और प्रादेशिक संगठनों द्वारा साम्यवादी प्रस्ताव का विस्तार रोकने में तत्पर होने लगा और दूसरी ओर उसने साम्यवादी देशों के साथ अपने व्यावसायिक सम्बन्ध विकसित करने की चेष्टा की। संयुक्तराज्य अमेरिका का अनुगमन करते हुए भी ब्रिटेन ने चीन का विरोध नहीं किया है क्योंकि चीन में उसकी अपार सम्पत्ति तथा वृहद् व्यवसाय है। उसने चीन को, अमेरिकी विरोध के बावजूद कूटनीतिक मान्यता भी प्रदान कर दी है। चीन के व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डलों ने ग्रेट ब्रिटेन का भ्रमण किया और ब्रिटेन द्वारा चीन से विभिन्न देशों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए गए। दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों ने एक-दूसरे के देशों की यात्राएँ की। दोनों के मध्य समय-समय पर प्रतिनिधि मण्डलों के आने-जाने का क्रम भी जारी है। 3 मई, 1976 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री क्रासलैण्ड ने चीन की यात्रा की और चीन को विमानों की बिक्री, वैज्ञानिक साज-सामान देने के बारे में बातचीत की। क्रासलैण्ड ने चीनी नेताओं से आग्रह किया कि सितम्बर में ब्रिटेन में होने वाले फार्नबरो विमान प्रदर्शनी में चीन अवश्य शामिल हो। विश्व की विभिन्न गतिविधियों पर भी विचार-विमर्श हुआ। चीनी नेताओं ने तीसरे विश्व-युद्ध का भय प्रकट करते हुए कहा कि दो बड़ी शक्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति बढ़ती जा रही है और युद्ध-स्थल एक बार फिर यूरोप की धरती ही बनेगा। क्रासलैण्ड ने चीन के इस भय को निराधार बताते हुए अपने भाईचारे के विचार में चीनी अधिकारियों को अवगत कराया। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार हर हालत में पश्चिमी यूरोप में एकता और सुरक्षा कायम रखना चाहती है। हमारा भविष्य यूरोपीय समुदाय के सही या है। समुदाय विकास की स्थिति में है और भावी विकास के लिए सभी सदस्य देश पूरी तरह से सहमत नहीं हो पाते हैं तथापि समुदाय के भीतर रह कर

हम सब सहयोग के प्रति प्रतिबद्ध है और हम सब का प्रयास रहता है कि यूरोप की एकता किसी भी तरह से खण्डित न होने पाए। पिछले कुछ वर्षों से ब्रिटेन की हर सरकार—कंजरवेटिव या लेबर—ने यह अनुभव किया है कि हमारी सुरक्षा नाटो पर आधारित है और यही कारण है कि हम उसकी उपयोगिता को महत्व देते हैं। क्रासलैण्ड की यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में यह बात स्पष्ट कर दी गई कि नेतृत्व में परिवर्तन के बावजूद ब्रिटेन और चीन में सहयोग और मैत्री पर किसी तरह का अन्तर नहीं आया है।

मार्च, 1979 में ब्रिटेन और चीन ने 14 अरब डॉलर के व्यापार समझौते पर पीकिंग में हस्ताक्षर किए। नवम्बर, 1977 में लन्दन में दोनों पक्षों में एक वायु-सेवा समझौते पर हस्ताक्षर हुए। ब्रिटेन और चीन में परस्पर सम्पर्क और सहयोग का विस्तार होता गया। ब्रिटेन की महारानी व उसके पति राजकुमार फिलिप ने अक्टूबर, 1986 में चीन की यात्रा की। चीन सरकार ने उनका अच्छा सत्कार किया। यद्यपि यह यात्रा मात्र एक औपचारिकता थी तथापि ब्रिटेन के व्यापारियों ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया। ब्रिटिश व्यापारियों ने चीन के साथ करोड़ों पौण्ड मूल्य के समझौते विविध क्षेत्रों में किए। इन समझौतों में 70 से अधिक ब्रिटिश कम्पनियाँ शामिल थी। ब्रिटेन अब चीन के साथ व्यापार करने वाले देशों में दसवें स्थान पर आ गया। उससे ऊपर प. जर्मनी, इटली व फ्रांस का स्थान था।

सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन अधिक व्यावहारिक और उदार नीति अपनाने का पक्षधर है। जब दिसम्बर, 1981 में पोलैण्ड के मामले को लेकर अमेरिका द्वारा सोवियत संघ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध की चेतावनी दी गयी तो ब्रिटेन के राजनीतिक क्षेत्रों ने इस चेतावनी पर कोई उत्साहजनक रुख नहीं दिखाया। वैसे सुरक्षा परिषद् में सोवियत विरोधी प्रत्येक कदम पर ब्रिटेन और अमेरिका में लगभग पूरा सहयोग रहा है। 28 मार्च, 1987 को श्रीमती थ्रेचर ने अपनी मास्को यात्रा से पूर्व उन्होंने एक बयान में सोवियत संघ से अपील की कि वह असन्तुष्टों को छोड़ दे और यहूदियों को देश के बाहर जाने की अनुमति दे। एक तरह से उन्होंने रूस में मानव अधिकारों की स्थापना की माँग की। मास्को में श्रीमती थ्रेचर ने रूस के नेता गोर्बाचोव व प्रधानमन्त्री आदि से भेंट की। श्रीमती थ्रेचर ने परमाणु निरस्त्रीकरण के बारे में कहा कि रूस का दृष्टिकोण काल्पनिक है हम परमाणु हथियारों को समाप्त करके अपने परमाणु बम बनाने का कार्यक्रम नहीं छोड़ सकते। उल्लेखनीय है कि श्री गोर्बाचोव ने सुझाव रखा था कि बीसवीं सदी के अन्त तक विश्व को परमाणु अस्त्रों से मुक्त कर दिया जाए। इस यात्रा के अवसर पर सोवियत संघ और ब्रिटेन के बीच कुछ समझौते भी हुए। इनमें एक समझौता अन्तरिक्ष कार्यक्रम में सहयोग का व दूसरा लन्दन व मास्को में दूतावास के लिए भूमि आवंटन के सम्बन्ध में था।

ब्रिटेन और अन्य देश

संयुक्त राष्ट्रसंघ में ब्रिटेन पश्चिमी गुट का उपनेता है और अधिकांशत उसने संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ मिलकर कार्य किया है। संयुक्त राष्ट्र में ब्रिटेन को अधिकांशत एशिया और अफ्रीका के राज्यों का विरोध सहना पड़ा है। इस विरोध का प्रमुख कारण एशियाई और अफ्रीकी राज्यों के प्रति अपनाई जाने वाली उसकी विरोधी नीति रही है। भारत के साथ कश्मीर के मामले में और मिस्र अथवा संयुक्त अरब गणराज्य के साथ स्वेज एवं इजरायल विवाद पर ब्रिटेन ने न्याय का गला घोटने की कोशिश की है। 1956 में स्वेज-विवाद पर ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र के विरुद्ध जो आक्रामक कार्यवाही की उससे मिस्र और ब्रिटेन के सम्बन्ध तनावपूर्ण बन गए और 1967 में अरब-इजरायल संघर्ष में उसके द्वारा अरब विरोधी दृष्टिकोण अपनाने के कारण ये सम्बन्ध और भी कटु बन गए हैं। मतभेदों के बावजूद कतिपय अवसरों पर ब्रिटेन का रुख भारत के प्रति उदार रहा है। चीनी आक्रमण के समय ब्रिटेन ने भारत को अविलम्ब सैनिक सहायता प्रदान की थी और वैसे भी ब्रिटेन से विकासशील देशों को जो आर्थिक सहायता दी जाती रही है उसमें सबसे अधिक राशि भारत को प्राप्त हुई है।

जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी ने पुन सत्तारूढ़ होने के बाद से 31 अक्तूबर, 1984 को उनकी निर्मम हत्या तक और उसके बाद राजीव सरकार के अभी तक के अल्पकाल में ब्रिटेन और भारत में आर्थिक एवं सैनिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ा है। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझा है और गलतफहमियों के मुद्दे कमजोर पड़े हैं। दोनों पक्षों में उच्च स्तर की राजकीय यात्राएँ हुई हैं। 1981 और 1982 की गांधी एवं थैचर की मुलाकातों तथा नवम्बर 1983 में राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों की बैठक के अवसर पर महारानी एलिजाबेथ और प्रधानमन्त्री मार्ग्रेट थैचर की भारत-यात्राएँ काफी फलप्रद सिद्ध हुईं। 1986 के हरारे राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन और अक्टूबर 1987 के वैंकूवर के राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन में श्रीमती थैचर और राजीव गांधी ने दक्षिण अफ्रीका जैसे प्रश्न पर तीव्र मतभेद के बावजूद एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किया। भारत ने ब्रिटेन को यह सुझाव देने के लिए हर अवसर का लाभ उठाया है कि आतंकवादी गतिविधियों पर कड़ा नियन्त्रण रखना चाहिए। विदेश मन्त्रालय की 1986–87 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटेन में आतंकवादी गतिविधियों को कारगर रूप में नियन्त्रित करने के लिए भारत का सुझाव दोनों देशों के लिए यह था कि एक प्रत्यर्पण सन्धि सम्पन्न की जाए। दोनों देशों के बीच आर्थिक-और-सैनिक सहयोग बढ़ा है तथापि कुल मिलाकर ब्रिटेन का आर्थिक समर्थन पाकिस्तान के पक्ष में है। हिन्द महासागर में भी वह भारत की नीति और भारत के वर्चस्व का पक्षधर नहीं है। सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान के हितों के पोषण में भारत की नाराजगी की उसने बहुत कम परवाह की है।

ब्रिटेन अपने उपनिवेशों को स्वाधीनता देने की नीति पर पूर्ववत् चल रहा है। जुलाई, 1981 में ब्रिटेन ने वेलीज को अगस्त, 1981 में आंटिगुआ को स्वाधीनता प्रदान करने का निर्णय लिया था और फलस्वरूप 1981 में ही वे दोनों सम्प्रभु के राज्यों के रूप में उदित हुए।

चीन के प्रति ब्रिटेन की नीति व्यावहारिक सहयोग की रही है। ब्रिटेन चीन के साथ राजनयिक और व्यापारिक सम्बन्धों के विकास का समर्थन है। हाल ही में 19 दिसम्बर, 1984 को ब्रिटेन और चीन ने पीकिंग में एक ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके तहत 1997 में ब्रिटेन हांगकांग चीन को सौंप देगा। इस प्रकार हांगकांग पर 156 वर्ष पुराना ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाएगा। इस समझौते पर हस्ताक्षर के लिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थेचर विशेष रूप से पीकिंग गईं। समझौते पर ब्रिटेन की ओर से श्रीमती थेचर ने और चीन की ओर से प्रधानमन्त्री झाओ जियांग ने हस्ताक्षर किए।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति के प्रति ब्रिटेन ने कोरा प्रदर्शनात्मक प्रदर्शन किया है। एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के सन्दर्भ में ब्रिटिश विदेश नीति अधिकांशतः अस्थिर और अस्पष्ट रही है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में कभी ब्रिटिश शक्ति की सबसे अधिक धाक थी लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद इस क्षेत्र से अपनी सैनिक उपस्थिति हटा लेने के बाद इस क्षेत्र में अमेरिकी नीति का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करते हुए वह उसका आलोचक भी रहा है। शीतयुद्ध के चरम दिनों में ब्रिटिश सरकार ने दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन का सदस्य होते हुए भी अपने सैनिक नहीं भेजे और दबे स्वर में जब तक अमेरिकी हस्तक्षेप नीति तथा युद्ध का स्तर बढ़ाने की आलोचना भी की। मलयेशिया एवं सिंगापुर के साथ उसके अच्छे सम्बन्ध हैं। इण्डोनेशिया में पिछले दशकों के नागकीय सुकार्णो युग में ब्रिटेन जैसे देशों के लिए कोई स्थान नहीं था। बाद में सुकार्णो का पतन हुआ एवं सुहार्तो के नेतृत्व में पश्चिमी समर्थक लोग सत्तारूढ़ हुए एवं तदनुरूप नीति अपनाई गई तो ब्रिटेन अपने प्रभाव का यहाँ प्रत्यावर्तन नहीं कर सका। इस क्षेत्र में बर्मा का किंचित् पृथक् स्थान है। बर्मा के साथ ब्रिटेन के कभी बड़े ही घनिष्ठ सम्बन्ध थे किन्तु 1946-47 में बर्मा को स्वतन्त्रता प्रदान करने के बाद रंगून से ब्रिटेन का प्रभाव लगभग समाप्त सा हो गया। बर्मा क्योंकि चीन का निकटतम पड़ौसी है इसलिए भी आंग्ल-अमेरिकी चीन विरोधी नीति के दशकों में बर्मा ने ब्रिटेन से घनिष्ठता बढ़ाने से अपने को वंचित रखा।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर युग के साम्राज्य विघटन के क्रम में श्रीलंका को भी औपनिवेशिक स्वराज्य हासिल हुआ, यद्यपि ब्रिटेन ने कुछ अर्से तक वहाँ अपना सैनिक अड्डा बनाए रखा तथा उसकी आन्तरिक राजनीति पर भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव रखा। फिर भी यह स्थिति चिरकाल तक नहीं चल सकती थी। सदी के छठे दशक के अन्त तक ब्रिटिश सैनिक अड्डा यहाँ से हटा लिया गया, पर ब्रिटेन तथा कामनवेल्थ के साथ उसके आर्थिक सम्बन्ध बने रहे। ब्रिटेन तथा कामनवेल्थ के अन्य देश

कोलम्बो योजना के सदस्य हैं। इसके अन्तर्गत श्रीलका पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त करता रहा है।

फारस की खाडी क्षेत्र में ब्रिटिश नीति विशेषकर शेखो के कतिपय आधिपत्य क्षेत्रो से विशेष रूप मे सक्रिय है। उन्नसवी शताब्दी की सन्धि-शर्तों के अनुसार कई ऐसे क्षेत्रो की सुरक्षा का दायित्व ब्रिटेन के ऊपर है। आज जब ब्रिटेन के पास अपनी शक्ति नही रह गई है फिर भी अमेरिका के सहयोग से वह इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव बनाए रखने को प्रयत्नशील है। इस क्षेत्र मे उसकी नीति सयुक्त राज्य को वरीय सहभागी बनाने की रही है क्योंकि किसी भी महाशक्ति के साथ सामना करने में सयुक्त राज्य ही खडा हो सकता है।

पिछले दशक से दक्षिणी-पश्चिमी एशिया मे ब्रिटेन की नीति मे कोई बडा परिवर्तन नही हुआ है, सम्भवत होगा भी नही। वैसे ब्रिटेन, मिस्र तथा अन्य अरब राज्यो के साथ जहाँ कही भी उसे किंचित् भी अनुकूल सुनवाई मिलने की आशा दिखती है, अपना सम्बन्ध सुधारने के लिए अभिमुख होता है। अपनी इसी नीति के सिलसिले मे ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इजरायल से अपने सम्बन्ध बिगाड रखे है। दोनों ही, विशेषकर ये फ्रांस इजरायल को युद्ध के साज-सामान की आपूर्ति करने में हिचकते हैं। बढते हुए विश्व ऊर्जा सकट के सन्दर्भ मे यह नीति और भी उजागर हुई है। ब्रिटेन ने अरब-इजरायल संघर्ष मे अरबो के पक्ष का समर्थन किया है। दूसरी ओर लीबिया जैसे देशो को खुलेआम युद्ध के साज-समान का विक्रय करते है। उस सम्पूर्ण क्षेत्र मे ब्रिटेन की नीति सतर्कता की रही है।

ब्रिटेन की विदेश नीति का एक विहंगावलोकन

डॉ अरविंद नारायण सिन्हा ने लगभग दो सदियो की ब्रिटिश विदेश नीति का विहगावलोकन करके उसमे निरन्तरता और परिवर्तन के जो निष्कर्ष प्रस्थापित किए है और द्वितीय महायुद्धोत्तर ब्रिटिश विदेश नीति के जिन दिशा-सूचक पक्षो का उद्घाटन किया है, अध्ययन की दृष्टि मे वे महत्त्वपूर्ण है। डॉ सिन्हा का विहगावलोकन इस प्रकार है—

"विगत लगभग दो सदियो की ब्रितानी परराष्ट्र नीति के अध्ययन से कुछ बातें प्रमुख रूप से प्रकट होती हैं ब्रितानी परराष्ट्र सम्बन्धो मे तारतम्यता रही है, विकल्पों के दौर भी आए हैं। ब्रिटेन यूरोपीय मुख्य भूमि से सटा, पर समुद्र से सुरक्षित-द्वीप समूह है। यूरोपीय मुख्य भूमि पर के सघर्षों तथा बदलती स्थिति के प्रति वह निरपेक्ष भी नही रह सकता, साथ ही उनमे उलझने रहने मे यथासम्भव अपने को बचाने के प्रयत्न भी करता है। ब्रिटेन एक यूरोपीय मुख्य भूमि की ओर अभिमुख, दूसरी ओर विश्व राजनीति मे उलझा रहा है। समुद्रो से घिरा द्वीपसमूह होने के कारण अपने इतिहास के काफी प्रारम्भिक चरण मे ही मछियारो तथा नाविकों का देश हो गया एव समुद्री जलदस्युओं का अड्डा भी बना। कालान्तर मे यही सब उसकी नौसैनिक शक्ति के आधार बन गए। सोलहवी सदी से उन्नीसवी

सदी तक के बीच ब्रिटेन ने क्रमश पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैण्ड, और फ्रांस की नौसैनिक शक्तियों को चुनौती दी, कई को सर्वथा विध्वस्त करके दुनिया की सबसे शक्तिशाली समुद्री शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ ।

इसके साथ-साथ ब्रिटेन ने विश्वव्यापक साम्राज्य तथा उपनिवेश अर्जित किए। लूट-मार, छल-प्रपच, चोरी तथा सीनाजोरी के द्वारा अर्जित ब्रितानी साम्राज्य दुनिया का सबसे बडा क्षेत्रफल तथा आबादी मे विस्तृत साम्राज्य था। इसके कई भागो से अपार सम्पदा का प्रवाह ब्रिटेन आता रहता था। केवल भारत से प्रति वर्ष लगभग 20 करोड रुपयो की अदृश्य आय ब्रिटेन को होती थी। दुनिया के अनेक देशो मे उसकी पूंजी न्यस्त थी। लन्दन विश्व-मुद्रा बाजार मे गर्वीली अधिस्वामिनी थी ।

ब्रितानी परराष्ट्र नीति इन सभी कारको की सन्तति थी। बीसवी सदी के प्रथम दशक मे उसके एक प्रमुख राजनेता लॉयड जॉर्ज ने काइजर को गर्वोक्तिपूर्ण चुनौती देते हुए कहा था—

"यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए ''' जिसमे ब्रिटेन को सदियो के पराक्रम से अर्जित अपना महान् स्थान छोडना पडे ''''''मानो राष्ट्रो की परिषदो मे उसका कोई महत्त्व ही नही हो तो ''''''वह अपमान हमारे जैसे महान् देश के लिए असहनीय होगा ।''''

यूरोपीय मुख्यभूमि की ओर से अपनी सुरक्षा पर कोई खतरा नही उत्पन्न हो, इसके लिए सतर्क, उसके विश्व-व्यापक साम्राज्य के किसी भाग, विशेषकर भारतीय साम्राज्य की ओर किसी की वक्र दृष्टि अभिमुख नही हो तथा उनके वाणिज्य-व्यवसाय के लिए जलमार्ग के समीप सम्भावित शत्रुदेश का पॉव नही जमने पाए, ब्रितानी नीति-निर्धारक इन विषयो पर सवेदनशील रहते आए हैं। हमारी नौसैनिक शक्ति को चुनौती नही दो, हालैण्ड-बेल्जियम तट की ओर हाथ मत बढाओ और मिस्र की ओर नजर नही डालो क्योकि इनमे से किसी के भी पृथक् होने पर ब्रितानी धीरज नही रख सकता' जर्मन शासको को ब्रिटेन की ओर से चेतावनी दी गई थी। कालक्रम मे ये तीनो ब्रितानी परराष्ट्र नीति की आधारशिला रही हैं ।''

उपर्युक्त आधारशिलाओ पर प्रस्थापित नीति मे अधिक परिवर्तन के लिए अधिक स्थान नही, किन्तु परराष्ट्र-नीति के सूत्रधार को उपर्युक्त हितो के सरक्षण मे कई अन्य कारको का ध्यान रखना होगा, तदनुरूप अपनी नीति, रवैया तथा कार्यपद्धति बनानी होगी। उदाहरणार्थ, उसे अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर शक्ति के वितरण तथा ब्रिटेन का शक्तियो की पक्ति मे कहाँ स्थान है, इसका ध्यान रखना होगा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, गुटबन्दी तथा तनाव-केन्द्रो पर दृष्टि रखनी होगी, तदनुरूप अपना स्थान बनाना होगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तथा कुछ काल बाद तक प्रमुख कामनवेल्थ देशो की प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखना होता था। समय-समय पर तथा अपने स्वार्थ एवं सुविधा के अनुसार ब्रितानी नीति-निर्धारकों ने

अन्तर्राष्ट्रीय विधान, परम्परा, प्रचलन, मान्यता तथा नैतिकता का भी आदर (या उल्लंघन) किया है या दुहाई दी है।

इसके अतिरिक्त ब्रितानी परराष्ट्रमन्त्री को अपने देश के लोकमत या उसके मुखर अंश के प्रति संवेदनशील रहना पड़ेगा, अपनी पार्टी के स्वीकृत तथा घोषित लक्ष्यों, आदर्शों एवं कार्य-पद्धतियों की भी हमेशा अवमानना नहीं करनी होगी, उसे अपनी नीति मन्त्रिमण्डल से भी स्वीकार करानी होगी तथा देश के प्रकट या गुप्त सन्धि-दायित्वों का ध्यान रखना होगा। अन्त में राष्ट्रीय हित की आवश्यकताओं के साथ राष्ट्र की क्षमता (सैनिक, वित्तीय तथा अन्य) की परिभाषाओं के भीतर ही अपनी नीतियाँ निर्धारित करनी होंगी।

परराष्ट्र नीति के सूत्रधार को दैनन्दिन उठने वाली समस्याओं तथा परिवर्तित होने वाली स्थितियों में निर्णय लेने होते हैं, साथ ही भविष्य के लिए लक्ष्य भी निर्धारित करने होते हैं। अवसर इन दोनों में विरोध दीख पड़ेगा, नीति-निर्धारक के लिए ये कठिन क्षण होने हैं। पर उसे निर्णय तो लेना ही होता है और यथासम्भव अविलम्ब।

ब्रितानी परराष्ट्र-नीति की पिछली सदियों का इतिहास चतुर राजनय, महत्त्वाकांक्षी अहम्मन्यता, अनावश्यक हठवादिता, घोर अवसरवादिता, अनुकूल संयोग तथा चरम संकट के मध्य उतार-चढ़ाव की रोमांचक कहानी है। इन दो सदियों में वह कम से कम दो बार नेपोलियनाई युद्धों के दरम्यान तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्पूर्ण यूरोप की शक्ति तथा साधनों के विरुद्ध लगभग अकेला खड़ा हुआ है। घोर संकट तथा किंचित् निराशा के इन अवसरों पर उसके राजनय के कौशल या शक्ति सामर्थ्य ही नहीं, बल्कि मात्र शुभ संयोग—शत्रु की गलतियों या अन्य किसी कारक—ने उसकी रक्षा की है। प्रथम विश्वयुद्ध में भी कई अवसरों पर संयोग या मात्र सौभाग्य ही था कि उसके प्रतिपक्षियों के हाथ में आई हुई विजय उनके हाथ से निकल गई।

यूरोपीय उलझनों से यथासम्भव तटस्थ, उन्नीसवीं सदी के शेष दशकों में ब्रितानी शासक पृथ्वी के शेष नक्शे पर आधिपत्य की सीमान्त-रेखाएँ खींचने में अधिक व्यस्त रहे, किन्तु सदी के अन्तिम वर्षों में 'गरिमामय तटस्थता' की चमक फीकी पड़ती दीख पड़ी और आगामी और कुछ वर्षों में आश्रितों तथा साथियों की तलाश फिर जारी हुई। जर्मनी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के प्रयत्न में विफल होने पर वह पहले जापान, फिर फ्रांस और अन्त में रूस के साथ आबद्ध होता गया। बीसवीं सदी के प्रथम दशक का अन्त होते-होते ब्रिटेन की गरिमामय तटस्थता बहुत छूट चुकी थी। डेलकासे तथा वायकारे की दुरभि-सन्धियों के जाल में ब्रितानी नीति पूर्णतया अनुस्यूत हो चुकी थी। दूसरे दशक के आरम्भ तक यूरोप की छोटी से छोटी उलझन से भी ब्रिटेन पृथक् नहीं रह सकता था। यही प्रथम विश्वयुद्ध की भूमिका तैयार हुई—एक ऐसा युद्ध जो सर्वथा आवश्यक था तथा जिसने सर द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका तैयार कर दी।

दो विश्व-युद्धों के मध्यवर्ती वर्ष ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रतिष्ठा तथा प्रभाव के थे, यद्यपि जंगी बेड़े में उसने संयुक्त राज्य के साथ समानता का दरजा मान लिया तथा युद्धोत्तर दशक में उसकी अर्थव्यवस्था भारी दबावों के मध्य लड़खड़ाती रही। फिर भी संयुक्त राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक उलझनों से सन्यास ले लेने तथा सोवियत संघ के विश्व रंगमंच पर परम्परागत ढंग से प्रवेश नहीं करने के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर ब्रिटेन की आवाज ही सबसे भारी पड़ती थी।

इन वर्षों में फ्रांस की हठवादिता, दुराग्रह तथा अहमन्यतापूर्ण दुरभि-सन्धियों के प्रतिकूल जर्मनी को जीवित रखने तथा उस पर वर्साय के अन्यायपूर्ण प्रतिवादी बन्धनों को ढीला करने का अधिक विरोध नहीं करके ब्रितानी नीति ने प्रौढ़ता तथा दूरदर्शिता का परिचय दिया पर उसके तथा विश्व के दुर्भाग्य से वर्साय के गर्भ से नात्सीवाद तथा उसका मसीहा हिटलर पैदा हो चुका था। फलतः ब्रिटेन के चौथे दशक में किंचित् मूल्य चुका कर भी युद्ध रोकने का प्रयत्न किया था, फिर भी स्थिति के चक्रव्यूह में खिंच कर उसे पुनः जर्मनी के विरुद्ध मैदान में उतरना पड़ा।

अकेले, केवल फ्रांस के साथ इस युद्ध में विजयी होना ब्रिटेन के लिए असम्भव था। 1940–41 के जाड़ों में ब्रिटेन के लिए स्थिति सर्वथा निराशाजनक थी। हिटलर ने उस समय ब्रिटेन के साथ युद्ध समाप्त करने के सम्भवतः प्रयत्न भी किए थे। ब्रितानी नीति का सूत्रधार विंस्टन चर्चिल पराजित होकर युद्ध समाप्त करने को तैयार नहीं हुआ, युद्ध चलता रहा। एक बार फिर नियति ने ब्रिटेन का साथ दिया, जर्मन भाग्य-विधाता एक के बाद दूसरी गलतियाँ करता गया। जापान ने संयुक्त राज्य को युद्ध में खींच लिया, प्रशान्त में डच, फ्रांसीसी तथा ब्रितानी साम्राज्यीय सेनाएँ पूर्णतया ध्वस्त कर दी गईं, फिर भी 1945 में, जब द्वितीय विश्वयुद्ध की आग बुझी तो ब्रिटेन—संयुक्त राज्य और सोवियत देश के कन्धों पर तथा फ्रांस, ब्रिटेन के कन्धों पर—विजेताओं की पंक्ति में था। ब्रितानी नीति निर्धारक को एक बार फिर अपनी बुद्धिमत्ता, कुशल राजनय संचालन तथा मनोबल पर गर्व करने का अवसर मिला।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर युग ब्रितानी नीति के सूत्रधारों के लिए सर्वथा नई स्थितियाँ लिए आया था। ब्रिटेन अब अनुगामी देश था। शक्ति केन्द्र पश्चिमी यूरोप से सुदूर पश्चिम या पूरब में चले गए थे। अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर फैसले मास्को या वाशिंगटन में होने लगे थे। ब्रिटेन ने प्रथम विश्वयुद्ध में अपने सर्वोत्कृष्ट जवानों को खोया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में वह अपनी पूरी सम्पदा तथा शक्ति के स्रोत गँवा चुका था। अपने पाँवों पर खड़ा होने के लिए भी उसे अमेरिकी सहारे की जरूरत थी। 1946 से ही साम्राज्य के एक-एक अंग विसर्जित होने लगे थे। सदी के मध्य तक ब्रिटेन अपने ताज का सर्वाधिक दीप्तिमान रत्न खोकर निष्प्रभ हो चुका था। स्टर्लिंग बैलेन्स उसके गले में फाँसी की तरह बँधे थे। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूरब-पश्चिम प्रतिद्वन्द्विता तथा सामान्यीकरण का युग शुरू हो गया था। इस प्रकार

शक्ति एव सम्पदा से हीन, दुनिया भर के पिछडे तथा पराधीन लोगो मे राष्ट्रवाद के अदम्य ज्वार तथा एक नई शक्ति-राजनीति के अन्तर्राष्ट्रीय शतरजी बिसात पर ब्रितानी नीति-निर्धारक को बडी ही सतर्कता के साथ अपने लक्ष्य तथा शैली निर्धारित करनी थी।

परिवर्तित परिप्रेक्ष्य पर ब्रिटेन ने अपनी नियति अतलांतक पार की महाशक्ति के साथ जोड देने का निर्णय किया। इससे उसे कुछ सम्बल भी मिला और थोडी दुर्बलता भी आई। छठे दशक के उत्तरार्द्ध मे, जब ब्रितानी शासको ने उन्नीसवी सदी की शैली मे अपना अनुमानित राष्ट्र हित हासिल करना चाहा तो उसके अमेरिकी साथी ने उसका समर्थन नही किया और ब्रिटेन को घोर अपमान की घूँट पीकर वापस लौटने को बाध्य होना पडा।

ब्रितानी नीति तब से कोई नया दायित्व नही लेने, नई उलझन मे नही फँसने को कृतसकल्प रही है। 1960–61 मे अफ्रीका से अपने औपनिवेशिक शिराजा समेट लेने के बाद ब्रिटेन पुन अपने प्रकृत रूप मे यूरोपीय मुख्य भूमि से सटा एक लघु द्वीपसमूह सा हो गया है। आणविक बम तथा प्रक्षेपणास्त्रो के युग मे समुद्री परिधि उसकी रक्षा नही कर सकेगी। इस कठोर सत्य को वह अनदेखा नही कर सकता था, अत यूरोप से विच्छिन्न होकर रहने का विलास अब खतरनाक होगा। अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भी यह आश्वस्तिपूर्ण नही, इस अभियुक्ति ने ब्रितानी शासको को यूरोपीय समुदाय मे अपने को अनुस्यूत करने को बाध्य किया है।

ब्रितानी पराराष्ट्र-नीति अब पहले का शक्तिदर्प, राजनयिक वचकता तथा साम्राज्यवादी अनुप्रेरणा से प्राय मुक्त हो चुकी है। सदी ज्यो-ज्यो अन्तिम दशको की ओर अभिमुख हो रही है ब्रिटेन एक द्वितीय श्रेणी के राष्ट्र की स्थिति मे अपने को ढाल रहा है। फिर भी उसके कामनवेल्थ सम्बन्ध, सुदीर्घ परम्परा, राजनीतिक प्रौढता तथा जीवन्त एव उद्यमी जनशक्ति अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर उसका महत्व नितान्त तिरोहित नही होने देगी। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदो मे उसकी आवाज निर्णायक नही किन्तु वह ध्यान से सुनी जाएगी तथा नितान्त अप्रभावी भी नही होगी। महाशक्तियाँ आपस मे नही उलझे, ब्रिटेन का इसमे सर्वाधिक तथा मार्मिक हित है। यदि उनके सूत्रधार पागल हो जाएँ तो वह उन्हे रोक तो नही सकता किन्तु विरत करने मे शक्ति भर जोर लगा सकता था। सदी के अन्तिम दशको के ब्रितानी नीति-निर्धारक शक्ति और सह-अस्तित्व के पन्थानुयायी होगे, उनके तथा विश्व के लिए इसी मे आशा है।

ब्रिटेन और अर्जेण्टाइना फाकलैण्ड विवाद
(अप्रेल–मई, 1982)

■ अप्रैल, 1982 को अर्जेण्टाइना द्वारा अपने समीप की ब्रिटिश बस्ती फाकलैण्ड पर कब्जे की कार्यवाही मे जिस फाकलैण्ड विवाद ने उग्रता धारण की वह फाकलैण्ड-युद्ध मे परिणत हो गया और द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वेज-काण्ड के

सिलसिले में हुए युद्ध के बाद ब्रिटेन को फाकलैण्ड के प्रश्न पर अर्जेण्टाइना के साथ सबसे बडे नौ-सैनिक और हवाई एव स्थलीय युद्ध मे जूझना पडा। द्वितीय महायुद्ध के बाद किसी भी देश द्वारा की गई इस सबसे बडी नौ-सैनिक कार्यवाही मे ब्रिटिश नौ-सेना को भारी क्षति उठानी पडी। यद्यपि 15 जून, 1982 को अर्जेण्टाइना की सेनाओ द्वारा आत्मसमर्पण के बाद फाकलैण्ड-युद्ध समाप्त हो गया और फाकलैण्ड पर ब्रिटेन ने पुन अधिकार जमा लिया, लेकिन यह युद्ध आर्थिक और सैनिक दृष्टि से ब्रिटेन को बहुत ही मँहगा पडा। बहुत ही कठिनाई से ब्रिटेन अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा बचा सका।

फाकलैण्ड द्वीपसमूह दक्षिण अटलांटिक मे केपहार्न के 480 मील (772 5 कि मी-) उत्तर-पूर्व मे स्थित है। यह 200 द्वीपो का समूह है। क्षेत्रफल कोई 4700 वर्गमील (12173 वर्ग कि मी) का है। दो बडे द्वीप समूह हैं पूर्वी फाकलैण्ड और पश्चिमी फाकलैण्ड। 31 दिसम्बर, 1978 तक यहाँ की आबादी 1867 थी। सभी ब्रितानी मूल के है। 80 प्रतिशत द्वीपसमूह में ही जन्मे है। स्टेनले यहाँ की राजधानी है। फाकलैंड का वर्तमान सविधान 1 जनवरी, 1949 को लागू हुआ था। प्रबन्ध परिषद् की सहायता से गवर्नर-यहाँ का शासन सचलाता है। साउथ जार्जिया और साउथ सैण्डविच फाकलैण्ड द्वारा शासित होते है। फाकलैण्ड सरकार इन दोनो द्वीपो के लिए कानून बनाती है। लगभग 120 वर्ष से फाकलैण्ड पर ब्रिटेन का आधिपत्य है और वही उसका शासन चला रहा है।

अर्जेण्टाइना के राष्ट्रपति जनरल गालतियेरी की माँग थी कि फाकलैण्ड द्वीपसमूह अर्जेण्टहाना को सौप दिया जाए। उन्होने कहा कि ब्रिटेन ने 1833 मे बलपूर्वक हमारे फाकलैण्ड द्वीपसमूह पर कब्जा किया था। वार्ता के द्वारा समस्या का कोई हल नही निकला और अर्जेण्टाइना की सैनिक सरकार ने 2 अप्रैल, 19×2 को फाकलैण्ड पर कब्जा कर लिया। सुरक्षा परिषद् ने अपने प्रस्ताव मे कहा कि अर्जेण्टाइना फाकलैण्ड से, जिसके आस-पास खनिज तेल पाए जाने की सम्भावना है, अपनी फौजे हटा लें। आशका थी कि चीन या सोवियत सघ कही निषेधाधिकार का प्रयोग न कर बैठें, क्योकि इनका रुख यही था कि ये द्वीप है तो अर्जेण्टाइन के ही।

फाकलैंड पर अर्जेण्टाइना से कब्जे को ब्रिटेन ने एक चुनौती के रूप मे ग्रहण किया और 3 अप्रैल, 1982 को फाकलैंड द्वीपसमूह मे भारी मात्रा मे सैनिक साज-समाज का भेजना शुरू कर दिया। लगभग 40 जलपोतो का शक्तिशाली नौ-सैनिक बेडा फाकलैंड रवाना कर दिया गया। लगभग 12,874 किलो मीटर चलकर 15 अप्रैल, 1982 को इस नौ-सैनिक बेडे के फाकलैण्ड के आसपास पहुँच जाने की सम्भावना थी। यह बेडा अर्जेण्टाइना की नौ-सेना की अपेक्षा कही अधिक शक्तिशाली युद्ध हुआ और उसमे ब्रिटेन की विजय हुई। महाशक्तियो तथा सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा समझौते की सभी चेष्टाएँ विफल हो गयी।

वास्तव मे फाकलैंड युद्ध से यह सिद्ध हो गया कि ब्रिटेन की विदेशनीति अभी

तक साम्राज्यवादी आधारों पर टिकी हुई हैं। साउथ जार्जिया, साउथ सैण्डविच द्वीप तथा फाकलैंड के प्रश्न पर ब्रिटेन को देर-सवेर से इन द्वीपों के निवासियों और अर्जेण्टाइना से चर्चा करनी होगी।

फ्रांस की विदेश नीति
(French Foreign Policy)

फ्रांस की 1958 तक कमजोर स्थिति

यूरोप महाद्वीप के पश्चिम में स्थित यह देश उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में क्रमश उत्तरी सागर व इंगलिश चैनल, अटलांटिक महासागर तथा भू-मध्यसागर से घिरा हुआ है। इसके पूर्व में जर्मनी है, पूर्वोत्तर में हालैंड-बेल्जियम, दक्षिण-पूर्व में इटली और दक्षिण-पश्चिम में स्पेन। यद्यपि फ्रांस की विदेश नीति अपने पड़ोसियों के प्रति परिवर्तनशील रही है, तथापि घनिष्ठ मित्रता के बावजूद भी फ्रांस ब्रिटेन की ओर सदा सशंकित रहा है। ब्रिटेन ने कभी फ्रांस को यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य नहीं बनने दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांस ने जो कुछ भी शक्ति और ख्याति अर्जित की, वह द्वितीय महायुद्ध में धूल में मिल गयी। युद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांस की नई सरकार की अध्यक्षता जनरल दिगॉल के हाथों में आ गई, परन्तु फ्रांस के संविधान से ऊबकर तथा मन्त्रि-मण्डलों की अस्थिरता से परेशान होकर दिगॉल ने त्याग-पत्र दे दिया और राजनीति से सन्यास ले लिया। अब फ्रांस की अस्थिरता का वही पुराना चक्र पुनः प्रारम्भ हो गया। 1946 से 1958 तक 22 मन्त्रिमण्डल बने। युद्ध और अस्थिर शासन ने फ्रांस को इतना निःशक्त बना दिया कि वह किसी प्रकार की प्रभावशाली विदेश नीति नहीं अपना सका। मार्च, 1947 में उसने ब्रिटेन के साथ डकर्क की सन्धि की, तत्पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मार्शल योजना में भागीदार बनकर उसने अमेरिका से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की विभिन्न योजनाओं में उसने सहयोग दिया। वह ब्रुसेल्स पैक्ट और नाटो का भी सदस्य बना। अन्य पाँच राष्ट्रों के साथ मिलकर फ्रांस ने यूरोपियन साझा बाजार का निर्माण किया और इसमें ब्रिटेन के प्रवेश रोकने का सफल प्रयास किया। साझा बाजार में ब्रिटिश प्रवेश मुख्यतः दिगॉल के विरोधी रुख के कारण ही रुका रहा।

फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन के विदेश मन्त्रियों ने सितम्बर, 1950 में जर्मनी के प्रश्न पर विचार कर जर्मन लोगों की एकीकरण की भावना का समर्थन किया। *रूस के असहयोग के कारण जर्मनी का एकीकरण सम्भव न हो सका। अन्त में* तीनों राष्ट्रों ने जर्मन-संघीय गणराज्य (पश्चिमी जर्मनी) को ही जर्मन जनता का वास्तविक प्रतिनिधि मानने का निश्चय किया। एशियायी विवादों में फ्रांस ने अधिक भाग नहीं लिया क्योंकि हिन्द चीन की समस्या में फ्रांस को निरन्तर पीछे हटना पड़ा तथा जुलाई, 1954 के जिनेवा शिखर-सम्मेलन में वियतनाम के विभाजन को मान्यता मिल गई। फ्रांस कोरिया-युद्ध में भी कोई भाग इसलिए नहीं ले सका था क्योंकि वह उस समय हिन्द चीन में साम्यवादियों से युद्ध में उलझा हुआ था। 1956

में फ्रांस और ब्रिटेन ने इजरायल के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया, किन्तु उनके साम्राज्यवादी इरादे परास्त हो गए, यहाँ तक कि उन्हें संयुक्तराज्य अमेरिका तक के कठोर विरोध का सामना करना पड़ा।

डिगॉलकालीन विदेश नीति

1958 के मध्य तक फ्रांस अपनी राजनीतिक अस्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कोई प्रभावशाली कदम नही उठा सका, किन्तु इसके बाद स्थिति मे परिवर्तन आया। मई, 1958 मे पियरे फ़िलमिन सरकार का पतन हो जाने के बाद डिगॉल के प्रधानमन्त्रित्व में फ्रांस मे पाँचवे गणतन्त्र का उदय हुआ। असेम्बली ने डिगॉल को 6 मास के लिए ससदीय हस्तक्षेप से मुक्त समस्त अधिकार सौंप दिए। उन्होंने 3 जून, 1959 को एक सांविधानिक कानून का निर्माण किया जिसके ससदीय सुधारों को राष्ट्रीय असेम्बली मे प्रस्तुत न कर सीधे इलेक्टोरेट के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकता था। 4 सितम्बर, 1959 मे पाँचवें गणतन्त्र का नवीन सविधान प्रकाशित हुआ जिसके अनुसार ससद की अनेक शक्तियाँ राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर दी गईं। दिसम्बर, 1959 को राष्ट्रपति के चुनाव मे डिगॉल पहले ही बहुमत से राष्ट्रपति निर्वाचित हो गए थे। डिगॉल ने फ्रांस की समस्याओं का दृढ़ता से सामना किया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सम्मान दिलाया।

अल्जीरिया-फ्रांस सघर्ष का अन्त—फ्रांस ने नवीन सविधान के अनुसार 2 अक्तूबर, 1958 को गिनी राज्य को स्वतन्त्र मान लिया और 23 नवम्बर को वह सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया। राष्ट्रपति डिगॉल ने शासन की बागडोर हाथ मे लेते ही अपना ध्यान अल्जीरिया की तरफ केन्द्रित किया। डिगॉल के पूर्ववर्ती सभी फ्रेंच नेता कह चुके थे कि फ्रांस अल्जीरिया में अपने अधिकारों को कभी समाप्त नही करेगा। *अपने साम्राज्यवादी अधिकारों की रक्षा के लिए फ्रांस* अल्जीरिया के स्वाधीनता आन्दोलन को बुरी तरह कुचलता रहा, किन्तु इससे अल्जीरियावासियो के स्वातन्त्र्य-सघर्ष मे कोई कमी नही आई। राष्ट्रपति डिगॉल ने विद्रोहियो को शान्त करने और अल्जीरिया युद्ध को रोकने के लिए समझौता कराने का निश्चय किया। विद्रोहियों को शान्त करने मे तो वे सफल हो गए, किन्तु दूसरे उद्देश्य की प्राप्ति मे उन्हे सफलता प्राप्त नही हुई। डिगॉल ने अल्जीरिया-वासियों को फ्रेंच नागरिकता का प्रलोभन दिया, किन्तु वे तो अल्जीरिया की नागरिता चाहते थे, फ्रांस की नहीं। तब सितम्बर, 1959 मे डिगॉल ने घोषणा की कि अल्जीरिया निवासी शान्ति का मार्ग स्वीकार कर लेंगे तो 4 वर्ष के अन्दर *ही वहाँ निम्नांकित सुझावों पर जनमत लिया जाएगा*—

1 फ्रांस अल्जीरिया पर अपने समस्त अधिकारों को त्याग देगा।

2 फ्रांस के साथ अल्जीरिया का एकीकरण कर लिया जाएगा और अल्जीरिया निवासियों को मेट्रोपोलियन फ्रांस के नागरिकों को प्राप्त सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

3 अल्जीरिया निवासी ही वहाँ का शासन करेंगे, किन्तु इसके पीछे फ्रांस की भी आर्थिक-शैक्षिक तथा वैदेशिक सहयोग रहेगा।

परन्तु ये सुझाव उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। प्रथम तो ये सुझाव शान्ति स्थापना के बाद ही क्रियान्वित किए जा सकते थे और शान्ति की स्थापना तभी हो सकती थी जब अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाए। दूसरे, चुनाव-परिणामों को फ्रेंच सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होनी ही थी जो वहाँ की जनता की राष्ट्रीय भावना के लिए अपमानजनक बात थी। अल्जीरियन गणतन्त्र की अन्तर्कालीन सरकार ने इस विषय पर फ्रेंच सरकार से वार्तालाप करना स्वीकार किया, परन्तु डिगॉल ने उसे अल्जीरिया के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। जनवरी, 1960 में अल्जीरिया में डिगॉल-विरोधियों ने भीषण विद्रोह कर दिया जिससे समस्या का समाधान और भी दुष्कर हो गया। फरवरी, 1960 में फ्रेंच संसद द्वारा राष्ट्रपति डिगॉल को अल्जीरिया-विवाद के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिए गए। उन्होंने अल्जीरिया तथा फ्रांस में जनमत-संग्रह कराने का प्रस्ताव किया। यद्यपि यह जनमत-संग्रह 'अल्जीरिया-अल्जीरिया वालों के लिए' विषय पर होना था किन्तु अल्जीरिया की अन्तर्कालीन सरकार (स्वातन्त्र्य आन्दोलन की संचालक) के अध्यक्ष अब्बास ने इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया और अपने अनुयायियों को मतदान में भाग न लेने का आदेश दिया। 1961 में जनमत-संग्रह हुआ जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने अल्जीरिया में स्वायत्त शासन स्थापित होने के पक्ष में तथा 50 लाख लोगों ने इसके विपक्ष में मत दिया। परन्तु समस्या यह थी कि स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होता क्योंकि किसी न किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता, तथापि पारस्परिक वार्तालाप द्वारा कोई समाधान निकल आने की सम्भावना अवश्य बढ़ गई। किन्तु अप्रैल, 1961 में, डिगॉल-विरोधी कुछ अवकाश प्राप्त फ्रेंच सैनिक अधिकारियों ने सहसा आक्रमण कर अल्जीरिया पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। डिगॉल ने इस सैनिक विद्रोह को दबा दिया और अल्जीरियायी राष्ट्रवादियों के साथ वार्ता शुरू कर दी। अन्त में, 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई और इस प्रकार राष्ट्रपति डिगॉल ने अल्जीरिया-फ्रांस संघर्ष का अन्त कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय गौरव की पुन: प्राप्ति की चेष्टा—राष्ट्रपति डिगॉल की प्रमुख चिन्ता सदैव यही रही कि फ्रांस किसी न किसी प्रकार अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को पुन: प्राप्त कर ले। इसीलिए शनै:-शनै: वह अपने राष्ट्र को अमेरिकी प्रभाव से मुक्त करने लगे और दूसरी ओर ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रोकने की चेष्टा में लगे रहे तथा इसीलिए साम्यवादी देशों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किए। साम्यवादी चीन के साथ फ्रांस के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में विकास हुआ। मास्को की अणु-परीक्षण निरोध-सन्धि पर हस्ताक्षर न करने वाले केवल दो ही बड़े देश थे चीन और फ्रांस। दोनों ही ने यह तर्क दिया कि सन्धि का उद्देश्य सोवियत संघ, संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा अणु-शस्त्रों के क्षेत्र में अपना

एकाधिकार स्थापित करना है एव उनका यह प्रयोजन है कि अन्य देश इस शक्ति का विकास न कर पाएँ।

फ्रांस ने वियतनाम मे सयुक्त राज्य अमेरिका की कार्यवाही की निन्दा जिन शब्दो मे की, उनमे चीन आलोचना की गन्ध थी। यूरोपियन साझा बाजार मे ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की डिगॉल की नीति ने पश्चिमी गुट मे फूट का सकेत दिया। सयुक्तराज्य अमेरिका ने बहुत चाहा कि ब्रिटेन को यूरोपियन साझा बाजार की सदस्यता प्राप्त हो जाए। इसके लिए उसने फ्रांस पर दबाव डाला, किन्तु डिगॉल अपने हठ पर दृढ रहे। इतना ही नही, कुछ और बातो पर भी फ्रास तथा ब्रिटेन-अमेरिका के मध्य गहरे मतभेद उत्पन्न हो गए। नि शस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बनाया गया तो उसने इसमे भाग लेने से इन्कार कर दिया। इसमे भी बढकर घटना नाटो को पोलरिस यन्त्रो से युक्त करने के प्रस्ताव के सम्बन्ध मे घटी। 1962 मे अमेरिका और ब्रिटेन मे एक समझौते द्वारा यह तय हुआ कि नाटो राज्यो की सेनाओ को पोलरिस प्रक्षेपणास्त्रो से लैस किया जाए परन्तु फ्रांस ने इसम शामिल होने से इन्कार कर दिया और निर्णय लिया कि वह इस कार्य मे साथ नही देगा। 1963 मे फ्रांसीसी सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देने और दोनो राष्ट्रो के बीच राजदूतो का आदान-प्रदान हो जाने की घटना से यह और भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति डिगॉल का अपना पृथक् मार्ग है जो नाटो राज्यो से भिन्न है।

चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करने के अतिरिक्त राष्ट्रपति डिगॉल ने विश्व के समक्ष एक और सुझाव रखा। उन्होने कहा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डावाडोल है, अत इस क्षेत्र का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता द्वारा तटस्थीकरण (Neutralisation of S E Asian Region) कर दिया जाए। सयुक्तराज्य अमेरिका और उसके साथी राज्यो ने डिगॉल के सुझावो का तीव्र विरोध किया। वास्तव मे फ्रांस की ये सभी कार्यवाहियाँ अटलांटिक समुदाय की एकता भग करने वाली थी। इस एकता को भीषण आघात तो 12 मार्च, 1966 को डिगॉल की इस घोषणा से पहुँचा कि फ्रांस नाटो सगठन से पृथक् होना चाहता है। फ्रांस द्वारा यह निश्चय व्यक्त किया गया कि तीन वर्ष के अन्दर वह अपने सभी अफसरो को नाटो-सेवा से वापस बुला लेगा और उसके साथ ही नाटो के साथ अपने सारे सम्बन्धो को समाप्त कर देगा। फ्रांस की माँग पर ही सयुक्तराज्य अमेरिका को फ्रांसीसी भूमि पर स्थित नाटो अड्डो को खाली कर देना पडा। वास्तव मे फ्रांस के नाटो के परित्याग के निर्णय से पश्चिमी गुट पर एक महान् सकट आ गया। नाटो मे पश्चिम जर्मनी को इस शर्त पर 1955 मे शामिल किया गया था कि वह स्वतन्त्र रूप से अपनी सैनिक शक्ति मे वृद्धि नहीं करेगा। इस शर्त के लिए स्वय फ्रांस का विशेष आग्रह था, परन्तु जब फ्रांस ही नाटो से निकल जाना तो पश्चिम जर्मनी भी इस शर्त से मुक्त हो जाता और तब वहाँ सैन्य-शक्ति मे वृद्धि का कार्यक्रम तीव्र गति से चलने की सम्भावना हो जाती। पश्चिम जर्मनी द्वारा सैनिक शक्ति

बढ़ाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों से होती और इस तरह हथियार बन्दी की होड का कुचक्र फिर से चलना शुरू हो जाता। राष्ट्रपति डिगॉल का यह निर्णय कई भयंकर परिणामों से युक्त था। इनके कारण यूरोप की कूटनीतिक स्थिति खराब हो सकती थी और पश्चिम जर्मनी के प्रश्न पर युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती थी।

वस्तुत जनरल डिगॉल कई वर्षों से अपने विचित्र व्यवहार से राजनीतिक जगत् को चौंकाते रहे। कुछ लोगों ने इसे 'वृद्धावस्था' की सनक का नाम दिया। मगर जो लोग इन कार्यवाहियों के पीछे उद्देश्य खोजने के पक्ष में थे, उनके अनुसार यूरोप और सम्पूर्ण विश्व के प्रति जनरल डिगॉल का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। उन्होंने कहा था—"अमेरिका विश्व में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है और स्वभावत वह अपनी शक्ति को बढ़ाने पर तुला हुआ है।' इस शक्ति-विस्तार से बचने के लिए उनके अनुसार दो ही उपाय थे, पहला यह कि उसी गुट का एक सदस्य बन जाए, जहाँ अमेरिकन शक्ति सर्वोपरि है और यह मार्ग सुगम था। दूसरा *उपाय था अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा। इसके लिए आवश्यक था कि फ्रांस और* जर्मनी एक-दूसरे के निकट आएँ, अन्यथा अमेरिकी प्रभाव से नहीं बचा जा सकता। इसलिए फ्रांस और जर्मनी में राजनीतिक घनिष्ठता के प्रति सक्रिय कदम उठाए जाते रहे। जनरल डिगॉल का विश्वास था कि फ्रांस ने जिस आर्थिक ढाँचे को पिछले 6 वर्षों में खड़ा किया है, उसे नष्ट न होने दें ताकि उसे अमेरिकी पद्धति द्वारा आत्मसात् न किया जा सके। अपने व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए ही उनकी तीसरी शर्त यह थी कि विश्व में इस बात को समाप्त कर दिया जाए कि शक्ति के कुल दो ही गुट हैं उसके बाहर कुछ नहीं है। तीसरे गुट की रचना के लिए उन्होंने फ्रांस को पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट लाना चाहा ताकि 'विश्व राजनीति में दो गुटों की पद्धति के अतिरिक्त भी कुछ हो।" इसी नीति को अपनाकर ब्रिटेन के यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने का उन्होंने विरोध किया था।

यद्यपि अनेक राजनीतिज्ञों ने यह मत व्यक्त किया कि विश्व की राजनीति को अपने विचारों के अनुकूल परिवर्तित करना और अपनी इच्छानुसार गुटों का निर्माण और विनाश करना फ्रांस के बूते की बात नहीं है तथा डिगॉल में विश्व की राजनीतिक घटनाओं को नियन्त्रित करने की शक्ति नहीं है, तथापि जनरल डिगॉल ने अत्यन्त संदिग्ध और विवादास्पद परिस्थितियों में भी फ्रांस की प्रतिष्ठा का निरन्तर विकास किया। उन्होंने 1962 में अल्जीरियाई स्वतन्त्रता के समय अपने मन्त्रिमण्डल से कहा था—'मित्रो, फ्रांस का जहाज बहुत ही तूफानी यात्रा पर अग्रसर है, जिन्हें यात्रा की थकान महसूस होती है वे जहाज से उतर जाएँ और दूसरों को लहरों के थपेड़े सहन करने दें।" डिगॉल ने अपने राष्ट्रपति काल में फ्रांस को वास्तव में तूफानी यात्रा पर चलाया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस रूपी जहाज को शक्ति और प्रतिष्ठा को स्थापित करने की बहुत कुछ सफल चेष्टा की।

डिगॉल के बाद फ्रेंच नीति

यद्यपि राष्ट्रपति डिगॉल ने फ्रांसीसी शासन को स्थायित्व प्रदान किया, तथापि उसकी कुछ नीतियों के प्रति देश में असन्तोष तीव्र होता गया। 29 अप्रेल, 1969 को फ्रांस में एक जनमत-संग्रह के परिणामों की पृष्ठभूमि में राष्ट्रपति डिगॉल ने त्याग-पत्र दे दिया। इस तरह न केवल फ्रांस के इतिहास में ही वरन् वास्तव में समस्त यूरोप के इतिहास में एक युग का अन्त हुआ। 1 जून को फ्रांस में राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव हुआ और जॉर्ज पोम्पिदू ने निर्वाचन में विजय प्राप्त की।

नई सरकार ने परिस्थितियोंवश, डिगॉल-शासन की अपेक्षा, ब्रिटेन के प्रति नरम रुख अपनाया है, फलस्वरूप वह साझा बाजार में शामिल हो सका। चैकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप की घटना के बाद फ्रांस ने नाटो संगठन में बने रहना सम्भवतः अधिक उपयोगी और आवश्यक अनुभव किया। राष्ट्रपति पोम्पिदू ने अपेक्षाकृत अधिक सहयोगपूर्ण और नरम रुख अपनाते हुए भी डिगॉल की इस मुख्य माँग का निर्वहन किया कि राष्ट्रीय सम्प्रभुता किसी भी कीमत पर दूसरे के हाथ में नहीं जानी चाहिए। राष्ट्रपति पोम्पिदू ने अमेरिका से सम्बन्ध-विच्छेद करने में विश्वास नहीं किया तथापि यह अनुभव किया कि यूरोप अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं परम्पराओं और विशेषताओं के कारण अमेरिका से भिन्न है। फ्रांस का यह दृष्टिकोण भी रहा कि उसने अब इंग्लैण्ड से अमेरिका के साथ स्वाभाविक सम्बन्धों को 'यूरोपीय दृष्टिकोण' के विरुद्ध नहीं माना। दिसम्बर, 1970 में स्वयं पोम्पिदू ने अपने इस अभिमत का संकेत दिया। डिगॉल की तरह ही पोम्पिदू ने भी फ्रांस को एक परमाणु-शक्ति के रूप में देखना चाहा और इसीलिए सभी तरह के अन्तर्राष्ट्रीय विरोधों के बावजूद जून, 1972 में फ्रांस ने दक्षिण प्रशान्त महासागर में अपने परमाणु परीक्षण कर डाले।

1974 में फ्रांस के राजनीतिक जीवन में कई महत्त्वपूर्ण मोड़ आए। अक्तूबर 1973 में अरब-इजरायल युद्ध के बाद अरब देशों द्वारा तेल का मूल्य बढ़ाकर तेल की सप्लाई नियन्त्रित करने से विश्व में जब तेल संकट उत्पन्न हुआ तो अमेरिका ने तेल का उपयोग करने वाले देशों की संयुक्त कार्यवाही द्वारा उसका सामना करने की योजना बनाई। फ्रांस के राष्ट्रपति जॉर्ज पोम्पिदू ने उससे फ्रांस को पृथक् रखा।

2 अप्रेल, 1974 को पोम्पिदू की मृत्यु के बाद जिस्कार द एस्तें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उन्होंने भी अरब देशों पर संयुक्त रूप से दबाव डालने की बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग बढ़ाने की नीति चालू रखी। बाद में अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड के साथ जिस्कार की भेंट के बाद फ्रांस ने भी तेल उपभोक्ता देशों के साथ सहयोग करने पर सहमति व्यक्त कर दी। फ्रांस ने अरब-इजरायल युद्ध के समय से पश्चिम एशिया के देशों के लिए शस्त्रों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया था जो अगस्त, 1974 में उठा लिया। भारत के साथ जिस्कार के कार्यकाल से ही

फ्रांस के सम्बन्ध पूर्ववत् मधुर बने रहे। दोनों देशों के प्रतिनिधि-मण्डल एक-दूसरे देश की यहाँ यात्रा करते रहे। जनवरी, 1976 में फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री की यात्रा से भारत और फ्रांस के बीच सम्बन्धों को और सुदृढ करने में सहायता मिली। दोनों देशों ने भारत-फ्रांस तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग को मन्त्रिस्तर तक लाने और आपसी लाभ के लिए आर्थिक आदान-प्रदान, उद्योग एवं प्रौद्योगिकी में सहयोग का विस्तार करने के लिए इस ढाँचे का उपयोग करने पर सहमति व्यक्त की। अक्तूबर, 1976 में एक भारतीय संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल ने फ्रांस की यात्रा की। मार्च, 1977 से भारत में ऐतिहासिक सत्ता परिवर्तन हुआ और जनता पार्टी की सरकार कायम हुई। नई सरकार भारत को परम्परागत मैत्री-नीति के अनुकूल फ्रांस के साथ भारत के मैत्री सम्बन्धों का विकास करती रही। जून, 1977 में राष्ट्रमण्डल सम्मेलन से लौटते समय भारत के प्रधानमन्त्री ने पेरिस में फ्रांस के राष्ट्रपति के साथ उपयोगी विचार-विमर्श किया। इसी माह पेरिस में एक भारत-फ्रांसीसी अन्तरिक्ष समझौते पर हस्ताक्षर हुए। जुलाई, 1978 में फ्रांस और भारत के बीच विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर एक करार सम्पन्न हुआ। दिसम्बर, 1978 में फ्रांस के विदेश-व्यापार मन्त्री नई दिल्ली आए। दोनों पक्षों में इस बात पर सहमति हुई कि अगले 4 वर्षों के अन्दर द्विपक्षीय व्यापार को दुगुना किया जाए और अन्य देशों में संयुक्त उद्यम स्थापित किए जाएँ। राष्ट्रपति जिस्कार ने जनवरी, 1980 में भारत की यात्रा की। वे भारत की यात्रा पर आने वाले फ्रांस के पहले राष्ट्रपति थे। फ्रांस के राष्ट्रपति और भारत के प्रधानमन्त्री द्वारा 27 जनवरी, 1980 को संयुक्त घोषणा की गई। संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया—'ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो जिसमें सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता तथा प्रादेशिक अखण्डता सुरक्षित रह सके और बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपने भविष्य का निर्धारण कर सकें।" नई दिल्ली में हस्ताक्षरित इस संयुक्त विज्ञप्ति में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा गया कि फ्रांस द्वारा 'तनाव शैथिल्य' की नीति और भारत द्वारा 'गुट-निरपेक्षता' की नीति अपनाए जाने के कारण दोनों देशों पर विशेष दायित्व है। द्विपक्षीय सहयोग को बढ़ाने में यह यात्रा बहुत सफल रही और सात प्रोटोकोलों तथा समझौता-ज्ञापनों पर हस्ताक्षर किए गए।

राष्ट्रपति जिस्कार ने यह घोषणा की कि फ्रांस अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप के प्रश्न पर संयुक्तराज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों को बिना शर्त समर्थन देने के लिए तैयार नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि फ्रांस ऐसा कोई भी उग्र दृष्टिकोण अपनाने के पक्ष में नहीं है जिससे शीत युद्ध फिर से भड़क उठे। फ्रांस अपने दृष्टिकोण का निर्धारण अपने महाद्वीप के हितों और विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा के सन्दर्भ में ही करता है। अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों की जो बैठक हुई उसमें फ्रांस ने भाग नहीं लिया। राष्ट्रपति जिस्कार ने स्पष्ट किया कि फ्रांस ऐसी किसी बैठक के पक्ष में नहीं है और न ही ऐसी

किसी भी बैठक में भाग लेना चाहता है जो विरोधी गुट-दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करता हो। गुटों की पुनः स्थापना का विरोध आवश्यक है क्योंकि इससे केवल अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ेगा और फ्रांस द्वारा स्वतन्त्र नीति अपनाए जाने की क्षमता समाप्त हो जाएगी।

मई, 1981 में फ्रेंकोइस मित्तरां फ्रांस के नए राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राष्ट्रपति मित्तरां की समाजवादी सरकार भी पहले की ही भाँति अमेरिका से पृथक् अपने राष्ट्रीय हित के आधार पर फ्रांस द्वारा स्वतन्त्र नीति अपनाई जाने की ओर अग्रसर हुई। नए राष्ट्रपति ने अमेरिकी नीति की अनेक सन्दर्भों में कटु आलोचना की और कहा कि 'तृतीय विश्व' (Third World) के देशों के प्रति अमेरिका की नीति मुख्यतः अपने सामरिक हितों से प्रेरित है। राष्ट्रपति मित्तरां ने लेटिन अमेरिकी देशों के प्रति अमेरिका की नीति की आलोचना की और स्पष्ट शब्दों में कहा कि पाश्चात्य जगत् को इस क्षेत्र के अत्याचारी तथा अलोकतान्त्रिक शासकों को समर्थन देने के बजाय इस क्षेत्र के पीड़ित लोगों का समर्थन करना चाहिए।

राष्ट्रपति मित्तरां ने भी राष्ट्रपति जिस्कार की भाँति ही 'गुट-टकराव' (Block Confrontation) की नीति का विरोध किया। फ्रांस और भारत के बीच सहयोग के आयामों का और अधिक विस्तार हुआ। श्रीमती गांधी ने नवम्बर, 1981 में फ्रांस की यात्रा की। संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों देशों द्वारा एक 'तीसरी शक्ति' (Third Force) के रूप में कार्य करने पर बल दिया गया। फ्रांस ने तृतीय विश्व के गरीब राष्ट्रों के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की और भारत के साथ 'सर्वोच्च शक्तियों' (Super Powers) से दूरी बनाए रखने का निश्चय किया। दोनों पक्षों ने संयुक्त घोषणा में 'भय, प्रभुत्व और अहंकार पर आधारित सम्बन्धों के आचरण' का विरोध करते हुए विदेश प्रभुत्व या बाहरी हस्तक्षेप से देशों की स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के कर्त्तव्य पर जोर दिया। अक्तूबर, 1982 में भारत और फ्रांस के बीच मिराज विमान सम्बन्धी समझौता सम्पन्न हुआ और आर्थिक तथा सैनिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। फ्रांस के साथ आर्थिक सम्बन्ध और मजबूत हुए। जून, 1983 में इलेक्ट्रोनिक्स, कम्प्यूटर तथा सूचना विज्ञान में सहयोग से सम्बद्ध भारत-फ्रांस समझौता-ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए गए। उस समय तक भारत और फ्रांस के बीच 14 समझौता-ज्ञापन/प्रोटोकोलों पर हस्ताक्षर हो चुके थे जो विभिन्न तकनीकी क्षेत्रों में सहयोग से सम्बन्धित हैं। दोनों देशों ने एक-दूसरे के यहाँ उच्च स्तरीय यात्राएँ सम्पन्न कीं। 1984-85 में भी भारत-फ्रांस के सम्बन्ध निरन्तर विकसित होते रहे विदेश मन्त्री की अप्रैल, 1984 में पेरिस-यात्रा के दौरान भारत-फ्रांस द्विपक्षीय वार्ता हुई। एक-दूसरे के यहाँ उच्च स्तरीय यात्राएँ सम्पन्न की गईं जिनमें फ्रांस की नेशनल असेम्बली के अध्यक्ष की फरवरी 1984 में भारत-यात्रा और भारत के उप-राष्ट्रपति की जुलाई, 1984 में फ्रांस-यात्रा विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। अगस्त, 1984 में फ्रांस ने भारत के साथ आधुनिकतम लम्बी दूरी के हवा से हवा में मार करने वाले तथा इन्का रेंड

सीकर प्रक्षेपास्त्रो की आपूर्ति के लिए समझौता किया। वर्ष 1987 तक दोनो देशों के बीच सहयोग के अनेक क्षेत्रो का विस्तार हुआ है।

फ्रांस ने अफगानिस्तान मे रूसी हस्तक्षेप (1979) और पोलैण्ड के प्रश्न (1981) पर अमेरिकन नीति का समर्थन नही किया और ऐसे विकल्प का सुझाव दिया जिससे संघर्ष तीव्र न हो तथा विश्व शान्ति की स्थापना हो।

ससार मे युद्ध और तनाव को कम करने की दृष्टि से राष्ट्रपति मित्तराँ ने घोषणा की कि फ्रांस अपनी 'शस्त्र-विक्रय नीति' (Arms Sales Policy) मे परिवर्तन करेगा। फ्रांस तानाशाही शासनो तथा ऐसे शासनों को, जिनकी नीतियाँ दूसरे देशों की स्वतन्त्रता के लिए खतरा प्रस्तुत करती हो, शस्त्र नही देगा। वास्तव मे इस प्रकार का निर्णय फ्रांस की समाजवादी सरकार की नीति मे नैतिक पक्ष का द्योतक है। फ्रांस ने भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति की हमेशा सराहना की और यह मत प्रस्तुत किया कि ऐसे विश्व मे, जो दो विरोधी गुटों मे विभाजित है, ऐसी नीति का विशेष महत्त्व है।

फ्रांस द्वारा दोनो महाशक्तियों—अमेरिका और रूस के प्रति स्वतन्त्र नीति अपनाए जाने पर टिप्पणी करते हुए राष्ट्रपति मित्तराँ ने कहा—"फ्रांस अपनी भौगोलिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण एक सैनिक गठबन्धन से सम्बद्ध है। हम पिछले दो विश्व-युद्धों के केन्द्र रहे हैं। हम एक छोटे-से महाद्वीप यूरोप पर स्थित है, जहाँ एक सर्वोच्च शक्ति की सैनिक सर्वोच्चता पूर्ण रूप से स्थापित है। फिर भी हम रूस को अपना शत्रु नही मानते है। किन्तु हमें यह देखना है कि हम पूर्ण रूप से सुरक्षित रहे। मेरा दृष्टिकोण केवल सुरक्षात्मक है। किन्तु इसमें एक गठबन्धन निहित है। इस गठबन्धन मे केवल हम ही एक ऐसे राष्ट्र है, जिसने अपने निर्णय की स्वतन्त्रता को बनाए रखा है। हम नाटो के सैनिक कमान से सम्बद्ध नही हैं तथा मैं ऐसी स्वतन्त्रता बनाए रखने पर बल देता हूँ। मैं यह नही चाहता हूँ कि अटलांटिक सगठन हमारे अस्तित्व के सभी पहलुओ को निर्धारित करे। मैं यह भी नही चाहता हूँ कि यह गठबन्धन विश्व राजनीति के दाँवपेच का एक तत्त्व समझा जाए। मैं अन्तर्राष्ट्रीय बहिष्कार की नीति मे विश्वास नही करता हूँ। इस स्थिति ने अमेरिका के साथ हमारे सम्बन्धो मे कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी है। किन्तु मैं अपने दृष्टिकोण को बदलने नही जा रहा हूँ।"

सोवियत सघ के साथ फ्रांस के समाजवादी सरकार के सम्बन्ध अच्छे हैं। जून, 1973 मे ब्रेझनेव ने फ्रांस की और अक्तूबर, 1975 मे राष्ट्रपति जिस्कार ने सोवियत सघ की राजकीय यात्रा की थी, जिससे दोनो देशों के सहयोग-सूत्र विकसित हुए। जून 1977 मे ब्रेझनेव ने सोवियत सघ के राष्ट्रपति के रूप मे सबसे पहली यात्रा पेरिस की सम्पन्न की। अमेरिका और रूस के सम्बन्धों मे दुराव की स्थिति को देखते हुए सोवियत सघ ने फ्रांस के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की और फ्रांस ने भी यह रुख स्पष्ट किया कि वह रूस को यूरोप मे एक महत्त्वपूर्ण मित्र और भागीदार मानता है। राष्ट्रपति मित्तराँ ने

23 जून 1984 को अपनी सोवियत संघ की यात्रा समाप्त की। यात्रा का कोई विशेष परिणाम तो नहीं निकला परन्तु दोनों देशों ने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी स्थिति से एक-दूसरे को अवगत कराया। फ्रांस के राष्ट्रपति ने वार्ता के दौरान श्री चैरनैंको को स्पष्ट किया कि फ्रांस परमाणु शस्त्रों की स्पर्द्धा को कम करने का पक्षधर है। वह चाहता है कि जेनेवा वार्ताएँ पुन आरम्भ हों। परन्तु सोवियत संघ ने इस विचार से सहमति प्रकट की परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि वार्ताएँ तभी आरम्भ हो सकती हैं, जब अमेरिका अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करे।

यूरोप के अन्य देशों के साथ भी फ्रांस सहयोग और मैत्री के आयामों का विस्तार कर रहा है। जर्मनी और फ्रांस में युद्धकालीन कटुता तेजी से समाप्त हो रही है। जब अक्तूबर, 1978 में फ्रांस के राष्ट्रपति जिस्कार और जर्मनी के चांसलर स्कीमिड आचेन शहर में सम्राट शालमैंन को श्रद्धाञ्जलि देने को एकत्र हुए हुए तो दोनों देशों के मध्य यूरोप की राजनीति में सहयोग और मैत्री का एक नया युग शुरू हुआ। यूरोपीय देशों के मध्य सहयोग बढाने की दृष्टि से दोनों नेताओं ने पश्चिमी यूरोपीय मुद्रा संघ (Monetary Union for Western Europe) की स्थापना पर सहमति व्यक्त की। जर्मन नेता ने कहा—"पश्चिमी यूरोप का हित बहुत कुछ फ्रांस जर्मनी सम्बन्धों पर निर्भर करता है। जर्मनी में ऐसा कोई वर्ग नहीं है जो इसका विरोध करे। यह कोई नाटक या राजनीतिक नारा नहीं है, वरन् अब हम जो भी निर्णय बोन (Bonn) में लेते हैं फ्रांस से जरूर पूछते हैं।" राजनयिक सम्बन्धों के साथ दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्धों का विकास हो रहा है। फ्रांस जर्मनी का सबसे बड़ा खरीददार है और जर्मनी फ्रांस का सबसे बड़ा व्यापारिक सहयोगी है। दोनों ही देश प्रौद्योगिक क्षेत्र में भी सहयोग कर रहे हैं।

फ्रांस की विदेश नीति का एक विहंगावलोकन

डॉ रवीन्द्र नारायण सिन्हा ने फ्रांस की विदेश नीति के विहगावलोकन में प्रथम एव द्वितीय महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर फ्रांस की नीतियों का चित्रण करते हुए उसकी विदेश नीति में निरन्तरता और परिवर्तन के तत्वों पर जो प्रकाश डाला है और वर्तमान शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रांसीसी विदेश नीति के जिन दिशा-सूत्रों को इंगित किया है, वह सब अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है—

राष्ट्र राज्यों की परराष्ट्र-नीति को उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विश्व-रंगमंच पर विक्षेप कहा गया है। इस उक्ति में सत्य का कुछ अंश तो अवश्य ही है। कई इतिहासकारों ने फ्रांस के द्वैध व्यक्तित्व की चर्चा की है—(1) शक्ति, महत्ता एवं गरिमा का पूजक तथा (2) क्रान्तिवाद, प्रतिवाद एवं जनवाद के तत्त्वों से अनुप्रेरित। फ्रांस वीरपूजक भी रहा है, मूर्तिभंजक भी। लुई चौदहवाँ, नेपोलियन प्रथम, नेपोलियन तृतीय, चार्ल्स द गॉल के चरणों पर हविष चढाने को फ्रांस अक्सर उद्यत हो जाता है। दैवयोग से फ्रांसीसी इतिहास के कई सर्वाधिक अविस्मरणीय पृष्ठ इन्हीं की छत्रछाया में लिखे गए। फ्रांस में समाजवादी चेतना भी किंचित् व्यापक तथा प्रबल रही है पर देश की आन्तरिक या वैदेशिक नीतियों पर उसका

प्रभावी हाथ शायद ही कभी रहा। शक्तिशाली नेता जारेस की चेतावनियों के बावजूद सदी के प्रारम्भिक दशक में फ्रांस युद्ध के आह्वान की भूमिका तैयार करता रहा। सदी के चौथे दशक के मध्य में फ्रन्ट पापुलायर का मन्त्रिमण्डल कजर्वेटिव ब्रिटेन के साथ हाथ मिलाकर गणतन्त्रवादी स्पेन के गले में नागपाँस कसने में योगदान करता रहा। सदी के छठे-सातवें दशक में दक्षिणपन्थी द गॉल को फ्रांस को ह्रास की दलदल में डूबते जाने की प्रक्रिया को रोकने का श्रेय मिला।

प्रथम विश्वयुद्ध के विजेता फ्रांस ने वस्तुतः पराजित की चेतना लेकर विश्वयुद्धोत्तर में प्रवेश किया था। युद्ध में जन-धन की भीषण क्षति, अवर्द्धमान आबादी जर्मनी की तुलना में औद्योगिक उत्पादन तथा क्षमता में पीछे पड़ जाना इन सबों का समवेत परिणाम था विश्व की शक्ति प्रतियोगिता में उसका पीछे छूटते जाना।

प्रथम विश्व-युद्धोत्तर युग में फ्रांसीसी राजनय सामूहिक सुरक्षा तथा द्विपक्षीय सन्धियों की शृंखला में अपने दुर्दमनीय राईनपार के पड़ोसी के विरुद्ध अपने को सुरक्षित करने के अनवरत प्रयत्न में लगा रहा। इसके लिए रोम, मास्को, वार्सा, प्राग, बेलग्राड आदि के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करके, इनमें कई के उचित-अनुचित आग्रहों का अन्ध समर्थन करके, जर्मनी को अकेला किए रखने की कोशिश करता रहा। इन सभी वर्षों में उसकी नीति का आधारभूत ध्रुव ब्रिटेन को अपनी सुरक्षा-व्यवस्था में प्रतिबद्ध रखना रहा है। निश्चय ही इतने कमजोर धागों से जर्मनी की नई घेराबन्दी का जाल बुनने की अपेक्षा अधिक सुरक्षित किंवा बुद्धिमत्तापूर्ण नीति होती, उसी देश के साथ स्वाभाविक तथा युक्तियुक्त आधार पर सम्बन्ध विकसित करने का प्रयत्न करना, किन्तु इसके लिए वर्साय की विसंगतियों को समाप्त करने की दूरदर्शिता तथा साहस होना आवश्यक था, जर्मनी के साथ समानता के स्तर पर मिलकर रहने को उद्यत होने का प्रश्न था और इसके विरुद्ध अनेक सदियों का इतिहास खड़ा था।

दूसरे विश्व-युद्ध में फ्रांस बिना तैयारी के ही खिंच आया, ब्रिटेन के साथ अपनी नीतियों-नियति को सम्बद्ध कर देने की यह सजा थी, दुर्निवार तथा कठोर। इतिहास की कितनी क्रूर विडम्बना स्पेन, अबीसीनिया, चेकोस्लोवाकिया के वध का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहभागी होने के बाद दाँजिग तथा गलियारे के लिए आरम्भ किए गए संघर्ष में फ्रांस को उतरना पड़ा। इस समय समरनैतिक तथा राजनयिक स्थिति फ्रांस के नितान्त प्रतिकूल तथा जर्मनी के अनुकूल थी। युद्ध घोषणा जर्मनी पर फ्रांस और ब्रिटेन ने की। दूसरे विश्व-युद्ध की भट्टी से फ्रांस पूर्णतया ध्वस्त एवं पराजित होकर निकला, यद्यपि था वह विजेताओं की पंक्ति में।

इन दशकों में फ्रांसीसी पर राष्ट्र-नीति का अध्ययन एक ह्रासोन्मुख तथा फिर उत्कर्षोन्मुख राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं नीतियों का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर फ्रांस का सर्वप्रथम संकल्प था—अपने को दुनिया के बड़े देशों के मध्य पांक्तेय रखना। इसके लिए उसके

प्रतिनिधि प्रत्येक सम्भव अवसर पर अपने देश की मर्यादा के अनुरूप स्थान प्राप्त करने को यत्नशील रहते। सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से लेकर अतलांत सन्धि सगठन की सुरक्षावाहिनी के हेतु फ्रांसीसी सेनापतियों के मनोनयन अथवा यूरोपीय परिषद् में अपने लिए प्राप्त स्थानों की संख्या पर बल देने तक विभिन्न तरीकों से अपनी आवाज ऊँची करते रहते। अपार धन-जन खर्च करके दक्षिण-पूर्वी एशिया, उत्तरी अफ्रीका अथवा अन्यत्र फ्रांसीसी साम्राज्य को बिखरने नहीं देने के दृढ़ संकल्प के मूल में भी उनकी यह भावना क्रियाशील रही होगी।

परराष्ट्र सम्बन्धों में फ्रांस का महत्त्व दिखाने हेतु फ्रांसीसी राजनेता अक्सर किसी निर्णय को टालते रहने का रवैया अपनाते रहे हैं। उद्देश्य तो होता यह दिखाना कि यदि फ्रांस दुनिया की उलझनों को सुलझाने में अधिक योगदान करने की स्थिति में नहीं था, फिर भी उसकी एकदम उपेक्षा की जा सके, यह भी बड़े राष्ट्रों के लिए हितकर नहीं था। अक्सर फ्रांसीसी सरकार किसी मसले पर तभी निर्णय लेती—अन्तिम क्षण में, काफी टालमटूल करने अथवा अड़गा लगाने के बाद जब वह देखती कि अब और अधिक विलम्ब करने से उसको छोड़कर अन्य देश एक-तरफा निर्णय ले लेंगे।

प्रभावी परराष्ट्र-नीति की सर्वप्रमुख विशेषता व्यावहारिकता होनी चाहिए। फ्रांसीसी राजनेता इसकी उपेक्षा नहीं करते थे। अपनी शक्ति या दक्षता की परख उन्हें नहीं थी, यह कहना गलत होगा, किन्तु फ्रांस की महत्ता अथवा गरिमामय स्थान पाने का अधिकार वे दुनिया की सभ्यता-संस्कृति को अपनी देन, गौरवमय अतीत तथा यूरोपीय मुख्यभूमि पर महत्त्वपूर्ण स्थान (उनकी दृष्टि में नेतृत्व प्रदान कर सकने वाला एकमात्र देश) पर आधारित मानते।

फ्रांसीसी यह प्रयत्न करते हैं कि दुनिया की महाशक्तियाँ अथवा अन्य देश उसकी उपेक्षा नहीं करें। सुरक्षा केवल एक देश की समस्या नहीं थी वे इस उक्ति को अक्सर दुहराया करते थे। फ्रांस के साथ सश्रय केवल फ्रांस को ही नहीं अन्य सश्रय सदस्यों के लिए भी लाभकर होगा, फ्रांसीसी सरकारें यह दर्शाने को व्यग्र रहतीं। चतुर्थ गणतन्त्र के ह्रासोन्मुख काल में फ्रांस सीधे किसी महाशक्ति के साथ सश्रय करने पर बल देता, उसमें उसे हीनता का बोध होने की आशंका कम रहती। अपनी महत्ता बनाए रखने हेतु, या उसका मुखौटा नहीं उतारना पड़े इसके लिए फ्रांसीसी राजनेता अपनी औपनिवेशिक उलझनों को भी सुरक्षा सश्रयों में खींचने के प्रयत्न करते। हिन्द-चीनी युद्ध के सन्दर्भ में फ्रांसीसी स्पष्टतः कहते हैं कि वे वैसे ही युद्ध में उसी उद्देश्य के लिए तथा वैसे ही शत्रु के साथ संलग्न थे। उन्हें कोरिया तथा वियतनाम में कोई भेद नहीं जान पड़ता था। वियतनाम या स्वेज संकट में सुरक्षा सन्धि संगठनों का समर्थन नहीं मिलने पर इनकी उपयोगिता उनकी दृष्टि में बहुत कम रह गई थी। तदनुरूप दिशा परिवर्तन उनकी नीतियों में होना अवश्यम्भावी था।

चतुर्थ गणतन्त्र की नीतियाँ अधिकतर आत्मरक्षात्मक थीं इसके अनुप्रेरक थे जर्मनी के अभ्युदय का भय, साम्राज्यीय शिराजा बिखरने का भय, विश्व के

राजनीतिक समुदाय में प्रतिष्ठा का आसन खो देने का भय आदि। इन दिनों फ्रांस बहुदलगत राजनीतिक पंगुता अथवा बहुखण्डित व्यक्तित्व से भी जर्जर था। सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस एक जर्जर, ह्रासोन्मुख राष्ट्र बन गया था—यूरोप का मरीज—यह कहना कुछ अंशों में ठीक ही था। इस सर्वतोमुखी ह्रास का आरम्भ, इतिहासकारों के अनुसार, नेपालियनाई युद्धों में जन-धन की अपार हानि से हुआ। इसके साथ-साथ पहले पराक्रमी प्रशामन फिर जर्मन साम्राज्य के उदय ने फ्रांस का आत्मविश्वास ही समाप्त कर दिया। सदी के आरम्भ में डेलकासे, काम्बा, पायकारे जैसे कुछ राजनयिकों नया उग्र राष्ट्रवादी ज्वार ने ह्रास की इस प्रक्रिया को कुछ काल के लिए रोके रखा। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के प्राणान्तक अनुभवों ने उसे पुन सक्रिय कर दिया। दो विश्वयुद्धों के बीच फ्रांस हर पहलू से एक ह्रासोन्मुख राष्ट्र बन गया था। कोई भी मूल्य चुका कर अपना साम्राज्य तथा वर्साय सन्धि व्यवस्था से प्राप्त अपनी सुरक्षा आश्वस्त बनाए रखना ही उसकी नीतियों का लक्ष्य रह गया था। इस अवधि के अन्तिम चरण में उसकी अपनी परराष्ट्र-नीति भी रह गई थी, यह सन्देहास्पद है। अनेक अर्थों में बरतानवी नीतियों का अनुगमन करना ही उसकी एकमात्र नीति थी।

सदी के चौथे दशक के मध्य तथा उत्तरार्द्ध में जब बड़े ही अध्यवसाय तथा आशा विश्वास के साथ गठित फ्रांस की द्विपक्षीय सन्धय-व्यवस्थाएँ ताश के महल की तरह ढहने लगी थी, उन दिनों फ्रांस दयनीय पंगुता की सीमा तक पहुँच गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दरम्यान पराजय के वर्षों में तथा उसके बाद में विजेता शक्तियों की पंक्ति में भी उसकी स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु छठे दशक के अन्तिम वर्षों में द गॉल के सुदृढ़ नेतृत्व लक्ष्य की स्पष्टता तथा बोझ बने औपनिवेशक साम्राज्य के भार से मुक्ति ने न केवल फ्रांस के ह्रास की प्रक्रिया को रोका, बल्कि उसके पुनरुत्कर्ष के युग की सूचना भी दी। इसके मूल में ये दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक—स्थायी सरकार (आन्तरिक राजनैतिक स्थिरता) तथा अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन।

सातवें दशक की दुनिया में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर एक नया सितारा उदित हो चुका था : जनवादी चीन। 1949 से 1959 – एक दशक में जनवादी चीन एक महाशक्ति का रूप ग्रहण करने लगा था। कोरिया में बराबरी पर युद्ध समाप्त करने को बाध्य, हंगरी के सहायतार्थ कुछ भी कर सकने में असमर्थ तथा वियतनाम में बुरी तरह उलझा सर्वशक्तिमान अमेरिका का विश्व नेतृत्व का सपना टूटने लगा था, यद्यपि उसका व्यामोह अभी पूरा समाप्त नहीं हुआ था। द गॉल के फ्रांस ने पेकिंग की ओर सद्भावना का हाथ बढ़ाकर जैसे पुराने शक्ति-सन्तुलन अखिल विश्व स्तर पर का खेल शुरू किया। संयुक्त राज्य की नीतियों से स्वतन्त्र अपनी नीति—जर्मनी, सोवियत संघ तथा पूर्वी, दक्षिण-पूर्वी एवं पश्चिमी एशिया के सन्दर्भ में पाँचवें गणतन्त्र की नीतियों में पुनरीक्षण की ताजगी तथा दिशा परिवर्तन स्पष्ट था। अमेरिकी नेतृत्व वाले सन्धि संगठनों—नाटो, सेंटो, सियाटो आदि के प्रति उसके रवैये में परिवर्तन हुआ। सभी क्षेत्रों में प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय उलझन के सन्दर्भ

फ्रांस की प्रतिक्रिया स्वतन्त्र रूप में व्यक्त की जाने लगी। अपने छोटे-से आणविक अस्त्रागार की व्यवस्था करके द गॉल के फ्रांस ने तत्काल के लिए लगभग एक शताब्दी पुरानी सुरक्षा समस्या का भी बहुत कुछ समाधान कर लिया था।

यह सत्य है कि पांचवें गणतन्त्र को जिस बदले हुए अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का लाभ उठाने का अवसर मिला उसके उद्भव में उसका कोई श्रेय नहीं था। वह तो विश्वयुद्धोत्तर नई लहर की अभियुक्ति थी किन्तु विश्व परिपेक्ष्य तथा शक्तियों के घात-प्रतिघात में लाभ उठाना कुशल राजनेता की विभूति होती है। पांचवें गणतन्त्र के जनक ने ठीक यही काम किया। स्वतन्त्र नीतियों से संयुक्त राज्य को रोष तथा क्षोभ दोनों ही हुए, ब्रिटेन की कुछ उलझनें बढ़ीं, किन्तु कुल मिलाकर फ्रांस का हित हुआ। अल्जीरिया उलझन को समाप्त करके तथा अफ्रीकी उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान करके द गॉल ने अपने देश के राजनयिक सम्बन्धों के एक नए युग का सूत्रपात किया।

द गॉल के फ्रांस की नीति अवसर तथा स्थिति की आवश्यकता के अनुसार दिशा-निर्धारण करती रही। जर्मनी के विरुद्ध सोवियत संघ से, सोवियत संघ के विरुद्ध संयुक्त राज्य से, संयुक्त राज्य के विरुद्ध चीन से वह हाथ मिलाता रहा। द गॉल के बाद भी फ्रांस की नीतियों का लहजा तथा शैली बहुत कुछ वही है। उसके अतिवादों का परित्याग किया जाने लगा है। स्वतन्त्र परराष्ट्र-नीति ने फ्रांस की प्रतिष्ठा में वृद्धि की है, आणविक अस्त्रागार ने उसे सुरक्षा का आत्मविश्वास प्रदान किया है।

आज भी फ्रांस संयुक्त राज्य, सोवियत संघ या जनवादी चीन का प्रतिस्पर्द्धी बनने की स्थिति में नहीं है, सम्भवतः कभी यह उसके लिए सम्भव भी नहीं होगा किन्तु मध्यम स्तर के देशों में यह अग्रगण्य है, इसमें सन्देह नहीं। इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी गणराज्य, जापान जैसे देशों की पंक्ति में फ्रांस अग्रणी अथवा आदरणीय हो रहा है, पांचवें गणतन्त्र की यह महत्त्वपूर्ण सफलता है और इसका बहुत कुछ श्रेय इसकी स्वतन्त्र परराष्ट्र-नीति को ही दिया जाना चाहिए।



Appendix—A

सोवियत विदेश नीति : विचारधारा का प्रभाव

(Russian Foreign Policy : Impact of Ideology)

सोवियत संघ की विदेश नीति अन्य देशों की भाँति उस देश के वातावरण, राजनीतिक परम्परा, ऐतिहासिक अनुभव, नेताओं के व्यक्तित्व, विश्व राजनीति की रूप-रचना, राष्ट्रीय स्वार्थ, राष्ट्रीय शक्ति की स्थिति आदि अनेक तत्त्वों पर निर्भर है। इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सोवियत विदेश नीति के स्वरूप निर्धारण में साम्यवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव है। सोवियत संघ एक साम्यवादी राष्ट्र है जहाँ मार्क्स के विचारों और सिद्धान्तों को सर्वप्रथम कार्य रूप में परिणत किया गया था। साम्यवादी विचारधारा इस देश के राष्ट्रीय जीवन, व्यवहार, आस्था एवं विश्वास को प्रभावित करती है क्योंकि विदेश नीति प्राय: किसी देश की गृह नीति की अभिव्यक्ति है, इसलिए साम्यवादी विचारधारा ने विभिन्न स्तरों पर सोवियत नीति को प्रभावित किया है। सोवियत संघ के नेता किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति एवं प्रश्न पर विचार करते समय विश्व में साम्यवाद की स्थापना और मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धान्तों की कार्यविधि को अपना मुख्य लक्ष्य मानते हैं। विचारधारा के अतिशय प्रभाव के कारण सोवियत विदेश नीति स्वेच्छाचारी एवं गूढ़ार्थक बन जाती है। इस विषय के मान्य विद्वानों द्वारा समय-समय पर दिए गए वक्तव्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। ए जैड राबिन्सटीन (A Z Robinstein) ने लिखा है कि सोवियत विदेश नीति की व्याख्या करने के उलझे हुए कार्य को अधिक उलझनपूर्ण तथा भ्रमपूर्ण बनाने का कार्य विचारधारा द्वारा किया जाता है। विचारधारा की अवहेलना करके सोवियत नीति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।[1]

सोवियत विचारकों की मान्यता है कि पूँजीवादी देशों की विदेश नीति भी उनकी विशेष मान्यताओं और हितों पर निर्भर करती है किन्तु वे उन्हें प्रकट नहीं करते और आम जनता से इन तथ्य को छिपाते हैं कि उनकी विदेश नीति शासक वर्ग अथवा साधन-सम्पन्न वर्ग के हितार्थ संचालित की जा रही है। इसके साथ ही सोवियत संघ एक समाजवादी समाज है जहाँ राज्य-शक्ति श्रमिकों के हाथ में है और विदेश नीति का निर्धारण मुख्य रूप से समाजवादी विचारधारा एवं दृष्टिकोण के अनुसार किया जाता है। 1972 में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केन्द्रीय

1 *Alvin Z. Robinstein* The Foreign Policy of the Soviet Union, p. 6.

समिति के महासचिव एल. ब्रेझनेव ने कहा था कि "हमारी विदेश नीति लक्ष्य और विषयवस्तु की दृष्टि से एक वर्ग नीति अथवा एक समाजवादी नीति रही है और रहेगी।"[1] सोवियत विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना के लिए अनुकूल बाहरी परिस्थितियाँ निर्मित करना है। सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति ने मई, 1972 में यह स्वीकार किया था कि परिस्थिति के अनुसार यह नीति कई रूपों में अभिव्यक्त हो सकती है और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न विधियाँ अपना सकती है। यह नीति अन्तर्राष्ट्रीयवादी कही गई है क्योंकि समाजवाद के निर्माता विश्व की क्रान्तिकारी प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान करने हुए सभी देशों के श्रमिक वर्ग के हितों में सहायता करना चाहते हैं। साम्यवादी आन्दोलन का अग्रगामी राष्ट्र होने के नाते सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग का भौतिक राजनीतिक विचारधारागत मार्ग-दर्शन प्रदान करना चाहता है। इसी दृष्टि से यहाँ की विदेश नीति को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि यह विश्व-रंगमंच पर वर्ग-संघर्ष का सक्रिय तत्व बन सके और सभी क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील शक्तियों को सहयोग दे सके।

विचारधारा पर आधारित होने के कारण सोवियत संघ की विदेश नीति को अन्तरतम् रूप से वैज्ञानिक कहा गया है। दूसरे शब्दों में यह नीति समाज के विकास और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रकाशित करने वाले वस्तुगत कानूनों के ज्ञान पर आधारित है। सामाजिक विकास के इन नियमों के ज्ञान के कारण सोवियत विदेश नीति भविष्य के सम्बन्ध में विश्वस्त है और इसके निर्णयों में वैज्ञानिकता रहती है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी कालद्रष्टा भविष्य को प्रत्यक्षदर्शी की भाँति जान लेता है और ऐतिहासिक परिवर्तनों की रूपरेखा उसे स्पष्ट हो जाती है। रॉबिन्सटीन के कथनानुसार सामान्यतः सोवियत विचारधारा अभिजन वर्ग के लक्ष्यों, विचारों और मान्यताओं का एक व्यवस्थित संग्रह है जो उनके दृष्टिकोण और व्यवहार को प्रभावित करता है।[2] उसकी सहायता से वे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश के प्रति अपनी प्रतिक्रिया का रूप निर्धारण करते हैं और यह इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या एवं घटनाओं के द्वन्द्वात्मक रूप से निरीक्षण, मूल्यांकन और बौद्धीकरण के लिए शब्दावली एवं प्रविधि सम्बन्धी औजार प्रदान करती है। विचारधारा के आधार पर तथ्यों का चयन किया जाता है और उन्हें एक विशेष परिस्थिति में नेतृत्व का मूल्यांकन करने के लिए व्यवस्थित किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि सोवियत विदेश नीति का सही परिप्रेक्ष्य में साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने तथा समझने के लिए सोवियत प्रधानमन्त्री एवं साम्यवादी दल के प्रमुख नेता लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव, ब्रेझनेव, कोसीगिन आदि के साम्यवादी विचार का अध्ययन किया जाए।

1 *Brezhnev* The Fiftienth Anniversary of the Union of Soviet Socialist Republic, Moscow, 1972, p. 41.

2 *A. Z. Robinstein* : op. cit., p. 6.

सोवियत विदेश नीति की लेनिनवादी विचारधारा
(The Leninist Ideology of Soviet Foreign Policy)

सोवियत विचारधारा के अनेक मौलिक सिद्धान्त कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित किए गए थे किन्तु लेनिन ने मार्क्स के दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अभिव्यक्त किया और उसे तात्कालिक औचित्य प्रदान किया। लेनिन एक क्रान्तिकारी रणयोद्धा था। उसकी सैद्धान्तिक रचनाएँ मार्क्सवादी विचारों में विशेष विकासों को अभिव्यक्त करने का एक प्रयास है। लेनिन का यह कहना था कि बिना विचारधारा के कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं हो सकता।[1] लेनिनवादी विचारकों के लेखों में विचारधारा और व्यवहार को एक एकीकृत समग्र के रूप में प्रकट और अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ प्रत्येक कार्य को हमेशा विचारधारा के आधार पर अभिव्यक्त किया जाता है और विचारधारा का प्रयोग कार्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया जाता है।[2] विचारधारा और व्यवहार के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही यह आवश्यक हो जाता है कि सोवियत विदेश नीति की प्रकृति, लक्ष्य, प्रक्रिया आदि को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए विचारधारा का अध्ययन किया जाए। इस विचारधारा की अभिव्यक्ति व्यावहारिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में सर्वप्रथम लेनिन द्वारा हुई।

सोवियतों की द्वितीय कांग्रेस द्वारा स्वीकार की गई 'डिक्री ऑन पीस' (Decree on Peace) सोवियत संघ की विदेश नीति के सम्बन्ध में प्रथम महत्व पूर्ण लेख है। इसमें लेनिन के सर्वहारा वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और विभिन्न व्यवस्थाओं वाले राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का प्रतिपादन किया गया है। ये सिद्धान्त सोवियत विदेश नीति के मार्गदर्शन बन चुके हैं।[3] इस 'डिक्री ऑन पीस' में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रजातान्त्रिक मूल्य घोषित किए गए हैं जैसे—सभी देशों की प्रादेशिक अखण्डता और राष्ट्रीय सम्प्रभुता का सम्मान, स्वतन्त्र राज्य बनने के लिए सभी राष्ट्रों के अधिकारों की मान्यता, विभिन्न देशों और लोगों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, सभी छोटे-बड़े राज्यों की समानता, आक्रमण और क्षेत्रीय प्रसार की नीति का विरोध, व्यापक और पारस्परिक लाभ के लिए सहयोग आदि। इस डिक्री को स्वीकार करके सोवियत संघ ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे लोगों का नेतृत्व स्वीकार किया। स्वयं लेनिन ने विश्व-मंच पर सोवियत नीति को परिभाषित करते हुए यह कहा था कि "हमारे सामने मुख्य कार्य साम्राज्यवाद से लड़ना है और हम इस

1 "Without revolutionary theory there can be no revolutionary movement" —*V. I. Lenin*

2 "Action is always explained in terms of ideology, ideology is used to justify action." —*A. Z. Robinstein* : op cit., p. 6.

3 A Study of Soviet Foreign Policy, Progress Publishers, Moscow, 1975, p. 13.

लडाई मे विजयी होगे।"[1] लेनिन के काल मे सोवियत विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध लडाई मे स्वतन्त्रताप्रिय राज्यो का समर्थन करना रहा। राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का अनुशीलन करते हुए सोवियत सरकार ने फिनलैण्ड को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सोवियत गणराज्य और अन्य समाजवादी राज्यो के बीच भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित किए। लेनिनवादी सिद्धान्तो अथवा विचारधारा ने सोवियत विदेश नीति पर जो महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले उनमे से उल्लेखनीय ये है—

(1) सोवियत सघ ने अपने साधनो को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न राज्यो मे समाजवादी आन्दोलन का समर्थन किया। हगरी, चैकोस्लोवाकिया, ईरान, अफगानिस्तान, तुर्की, चीन मगोलिया आदि देशो के तथाकथित स्वतन्त्रता सघर्षों को समर्थन दिया।

(2) लेनिन ने विश्व के भावी विकास को देखते हुए यह जान लिया था कि दुनिया मे अनेक समाजवादी देश बन जाएँगे, इसलिए उन्होने इन राज्यो के बीच सम्बन्धो के लिए वैज्ञानिक रूप से विभिन्न सिद्धान्तो की रचना की। समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का प्रतिपादन किया गया।

(3) समाजवादी राष्ट्रो की स्थापना से पूर्व सोवियत विदेश नीति का उद्देश्य विभिन्न पूँजीवादी देशो के श्रमिक वर्ग के साथ एकता स्थापित करना बताया गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जब विश्व के मानचित्र पर अनेक समाजवादी राष्ट्र बन गए तो उनके साथ सोवियत विदेशी नीति उसी रूप मे सचालित की गई जिसकी कल्पना लेनिन ने की थी।

(4) लेनिन ने अपने चिन्तन का यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि विश्व के पूँजीपतियो से लडने और उनके विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए विश्व के साम्यवादी सर्वहारा वर्ग को शक्तिशाली सोवियत राज्य की आवश्यकता होगी। तदनुसार सोवियत सघ की आर्थिक सुरक्षा क्षमताओ को बढाया गया और प्रत्येक क्षेत्र मे सोवियत उपलब्धि को विश्व की साम्यवादी शक्तियो की विजय माना गया।

(5) सोवियत विदेश नीति मानवतावादी होने का दावा करती है क्योकि इसका मुख्य उद्देश्य भावी विश्व-युद्ध से मानवता को बचाना, साम्राज्यवादी आक्रमणो का अन्त करना और सभी वर्तमान समस्याओ को समाप्त करना है।

(6) सोवियत विदेश नीति लेनिन के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के विचार पर भरोसा करती है। लेनिन की मान्यता थी कि सभी राज्य एक साथ समाजवादी नही हो जाएँगे और इसलिए बहुत लम्बे समय तक समाजवादी और पूँजीवादी राज्य साथ-साथ रहेंगे। ऐसी स्थिति मे अनेक विभिन्नताएँ होने हुए भी इन राज्यो के बीच परस्पर व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढेंगे। यही मान्यता शान्तिपूर्ण

1 "The chief task facing us is to fight imperialism, and this fight we must win."
—*V. I. Lenin*, Collected Works, Vol. 28, p. 125

सह-अस्तित्व की नीति का आधार है। सोवियत सरकार के एक परिपत्र में यह दावा किया गया है कि अन्य सरकारों के साथ चाहे वे कोई भी क्यों न हों, हमारी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति अपरिवर्तनीय रहेगी। इस नीति के अन्तर्गत साम्राज्यवादी आक्रमणों का विरोध और क्रान्तिकारी शक्तियों का समर्थन यथावत बना रहता है। इसमें विचारधारागत संघर्ष को किसी प्रकार ढीला नहीं किया गया किन्तु सोवियत संघ मानता है कि स्थाई शान्ति उस समय तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक कि प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख अधिकारों का आदर न किया जाए।

कुल मिलाकर लेनिन की विचारधारा ने सोवियत नीति को जो मोड़ दिए उनके अनुसार यह विदेश नीति सोवियत संघ में साम्यवादी भवन के लिए अनुकूल शान्तिपूर्ण स्थिति पैदा करना चाहती है, समाजवादी देशों में एकता को बढ़ावा देना चाहती है, स्वतन्त्रता और क्रान्तिकारी आन्दोलनों का समर्थन करती है, एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के स्वतन्त्र राज्यों के साथ एकता और सहयोग को प्रोत्साहन देती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का समर्थन करती है। इसके अतिरिक्त मानवता को हर कीमत पर तृतीय विश्व युद्ध से बचाना भी इसका एक उद्देश्य है।

(7) लेनिन ने मार्क्सवादी विचारधारा की नए समय और परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए उसके औचित्य को सिद्ध किया और उसे असामयिक बनने से बचाया। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष, पूंजीवाद के अन्तर्विरोध, समाजवाद की विजय, श्रमिकों के कष्टों में वृद्धि आदि पर नवीन विकासों के कारण पुनर्विचार की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। लेनिन ने इस आवश्यकता की पूर्ति करते हुए मार्क्स की आधारभूत मान्यताओं को सत्य स्वीकार किया और युग के नए विकासों को इस विचारधारा के आधार पर समझाने की चेष्टा की। अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र को साम्यवादी विचारधारा के चश्मे से देखते हुए लेनिन ने कुछ नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जैसे—साम्राज्यवाद पूंजीवाद की सर्वोच्च स्थिति है, पूंजीपतियों के साथ युद्ध अनिवार्य है, साम्यवादी आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय है।

स्टालिनवादी नीति पर विचारधारा का प्रभाव
(Impact of Ideology on Stalinist Policy)

लेनिन के बाद 1953 में अपनी मृत्यु तक मार्शल स्टालिन सोवियत विदेश नीति का सूत्रधार रहा। वह साम्यवादी विचारधारा का कट्टर समर्थक और तदनुसार पूंजीवाद का पूर्ण विरोधी था। उसकी विदेश नीति में विचारधारागत कट्टरता के कारण पूंजीवादी राष्ट्रों के प्रति उग्रता परिलक्षित होती है। उसने पश्चिमी देशों की मैत्री के प्रति सशंक होकर ऐसी उग्र और हठधर्मीपूर्ण नीति अपनाई जिसके परिणामस्वरूप शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। पामर तथा परकिन्स ने लिखा है कि "युद्धोत्तर सोवियत नीति कम से कम 8 वर्ष—1953 तक, पश्चिम

के प्रति बढ़ती हुई शत्रुता, असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ सोवियत प्रभाव क्षेत्र के दृढ़ीकरण तथा सामान्य हठधर्मिता की विशेषताओं से युक्त रही थी।" साम्यवादी विचारधारा के प्रभावस्वरूप स्टालिन की विदेश नीति में महत्वपूर्ण विशेषताएँ ये थी —

(1) साम्यवादी क्रान्ति का विश्व मे प्रसार करने हेतु और पूँजीवादी राज्यो के प्रभाव को कम करने की दृष्टि से पूर्वी यूरोप के देशो में साम्यवाद का प्रसार किया गया। इसके साथ ही इन देशो के आर्थिक पुनर्निर्माण एव औद्योगिकरण पर बल दिया गया। 1949 मे पूर्वी यूरोप के देशो के साथ आर्थिक सहयोग के लिए आर्थिक क्षेत्र मे पारस्परिक सहायता हेतु एक परिषद् की स्थापना की गई। सोवियत सघ तथा पूर्वी यूरोप के देशो के बीच मैत्री और पारस्परिक सहायता की अनेक सन्धियाँ हुईं। 14 मई, 1955 को नाटो सन्धि की भाँति वारसा सन्धि की गई।

(2) विश्व मे साम्यवाद के प्रसार के लिए एक सस्था कोमिनफार्म (Communist Information Bureau—Cominform) स्थापित की गई। इस सस्थान की स्थापना के घोषणा-पत्र मे कहा गया था कि सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा पिछला युद्ध विश्व की मण्डियो मे प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए लड़ा गया था लेकिन रूस ने यह युद्ध लोकतन्त्र के पुनर्निर्माण और उसे सुदृढ़ बनाने के लिए लड़ा था। कोमिनफार्म का उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था।

(3) साम्यवादी विचारधारा मे पूँजीवाद के साथ मैत्री अथवा सहयोग के लिए कोई स्थान नही है इसलिए महायुद्ध के बाद स्टालिन ने पश्चिम के साथ युद्ध-कालीन मैत्री को समाप्त कर दिया और शत्रुतापूर्ण नीति अपनाई। ट्रूमैन सिद्धान्त मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान और जर्मनी का पुन. शस्त्रीकरण, शूमेन तथा प्लेवन योजनाएँ, कोरिया युद्ध आदि कार्यों को सोवियत सघ ने पश्चिम के शत्रुतापूर्ण कार्यों का परिचायक माना। यद्यपि स्टालिन अपनी नीति को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति कहा करता था किन्तु वास्तव मे इस नीति का अर्थ केवल दोनो पक्षो मे सशस्त्र युद्ध का नही होना था।

(4) साम्यवादी क्रांति के प्रसार के लिए उग्रवादी नीति के साथ ही स्टालिन ने पूर्वी यूरोप मे स्थापित साम्यवादी व्यवस्थाओ और स्वय सोवियत सघ को सभी प्रकार के पश्चिमी प्रभावों से अछूता रखने के लिए लौह आवरण की नीति का आश्रय लिया। स्टालिन की मान्यता थी कि रूसियो तथा विदेशियो के पारस्परिक सम्पर्क साम्यवादी व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे।

(5) स्टालिन ने एशिया और अफ्रीका के राज्यो मे साम्यवादी प्रचार और प्रसार की नीति अपनाई। इसके फलस्वरूप ये देश साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए और पश्चिम की अपेक्षा सोवियत सघ को अधिक शान्तिप्रिय तथा उपनिवेशवाद-विरोधी मानने लगे।

मोलेन्कोव (1953-55) की नीति और विचारधारा
(Policy of Molenkov and Ideology)

स्टालिन के बाद उसके उत्तराधिकारी मोलेन्कोव ने सोवियत विदेश नीति को उग्रता तथा पश्चिम के प्रति शत्रुतापूर्ण दुराग्रह से मोडकर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर उन्मुख कर दिया। पद ग्रहण करते ही उसने यह घोषणा की थी कि लेनिन तथा स्टालिन की शिक्षाओ के अनुसार साम्यवादी तथा पूँजीवादी देशो मे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जाएगा। परिवर्तित परिस्थितियो एव नेतृत्व के कारण सोवियत विदेश नीति मे परिवर्तन आया किन्तु विचारधारागत आश्रय को उसने भी नही त्यागा। 15 मार्च, 1953 को सुप्रीम सोवियत के सम्मुख बोलते हुए मोलेन्कोव ने कहा—"अब सोवियत विदेश नीति का सचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ बनाने की दृष्टि से किया जाएगा। कोई ऐसा विवाद नही है जिसे शान्तिपूर्वक हल नही किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त सयुक्तराज्य अमेरिका सहित विश्व के सभी देशो के सम्बन्ध मे समान रूप से लागू होता है।" मोलेन्कोव की उदारवादी विचारधारा ने सोवियत विदेश नीति के दृष्टिकोण तथा कार्यरूप को प्रभावित किया और इस काल मे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के निदान के लिए दोनों ही पक्षो ने सहयोगपूर्ण भावना से प्रयास किए।

ख्रुश्चेव की विदेश नीति और विचारधारा का प्रभाव
(Foreign Policy of Khrushchev and Impact of Ideology)

मोलेन्कोव के बाद सोवियत विदेश नीति के कर्णधार ख्रुश्चेव बने। इनके काल मे (1955 से 1964 तक) सोवियत विदेश नीति मे गम्भीर परिवर्तन हुए। लौह आवरण की नीति मे पर्याप्त शिथिलता आई तथा यात्रा-कूटनीति का महत्त्व बढा, विदेशो से सांस्कृतिक सम्बन्ध बढे, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को शान्तिपूर्वक तय करने पर जोर दिया गया, उपनिवेशवाद एव साम्राज्यवाद का विरोध यथावत् रहा, अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। ख्रुश्चेव के काल मे सोवियत सघ द्वारा अपनाई गई विदेश नीति एक नई विचारधारा की परिचायक थी। यह नई विचारधारा 20 फरवरी, 1956 को आयोजित 20वी पार्टी कांग्रेस मे स्वीकार की गई नीति के अनुसार थी। ख्रुश्चेव की प्रेरणा से अपनाई गई सोवियत विदेश नीति की 6 मुख्य विशेषताएँ थीं—

(1) अब शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का अर्थ बदल गया था। स्टालिन के समय मे इसका अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था किन्तु ख्रुश्चेव ने इसके अर्थ को व्यापक बताते हुए यह माना कि सभी गैर-साम्यवादी राष्ट्र विशेष रूप से एशिया तथा अफ्रीका के गुट-निरपेक्ष राज्य सोवियत सघ के शत्रु नही हैं।

(2) अब सोवियत सघ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल देने लगा।

(3) यात्राओं की कूटनीति स्वीकार की गई और यह माना गया कि दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्राएँ करनी चाहिए तथा लौह आवरण को शिथिल करके साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के साथ सम्पर्क की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(4) सोवियत संघ द्वारा विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

(5) पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी कहकर उनकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग कर दिया गया। ख्रुश्चेव का स्पष्ट कहना था कि, 'सोवियत संघ शान्ति और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को मानता है। हम संयुक्तराज्य अमेरिका अथवा अन्य किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध करने की नहीं सोच रहे हैं। हम शान्तिपूर्ण निर्माण में तथा रचनात्मक कार्यों में प्रतियोगिता करना चाहते हैं। नई नीति के अनुसार गैर साम्यवादी देशों को तीन वर्गों में बाँटा गया—संयुक्तराज्य अमेरिका, अमेरिका के समर्थक तथा सहयोगी और गुट-निरपेक्ष राज्य।"

इस नई नीति के प्रति विचारधारागत परिवर्तन 1956 की 20वीं पार्टी कांग्रेस में किया गया। इस पार्टी कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने स्टालिन की उग्रवादी नीतियों का विरोध किया। उसने युद्ध की अनिवार्यता और हिंसात्मक क्रान्ति की अनिवार्यता को अस्वीकार करते हुए विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया और संसदीय तरीके से समाजवाद की स्थापना का समर्थन किया। इसके बाद अनेक बार सोवियत नेताओं ने इस बात को दोहराया कि विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में पूँजीवादी जगत् के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने से बचना चाहिए। जून, 1960 में बुखारेस्ट में रूमानिया कर्मचारी दल के तृतीय सम्मेलन में ख्रुश्चेव ने पुनः इस बात को दोहराया कि लेनिन का 'पूँजीवाद के अधीन युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त' अब लागू नहीं होता। सोवियत संघ की यह परिवर्तित नीति विचारधारा की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि साम्यवादी चीन के नेताओं ने इसे संशोधनवाद का प्रतीक कहकर आलोचना की। चीनी नेताओं का मत था कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है युद्ध का खतरा बना रहेगा।

ख्रुश्चेव के समय परिवर्तित विचारधारा के कारण सोवियत विदेश नीति में आए उल्लेखनीय परिवर्तन निम्नलिखित थे—

(1) 1961 में प्रकाशित सोवियत साम्यवादी दल के कार्यकाल में 20 वर्ष की अवधि में रूस में साम्राज्यवाद की स्थापना का नारा दिया गया और साम्यवाद का अर्थ वस्तुओं की प्रचुरता से लगाया गया।

(2) 1962 में क्यूबा के प्रश्न पर उग्रवादी नीति न अपनाकर सोवियत संघ ने वास्तव में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का परिचय दिया। 1962 में ही भारत पर चीनी आक्रमण के समय सोवियत संघ ने भारत के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे।

(3) सोवियत नेता ने अमेरिका की यात्रा की तथा कोरिया, वियतनाम, टर्की आदि से सम्बन्धित अपने विवादपूर्ण दृष्टिकोण को त्याग दिया।

(4) 18 अप्रैल, 1956 को कॉमिनफार्म भंग कर दिया गया। जुलाई-अगस्त, 1963 में अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि सम्पन्न हुई। मास्को और वाशिंगटन के बीच सीधा टेलीफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता हुआ।

(5) सोवियत संघ ने विकासशील देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई। इस क्षेत्र में वह पश्चिमी राष्ट्रों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने लगा। वाल्टर लिपमेन ने लिखा है कि "पहले सोवियत संघ ने अणु-आयुधों पर पश्चिम से एकाधिपत्य को भंग किया और अब वह अर्द्ध-विकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व ग्रहण करने में पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार को तोड़ने लगा है।"

(6) सोवियत संघ ने उत्पादन और सैनिक शक्ति की दृष्टि से भी स्वयं को पश्चिमी देशों से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयास किया। इस नीति के अनुसार सोवियत संघ के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई, सैनिक शक्ति में भी सोवियत संघ तेजी से आगे बढ़ा। अन्तरिक्ष की खोज और अणु-शस्त्रों की दौड़ में वह अमेरिका से भी आगे निकल गया।

ब्रेझनेव-कोसीगिन तथा ब्रेझनेव-तिखोनोव की नीति और विचारधारा
(The Policy and Ideology of Brezhnev-Kosygin and Brezhnev Tekhonov)

अक्तूबर, 1964 में ख्रुश्चेव के पतन के बाद सोवियत संघ का नेतृत्व ब्रेझनेव और कोसीगिन के हाथ में आया। इस नए नेतृत्व के साथ ही यह आशंका की गई थी कि अब स्टालिनवाद का प्रभाव बढ़ेगा और सोवियत नीति पुनः प्रतिगामी बन जाएगी। इसके विपरीत नए सोवियत नेताओं ने साम्यवादी विचारधारा के प्रति अपने *पूर्वगामी जैसा ही दृष्टिकोण बनाए रखा। इस काल में सोवियत विदेश* नीति विचारधारागत मान्यताओं से विशेष प्रभावित नहीं हुई वरन् इस पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का निर्णायक प्रभाव पड़ा। वर्तमान नेता भी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास करते हैं। यात्राओं की कूटनीति की परम्पराएँ उन्होंने जारी रखी हैं। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में सोवियत नेताओं ने पश्चिमी नेताओं के साथ समझौता वार्ताएँ की है। अमेरिका और चीन के बढ़ते हुए सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में भारत के साथ मैत्री के महत्त्व को सोवियत नेता भली प्रकार समझ चुके है। 1971 में भारत-सोवियत मैत्री सन्धि और बंगलादेश के प्रश्न पर भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय अपनाए गए भारत समर्थक दृष्टिकोण इसी बात के प्रतीक हैं। भारत और सोवियत संघ की मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण इतनी स्वाभाविक बन चुकी है कि भारत में नेतृत्व परिवर्तन के बाद भी जनता सरकार ने सोवियत संघ के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का संकल्प लिया है। सोवियत संघ भी भारतीय मित्रता को महत्त्वपूर्ण मानता है। अप्रैल, 1979 में कम्पूचिया पर चीनी आक्रमण के बाद

सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव भारत आए थे और उन्होंने चीन की निन्दा के लिए भारतीय संसद् से अपील की थी।

पूर्वी यूरोप के देशों के साथ सम्बन्धों में सोवियत संघ ने विचारधारा का सहारा लिया। 1968 में सोवियत संघ ने चैकोस्लोवाकिया में बढ़ती हुई उदारवादी प्रवृत्ति को इस आधार पर दबा दिया क्योंकि ब्रेझनेव के कथनानुसार, "प्रत्येक देश में समाजवाद की स्थापना का स्वरूप मौलिक होना चाहिए लेकिन समाजवादी देशों को सामान्य मूल सिद्धान्तों को मान्यता अवश्य देनी चाहिए अन्यथा साम्यवाद का अस्तित्व मिट जाएगा।" 21 अगस्त, 1968 की रात्रि को सोवियत संघ, पोलैण्ड हंगरी, पूर्वी जर्मनी और बल्गेरिया की शक्तिशाली सेनाओं ने चैकोस्लोवाकिया पर हमला करके उसके बड़े नगरों पर अधिकार कर लिया और उदारवादी नेता दुब्चेक को गिरफ्तार कर लिया। इस घटना के कारण सोवियत संघ का साम्यवादी और गैर-साम्यवादी जगत् में कटु विरोध हुआ। यह घटना यद्यपि पुरानी पड़ चुकी है और अब तक दोनों देशों के सम्बन्ध पर्याप्त सामान्य बन चुके हैं किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि सोवियत नीति में विचारधारा के स्थान पर राष्ट्रीय स्वार्थ का प्रभाव बढ़ा है।

अक्तूबर, 1980 में श्री कोसीगिन की विदाई के बाद श्री तिखोनोव प्रधान मन्त्री बने। ब्रेझनेव तिखोनोव काल में भी सोवियत विदेश नीति की पूर्व-धारा में कोई परिवर्तन नहीं आया।

अमेरिका और पश्चिमी जगत् के साथ ब्रेझनेव काल में रूस के सम्बन्ध उतार-चढ़ाव के बावजूद व्यावहारिक सहयोग के रहे। इसी नेतृत्व में यह विश्वास पनपा कि अमेरिका और साथी राष्ट्रों से सोवियत संघ को तत्कालीन कोई सैनिक अथवा राजनीतिक खतरा नहीं है। निःशस्त्रीकरण के मुद्दे पर अमेरिका के साथ मतभेद बने रहे और रीगन के प्रशासन के दौरान तनाव बढ़े। ब्रेझनेव काल में कई बार ऐसे अवसर आए जबकि अमेरिका के साथ उलझकर शीतयुद्ध को पुनः तीव्र बनाया जा सकता था किन्तु इन अवसरों पर सोवियत नेताओं ने संयमपूर्ण व्यवहार किया तथा स्थिति को बिगड़ने से बचाया। सोवियत संघ ने न केवल संघर्ष के क्षेत्रों को कम करने का प्रयास किया वरन् पश्चिमी राज्यों के साथ अनेक व्यापारिक, सैनिक तथा राजनीतिक महत्त्व के समझौते किए। जिन अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के कारण इन दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव एवं विरोध की स्थिति थी उनको सुलझाने का प्रयास किया गया। वियतनाम, पश्चिम एशिया आदि क्षेत्रों में हुए विकास इसके उदाहरण हैं। सोवियत विचारधारा के वर्तमान बिन्दुओं के अनुसार पूँजीवादी राज्यों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सहयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसके विपरीत चीन जैसे साम्यवादी खेमे के मुख्य देशों के साथ सोवियत सम्बन्ध निरन्तर तनावपूर्ण बनते जा रहे हैं। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर साम्यवादी विचारधारा के तीन रूप दिखाई देते हैं—चीन का मार्क्सवादी एवं लेनिनवादी दृष्टिकोण, सोवियत संघ का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व पर जोर देने वाला

दृष्टिकोण तथा यूगोस्लाविया जैसे राज्यो का गुट-निरपेक्षवादी दृष्टिकोण। सोवियत विचारधारा मे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की परिधियो की परिभाषा भी राष्ट्रीय स्वार्थ एव अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियो के अनुसार कर ली जाती है।

स्पष्ट है कि सोवियत विदेश नीति पर 1917 की बोल्शेविक क्रांति के बाद स ही साम्यवादी विचारधारा का निर्णायक प्रभाव रहा है।

आन्द्रोपोव, चेरनेन्को, गार्बोच्योव की नीति और विचारधारा

ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद 23 नवम्बर, 1982 को यूरी आन्द्रोपोव उनके उत्तराधिकारी बने। आन्द्रोपोव की मृत्यु हो जाने पर नेतृत्व 13 फरवरी, 1984 को चेरनेन्को पर आया। 11 मार्च, 1985 को, चेरनेन्को की मृत्यु हो जाने पर, नेतृत्व गार्बोच्योव के हाथ मे आया। आन्द्रोपोव और चेरनेन्को का शासनकाल बहुत ही अल्पावधि का रहा और इस दौरान सोवियत विदेश नीति की चिन्तनधारा वही रही जो ब्रेझनेव के समय थी। गार्बोच्योव के नेतृत्व मे सोवियत सघ का दृष्टिकोण अधिक उदारवादी बन रहा है।

आधुनिक जगत में लेनिनवादी विदेश नीति

(आंद्रेई ए ग्रोमिको, सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के राजनीतिक ब्यूरो के सदस्य एवं सोवियत संघ के विदेश मन्त्री)

समाजवादी राज्य की विदेश नीति को सूत्रबद्ध और क्रियान्वित करने मे पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका के सम्बन्ध मे लेनिन की प्रस्थापना का परिपालन करते हुए सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी, उसकी केन्द्रीय समिति तथा उसका राजनीतिक ब्यूरो निरन्तर विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की समस्याओ को निरूपित करते रहते है। वे विश्व मे शक्तियो की पक्तिबद्धता तथा विश्व के विकास की मुख्य धाराओ और सम्भावनाओ को निर्धारित करने वाले नियमो और हेतुओ को पूरी तरह दृष्टि मे रखते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के गहन मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण के आधार पर सोवियत सघ की विदेश नीति को सूत्रबद्ध और निर्देशित करते है। इसमे बहुत श्रेय लियोनिद ब्रेझनेव को जाता है जो हमारे युग के एक असाधारण राजनेता और राजनीतिक नेता हैं, जो अपनी अथक और व्यापक बहुमुखी गतिविधियो के कारण सोवियत जनता का गहन सम्मान और आभार प्राप्त कर चुके है और उच्च अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकार रखते है।

सोवियत सघ कम्युनिस्ट पार्टी की 1976 मे आयोजित 25वी कांग्रेस ने शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को और आगे बढाने तथा राष्ट्रो की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता को सुदृढ करने के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। जो पार्टी की 24वी कांग्रेस द्वारा सूचित विदेश नीति कार्यक्रम की अगली बड़ी और सृजनात्मक विकास था। इसमे अचरज की बात नही कि दोनो कार्यक्रम शान्ति कार्यक्रम क

रूप में सर्वत्र विख्यात हो गए हैं। वे सोवियत विदेश नीति का संक्षिप्त सारांश हैं जो प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के यथार्थवादी समाधान प्रस्तावित करते हैं, वे मेहनतकशों के वर्ग हितों, सभी राष्ट्रों की राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं और विश्व की आबादी के विशाल बहुमत की आकांक्षाओं के अनुरूप हैं।

पार्टी की 25वीं कांग्रेस ने विदेश नीति के क्षेत्र में हथियारों की होड रोकने और निरस्त्रीकरण को क्रियान्वित करने, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवहार में बल प्रयोग न करने की नीति को प्रतिष्ठित करने तथा शान्तिप्रिय राज्यों के प्रयत्नों को विश्व के विविध क्षेत्रों में, और खासतौर पर एशिया में युद्ध के पोषक ठिकानों को समाप्त करने और शान्ति सुनिश्चित करने की दिशा में केन्द्रित करने की आवश्यकता पर विशेष महत्त्व दिया।

कांग्रेस के प्रस्तावों में तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया के विस्तृत और गहन किए जाने और राज्यों के बीच सहयोग के क्षेत्र में इसे व्यवहार में केन्द्रित की जाने की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया था।

कांग्रेस ने निर्णय किया कि अत्यावश्यक अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों में एक है औपनिवेशिक उत्पीडन के समस्त अवशेषों को समाप्त करना, नस्लवाद के अन्तिम अवशेषों को नष्ट करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से ऐसी हर चीज का सफाया कर देना जो राष्ट्रों की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता को क्षति पहुँचाती हो। कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभाव, असमानता, शोषण और फरमानशाही समाप्त करने तथा विश्व की आर्थिक सम्बन्धों की वर्तमान प्रणाली को न्यायपूर्ण और जनवादी आधार पर नए रूप में ढालने का कर्त्तव्य भी प्रस्तुत किया।

सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार ने बिरादराना पार्टियों और समाजवादी देशों के साथ मिलकर 25वीं कांग्रेस के विदेश नीति कार्यक्रम को अमल में लाने के लिए आठवें दशक के पूरे उत्तरार्द्ध में बहुत अधिक परिमाण में कठोर परिश्रम किया है। इस परिश्रम के फलस्वरूप तनाव-शैथिल्य, शान्ति तथा क्रान्तिकारी और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के प्रति समर्थन को आगे बढाने में ठोस प्रगति की गई।

इस कार्यक्रम को अमल में लाने का काम जटिल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में किया गया, जो आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में खास तौर पर और भी बिगड़ गई। यह सबसे आक्रामक साम्राज्यवादी शक्तियों और समग्र रूप में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद की गतिविधियों का प्रत्यक्ष परिणाम था। उन्होंने तनाव शैथिल्य की नीति, समाजवाद की स्थितियों के सुदृढीकरण तथा शान्ति के लिए संघर्ष और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के विकास के विरोध में हथियारों की होड तेज करने, अन्य देशों के मामलों में दखलदाजी करने और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में तेजी लाने की नीति प्रस्तुत करने की कोशिश की। ये विश्व के विकास की वस्तुगत प्रगति को अवरुद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

खास तौर पर नाटो द्वारा इस शताब्दी के लगभग अन्त तक हर साल अपने सदस्य देशो का सैनिक खर्च बढाते जाने तथा पश्चिमी यूरोप मे मध्यम भार के नए अमेरिकी नाभिकीय प्रक्षेपास्त्रो की तैनाती करने के लिए किए गए फैसले से साम्राज्यवादी नीति उजागर हो गई है। ये निर्णय नि सन्देह इस बात के प्रमाण है कि साम्राज्यवादी शक्तियां, खास तौर पर अमेरिका, दोनो विरोधी सामाजिक-आर्थिक प्रणालियो के बीच सैनिक रणनीतिक सन्तुलन को अपने हक मे बदलने को लालायित है। 'सीमित नाभिकीय युद्ध' की नई अमेरिकी रणनीति के साथ भी यही बात लागू होती है।

साम्राज्यवादी शक्तियो ने कथित सोवियत खतरे के अनर्गल प्रचार को हवा देकर उसे धोखे की टट्टी के रूप मे इस्तेमाल करते हुए मध्य और निकट पूर्व, फारस की खाडी, हिन्द महासागर, दक्षिण-पूर्व एशिया और मध्य अमेरिका मे स्थित राज्यो के आन्तरिक मामलो मे अपनी खुल्लमखुल्ला दखलदाजी मे तेजी लाना शुरू कर दिया है। कैम्प डेविड का अरब-विरोधी सौदा जो शान्ति के विरुद्ध जाता है, अफगानिस्तान के विरुद्ध निरन्तर भडकावे की कार्यवाहियाँ तथा ईरान के विरुद्ध जोर-दबाव और बल-प्रयोग की धमकियाँ इस नीति के सबसे ज्वलत उदाहरण हैं।

वाशिंगटन ने विश्व के कई प्रदेशो को अमेरिका के 'महत्त्वपूर्ण हितो' वाले क्षेत्र घोषित कर दिया, अपने सैनिक अड्डो को तेजी के साथ और भी पुख्ता करना और इन प्रदेशो और उनसे लगे क्षेत्रो मे अपने सैनिक प्रतिष्ठानो के लिए नए ठिकाने खोजना शुरू कर दिया, ईरान के तट पर नौसैनिक बेडा भेज दिया तथा लडखडाते जन-विरोधी शासनो को अवलम्ब प्रदान करने, स्वाधीन राज्यो को डराने धमकाने की और लोभी साम्राज्यवादी इजारेदारियो की हित रक्षा के लिए 'सत्वर तैनाती सैन्य दल' का निर्माण कर लिया।

साम्राज्यवादी और चीनी प्रभुत्ववाद के बीच मेल-मिलाप, शान्ति और राष्ट्रो की स्वतन्त्रता के लिए बहुत बडा खतरा उपस्थित करता है। साम्राज्यवादियो के साथ मिलकर बीजिंग नेतृत्व अपनी महाशक्तिवादी और अन्ध राष्ट्रवादी योजनाओ को अमल मे लाने का प्रयत्न कर रहा है। पडोसी देशो और खास तौर पर इण्डोचीन के विरुद्ध उसकी भडकावे की कार्यवाहियाँ तथा वियतनाम समाजवादी जनतन्त्र पर उसका शर्मनाक आक्रमण इसके प्रमाण हैं। बीजिंग की विस्तारवादी नीति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के मुख्य स्रोतो मे एक है। इस नीति से प्रभुत्ववाद, विस्तारवाद और साम्राज्यवाद मे चश्मपोशी की छाप मिटाने की सारी कोशिशें व्यर्थ है।

बिरादराना समाजवादी देश साम्राज्यवाद और बीजिंग के प्रभुत्ववाद की भड़कावे की कार्यवाहियों का प्रतिरोध करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर अपना सक्रिय विदेश नीति का अनुसरण करते जा रहे हैं। इस व्यापक और जटिल कार्य के क्रम मे वे हमेशा शान्ति सम्बन्धी रचनात्मक पहलकदमियाँ करते रहे हैं जो

उनके सयुक्त दस्तावेजो मे, खास तौर पर वारसा सन्धि की राजनीतिक सलाहकार समिति के निर्णयो मे सूत्रित किए गए हैं ।

इसका एक और प्रमाण था मई, 1980 मे पोलिश राजधानी मे हुए अपने अधिवेशन मे वारसा सन्धि राजनीतिक सलाहकार समिति द्वारा स्वीकृत की गई घोषणा और वक्तव्य जिनमे तनाव को खत्म करने, अन्तर्राष्ट्रीय मर्च पर प्रतिकूल घटनाक्रम को रोकने और तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया को सुस्थिर बनाने और फिर से बढ़ावा देने के लिए लक्षित व्यापक प्रस्ताव सम्मिलित थे ।

युद्ध का खतरा कम करने के लिए कुछ खास फौरी उपायो के सम्बन्ध मे शीर्षक सोवियत प्रस्ताव भी इसी उद्देश्य की सिद्धि करता है, जिसे सयुक्त राष्ट्र महासभा के 35वे अधिवेशन मे प्रस्तुत किया गया था ।

सोवियत सघ ने सयुक्त राष्ट्र महासभा के उस अधिवेशन मे शान्ति, निरस्त्रीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सघर्ष के विविध मोर्चों पर स्थिति का विश्लेषण करते हुए तथा इस सघर्ष मे प्रगति को सुनिश्चित बनाने के व्यावहारिक तौर-तरीको की रूपरेखा पेश करते हुए एक ज्ञापन भी प्रस्तुत किया था ।

सयुक्त राष्ट्र महासभा के 35वे अधिवेशन मे रखे गए सोवियत प्रस्तावो का महत्व और फौरी आवश्यकता की पुष्टि इस बात से हो जाती है कि अधिवेशन ने उस पर विचार-विमर्श किया और उसे स्वीकृत किया । विश्व मे उनका व्यापक रूप मे प्रकाशन हुआ ।

यह सच है कि सोवियत सघ स्वय अपनी सुरक्षा और अपने बन्धुओ और मित्रो की सुरक्षा की हिफाजत के लिए हर प्रयास कर रहा है । लियोनिद ब्रेझनेव ने बार-बार जोर देकर कहा है कि ऐसा करने मे सोवियत सघ हमेशा प्रतिरक्षा के विचारो से निर्दिष्ट होता है । उसने कभी सैनिक वरिष्ठता हासिल करने का प्रयास नही किया । साथ ही हर किसी को यह याद रखना चाहिए कि सोवियत सघ और अन्य समाजवादी देश किसी को भी समाजवाद और पूँजीवाद के बीच वर्तमान सैनिक सन्तुलन को अस्त-व्यस्त करने की इजाजत नही देगे ।

हमारा देश समान सुरक्षा के सिद्धान्त का कडाई से पालन करते हुए विश्व मे सैनिक मुठभेड की स्थिति के स्तर को नीचे लाने के लिए अविरल रूप मे कार्य कर रहा है ।

यहाँ सामरिक तथा आक्रामक अस्त्रो के परिसीमन के सम्बन्ध मे सोवियत-*अमेरिकी सन्धि (साल्ट–2) के हस्ताक्षरित किए जाने जैसे महत्त्वपूर्ण कदम की चर्चा* करना भी आवश्यक है । यह सन्धि सबसे विनाशकारी और महँगे किस्म के अस्त्रो की जखीरेबन्दी के रास्ते मे एक कारगर अवरोध बन सकती है । इस सन्धि के अभी तक क्रियान्वित न किए जाने की सारी जिम्मेदारी अमेरिकी पक्ष पर है । जहाँ तक सोवियत सघ का सम्बन्ध है, उसने बार-बार दुहराया है कि वह साल्ट–2 सन्धि की सम्पुष्टि करने और इसके सभी प्रावधानो का निर्वाह करने को तत्पर है ।

यूरोप में रणनीतिक अस्त्रों के परिसीमन के सम्बन्ध में सोवियत संघ की पहल पर आरम्भ की गई सोवियत-अमेरिकी वार्ता निश्चय ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की सकारात्मक घटनाओं में से एक है।

सोवियत संघ राज्यों की सामरिक शक्ति को सीमित और बाद में कम करने की आवश्यकता के प्रति भली-भाँति सजग है।

सोवियत संघ इस बात के हक में है कि नाभिकीय अस्त्रों के परीक्षण का सार्वभौम और पूर्ण निषेध करने, विकिरणास्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने, रासायनिक अस्त्रों पर रोक लगाने और उनके भण्डार नष्ट करने, उन गैर-नाभिकीय राज्यों के खिलाफ जिनके भू-भाग पर नाभिकीय अस्त्र नहीं है, नाभिकीय अस्त्रों का प्रयोग न करने, तथा जिन राज्यों में नाभिकीय अस्त्र अभी तक नहीं है उनके भू-भाग पर उनकी तैनाती न करने के सम्बन्ध में वर्तमान वार्ताएँ शीघ्र सफलतापूर्वक सम्पन्न हों।

सोवियत संघ का यह भी प्रस्ताव है कि बल का प्रयोग न करने, नाभिकीय अस्त्रों का उत्पादन बन्द करने और उनके भण्डारों में तब तक क्रमिक रूप में कटौती करते जाने जब तक कि वे पूरी तरह नष्ट न हो जाएँ, सामूहिक विनाश के अस्त्रों की नई किस्मों और नई प्रणालियों के विकास पर रोक लगाने, राज्यों के और सबसे पहले बड़ी शक्तियों के सैनिक बजट में कटौती करने आदि के सम्बन्ध में एक विश्व सन्धि सम्पन्न करने के लिए अविलम्ब वार्ता आरम्भ की जाए।

एक ऐसा विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने का सोवियत प्रस्ताव भी सर्वथा उचित है जिसके निर्णयों का सभी राज्यों के लिए पालन करना अनिवार्य हो। यह निःसन्देह वास्तविक निरस्त्रीकरण की दिशा में सफलतापूर्वक मोड़ लाने में सहायक होगा।

हमारा विश्वास है कि वह दिन निश्चय ही आएगा जब विश्व में संचित आधुनिकतम हथियारों के विराट भण्डारों की भारी भरकम और तेज धार वाली तलवार, वह तलवार जो खतरनाक ढंग से मानव जाति पर लटक रही है, तोड़ डाली जाएगी।

'वी. जिस्कार द' एस्तां और एच. श्मिड्ट के साथ लियोनिद ब्रेझनेव की मुलाकातें फ्रांस और पश्चिम जर्मनी के साथ सोवियत संघ के परस्पर लाभकारी द्वि-पक्षीय सहयोग की दृष्टि से तथा यूरोप में और विश्व के रंगपटल पर विद्यमान स्थिति की नकारात्मक घटनाओं के निवारण के लिए प्रयत्नों की लामबन्दी की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

सोवियत-अमेरिकी सम्बन्धों को जर्जर करने में विश्व में तनाव बढ़ाने के उद्देश्य से चली जाने वाली वाशिंगटन की चालों का उचित जवाब देते हुए सोवियत संघ अमेरिका के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने और सुधारने के लिए तत्परता व्यक्त करता है जो दोनों देशों के जनगण और सार्वभौम शान्ति के हित में है।

अमेरिका में कुछ लोग, या ज्यादा सही होगा यह कहना कि अमेरिकी विदेश नीति को निर्धारित करने वालों में कुछ लोग, हाल में इस प्रस्थापना का बहुत

मुक्तहस्त होकर उपयोग करने लगे है कि किसी विशिष्ट मसले पर विचार करते समय अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की अन्य समस्याओ और घटनाओ से, खास तौर पर सोवियत सघ की कार्यवाहियो से, उसके अन्त सम्बन्ध को अवश्य मद्देनजर रखा जाना चाहिए।

आम तौर पर देखा जाए तो शायद ही कोई इस बात से इन्कार करेगा कि विश्व मे और यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड मे भी हर चीज अन्तःसम्बद्ध होती है।

यह सर्वविदित है कि ऐसी स्थिति का कभी अस्तित्व नही रहा जिसमे सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर सभी राज्यो की राय समान रही हो। मानव-जाति के सम्पूर्ण इतिहास मे ऐसे मसले अस्तित्व मे रहते आए है जो राज्यो के बीच अन्तर्विरोध, विवाद और टकराव का कारण बनते रहे है।

अन्त. जीवन, स्वत किसी विशिष्ट समस्या के समाधान को अन्य मसलो के निपटारे पर प्रत्यक्षत आश्रित मानने की दिवालिया अवधारणा के विरुद्ध है। इसके ठीक विपरीत अवधारणा, अर्थात् यह विचार कि विशिष्ट समस्या खास तौर पर महत्वपूर्ण समस्या का समाधान अन्य मसलो के निबटारे को सुगम बना सकता है, सर्वथा सही है। उदाहरण के लिए क्या साल्ट–1 समझौतो के सम्पन्न होने पर विश्व मे शान्तिदायी हवा नही बहने लगी थी और लोगो ने राहत की साँस नही ली थी ? क्या उसके बाद खास तौर से यूरोपीय सम्मेलन मे, सकारात्मक नतीजे नही हासिल किए गए ?

हम इसी अवधारणा के आधार पर अग्रसर होते रहे है और आज भी होते है क्योकि यथार्थ मे चीजे इसी तरह घटित होती है।

सोवियत सघ पृथक् कैम्प डेविड समझौते के विरुद्ध अरब देशो के सघर्ष का सुसगत रूप मे समर्थन करता है क्योकि यह उनके पीठ पीछे किया गया था और उनके न्यायसगत हितो के प्रतिकूल है। यह बात बिल्कुल आरम्भ से ही काफी स्पष्ट थी कि इसके आधार पर मध्यपूर्व समस्या को हल कर सकना असम्भव है।

मध्यपूर्व के फैसले को निबटाने और इसी कारण उस क्षेत्र मे भरोसेमन्द शान्ति की पक्की व्यवस्था करने के लिए यह आवश्यक है कि मुख्य तत्त्वो पर आधारित समझौते पर पहुँचा जाए। ये मुख्य तत्त्व हैं—1967 मे अधिकृत सम्पूर्ण अरब भूखण्डो से इजरायली सैनिक वापस जाएँ, फिलिस्तीनी अरबो के जन्मसिद्ध अधिकारो की रक्षा की जाए जिनमे राज्यत्व का उनका अधिकार भी शामिल है, तथा शान्ति की स्थितियो मे इजरायल समेत उस क्षेत्र के सभी देशो के स्वतन्त्र अस्तित्व और विकास के अधिकार की गारण्टी की जाए।

हमारा देश पडोसी अफगानिस्तान की जनता को अप्रेल क्रान्ति की उपलब्धियो को बरकरार रखने और अपने राज्य की सम्प्रभुता की रक्षा करने मे अपने आन्तरिक मामलो म वाशिंगटन और बीजिंग द्वारा प्रोत्साहित और सगठित सशस्त्र हस्तक्षेप को, बाहर से अफगान भूभाग मे सैनिक घुसपैठ को समाप्त करने के

उसके प्रयत्नो मे आवश्यक सहायता प्रदान करना जारी रखे हुए है। अफगान सरकार के अनुरोध पर स्वीकृत यह सहायता सोवियत सघ और अफगानिस्तान जनवादी जनतन्त्र के बीच हुई 1978 की मैत्री सन्धि तथा सयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के सर्वथा अनुरूप है।

अफगानिस्तान एक गुट-निरपेक्ष राज्य है और उसे निश्चित रूप मे गुट-निरपेक्ष बने रहना चाहिए। उससे सम्बद्ध स्थिति के समाधान का सही रास्ता सोवियत सघ की दृष्टि मे 14 मई, 1980 को अफगानिस्तान सरकार द्वारा प्रस्तुत किए गए राजनीतिक कार्यक्रम मे निहित है। सचमुच शान्ति समाधान चाहने वाले देशो को अफगानिस्तान सरकार के साथ उचित सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

सबसे पहले तो यह बात पाकिस्तान के साथ लागू होती है, बशर्ते वह, जैसा कि उसका नेतृत्व विश्व समुदाय को आश्वासन देता है, सचमुच अफगानिस्तान के साथ अच्छे पडोसी जसे सम्बन्ध रखना और इस क्षेत्र में स्थिति को सामान्य बनाना चाहता है। निश्चय ही अफगानिस्तान के गिर्द उत्पन्न स्थिति के बाह्य पहलू ही बहस का विषय बन सकते है, आन्तरिक प्रश्न कतई नही, जो कि सर्वथा और पूर्णत उसकी जनता और उसकी सरकार के प्राधिकार-क्षेत्र मे आते है।

अफगानिस्तान जनवादी जनतन्त्र से सोवियत सैनिक दस्ते की वापसी का प्रश्न भी तत्सम्बद्ध समझौते के सम्पन्न हो लेने के बाद हो सकता है। यह विदित है कि इस दस्ते का एक हिस्सा अभी हाल ही मे अफगानिस्तान में स्थिति के सामान्य होने की प्रक्रिया के सिलसिले मे सोवियत सघ के क्षेत्र मे वापस भेज दिया गया था।

यहाँ कोई भी उन लोगो की नीति मे विरोधाभासमूलक अन्तर्विरोध की ओर इंगित करने को बाध्य हो जाता है जो अफगानिस्तान के विरुद्ध बाहर से दखलदाजी को तो बढ़ावा देते है लेकिन अफगानिस्तान जनवादी जनतन्त्र से सोवियत दस्ते की वापसी के बारे मे सबसे ज्यादा चीख-पुकार मचाते है। मूलत उनकी करनी मे यही लगता है कि वे नही चाहते कि सोवियत दस्ता वापस लौट जाए।

ईराक और ईरान के बीच जो सघर्ष भड़क उठा है हमारा देश बाहर से बिना किसी हस्तक्षेप के उसके यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र हल का समर्थन है। इसके लम्बा खिचते जाने से इन्ही देशो को नए विनाश और कुर्बानियाँ झेलनी पड़ती है और वे साम्राज्यवादी राजनीति की चक्की के पाटो के बीच झोक दिए जाते है।

साम्राज्यवादी नीति की वर्तमान दिशा हिन्द महासागर क्षेत्र मे स्थित अनेक देशो की स्वाधीनता और सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष खतरा पैदा करती है। यहाँ खासतौर पर इतना ही कहना काफी होगा कि अमेरिकी नौसेना के युद्धपोतों का एक जबर्दस्त बेड़ा ईरानी तटो के समीप घूम-फिर रहा है। सोवियत सघ हिन्द महासागर मे अमेरिका की युद्धप्रिय योजनाओ के समाप्त किए जाने की दृढतापूर्वक माँग करते हुए तटवर्ती देशो के इस विचार का समर्थन करता है कि इस महासागर को शान्ति क्षेत्र मे बदला जाए, तथा यह इसम दिलचस्पी रखने वाले तमाम राज्यों

के साथ इसकी चरितार्थता के लिए सहयोग करने को तत्पर है। हमारा दृढ विश्वास है कि हिन्द महासागर उसके किनारे स्थित देशो के महत्त्वपूर्ण हितो का क्षेत्र था और बना हुआ है, अन्य किसी राज्य के हितो का नही। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के व्यापक हितो से निर्दिष्ट होते हुए समाजवादी समुदाय ने मई, 1980 मे यह सुझाव दिया था कि राज्यो को अपने-अपने क्षेत्रो मे, चाहे वह अटलांटिक हो, या हिन्द या प्रशान्त महासागर, या भूमध्य सागर या फारस की खाडी हो, सैनिक उपस्थिति और सैनिक गतिविधि को परिसीमित करने और कम करने पर विचार शुरू कर देना चाहिए।

दुनिया उन लोगो की अनर्गल अटकलबाजियो से लम्बे अर्से से ऊब चुकी है जो सोवियत सघ की सीमा से—और अब कुछ समय से अफगानिस्तान की सीमा से भी—फारस की खाडी की दूरी को परकार से नापते हैं और बनावटी भय के साथ अनुमान लगाते हैं कि सोवियत प्रक्षेपास्त्रो, विमानो और टैंको को इस खाडी तक पहुँचने मे कितना समय लगेगा, साथ ही यह दावा भी करते है कि हमारा देश अन्य जनगण के तेल स्रोतो के लिए धावा बोलने वाला है और रास्ता बनाते हुए 'गर्म सागरो' तक पहुँचने ही वाला है।

फारस की खाडी एक ऐसा क्षेत्र है जो अब अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का अधिकाधिक खतरनाक स्थल बनता जा रहा है। वहाँ के देशो के मामले मे आक्रमण और फरमानशाही के साम्राज्यवादी सिद्धान्त के जवाब मे तथा इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि यह क्षेत्र सोवियत सीमा के नजदीक स्थित है, सोवियत सघ ने पिछले साल के अन्त मे यह प्रस्ताव रखा कि—

1. फारस की खाडी क्षेत्र मे और उससे लगे द्वीपो पर कोई विदेशी सैनिक अड्डा न कायम किया जाए तथा वहाँ नाभिकीय अस्त्र या सामूहिक विनाश के कोई अन्य हथियार न रखे जाएँ,

2 फारस की खाडी के देशो के विरुद्ध बल प्रयोग न किया जाए या बल प्रयोग की धमकी न दी जाए तथा उनके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न किया जाए,

3 फारस की खाडी के राज्यो द्वारा चुनी गुटनिरपेक्षता की हैसियत का सम्मान किया जाए तथा उन्हे ऐसे सैनिक जत्थे बन्दियो मे घसीटने का कोई प्रयत्न न किया जाए जिनमे नाभिकीय शक्तियाँ सम्मिलित हो,

4 अपने प्राकृतिक ससाधनो पर इस क्षेत्र के राज्यो के सम्प्रभु-अधिकार का सम्मान किया जाए,

5. सामान्य व्यापार अथवा इस प्रदेश को विश्व के अन्य देशो से जोडने वाले सागर सचार के उपयोग के रास्ते मे कोई बाधा या कोई खतरा न उत्पन्न किया जाए।

इस सम्बन्ध मे समझौते पर पहुँचने के विषय मे लियोनिद ब्रेझनेव ने भारत की अपनी हाल की यात्रा के दौरान नई दिल्ली मे जो सोवियत पहलकदमी

पेश की, वह अमेरिका, अन्य पश्चिमी शक्तियो, चीन, जापान और इसमे रुचि दिखाने वाले तमाम राज्यो को सम्बोधित है। जाहिर है, उस प्रदेश के राज्यो को इसमें पूर्ण भागीदार होना चाहिए। ऐसा समझौता उनके महत्त्वपूर्ण हितो की पूर्ति करेगा तथा इन देशो के सम्प्रभु अधिकारो की ओर उनकी सुरक्षा की विश्वसनीय गारण्टी सिद्ध होगा।

रक्तपिपासु, बीजिंगपरस्त गुट के शासन से कम्पूचियाई जनता की मुक्ति मे, तथा वियतनाम समाजवादी जनतन्त्र के विरुद्ध बीजिंग द्वारा किए गए आक्रमण को सफल मुँहतोड जवाब मे दिया गया उसे सुनिश्चित बनाने मे एक निर्णायक उपादान था बिरादराना देशो का कारगर समर्थन।

सोवियत सघ बीजिंग की विस्तारवादी प्रवृत्तियों तथा सोवियत विरोध से भरी हुई उसकी रुग्ण नीति की आक्रामक प्रकृति का सुसगत विरोध करने के साथ-साथ यह आवश्यक समझता है कि सोवियत-चीन अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्तो के आधार पर सामान्य बनाए जाएँ और वह इस दिशा मे अपने हिस्से की दूरी तक आगे बढ़ने को तैयार है।



Appendix-B

सोवियत विदेश नीति की रचना, प्रशासन एवं कार्यान्विति, साम्यवादी दल की भूमिका

(Formation, Administration and Execution of Russian Foreign Policy, Role of the Communist Party)

प्रभावक तत्त्व
(The Influential Elements)

प्रत्येक देश की विदेश नीति की रचना, प्रशासन एवं कार्यान्विति पर अनेक बातों का मिलाजुला प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए सम्बन्धित देश का राष्ट्रीय हित, अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन, उस देश की विचारधारागत प्राथमिकताएँ, राष्ट्रीय राजनीति, संस्थागत रूप रचना, विदेश मन्त्रालय अथवा अन्य निर्णायक अभिकरण, विदेश नीति के निर्णायकों एवं प्रशासकों के व्यक्तित्व का प्रभाव आदि। सोवियत विदेश नीति भी अपनी रचना प्रशासन एवं कार्यान्विति के स्तरों पर इन सभी तत्त्वों से निर्णायक रूप से प्रभावित होती रही है। सोवियत विदेश नीति पर साम्यवादी विचारधारा एवं लेनिनवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त पामर तथा परकिन्स ने चार अन्य प्रभावों का उल्लेख किया है—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वर्तमान संरचना, घरेलू परिस्थितियाँ, व्यक्तित्व एवं सरकार की संरचना।[1]

(क) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वर्तमान संरचना—जब सोवियत संघ में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो इस सरकार ने अपने प्रारम्भिक काल में अन्तर्राष्ट्रीय खेल के उन नियमों को मानने से इन्कार कर दिया जो पूँजीवादी शक्तियों द्वारा स्थापित किए गए थे। अपने इस दृष्टिकोण को सोवियत नेताओं ने अपने व्यवहार द्वारा प्रमाणित किया। उन्होंने जारशाही शासन के राष्ट्रीय ऋणों को चुकाने से मना कर दिया, उस शासन द्वारा की गई गुप्त सन्धियों को प्रकाशित कर दिया गया तथा अन्य देशों की सरकारों के अध्यक्षों की अवहेलना करते हुए उन देशों की जनता को अपीलें की। किन्तु यह दृष्टिकोण अधिक समय तक नहीं चल सका क्योंकि सोवियत संघ को अन्य देशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ अनेक

1 *N D Palmer and Howard C Perkins*, International Relations, 2nd ed. 1965, Calcutta, p 652.

प्रकार से सम्बन्ध रखने पड़े। वर्तमान परिस्थितियों में कोई भी देश अपने आपको अलग-थलग रखकर अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। सोवियत संघ को भी अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से अपने सिद्धान्तों में सामञ्जस्य करना पड़ा। बारिंग्टन मूर ने लिखा है कि "सोवियत नीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की उस संरचना के साथ निरन्तर समायोजन की विशेषता से पूर्ण रही है जिसे मिटा कर सोवियत संघ इसके स्थान पर नवीन किसान राज्यों के विश्व समुदाय की स्थापना करने में असमर्थ रहा था।"[1] पामर तथा परकिन्स के शब्दों में "इस प्रकार सोवियत नेता विश्व राजनीति के सन्देहशील, अभिरुचिविहीन तथा गैर-अनुभवी सहभागी रहे हैं फिर भी उनको सन्धियाँ, सामूहिक सुरक्षा के प्रयास, हस्तक्षेप, शक्ति-सन्तुलन के कार्य तथा पाश्चात्य राजनय के अन्य मापक तरीके अपनाने को बाध्य होना पड़ा था।"[2] स्पष्ट है कि प्रारम्भ में विश्व राजनीति के स्थापित मूल्यों एवं व्यवहारों के प्रति विरोधाभाव रखते हुए भी बाद में क्रमश सोवियत संघ को इन्हें स्वीकार करना पड़ा। आज वह विश्व राजनीति का प्रमुख खिलाड़ी है। उसके विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयों पर विश्व के साम्यवादी राज्यों, गैर-साम्यवादी महाशक्तियों, एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्यों के दृष्टिकोण तथा मान्य सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ता है, यह अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं, कानूनों एवं नैतिकताओं से प्रभावित होती है, विश्व जनमत एवं विश्व संगठन इसके व्यवहार को परिसीमित करते हैं।

(ख) **घरेलू परिस्थितियाँ**—सोवियत संघ की राष्ट्रीय राजनीति साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण एक रूप, सुसंगठित तथा अनुशासित है। इस पर सरकार एवं दल का एकीकृत नियन्त्रण रहता है। इतने पर भी यहाँ की विदेश नीति के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि सोवियत सरकार आन्तरिक प्रचार पर इतना अधिक ध्यान देती है ताकि विदेश नीति पर विरोधी प्रभाव डालने वाली प्रक्रियाओं को रोका जा सके। देश में एक प्रभावशाली आर्थिक आधार बनाने के पक्ष में जनमत तैयार किया जाता है ताकि देश को महाशक्ति बनाए रखा जा सके। इसके लिए अनुशासन तथा उच्च मनोबल पर

1 "On the whole Soviet policy has been characterized by a series of adjustments to the existing structure of international relationship, which the *U S S R. has been unable to overthrow and replace by a new world* community of toilers' states "
—*Barringnos Moore* Soviet Politics—the Dilemma of Power, The Role of Ideas in Social Change, 1950, p 405

2 Thus the Soviet leaders, through suspicious, reluctant and inexperienced participants in world politics, have resorted to alliances, measures of collective security, intervention, balance of power practices, and other standard techniques of Western diplomacy."
—*N. D. Palmer and H. G. Perkins* . op. cit , p. 653.

विशेष जोर दिया जाता है। साम्यवादी दल सोवियत संघ में एकाधिकारी शक्ति रखता है तथा उसके प्रभाव और अधिकारों की दृष्टि से कोई चुनौती नहीं है किन्तु दल के अन्दर नेतृत्व की दौड़ में अनेक बार मनमुटाव तथा संघर्ष पैदा हो जाते हैं। ये आन्तरिक संघर्ष यहाँ की विदेश नीति की रचना, प्रशासन एवं कार्यान्विति को प्रभावित करते हैं। समय-समय पर सोवियत संघ द्वारा देश के आर्थिक विकास के लिए नीतियाँ तय की जाती हैं तथा आन्तरिक प्रशासन की दृष्टि से अन्य महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते हैं। ये सब देश की विदेश नीति पर भी गहरा प्रभाव रखते हैं। पामर तथा परकिन्स ने यहाँ के उन महत्त्वपूर्ण आन्तरिक विकासों का उल्लेख किया है जिनकी अवहेलना करते हुए सोवियत विदेश नीति के व्यवहार को सही रूप में नहीं समझा जा सकता, ये हैं—1921-28 की नवीन आर्थिक नीति, स्टालिन तथा ट्रॉटस्की का संघर्ष, पंचवर्षीय योजनाएँ, कृषि का सामूहीकरण, 1936–38 के राजनीतिक शुद्धिकरण, युद्धोत्तरकाल में सांस्कृतिक शुद्धिकरण, समय-समय पर आर्थिक संकट, बाद वाले नेताओं द्वारा स्टालिन की अवमानना आदि। इन सभी तथा इसी प्रकार की अन्य घटनाओं एवं विकासों ने सोवियत विदेश नीति पर निर्णायक प्रभाव डाला है।

(ग) **व्यक्तियों का प्रभाव**—यद्यपि साम्यवादी विचारधारा व्यक्ति की अपेक्षा समूह को महत्त्व देती है तथा व्यक्ति को एक समूह के सदस्य के रूप में ही महत्वपूर्ण मानती है किन्तु फिर भी सोवियत विदेश नीति के स्वरूप निर्धारण में व्यक्तियों का प्रभाव विशेष रहा है। सोवियत संघ में साम्यवाद के सृष्टा लेनिन का व्यक्तित्व एक विचार यहाँ की विदेश नीति पर छाए हुए हैं। लेनिन के विचारों ने सोवियत विदेश नीति को मूल्य दिए, आस्थाएँ दीं, मित्र और शत्रु पहचानने का मापदण्ड दिया, कार्य के लिए आदर्श दिया तथा अपने पक्ष को शक्तिशाली सुस्थापित पूँजीवादी व्यवस्था की तुलना में सशक्त एवं उचित सिद्ध करने का आधार दिया। लेनिन के बाद स्टालिन अपने सत्ताकाल तक सोवियत विदेश नीति पर छाया रहा। जिन नेताओं ने उसके विचारों के साथ असहमति प्रकट की उनको उसने या तो देश से निकाल दिया अथवा शुद्धिकरण के नाम पर परलोक भिजवा दिया। स्टालिन के बाद नेतृत्व की प्रवृत्तियाँ बदली और तदनुरूप ही सोवियत विदेश नीति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गए। ख्रुश्चेव के समय यहाँ की विदेश नीति ने पुराने सिद्धान्तों को नए परिवेश में पुनर्व्याख्या करके अपनाना प्रारम्भ किया तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति, पश्चिम के साथ सम्पर्क की वृद्धि, एशिया तथा अफ्रीका के राज्यों के साथ सम्बन्धों का विस्तार, गुटनिरपेक्षता के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आदि सोवियत विदेश नीति के मुख्य लक्ष्य बन गए। विभिन्न निर्णयकारी स्तरों पर जब धीरे-धीरे नया नेतृत्व उभरने लगा तथा युवकों का प्रभाव बढ़ा तो सोवियत कूटनीति में भी नए दृष्टिकोण पर जोर दिया जाने लगा। सोवियत व्यवस्था में ऊपर से तो सब कुछ शान्त लगता है किन्तु गहराई में व्यक्तियों के बीच भयानक संघर्ष रहता है। यह

सघर्ष जैसा कि थियोडोर व्हाइट ने लिखा है, कभी-कभी ऊपर उठे बुलबुलों से आभासित होता है।[1]

(घ) सरकार की संरचना—सोवियत सघ मे दल सर्वोच्च है तथा दलीय सगठन ही सरकार की राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो का निर्देशन करता है। स्टालिन का कहना था कि पॉलिट ब्यूरो (Politburo) न केवल राज्य की वरन् दल की भी सर्वोच्च निर्देशक शक्ति है। वास्तविक व्यवहार मे भी यह सच था कि पॉलिट ब्यूरो ही साम्यवादी सत्ता का केन्द्र तथा सोवियत शक्ति का मूल आधार था। अक्तूबर, 1952 मे पॉलिट ब्यूरो तथा आर्गब्यूरो (Orgburo) का स्थान प्रेसीडियम ने ले लिया तथा अब यह आन्तरिक दलीय मामलो का नियन्त्रण करती है। प्रेसीडियम ही सभी राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो के सम्बन्ध मे निर्णय लेती है। इसके निर्णयो को कही कोई चुनौती नही दे सकता किन्तु ये निर्णय गुप्त दलीय बैठको मे लिए जाते हैं जहाँ बडे नेता परस्पर सघर्षरत रहते हैं। इस प्रकार सारी शक्तियाँ दल एव दलीय अभिकरणो के हाथो मे केन्द्रित हो जाती हैं। विदेश नीति के निर्णय-निर्माण, प्रशासन एव कार्यान्विति का दायित्व दल द्वारा ही निभाया जाता है।

विदेश नीति की रचना एवं प्रशासन तथा दल की भूमिका
(The Formation and Administration of Foreign Policy, Role of the Party)

सोवियत सघ मे विदेश नीति की रचना एव प्रशासन की प्रक्रिया पर वहाँ की राजनीतिक सस्कृति का व्यापक प्रभाव रहता है। यहाँ की सर्वाधिकारवादी साम्यवादी व्यवस्था मे जो विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लिए जाते है वे बताए नही जाते तथा जिनका वास्तव मे प्रचार किया जाता है वे लिए नही जाते। यहाँ की विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय प्रक्रिया पर सावैधानिक व्यवस्था एव सरकार की औपचारिक सस्थाओ का प्रभाव पाश्चात्य देशो की अपेक्षा कम रहता है। इससे भिन्न यहाँ की विदेश नीति का स्रोत एव उसे कार्यान्वित करने की शक्ति साम्यवाद दल की तानाशाही मे है। सोवियत सविधान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को प्रशासित करने की सामान्य प्रक्रिया निर्धारित करने का अधिकार केन्द्र सरकार को सौंपा गया अर्थात् गणराज्यो को यह स्वतन्त्रता दी गई है कि वे इच्छानुसार सघ छोड़ सकते हैं तथा विदेशो से स्वय सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इस प्रावधान के आधार पर सोवियत सघ ने प्रारम्भ मे यह प्रयास किया था कि उसके इन सभी

1 "Of all these areas which Russian secrecy guards, none is more jealously sheltered than the inner area of decision making where personalities, ambitions, rivalries and emotions clash. ....like subterranean monsters Russia's masters grapple with each other in the deep, beyond the range of sight and only in occasional striking bubble breaking to the surface tells us that a struggle is going on at all "

—*Theodore White* · Fire in the Ashes : Europe in Mid-Century, 1953, pp 324-25

गणराज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाए। किन्तु यह स्वतन्त्रता केवल दिखावटी है तथा वास्तविक तथ्य यह है कि मास्को स्थित केन्द्र सरकार ही विदेश नीति के समस्त पहलुओं का नियन्त्रण करती है। केन्द्रीय स्तर पर दलीय संगठन तथा सरकारी अभिकरण दोनों ही निर्णय प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

(क) दलीय संगठन का योगदान

सोवियत संघ में साम्यवादी दल में सत्ता का वास्तविक केन्द्रीयकरण है। स्टालिन का कहना था कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र वस्तुतः उसके उस प्रहरी दल का अधिनायकतन्त्र है जो सर्वहारा वर्ग का निर्देशन करने वाली शक्ति है। सोवियत संघ में साम्यवादी दल का संगठन लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद (Democratic Centralism) के आधार पर किया जाता है। फेन्सोड के कथनानुसार, "साम्यवादी दल का संगठन उत्तरोत्तर सैनिक संगठन के समान है जिसमें समस्त नीति सम्बन्धी निर्णय केन्द्रीय कमान से आते हैं और निम्नतर अधिकारियों का कार्य उन निर्णयों तथा आदेशों को कार्यान्वित करना होता है।" दल की समस्त शक्तियाँ इसके पॉलिट ब्यूरो में केन्द्रित रहती हैं। दल की केन्द्रीय समिति दल तथा सरकार का नियन्त्रण और निर्देशन करने में असमर्थ रहती है क्योंकि इसका आकार बड़ा है तथा इसकी बैठकें भी वर्ष में केवल चार बार होती हैं। यद्यपि महत्त्वपूर्ण निर्णय हमेशा ही केन्द्रीय समिति के नाम से लिए जाते हैं किन्तु वास्तव में इस शक्ति का प्रयोग अन्य दलीय अंगों द्वारा किया जाता है जिनमें पॉलिट ब्यूरो मुख्य है। पॉलिट ब्यूरो अथवा राजनीतिक समिति रॉबर्ट न्यूनमैन के कथनानुसार "पार्टी पिरामिड का वास्तविक शिखर और समस्त शक्तियों तथा निर्णयों का स्रोत है।"[1]

स्टालिन ने अपनी मृत्यु से पूर्व पॉलिट ब्यूरो तथा आर्गब्यूरो दोनों को समाप्त करके इनके स्थान पर एक प्रेसीडियम की स्थापना कर दी थी जिसमें 25 सदस्य होते थे। 1966 में साम्यवादी दल की 23वीं कांग्रेस द्वारा प्रेसीडियम को समाप्त करके पुनः पॉलिट ब्यूरो की स्थापना कर दी गई। यह एक छोटी संस्था है। 1952 में इसकी सदस्य संख्या 24 तथा वैकल्पिक सदस्य 12 थे। ख्रुश्चेव के पतन के बाद से नवीन पॉलिट ब्यूरो में 18 सदस्य तथा 8 वैकल्पिक सदस्य होते हैं। इनका प्रधान दल का महासचिव होता है। सिद्धान्त रूप में पॉलिट ब्यूरो का निर्वाचन दल की केन्द्रीय समिति द्वारा होता है तथा उसी के प्रति यह उत्तरदायी है किन्तु वास्तविक व्यवहार में यह स्वयं केन्द्रीय समिति पर नियन्त्रण रखता है। वास्तव में यह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दल की अन्तिम नीति का निर्धारण करता है। इसके सभी सदस्य प्रभावशाली होते हैं तथा दल में उनका विशेष प्रभाव एवं समर्थन रहता है। इसकी बैठकें गुप्त रूप से की जाती हैं। निर्णय के समय पर्याप्त विचार-विमर्श

1 "Politburcau is the real top of the party pyramid, the source of all powers and decisions."
—G. Robert Neumann : European and Comparative Government, p. 511.

किया जाता है किन्तु निर्णय हो जाने के बाद वह सभी पर बाध्यकारी होता है। इसके प्रभाव के बारे में स्टालिन का कहना था कि "पॉलिट ब्यूरो राज्य का नही वरन् दल का सर्वोच्च अंग है तथा दल राज्य को निर्देशित करने वाली सर्वोच्च शक्ति है।"[1] पॉलिट ब्यूरो की निर्णय लेने की शक्ति पर सांविधानिक प्रतिबन्धों, जनता की आलोचनाओं तथा भावी चुनावों के प्रभावों आदि की मर्यादाएँ नही रहती। सूचना एवं प्रसारण के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण तथा दल की एकाधिकारी प्रकृति के कारण इसके निर्णयों का कहीं भी विरोध नही किया जाता। पॉलिट ब्यूरो के सदस्य प्राय मन्त्रिपरिषद् एव सर्वोच्च सोवियत के भी सदस्य होते है इसलिए इस सस्था का प्रभाव विशेष रूप से बढ जाता है।

विदेश नीति सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े निर्णय पॉलिट ब्यूरो द्वारा लिए जाते है। विदेश मन्त्रालय द्वारा इसे सभी विषयो पर सारी सूचनाएँ नियमित रूप से प्रदान की जाती है। विदेश मन्त्री इसका सदस्य तो नहीं होता किन्तु वास्तविक निर्णय के समय परामर्श हेतु उसे आमन्त्रित किया जाता है। पॉलिट ब्यूरो की व्यापक शक्तियाँ देखते हुए इसकी तुलना ग्रेट ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल से की जाती है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि इसके द्वारा व्यापक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है किन्तु यह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही होता।

दलीय सचिवालय की शक्तियाँ पॉलिट ब्यूरो से कम है तथा यह विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय स्थापना मे भी कम भाग लेता है। इसका कार्य दलीय संघ को निर्देशित करना तथा सहयोग देना है। यह दल के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों का रिकार्ड रखता है तथा उनके सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। यह दल के निर्णयों को सम्बन्धित व्यक्तियों से पालन कराने की व्यवस्था करता है। इस दृष्टि से विदेश नीति के प्रशासन से सचिवालय की भूमिका महत्त्वपूर्ण बन जाती है। इसका अध्यक्ष महासचिव कहा जाता है जो कि साम्यवादी दल का निर्विवाद रूप से नेता होता है। हाल ही मे (अप्रेल, 1979 मे) ल्योनिद ब्रेझनेव को दल के महासचिव पद पर पुन चुन लिया गया था। सचिवालय म 11 सदस्य हैं जो आवश्यकतानुसार घटाये अथवा बढाए जा सकते है।

यहाँ के दलीय सगठन मे अखिल सघीय कांग्रेस (All Union Congress) सर्वोच्च अंग मानी जाती है। इसकी सदस्य सख्या हजारों मे है। दल के विधान के अनुसार यह दल की सबसे बडी इकाई मानी जाती है। यह दल की नीति निर्धारित करती है तथा उच्च कार्यपालिका अंगों द्वारा समय-समय पर जो नीति सम्बन्धी परिवर्तन या सशोधन किए जाते हैं उन सभी की पुष्टि सघीय कांग्रेस द्वारा की जाती है। विदेश नीति की दृष्टि से इसे ये सभी शक्तियाँ प्रदान की गई है। इसकी एक निर्वाचित कार्यकारिणी समिति होती है जिसे केन्द्रीय समिति कहा जाता है। इसम

1 "The Politbureau is the highest organ, not of the state but of the party and the party is the highest directing force of the state." —J. Stalin

195 सदस्य तथा 165 प्रत्याशी होते है। इसमे विभिन्न हितो एव रुचियो का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य होते है। यह समिति दल का महत्त्वपूर्ण अग है तथा इससे साम्यवादी दल एव रूस की सरकार के सभी कार्यो का निर्देशन करन की आशा की जाती है। यह अखिल सघीय कांग्रेस के अधिवेशनो के अन्तराल मे उनके सभी कार्य सम्पन्न करती है। यह पॉलिट ब्यूरो तथा सचिवालय की नियुक्ति करती है तथा उन नीतियो पर पुन विचार करती है जो पालिट ब्यूरो द्वारा निर्धारित की जाती हैं। यह अखिल सघीय काग्रेस के निर्णयो के अनुसार जनता, साम्यवादी दल तथा सरकार को आदेश देती रहती है।

(ख) सरकारी अभिकरणों का योगदान

सोवियत विदेश नीति की रचना की दृष्टि से सरकारी अभिकरण दलीय नेतृत्व से कम महत्त्वपूर्ण होते है। कारण यह है कि दल को शक्ति का प्रमुख केन्द्र माना गया है। जो सरकारी अभिकरण विदेश नीति की रचना एव प्रशासन मे योगदान करते है उनमे उल्लेखनीय है मन्त्रि-परिषद्, सर्वोच्च सोवियत, विदेश मन्त्रालय, सुरक्षा मन्त्रालय, विदेशी आर्थिक मामले आदि। यहाँ प्रत्येक के सम्बन्ध म सक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

(1) मन्त्रि-परिषद्—यह सोवियत सरकार का प्रमुख कार्यपालिका अग है। सविधान की धारा 64 के अनुसार सोवियत सघ की मन्त्रिपरिषद् सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ की राज्य की शक्ति का सर्वोच्च कार्यपालिका तथा प्रशासनिक अग है। इसके सदस्यो का चुनाव सोवियत सघ की सर्वोच्च सोवियत के दोनो सदन अपनी सयुक्त बैठक म करते हैं। इसम अध्यक्ष जो प्रधानमन्त्री कहलाता है, कई उपाध्यक्ष, राजकीय योजना आयोग, सोवियत नियन्त्रण आयोग, कला समिति, उच्च शिक्षा समिति और राजकीय बैंक परिषद् के अध्यक्ष तथा 15 सघीय गणराज्य के मुख्य मन्त्री आदि शामिल है। इसकी सदस्य सख्या लगभग 90 है। प्रशासनिक नीति-निर्माण की सुविधा के लिए एक अन्तरग मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिमण्डल की प्रेसीडियम जिसमे प्रधानमन्त्री के अतिरिक्त 11 सदस्य होते है, बन जाती है। मन्त्रि-परिषद् विभिन्न मन्त्रालयों के कार्यों का निर्देशन करती है। यह नए राज्यो को मान्यता देने का निर्णय लेती है। इसके द्वारा थल, जल और वायु सना का सगठन किया जाता है और इसकी शक्ति मे अपेक्षित वृद्धि की जाती है। इसी का उत्तर-दायित्व है कि वह विदेशी राज्यो मे सम्बन्ध स्थापित करे और सघ के अन्तर्गत विभिन्न गणराज्य विदेशो से जो सम्बन्ध स्थापित करे, उसे नियन्त्रित और निर्देशित करे। यह बाहरी तथा आन्तरिक सकटो से देश की रक्षा करती है। विदेशी आक्रमणो से देश की सुरक्षा करती है। विदेश नीति की रचना प्रक्रिया मे इसका महत्त्व इसलिए बढ जाता है क्योंकि उच्च शिखर के दलीय नेता एवं इसके सदस्य प्राय समान व्यक्ति होते है।

(2) सर्वोच्च सोवियत—सोवियत सविधान की धारा 30 के अनुसार *सोवियत सघ मे राज्य शक्ति का सर्वोच्च अग यहाँ की सर्वोच्च सोवियत है।* जनता

द्वारा यह द्विसदनीय व्यवस्थापिका निकाय सिद्धान्ततः सर्वोच्च होते हुए भी नीति-निर्धारण में बहुत कम योगदान कर पाता है। इसमें निम्न सदन में 767 और उच्च सदन में 750 सदस्य होते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने जाते हैं। सर्वोच्च सोवियत का कार्यकाल 4 वर्ष है। इसकी बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। इसका एक सत्र एक से लेकर तीन सप्ताह तक होता है जिसमें यह मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों और निर्णयों को सुनती है। बड़े आकार और अधिवेशन काल की कमी के कारण इसकी शक्तियों का प्रयोग प्रायः प्रेसीडियम द्वारा किया जाता है। सर्वोच्च सोवियत यहाँ के विदेश सम्बन्धों को नियमित और नियन्त्रित करने का अधिकार रखती है। यही अन्तिम रूप से निर्णय लेती है कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सोवियत संघ किस सीमा तक भाग ले। युद्ध और शान्ति सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय विदेशों से की गई सन्धियों की स्वीकृति, युद्ध की घोषणा और देश की रक्षा के लिए सेना के संगठन का अधिकार सर्वोच्च सोवियत को प्राप्त है। संघीय गणराज्य द्वारा विदेशी राज्यों से जिस प्रकार अपने सम्बन्धों का संचालन किया जाता है उसकी रूपरेखा सर्वोच्च सोवियत ही बनाती है। यह देश के रक्षा साधनों की व्यवस्था करती है और सशस्त्र सेनाओं का नियन्त्रण और संचालन करती है।

(3) विदेश मन्त्रालय—विदेश नीति की रचना और प्रशासन में विदेश मन्त्रालय का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह विदेश नीति सम्बन्धी सभी निर्णयों को कार्यान्वित करता है। यह साम्यवादी दल के शीर्षस्थ अधिकारियों और राजनयज्ञों की सहायता से कार्य करता है। सोवियत विदेश मन्त्री की तुलना संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्रियों से नहीं की जा सकती क्योंकि इन देशों के विदेश मन्त्री आवश्यक रूप से वहाँ के मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। सोवियत संघ के विदेश मन्त्री का पॉलिट ब्यूरो का सदस्य होना आवश्यक नहीं है। उसका सम्मान और शक्तिस्थिति बहुत कुछ दलीय नेतृत्व पर निर्भर करती है। स्टालिन ने बहुत समय तक इस पद पर अपने व्यक्तिगत विश्वासपात्र मोलोतोव को रखा था जो पॉलिट ब्यूरो का सदस्य भी था और कभी-कभी मन्त्रिपरिषद् का प्रथम सभापति भी बन जाता था। इसके बाद आने वाले विशिन्स्की और ग्रोमिको दोनों ही विदेश मन्त्री पॉलिट ब्यूरो के सदस्य नहीं रहे। स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत विदेश नीति में विदेश मन्त्रालय का सम्मान बढ़ गया है और इसकी सेवाएँ पर्याप्त सम्मानजनक बन गई हैं।

(4) सुरक्षा मन्त्रालय—सोवियत विदेश नीति की रचना और प्रशासन की दृष्टि से यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णायक इकाई है। यह एक सैनिक संस्थान है जिसमें एक सामान्य स्टॉफ और एक मुख्य राजनीतिक निदेशालय होता है जो सशस्त्र सेनाओं पर दलीय नियन्त्रण रखने वाला मुख्य साधन है। यद्यपि राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी प्रमुख नीति विषयक निर्णय पॉलिट ब्यूरो द्वारा किए जाते हैं, किन्तु ऐसा करते समय ब्यूरो सैनिक विशेषज्ञों से विचार-विमर्श और तकनीकी परामर्श करता है। देश की सेना दलीय नेतृत्व द्वारा स्वीकृत योजना के अधीन कार्य करती है।

1937-38 में स्टालिन ने शुद्धिकरण करते हुए अधिकांश महत्त्वपूर्ण सैनिक पदाधिकारियों को उनके पद से हटा दिया था। स्टालिन की मृत्यु के बाद सैनिक अधिकारियों और राजनेताओं के बीच कुछ विरोध पैदा हुआ था। कभी-कभी पॉलिट ब्यूरो के नीति सम्बन्धी निर्णयों से भी सेना में असन्तोष हो जाता है।

सोवियत संघ में सेना का सम्मानजनक स्थान है और यह आशा नहीं की जाती कि उसके द्वारा राष्ट्रीय हित के विरुद्ध नीतियाँ अपनाई जाएँगी। सोवियत संघ में पॉलिट ब्यूरो सैनिक शक्ति, विदेश नीति, आर्थिक विकास और सोवियत साम्यवाद प्रसार आदि की दृष्टि से एकीकृत कार्यक्रम बनाया जाता है और एक बड़ी रणनीति अपनाई जाती है ताकि सोवियत संघ को महान् शक्तिशाली देश बनाया जा सके, कमजोर विरोधी को नष्ट किया जा सके और अर्द्ध-विकसित दुनिया के नए क्षेत्र में साम्यवाद को प्रसारित किया जा सके।

(5) विदेशी आर्थिक मामले—सोवियत विदेश नीति की रचना और प्रशासन पर विदेशी आर्थिक मामलों का निर्णायक प्रभाव पड़ता है। यहाँ विभिन्न देशों के साथ आर्थिक और सैनिक सहयोग के कार्यक्रमों पर पर्याप्त जोर दिया जाता है ताकि उपनिवेशों में होने वाली क्रान्ति एवं विकासशील राष्ट्रों के उदय से उत्पन्न चुनौतियों का सामना किया जा सके। विदेशी आर्थिक सम्बन्धों की एक राज्य समिति को इन कार्यों का दायित्व सौंपा जाता है। यह समिति विदेशों के साथ आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों का विकास करती है, तकनीकी और आर्थिक सहयोग का पर्यवेक्षण करती है, विदेशों से वैज्ञानिक सहयोग का प्रबन्ध करती है और विदेशों में उद्यमों की रचना के लिए मदद करती है। विदेशी व्यापार मन्त्रालय द्वारा विदेश व्यापार सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण किया जाता है। सोवियत संघ ने आर्थिक और व्यापारिक नीतियों द्वारा अनेक बार विदेश नीति सम्बन्धी उद्देश्यों को प्राप्त करने की चेष्टा की है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सोवियत विदेश नीति की रचना और प्रशासन में विभिन्न दलीय और सरकारी अभिकरणों का उल्लेखनीय प्रभाव रहता है। विदेश नीति के क्षेत्र में निर्णय निर्माण के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है। नीति निर्णय के प्रस्ताव या तो सम्बन्धित मन्त्रालय द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं अथवा दलीय सचिवालय में तैयार होते हैं। इन प्रस्तावों को प्रारम्भ में मन्त्रि-परिषद् स्वीकार करती है और उसके बाद विभिन्न नीतियों तथा उनसे सम्बन्धित अभिकरण विचार-विमर्श करते हैं और तत्पश्चात् निर्णय लिया जाता है। निर्णय रचना के बाद उनके प्रशासन हेतु उन्हें *मन्त्रिपरिषद् तथा सम्बन्धित* मन्त्रालयों और दलीय सचिवालय को भेजा जाता है ताकि उन्हें क्रियान्वित किया जा सके। इन नीतियों सम्बन्धी प्रतिवेदन और इनके अन्तर्गत किए जाने वाले कार्यों की सूचना सर्वोच्च सोवियत को प्रदान की जाती है। सभी स्तरों पर नीति की एकता और समरसता का ध्यान रखा जाता है। इस हेतु विभिन्न संस्थाओं को एक ही पंक्ति में रखकर एक दूसरे को प्रभावित करने की चेष्टा की जाती है।

विदेश नीति की कार्यान्विति
(The Execution of Foreign Policy)

1917 की अक्तूबर क्रान्ति के बाद से सोवियत विदेश नीति की कार्यान्विवि को मोटे रूप से (i) स्टालिन काल की विदेश नीति, (ii) स्टालिन के बाद की विदेश नीति, तथा (iii) आधुनिक तनाव शैथिल्य के युग मे सोवियत विदेश नीति के शीर्षको मे वर्गीकृत किया जा सकता है।

सोवियत विदेश नीति की आधारशिलाएँ लेनिन द्वारा रखी गईं। उसी के द्वारा सोवियत विदेश नीति की विचारधारागत परिसीमाएँ स्थापित की गई। स्टालिन के समय मे सोवियत सघ एक शक्तिशाली राज- के रूप मे उभरा। स्टालिन ने सैनिक एव राजनीतिक दृष्टि से प्रसारवादी नीतियाँ अपनाई। देश और विदेशो मे मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तो के अक्षरश पालन पर जोर दिया और शीतयुद्ध का प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के समय मे सोवियत सघ ने यूरोप मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने की नीतियाँ अपनाई। स्टालिन के बाद ख्रुश्चेव के प्रधानमन्त्रित्व मे सोवियत सघ ने उन नीतियो का बहिष्कार कर दिया जो स्टालिन के समय अपनाई जा रही थी। अस्तालिनीकरण के नाम पर विदेशो के साथ नए सम्बन्धो का सूत्रपात किया गया। अब सोवियत विदेश नीति विश्व राजनीति के परिवेश के अनुकूल बनाई गई। इस प्रकार सोवियत संघ की विदेश नीति मे स्टालिन का नेतृत्व एक विभाजक रेखा का कार्य करता है। सोवियत विदेश नीति की कार्यान्विति के सम्बन्ध मे यहाँ हम स्टालिन के समय इसकी मुख्य विशेपताओ और स्टालिन के बाद विभिन्न राज्यो से इसके सम्बन्धो का सक्षिप्त अवलोकन करेंगे।

(I) स्टालिन काल में सोवियत विदेश नीति की कार्यान्विति—10 मार्च, 1939 को स्टालिन ने सोवियत विदेश नीति के लक्ष्य एव विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यह कहा था कि (1) हम स्वतन्त्रता चाहते है और सभी देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढाना चाहते हैं। इस नीति का पालन सोवियत सघ उस समय तक करेगा जब तक कि दूसरे देश भी ऐसा करे और सोवियत हितो को आँच न पहुँचाएँ, (2) हम सभी पडोसी देशो के साथ, जो सोवियत सघ के साथ समान सीमाएँ रखते हैं, शान्तिपूर्ण घनिष्ठ तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाना चाहते है और ये सम्बन्ध तब तक बनाए रखेंगे जब तक कि पडोसी देश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सोवियत सीमाओ की एकता एव अखण्डता को चुनौती न दें, (3) हम उन देशो का समर्थन करेंगे जो आक्रमण का शिकार बने हैं अथवा जो अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड रहे है; (4) हम आक्रमणकारियों की धमकी म नही डरते तथा युद्ध छेड़ने वाले के प्रत्येक मुक्के का जवाब दो मुक्के से देने को तैयार रहते है। इन मूलभूत सिद्धान्तो के साथ ही स्टालिन का कहना था कि सोवियत विदेश नीति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुख्य रूप से अपने देश की बढती हुई राजनीतिक और आर्थिक शक्ति, सोवियत समाज की नैतिक और राजनीतिक एकता, देश की लाल सेना और जहाजरानी शान्तिवादी नीति, सभी देशो के मजदूरो के नैतिक

समर्थन आदि पर निर्भर करती है। स्टालिन के समय विदेश नीति की दृष्टि से राजनीतिक दल केन्द्रीय भूमिका निभाता है। दल से यह आशा की गई थी कि वह शान्ति की नीति को जारी रखे तथा सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों को मजबूत बनाए, हमेशा जागरूक रहे और अपने देश को युद्ध प्रेमियों के प्रयासों से संघर्ष में पड़ने से रोके, लाल सेना और लाल जहाजरानी की शक्ति को सत्ता के उच्च शिखर तक पहुँचा दे, सभी देशों के मजदूरों के साथ मित्रतापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय बन्धनों को सुदृढ़ बनाए।

स्टालिन ने अपनी सुदृढ़ विदेश नीति से देश का आन्तरिक विकास किया, विदेशों में उसका प्रभाव बढ़ाया, रक्षा व्यवस्था को मजबूत किया, गैर-साम्यवादी शक्तियों के विरोधी प्रयासों से अपनी रक्षा की तथा एशिया और अफ्रीका के राज्यों में भी अपना प्रभाव बढ़ाया। यह कहा जाता है कि स्टालिन ने अपनी नीतियों से सोवियत संघ जैसे पिछड़े और अविकसित देश को विश्व की महान् औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति बना दिया। उसके द्वारा निर्धारित विदेश नीति के लक्ष्य, साधन एवं क्षमताएँ असाधारण थे। स्टालिन की नीतियों के सम्बन्ध में रॉबिन्सटीन ने लिखा है कि "उसने पीटर महान् की स्वेच्छाचारी परम्पराओं के अनुसार शासन किया और सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था का पाश्चात्यीकरण कर दिया। विदेश नीति के क्षेत्र में उसने मुख्यतः विस्तारवादी जारों के पदचिह्नों का अनुसरण किया। उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी परम्पराओं को निभाना पड़ेगा।"[1]

(ii) स्टालिन के बाद सोवियत विदेश नीति की कार्यान्विति—5 मार्च, 1953 को स्टालिन की मृत्यु के साथ ही सोवियत विदेश नीति की कार्यान्विति का एक युग समाप्त हो गया। स्टालिन के बाद तीन मुख्य विकासों ने यहाँ की विदेश नीति को प्रभावित किया—पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्राज्य में स्थायित्व सोवियत संघ की आर्थिक और सैनिक शक्ति में तेजी से वृद्धि और रूस के दक्षिणी क्षेत्र में उसके प्रभाव में वृद्धि। स्टालिन के उत्तराधिकारी को मुख्य रूप से इन तत्त्वों का निर्वाह करना पड़ा—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य स्वीकृति प्राप्त करना और जहाँ सम्भव हो सके वहाँ देश की सुरक्षा को खतरे में डाले बिना सोवियत शक्ति का विस्तार करना। बदली हुई परिस्थितियों और नवीन चुनौतियों के सन्दर्भ में सोवियत संघ की विदेश नीति में अनेक नई विशेषताएँ आ गई। अब स्थानीय इकाइयों को अधिक स्वायत्तता दी गई, आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणमुक्त बनाया गया तथा जीवन स्तर के आधुनिक विकास को प्रोत्साहन दिया गया। स्टालिन के बाद सोवियत संघ की

1 "He ruled in the autocratic tradition of Peter the Great and modernized the economy of the Soviet Union, in the realm of Foreign Policy, he followed in the footsteps of the most expansionist of Czars. His successors have sought to maintain his tradition"
—*Robinstein* The Foreign Policy of Soviet Union, p 253.

बर्लिन समस्या का सामना करना पड़ा। साम्यवादी चीन के साथ इसका सैद्धान्तिक विवाद बढ़ा, मार्शल टीटो के साथ मतभेदो मे उतार-चढाव आया, पोलैण्ड तथा हगरी मे क्रान्तियाँ हुईं, एशिया और अफ्रीका मे बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, वियतनाम मे लम्बे सघर्ष के बाद अमेरिका रगमच से हट गया, अरब-इजराइल सघर्ष ने मिस्र और इजराइल के बीच सन्धि के बाद एक नया मोड लिया।

स्टालिन के बाद ख्रुश्चेव ने नवीन विदेश नीति का सूत्रपात करते हुए स्टालिन युग के अपराधो का विस्तार से उल्लेख किया। 20वी पार्टी कांग्रेस मे उसने स्टालिन की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया। यह कांग्रेस पूँजीवादी देशो के प्रति नवीन दृष्टिकोण एव नीति की परिचायका मानी जाती है। अब इन राज्यो के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति सोवियत विदेश नीति का आधारभूत सिद्धान्त बन गया। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का अर्थ यह है कि पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो ही व्यवस्थाएँ साथ रहे और अपने गुणो के प्रभाव से साम्यवादी व्यवस्था विश्वभर मे व्याप्त हो जाए। शेपिलोव (Shepilov) के कथनानुसार "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व सघर्षहीन जीवन नही है। जब तक विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ कायम रहेगी तब तक उनके बीच मन-मुटाव होना अपरिहार्य है। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व एक राजनीतिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक सघर्ष है। सहअस्तित्व का अर्थ है कि एक देश दूसरे देश के साथ लड़ता नही है, वह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो को हथियारो से सुलझाने का प्रयत्न नहीं करता किन्तु शान्तिपूर्ण कार्यों तथा आर्थिक एव सांस्कृतिक प्रक्रियाओ द्वारा प्रतियोगिता करता है। हम यदि जीवन के मूलभूत नियमो अर्थात् वर्ग सघर्ष के नियमो को भुला देगे तो हम मार्क्सवादी और लेनिनवादी नही रह जाएँगे।"[1]

(iii) आधुनिक तनाव-शैथिल्य (Detente) के युग में सोवियत विदेश नीति की कार्याग्विति—वर्तमान काल मे बदली हुई परिस्थितियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन के कारण वह शीतयुद्ध का वातावरण समाप्त हो चुका है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ के बीच छिड़ा था। अब इसके स्थान पर तनाव शैथिल्य का वातावरण है। इस समय सोवियत सघ विश्व की एक महान् शक्ति है। प्राय सभी देशो के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध है। सयुक्त राष्ट्र सघ जैसी विश्व सस्थाओ मे इसके प्रतिनिधि पर्याप्त सक्रिय भूमिका अदा करते हैं। अमेरिका के साथ तनाव शैथिल्य की नीति के अन्तर्गत मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के बाद सोवियत सघ इसके क्षेत्र को बढाने के लिए प्रयत्नशील है। फरवरी-मार्च, 1976 मे आयोजित सोवियत साम्यवादी दल की 25वी कांग्रेस मे यह दावा किया गया था कि सोवियत सघ द्वारा अपनाई गई शान्तिपूर्ण नीति के के कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे सुधार हुआ है। स्वय सोवियत सघ इतना शक्तिशाली राज्य बन चुका है इसकी विदेश नीति ने विश्व के विकास को सकारात्मक

1 *Shepilov*. Pravda, 13th February, 1957.

रूप में प्रभावित किया है। बिना सोवियत संघ के आज विश्व की कोई समस्या सुलझाई नहीं जा सकती। अप्रैल, 1971 में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की 24वीं कांग्रेस ने शान्ति कार्यक्रम प्रारम्भ किया था और मार्च, 1976 को 25वीं कांग्रेस में एक नया शान्ति कार्यक्रम घोषित किया गया। इस दृष्टि से 25वीं कांग्रेस को विश्व की परिस्थितियों में सुधार एवं प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। 25वीं कांग्रेस के प्रतिवेदन में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहा गया कि "सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति कभी इतनी दृढ़ नहीं रही। हम शान्ति की चौथी शताब्दी में प्रविष्ट हो चुके हैं। समाजवाद की स्थिति अधिक मजबूत हो चुकी है और तनाव शैथिल्य प्रभावशाली प्रवृत्ति बन चुका है।"[1]

यह सच है कि अतीत काल में भी समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी आई है किन्तु वर्तमान तनाव शैथिल्य की भावना अपने आप में मूलतः भिन्न परिवेश है। *सोवियत विचारकों के मतानुसार यह स्थिति पूँजीवादी घेराबन्दी की* नीतियों की असफलता एवं शीत युद्ध और सैनिक संघर्ष की नीति के दिवालियेपन की प्रतीक है। 25वीं कांग्रेस की बैठक में ब्रेझनेव ने स्पष्टतः यह घोषित किया था कि अब सोवियत संघ नवीन उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हो सका है। ये उद्देश्य है—बढ़ती हुई शस्त्रों की दौड़ को रोकना, निःशस्त्रीकरण के लिए संक्रमण-काल, युद्ध के सम्भावित स्थलों की समाप्ति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव शैथिल्य पर निर्भरता, एशियाई सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति का प्रयोग न करने की विश्व व्यापी सन्धि, जातिवाद और उपनिवेशवादी शोषण की प्रत्येक व्यवस्था की समाप्ति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक सम्बन्धों में असमानता की अभिव्यक्ति की समाप्ति आदि। 25वीं कांग्रेस के प्रतिवेदन में इन उद्देश्यों को स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए भावी संघर्ष के कार्यक्रम कहा गया है। यह कार्यक्रम सम्पूर्ण मानवता के हित में होने के साथ-साथ विकासशील एवं स्वतन्त्रता प्राप्त देशों के लिए विशेष महत्त्व का है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस
(विदेश नीति के क्षेत्र में पार्टी के तात्कालिक कर्त्तव्य)

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की नियमित 26वीं कांग्रेस 23 फरवरी से 3 मार्च, 1981 तक मास्को में हुई। पार्टी के नियमों में पाँच वर्ष में एक बार कांग्रेस आयोजित करने का प्रावधान है।

1 "The international position of the Soviet Union has never been firmer. We have entered the fourth decade of peace Socialism's positions have grown stronger. Detente has become the leading trend." Quoted by Jagjit Singh Soviet Union in World Affairs. Sterling Publishers, 1977 p. 11-12.

सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महासचिव लियोनिद ब्रेझनेव ने 23 फरवरी, 1981 को सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वी कांग्रेस के लिए तथा गृह और विदेश नीति के क्षेत्र मे पार्टी के तत्कालिक कर्त्तव्यो के बारे मे सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति को रिपोर्ट पेश की। यहाँ इस रिपोर्ट का विदेश नीतिक विवरण प्रस्तुत है।

शान्ति कार्यक्रम का विस्तार

सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महासचिव लियोनिद ब्रेझनेव ने पार्टी को 26वी कांग्रेस मे सोवियत सघ कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की रिपोर्ट पेश करते हुए और गृह तथा विदेश नीति के मामले मे पार्टी के तत्कालिक कर्त्तव्यो की रूपरेखा बताते हुए कहा 'भविष्य की कुन्जी — युद्ध की तैयारियाँ करना नही है, जो जनगण को उसकी भौतिक और आत्मिक सम्पदाओं के निरर्थक विनाश से अभिशप्त कर देती है, बल्कि शान्ति का दृढीकरण करना है।"

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की चर्चा करते हुए उन्होंने युद्ध के खतरे को समाप्त करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ बनाने के लिए नए, अतिरिक्त कदमों की एक सम्पूर्ण शृंखला पेश की।

सोवियत सघ ने पहले ही यह सुझाव दिया कि विश्वास निर्मित करने वाले कदमों का सैनिक क्षेत्र मे भी विस्तार किया जाए। विशेष रूप से उसने यह सुझाव दिया कि नौसैनिक और वायु-सैनिक अभ्यासो की, और बड़े पैमाने पर सैन्य सचालन की पहले से सूचना दी जाए और अब हम यह प्रस्ताव करना चाहते है कि इन उपक्रमो की सीमा को ठोस रूप मे विस्तार प्रदान किया जाना चाहिए। हम इन्हें सोवियत सघ के सम्पूर्ण यूरोपीय भाग मे लागू करने को तैयार हैं, बशर्ते कि पश्चिमी राज्य भी इसी के अनुसार विश्वास के इस क्षेत्र का विस्तार करे।

सोवियत सघ सुदूरपूर्व मे भी इन विश्वास प्रेरक कदमो मे दिलचस्पी रखने वाले सभी देशों के साथ ठोस समझौता-वार्ता चलाने के लिए तैयार है।

सोवियत सघ फारस की खाड़ी क्षेत्र के बारे मे एक स्वतन्त्र समस्या के रूप मे समझौता-वार्ता के लिए तैयार है। निश्चित ही वह अफगानिस्तान को लेकर उत्पन्न स्थिति के एक पृथक् समाधान मे भी हिस्सा लेने के लिए तैयार है—लेकिन हमें अफगानिस्तान की समस्या पर फारस की खाड़ी की सुरक्षा के प्रश्न के साथ-साथ विचार करने पर भी आपत्ति नही है। स्वभावतया यह बात अफगान समस्या के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर लागू होती है, उसके आन्तरिक मामलो पर नही।

सामरिक हथियारो को सीमित करना और उनमे कटौती करना सबसे अहम समस्या है। अपनी ओर से हम इस क्षेत्र मे उपलब्ध सकारात्मक तत्त्वो की रक्षा करते हुए सयुक्तराज्य अमेरिका के साथ सम्बद्ध समझौता-वार्ता तत्काल शुरू करने के लिए तैयार हैं। कहने की आवश्यकता नही कि ये वार्तायें केवल समानता और

समान सुरक्षा के आधार पर हो सकती है। हम ऐसे किसी भी समझौते पर सहमत नही होंगे जो अमेरिका को किसी प्रकार का एकपक्षीय लाभ देने वाला होगा। इस मामले मे किसी तरह का भ्रम नही होना चाहिए।

सोवियत सघ हथियारो के किसी भी प्रकार से परिसीमन पर वार्ता करने के लिए तैयार है। एक समय हमने अमेरिका मे नौसैनिक ट्रिडेण्ट मिसाइल प्रणाली के विकास पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव किया था। इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया गया। परिणामस्वरूप सयुक्त राज्य अमेरिका ने नई ओहियो पनडुब्बी का निर्माण किया है जो ट्रिडेण्ट-1 प्रक्षेप्यस्त्रो से लैस है और एक ऐसी ही शस्त्र प्रणाली ताईफून (तूफान) का हमारे यहाँ भी निर्माण किया गया।

हम नई पनडुब्बियो—अमेरिका की ओहियो पनडुब्बी और वैसी ही सोवियत सघ की पनडुब्बियो की गतिविधियो को सीमित करने के सम्बन्ध मे समझौता करने के लिए तैयार है। हम इन पनडुब्बियो के लिए वर्तमान प्रक्षेप्यास्त्रो के आधुनिकीकरण अथवा नए प्रक्षेप्यास्त्रो के निर्माण पर भी रोक लगाने पर सहमत हो सकते हैं।

हम इस मामले मे समझौता करने का प्रस्ताव करते हैं कि अब यूरोप में नाटो देशो और सोवियत सघ के नए मध्यम परास वाले नाभिकीय के प्रसार को अन्तिम रूप से सीमाबन्दी की जाए, अर्थात् इन हथियारो के परिमाणात्मक और गुणात्मक स्तर मे कोई और वृद्धि न की जाए। स्वभावतया इसके अन्तर्गत इस क्षेत्र म अमेरिका के अग्रिम ठिकानो पर तैनात नाभिकीय हथियार भी आते है।

हम सुझाव देते है कि एक समुचित अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की जाए जो नाभिकीय महाविनाश को रोकने की परम आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाए। इस समिति का गठन विभिन्न देशो के सर्वाधिक प्रख्यात वैज्ञानिको को लेकर किया जाना चाहिए।

हम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे सुधार के सूत्र तलाशने और युद्ध को रोकने के लिए सुरक्षा परिषद् का विशेष अधिवेशन बुलाने का भी सुझाव देते है जिसमे परिषद् के सदस्य देशो के सर्वोच्च नेतागण भाग लें और जाहिर है कि यदि चाहे तो अन्य देशो के नेतागण भी इस अधिवेशन मे भाग ले सकते हैं।

एल. आई. ब्रेझनेव ने कहा कि नए सोवियत प्रस्ताव वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की सबसे ज्वलन्त और सामयिक समस्याओ के बारे मे हमारे शान्ति कार्यक्रम की ही अगली कडी और विकास है।

अपनी रिपोर्ट मे एल. आई. ब्रेझनेव ने इस बात पर जोर दिया कि पिछली कांग्रेस मे जो कर्त्तव्य निश्चित किए गए थे वे कुल मिलाकर, सफलतापूर्वक पूरे हो गए हैं।

हम जिस अवधि की समीक्षा कर रहे है वह अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर विषम और जटिल रही है। इसकी सर्वोपरि विशेषता विश्व घटनाक्रम मे दो नीतियो का तीव्र सघर्ष रही है। इन मे से एक हथियारो की होड पर लगाम लगाने, शान्ति और

तनाव-शैथिल्य को सुदृढ़ करने और राष्ट्रों के सम्प्रभु अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा की नीति रही है तो दूसरी तनाव शैथिल्य को भग करने, हथियारों की होड़ को बढ़ाने, अन्य देशों को धमकी देने तथा उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने और मुक्ति संघर्षों को दबाने की नीति रही है।

जनगण के क्रान्तिकारी संघर्ष के खाते में विजयों की सख्या अधिक रही है। इथोपिया, अफगानिस्तान और निकारागुआ की क्रान्तियों को देखिए। ईरान में जनविरोधी शाही हुकूमत का तख्ता पलट दिया गया। औपनिवेशिक साम्राज्यों का उन्मूलन आठवें दशक में लगभग पूरा हो गया।

एल आई ब्रेझनेव ने कहा कि यह पूरी तरह स्पष्ट हो गया है कि सोवियत सघ और उसके दोस्त आज पहले से कहीं अधिक, शान्ति के प्रमुख रक्षक हैं।

विचारों की मूलभूत समानता

एल आई ब्रेझनेव ने कहा, इन समस्त वर्षों के दौरान पार्टी, उसकी केन्द्रीय समिति और राजनीतिक ब्यूरो ने समाजवादी देशों के साथ और सहयोग को मजबूत बनाने की ओर अविचल रूप से ध्यान दिया है। हम उनके साथ हाथ में हाथ मिला कर एक नई समाजवादी दुनिया का और राज्यों के बीच सचमुच इस प्रकार के न्यायोचित, समान और भ्रातृत्वपूर्ण सम्बन्धों का निर्माण कर रहे हैं जैसा इतिहास में इसके पहले कभी नहीं हुआ है। समाजवादी समुदाय के अन्य देशों—बुल्गारिया, हगरी, वियतनाम, जर्मन जनवादी गणतन्त्र, क्यूबा, लाओस, मगोलिया, पोलैण्ड, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया के साथ हमारे सम्बन्ध इसी भावना के रूप ग्रहण कर रहे हैं।

हमारे बीच सामाजिक और आर्थिक विकास के सभी प्रमुख पक्षों पर और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विचारों की एक मूलभूत एकता स्थापित हो चुकी है। यह हमारी भ्रातृत्वपूर्ण कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच निरन्तर सहयोग और हमारी सामाजिक उपलब्धियों का परिणाम है।

पिछले कुछ वर्ष कुछ समाजवादी राज्यों के राष्ट्र अर्थतन्त्र के सर्वाधिक अनुकूल वर्ष नहीं रहे हैं। फिर भी पिछले दस वर्षों में पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (सी एम ई ए) के देशों में आर्थिक विकास की दरें विकसित पूँजीवादी देशों की अपेक्षा दूनी रही हैं। सी-एम ई ए के सदस्य देश, निरन्तर विश्व के सर्वाधिक गतिशील विकास वाले देश बने रहे हैं।

लियोनिद ब्रेझनेव ने आगे कहा, हमारे सहयोग की प्रक्रिया में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें सयुक्त रूप से सुलझा लिया जाता है और हम मिलजुल कर प्रत्येक बिरादराना देश के हितों को सामान्य हित के साथ समन्वित करने के सबसे सही तरीकों की खोज करते हैं। अन्य बातों के अलावा यह चीज सी एम ई ए देशों द्वारा एक-दूसरे को सप्लाई किए जाने वाले तेल, गैस और अन्य आवश्यक तथा विनिर्मित मालों की कीमतें कम करने पर भी लागू होती है।

ऐसे विशेष अवसर भी आते है जब मित्रो को अत्यावश्यक सहायता की जरूरत पडती है। यही वियतनाम के मामले मे हुआ था जो 1979 मे पीकिंग के बर्बर आक्रमण का शिकार हो गया था। सोवियत सघ तथा समाजवादी समुदाय के अन्य देशो ने उसे तत्काल जहाजो से खाद्य सामग्रियो, दवाओ, भवन निर्माण सामग्री और हथियार भेजे। यह कम्पूचिया के मामले मे भी हुआ जो पीकिंगपरस्त पोल पोत गिरोह द्वारा तबाह कर दिया गया।

लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा कि समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद व्यवहार म यही है। सोवियत जन इस व्यवहार को समझते और उसे अपनी स्वीकृति देते है।

हम पश्चिम के साथ भी व्यापारिक व आर्थिक सम्बन्ध बढाने के पक्ष मे है। यह हम कह सकते है कि एक ऐसा कारक है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे स्थिरता लाता है लेकिन यहाँ हम अन्य बातो के अलावा, पूँजीवादी राज्यो की नीति का लेखा-जोखा लेने के लिए बाध्य हैं। वे बहुधा हमारे साथ अपने आर्थिक सम्बन्धो को हमारे ऊपर राजनीतिक दबाव डालने के एक साधन के रूप मे इस्तेमाल करने की कोशिश करते हैं। क्या विभिन्न समाजवादी देशो के साथ व्यापार मे तरह-तरह के भेदमूलक प्रतिबन्ध और बन्दिशें लगाने से यही स्पष्ट नही होता ?

पौलैण्ड की घटनाओ की चर्चा करते हुए लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा कि जहाँ कही भी साम्राज्यवादी भीतरघाती कार्यवाइयाँ वा, गृह नीति मे गलतियो और गलत आकलनो के साथ मिलान हो जाता है, वही ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं जो समाजवाद के प्रति शत्रुतापूर्ण तत्त्वो को उभारने का मौका देती है। बिरादराना पौलैण्ड मे यही हुआ है, जहाँ समाजवादी राज्य के स्तम्भ खतरे मे पड गए है। पोलिश कम्युनिस्ट, पौलैण्ड की मेहनतकश जनता अपने दोस्तो और मित्र देशो पर दृढतापूर्वक भरोसा कर सकती है।

एल आई ब्रेझनेव ने जोर देकर कहा, हम बिरादराना पौलैण्ड को, समाजवादी पौलैण्ड को उसकी सकट की घडी मे अकेला नही छोडेंगे, हम उसके समर्थन मे खडे होंगे।

पिछली काँग्रेस ने समाजवादी देशो के सह-मिलन की प्रक्रिया को लक्षित किया था। यह प्रक्रिया जारी है लेकिन यह समाजवादी देशो की खास राष्ट्रीय विशेषताओ या उनकी ऐतिहासिक विशिष्टताओ को मिटाती नही है। समाजवादी जीवन पद्धति की स्थापना के नाना मार्गों और विधियो के लिए इनके सामाजिक जीवन और आर्थिक सगठन के विविध रूपो से उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना चाहिए।

वक्ता महोदय ने आगे कहा कि चीन का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। पीकिंग की विदेश नीति मे किसी बेहतर परिवर्तन की बात करने का भी कोई आधार नही है। पहले की भाँति ही यह अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को

बिगाड़ने की ओर उन्मुख है और साम्राज्यवादी शक्तियों की नीति के साथ मेल खाती है।

चीन के साथ अपने सैनिक और राजनैतिक सम्बन्ध बढ़ाने की अमेरिका, जापान और कई नाटो देशों की तत्परता का सीधा कारण यही है कि वे सोवियत संघ और समाजवादी समुदाय के विरुद्ध उसकी शत्रुता को स्वयं अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं।

अगर सोवियत-चीनी सम्बन्ध अभी भी जड़ीभूत बने हुए हैं तो उसका हमारी स्थिति से कुछ भी लेना-देना नहीं है। सोवियत संघ ने न तो चीनी लोक जनतन्त्र के साथ कभी टकराव चाहा है और न अब चाहता है। हम उसी दिशा पर चल रहे हैं जिसका निर्धारण सो. सं. क. पा. की 42वीं कांग्रेस में किया गया था, और उस देश के साथ अपने सम्बन्धों को अच्छे पड़ोसीपन पर आधारित रखना चाहते हैं। चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए अपने प्रस्तावों पर हम अभी भी कायम हैं और चीनी जनता के प्रति हमारी मित्रता और आदर की भावना में कोई परिवर्तन नहीं है।

सोवियत संघ और नवस्वतन्त्र देश

ल्योनिद ब्रेझनेव ने कहा है कि समीक्षाधीन अवधि में पार्टी के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलाप के महत्वपूर्ण परिणामों में हम इस बात का उल्लेख कर सकते हैं कि औपनिवेशिक उत्पीड़न से मुक्त हो चुके देशों के साथ हमारा सहयोग स्पष्ट रूप से विस्तृत हुआ है। अपनी मुक्ति के बाद उनमें से कुछ देश क्रान्तिकारी जनवादी मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं और कुछ में पूँजीवादी सम्बन्धों ने जड़ें जमा ली हैं। उनमें से कुछ सच्ची स्वतन्त्र नीति पर चल रहे हैं जबकि दूसरे आज साम्राज्यवाद की नीति से नेतृत्व ले रहे हैं।

लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा, समाजवाद की दिशा में उन्मुख देशों की, अर्थात् ऐसे देशों की संख्या बढ़ी है जिन्होंने समाजवादी विकास का मार्ग अपनाया है। निश्चित ही प्रगतिशील मार्ग पर अलग-अलग देशों का विकास एक जैसा नहीं है और कठिन परिस्थितियों के अन्तर्गत हो रहा है, फिर भी उनकी मुख्य नीतियाँ समान हैं। इनमें साम्राज्यवादी इजारेदारों की स्थितियों का, स्थानीय बड़े पूँजीपतियों और सामन्ती तत्वों का क्रमश: उन्मूलन और विदेशी पूँजी पर बन्दिशें, आदि शामिल हैं। इनमें जनता के राज्य द्वारा अर्थतन्त्र में प्रमुख स्थान प्राप्त करने का प्रयास और उत्पादक शक्तियों के योजनाबद्ध विकास का रास्ता अपनाना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता आन्दोलन को बढ़ावा देना शामिल है। इन नीतियों में समाज में मेहनतकश अवाम की भूमिका को बढ़ाना और राज्य के तन्त्र को जनता के प्रति वफादार राष्ट्रीय कर्मिदलों में क्रमश: प्रचलित बनाना शामिल है। साथ ही इनमें साम्राज्यवाद-विरोधी विदेश नीति भी शामिल है। इन देशों में मेहनतकश जनता के व्यापक अवाम के हितों को अभिव्यक्त करने वाली क्रान्तिकारी पार्टियाँ मजबूत हो रही हैं।

समीक्षाधीन अवधि में सोवियत संघ ने अंगोला, इथोपिया, मोजाम्बिक, अफगानिस्तान और यमन लोक जनवादी जनतन्त्र के साथ मित्रता और सहयोग की सन्धियाँ सम्पन्न की है। हाल ही में हमने सीरिया के साथ भी मैत्री व सहयोग की सन्धि पर हस्ताक्षर किए है।

नवस्वतन्त्र देशो के साथ हमारे व्यापक परस्पर लाभदायक आर्थिक, वैज्ञानिक और प्राविधिक सहयोग के सम्बन्ध कायम हैं। उनके साथ हमारे सम्बन्धो मे मुख्य जोर इस बात पर होता है कि उन देशो मे किसी न किसी प्रकार के सोवियत सहयोग से बडी परियोजनाओ का निर्माण हो। हाल के वर्षों मे ऐसी अनेक विशाल परियोजनाएँ पूरी हुई हैं और यहाँ तक कि कुछ तो सम्बद्ध देश के अर्थतन्त्र के लिए अति महत्वपूर्ण हैं।

अन्य बिरादराना समाजवादी देशो के साथ हम नवस्वतन्त्र देशो की रक्षा-क्षमता को भी सुदृढ बनाने मे, यदि वे इसका अनुरोध करते है तो, सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए अंगोला और इथोपिया के मामले मे यही हुआ था। इन देशो मे घरेलू प्रतिक्रान्ति को उभार कर या बाहरी आक्रमण द्वारा जनता की क्रान्तियो को नष्ट करने की कोशिशें की गई थी।

लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा, हम क्रान्ति के निर्यात के विरुद्ध हैं, लेकिन हम प्रतिक्रान्ति के निर्यात से भी सहमत नही हो सकते।

साम्राज्यवाद ने अफगान क्रान्ति के विरुद्ध एक वास्तविक, अघोषित युद्ध छेड दिया। इसने हमारे दक्षिणी सीमान्त पर एक प्रत्यक्ष खतरा भी उत्पन्न कर दिया। इन हालात मे हम वह सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य हो गए जो उस मैत्रीपूर्ण देश ने हमसे मांगी थी।

लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा, अफगानिस्तान के शत्रुओ की योजनाएँ विफल हो गई हैं। जहाँ तक सोवियत संघ के सैनिक दस्ते की उपस्थिति का सवाल है हम अफगान सरकार की सहमति से उसे वापस बुलाने के लिए तैयार होगे। लेकिन इसके पहले कि यह किया जाए, अफगानिस्तान मे प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों की घुसपैठ पूरी तरह बन्द हो जानी चाहिए। यह बात अफगानिस्तान और उसके पडोसियों के बीच करारों मे सुनिश्चित होनी चाहिए। इसके लिए भरोसेमन्द गारण्टियों की जरूरत है कि कोई दखलन्दाजी नही की जाएगी। यही सोवियत संघ की बुनियादी स्थिति है और हम इस पर मजबूती से डटे हुए हैं।

ईरान की क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय मच पर घटित हाल के वर्षों की प्रमुख घटना है। उसका एक विशेष स्वरूप है। ईरान की जनता स्वतन्त्रता और समृद्धि का स्वय अपना रास्ता तलाश कर रही है। हम हृदय से उसकी सफलता की कामना करते हैं और उस देश के साथ समानता और निश्चित ही पारस्परिकता के आधार पर अच्छे सम्बन्धों का विकास करने के लिए तैयार हैं।

हाल के वर्षों मे पूर्व के कुछ देशो मे इस्लामी नारो को सक्रियता के साथ प्रोत्साहित किया जा रहा है। हम कम्युनिस्ट लोग इस्लाम या किसी भी अन्य धर्म के

अनुयायियो के धार्मिक विश्वासो का पूरा आदर करते है। मुख्य बात यह है कि विभिन्न नारो को उद्घोषित करने वाली शक्तियाँ किन उद्देश्यो का अनुसरण करती हैं। इस्लाम का परचम मुक्ति संघर्ष की ओर ले जा सकता है। इतिहास ने, बहुत हाल के इतिहास ने भी यह प्रमाणित कर दिया है, लेकिन यह इस बात को भी दिखाता है कि प्रतिक्रिया भी प्रतिक्रान्तिकारी बगावतें भडकाने के लिए इस्लामी नारो को इस्तेमाल करने की दुरभिसन्धि करती है। अन्तत सारी बात किसी आन्दोलन की वास्तविक अन्तर्वस्तु पर निर्भर करती है।

नवस्वतन्त्र देशो के साथ सोवियत सघ के सम्बन्धो मे, एक बडा स्थान, निस्सन्देह भारत के साथ हमारे सहयोग को दिया गया है। हम अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे उस विशाल देश के द्वारा अदा की जाने वाली बढती हुई भूमिका का स्वागत करते हैं। उसके साथ हमारे सम्पर्क लगातार विस्तृत हो रहे है। हमारे दोनो देशो मे सोवियत-भारत मित्रता एक लोकप्रिय परम्परा बन चुकी है जिसकी जडें गहरी है।

हम इण्डोनेशिया और वही नही, वस्तुत एशियान के किसी भी सदस्य देश के साथ मैत्रीपूर्ण सहयोग के सम्बन्धो की स्थापना मे कोई बाधा नही देखते।

अफ्रीका, कैरीबियन और प्रशान्त महासागरीय द्वीपपुञ्ज मे पिछले पाँच वर्षो मे दस नए राज्यो ने स्वतन्त्रता हासिल की है। उन्हे सोवियत सघ ने तत्काल मान्यता प्रदान की। जिम्बाब्वे गणतन्त्र का जन्म, नामीबिया मे और अब दक्षिणी अफ्रीका गणराज्य मे भी मुक्ति सघर्ष का निरन्तर तेज होते जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि 'क्लासिक' उपनिवेशवादियो और नस्लवादियो का शासन अपने खात्मे के नजदीक आ रहा है।

एल आई ब्रेभनेव ने ईरान-इराक युद्ध को दोनो देशो के हितो की दृष्टि से एकदम निरर्थक बताया। साथ ही, उन्होंने कहा कि यह साम्राज्यवाद के लिए जो उस क्षेत्र मे अपनी स्थिति को किसी भी प्रकार फिर से कायम करने के लिए व्यग्र और उत्सुक है, बहुत फायदेमन्द सिद्ध हो रहा है। सोवियत सघ निश्चित ही चाहता है कि यह भ्रातृघाती युद्ध जल्दी खत्म हो।

कैम्प डेविड नीति की अफलता को नोट करते हुए एल. आई ब्रेभनेव ने घोषित किया कि मध्यपूर्व की समस्या का समाधान हासिल करने के क्षेत्र मे मामले को आगे बढाने का यही उचित समय है। समय आ गया है कि एक सर्व-स्वीकृत, न्यायोचित और यथार्थपरक समाधान की ईमानदारी के साथ और सामूहिक रूप से फिर से तलाश शुरू की जाए। उदाहरण के लिए वर्तमान परिस्थितियो मे यह विशेष रूप से आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के ढाँचे के अन्तर्गत किया जा सकता है।

सोवियत सघ ऐसे कार्य मे रचनात्मक भावना तथा स्वेच्छा के साथ भाग लेने के लिए तैयार है। एल आई ब्रेभनेव ने कहा कि हम अन्य सम्बद्ध पक्षो—अरबों (जिनमे निश्चय ही फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन भी शामिल होगा) और इजरायल के साथ संयुक्त रूप से ऐसा करने के लिए तैयार हैं। हम अमेरिका के

साथ मिलकर ऐसे समाधान की तलाश करने के लिए तैयार है। हम यूरोपीय देशों के साथ और उन सबके साथ इस सिलसिले में मध्यपूर्व में न्यायोचित और टिकाऊ शान्ति हासिल करने की सच्ची भावना दर्शाते हैं, सहयोग करने के लिए तैयार हैं।

स्पष्ट ही संयुक्त राष्ट्रसंघ इन सभी में अपनी उपयोगी भूमिका जारी रख सकता है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन जो इस वर्ष अपनी बीसवीं जयन्ती मनाएगा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक महत्त्वपूर्ण कारक रहा है और बना हुआ है। सो स क पा की केन्द्रीय समिति के महासचिव ने जोर देकर कहा कि इसकी शक्ति साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध, युद्ध और आक्रमण के विरुद्ध निर्देशित इसकी नीतियों में निहित है। हमें विश्वास है कि विश्व राजनीति में इसकी भूमिका की और अधिक वृद्धि की कुञ्जी इन बुनियादी सिद्धान्तों के प्रति इसकी निष्ठा ही है और हम इसकी भूमिका में इस वृद्धि का स्वागत करेंगे।

आठवें दशक के मध्य में भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों ने एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का सवाल उठाया था। समता की नीति पर चलते हुए जनवादी आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का पुनर्निर्माण इतिहास के दृष्टिकोण से स्वभाविक है। इस मामले में बहुत कुछ किया जा सकता है और किया जाना चाहिए और निश्चित ही, इस समस्या को जैसा कि कभी-कभी किया जाता है, 'समृद्ध उत्तर' और 'निर्धन दक्षिण' के बीच केवल अन्तर करने तक विकृत नहीं कर देना चाहिए। हम न्यायोचित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना में योगदान करने को तैयार हैं और सचमुच योगदान कर भी रहे हैं।

किसी को इस बात में सन्देह नहीं होना चाहिए कि सो स क पा सोवियत संघ तथा नव-स्वतन्त्र देशों के बीच सहयोग को बढ़ावा देने और विश्व समाजवाद तथा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के बीच एके को मजबूत बनाने की नीति पर चलना अविचल रूप से जारी रखेगी।

विश्व को युद्ध के खतरे से मुक्त करना

पूँजीवादी देशों के साथ सोवियत संघ के सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए दुस्साहसिकता और मानवता के अत्यावश्यक हितों को दाँव पर लगाने की तत्परता—ये तत्त्व अधिक आक्रामक साम्राज्यवादी गुटों की नीति में विशेष रूप से खुले तौर पर सामने आए हैं। राष्ट्र के अधिकारों और आकांक्षाओं के लिए असीम घृणा के साथ वे अवाम से मुक्ति संघर्ष को 'आतंकवाद' के रूप में चित्रित करने की कोशिश कर रहे हैं। सच कहा जाए तो वे वह हासिल करना चाहते हैं जो हासिल हो नहीं किया जा सकता—अर्थात् यह कि वे विश्व के प्रगतिशील रद्दोबदल के रास्ते में दीवार खड़ी करना और एक बार फिर जनगण के भाग्यविधाता बन जाना चाहते हैं।

साम्राज्यवादी क्षेत्र दूसरे राज्यों और जनगण के बारे में प्रभुत्व और जबरिया दबाव डालने के दृष्टिकोण से सोचते है।

इजारेदारियों को दूसरे देशों के तेल, यूरेनियम और अलौह धातुओं की जरूरत है—और तब तुरन्त ही मध्यपूर्व, अफ्रीका और हिन्द महासागर संयुक्तराज्य अमेरिका के 'मुख्य हितों' के क्षेत्र घोषित कर दिए जाते हैं। अमेरिकी सैनिक तन्त्र सरगर्मी के साथ इन क्षेत्रों में पैठता जा रहा है और वहाँ लम्बे अर्से तक के लिए इतमीनान से टिक जाना चाहता है। हिन्द महासागर में डियागो गार्सिया, ओमान, केनिया, सोमालिया, मिस्र—इसके बाद अब वे और कहाँ अपने पैर जमाना चाहते हैं ?

इसे उचित ठहराने के उद्देश्य से मध्यपूर्व की तेल सम्पदा या तेल परिवहन मार्गों के लिए 'सोवियत खतरे' की झूठी कहानी फैलाई जा रही है। यह जानबूझ कर गढ़ी गई एक नकली कपोल-कल्पना है, क्योंकि इसके रचयितागण अच्छी तरह जानते हैं कि सोवियत संघ न तो मध्यपूर्व की तेल सम्पदा को और न ही तेल-परिवहन मार्गों को हड़पने का कोई इरादा रखता है। इस विषय में, ऐसा सोचना निरर्थक है कि पश्चिम के तेल हितों की 'रक्षा' उस क्षेत्र को बारूद का ढेर बना कर की जा सकती है।

नहीं, फारस की खाड़ी तथा इसके निकटवर्ती स्थानों में शान्ति को सुनिश्चित बनाना वास्तव में कैसे सम्भव है, इस सम्बन्ध में हमारे विचार बिल्कुल भिन्न हैं। वहाँ पर नित नए नौ-सैनिक तथा वायु सेना निर्माणों, फौजी टुकड़ियों तथा शस्त्रास्त्रों के एकत्र किए जाने के बदले एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता सम्पन्न करके हम इस क्षेत्र में खतरे को समाप्त करने का प्रस्ताव करते हैं। सभी पक्षों के न्यायोचित हितों को ध्यान में रखते हुए संयुक्त प्रयत्नों द्वारा इस क्षेत्र में स्थायित्व तथा शान्ति की परिस्थिति का निर्माण सम्भव है। इस क्षेत्र के राज्यों के सम्प्रभु अधिकारों तथा जहाजरानी और इस क्षेत्र को संसार के शेष भाग से जोड़ने वाले अन्य मार्गों की सुरक्षा की गारण्टी देना सम्भव है। सोवियत संघ द्वारा हाल में प्रस्तुत किए गए प्रस्तावों का यही सारतत्व है।

इस पहल को संसार में, विशेष रूप से फारस की खाड़ी के अनेक राज्यों का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है।

एल. आई. ब्रेझनेव ने कहा कि अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धों के मामले में हम इन सारे वर्षों के दौरान पहले की भाँति सिद्धान्तनिष्ठ और रचनात्मक नीति पर चलते रहे हैं। यह दुःख की बात है कि वाशिंगटन के पिछले प्रशासन ने सम्बन्धों को विकसित बनाने या पारस्परिक सद्भावना की जगह किन्हीं अन्य बातों पर दाँव लगाया था।

दुर्भाग्य से ह्वाइट हाउस में नेतृत्व परिवर्तन के बाद भी वाशिंगटन से स्पष्ट रूप से युद्धप्रिय नारे और वक्तव्य घोषित किए जा रहे हैं, जो ऐसा प्रतीत होता है, कि हमारे देशों के बीच सम्बन्धों के वातावरण को विषाक्त बनाने के लिए खासतौर पर तैयार किए गए हैं।

लेकिन हम यह आशा करना चाहेगे कि जो लोग आज अमेरिका की नीतियाँ निर्धारित कर रहे है, वे तथ्यो को अधिक यथार्थपरकता के साथ देख सकेगे। सोवियत सघ तथा अमेरिका के बीच, वारसा सन्धि और नाटो के बीच विद्यमान सैनिक और रणनीति सन्तुलन वस्तुपरक रूप से विश्व शान्ति का एक रक्षक प्रहरी है। हमने दूसरे पक्ष पर न तो कभी सैनिक श्रेष्ठता हासिल करने की कोशिश की है और न करते है। एल आई ब्रेझनेव ने कहा, यह हमारी नीति नही है लेकिन हम किसी को अपने मुकाबले मे इस श्रेष्ठता का निर्माण भी नही करने देंगे। ऐसी कोशिशें और हमसे शक्ति की स्थिति से बात करना एकदम फिजूल है।

एल आई ब्रेझनेव ने पश्चिमी देशो से 'सोवियत खतरे' के जीर्ण-शीर्ण होने को गम्भीर राजनीति की परिधि से निकाल फेंकने का आग्रह किया। चाहे हम यूरोप मे सामरिक नाभिकीय अस्त्रो को, दोनों ही मामलो को दोनो पक्षों को एक-दूसरे के मुकाबले अधिकतम समता हासिल है।

अमेरिका के लिए भी उसी तरह युद्ध का खतरा मौजूद है जिस तरह कि विश्व के अन्य सभी देशो के लिए, लेकिन यह खतरा सोवियत सघ से नही उत्पन्न होता और न ही किसी काल्पनिक सोवियत सैनिक श्रेष्ठता से उत्पन्न होता है, बल्कि यह हथियारों की उस होड और तनाव से उत्पन्न होता है जो विश्व में अभी भी कायम है। हम किसी काल्पनिक नही, बल्कि इस सच्चे खतरे का अमेरिका के साथ, यूरोपीय देशों के साथ और विश्व के सभी देशो के साथ हाथ मे हाथ मिलाकर मुकाबला करने के लिए तैयार है।

एल आई ब्रेझनेव ने आगे कहा कि हम इस सम्बन्ध मे सम्वाद करने के लिए तैयार हैं।

एल आई ब्रेझनेव ने सोवियत सघ और अनेक पश्चिमी देशो, फ्रांस, जर्मन सघ गणराज्य, इटली, ब्रिटेन, जापान आदि के साथ विकसित होते सम्बन्धों के चरित्र की विशेष रूप से चर्चा की।

लियोनिद ब्रेझनेव ने आगे कहा कि यूरोपीय मामलो की चर्चा करते हुए हमे यूरोप की शान्ति के लिए उत्पन्न हो गए नए और गम्भीर खतरे की उपेक्षा नही करनी चाहिए। यह सबसे पहले पश्चिमी यूरोप मे नए अमेरिकी प्रक्षेप्यास्त्र रखने के नाटो के निर्णय मे सम्बन्धित है। यह निर्णय किसी काल्पनिक सोवियत चुनौती के 'जवाब' म नही है और न ही यह शस्त्रागारो का कोई सामान्य आधुनिकीकरण है, जैसा कि पश्चिम हमें विश्वास दिलाना चाहेगा। यह यूरोप के विद्यमान सैनिक सन्तुलन को नाटो के पक्ष मे झुकाने के सुस्पष्ट इरादे का सूचक है।

वक्ता महोदय ने जोर देकर कहा कि विश्व घटनाक्रम मे मैक्सिको, ब्राजील, अर्जेण्टाइना, वेनेजुएला और पेरू आदि लेटिन अमेरिकी देशो की भूमिका बहुत बढ गई है। हमें यह लक्षित करते हुए खुशी हो रही है कि लेटिन अमेरिकी देशो के साथ सोवियत सघ के परस्पर लाभदायक सम्बन्ध विस्तृत हुए हैं और हम इनमें और अधिक विस्तार करने रहने के लिए तैयार है।

एल. आई. ब्रेझनेव ने हथियारों की होड के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक आवाज बुलन्द की। उन्होंने कहा कि इस होड का कोई भी नया चरण अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व को छिन्न-भिन्न कर देगा और एक नए युद्ध का खतरा बहुत अधिक बढा देगा।

एल. आई. ब्रेझनेव ने पेंटागन द्वारा पश्चिमी यूरोप मे न्यूट्रान हथियारो को रखने की कोशिशो की चर्चा करते हुए घोषित किया अपनी ओर से सोवियत सघ इस बात की पुन पुष्टि करता है कि यदि ये हथियार किसी दूसरे देश मे प्रकट न हों तो सोवियत सघ उनका निर्माण कभी आरम्भ नही करेगा और इन हथियारो पर सदा सर्वदा के लिए प्रतिबन्ध लगाने का समझौता सम्पन्न करने के लिए तैयार है।

एल. आई. ब्रेझनेव ने जोर देकर कहा कि 'हमारी पार्टी के लिए, हमारी जनता के लिए और वस्तुत विश्व के समस्त जनगण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर शान्ति की रक्षा करने से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई कार्य नही।"

सोवियत विदेश नीति के वर्तमान मोड़ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिणाम हैं। इन परिस्थितियों की मुख्य बातें हैं–अमेरिका की हिन्द चीन के देशो से वापसी, दक्षिण-पूर्व एशिया मे युद्ध के तनावपूर्ण क्षेत्रो की समाप्ति, इन क्षेत्र मे शान्तिपूर्ण स्थिति का स्थायित्व, अरब-इजरायल, विवाद, नवोदित राज्यो की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता की रक्षा, द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप मे आए परिवर्तनो की अन्तिम रूप से मान्यता, यूरोप महाद्वीप मे तनाव-शैथिल्य और शान्तिपूर्ण सहयोग की दिशा मे प्रगति, अणु हथियारो के नियन्त्रण सम्बन्धी अनेक समझौते, सोवियत सघ और पश्चिमी राज्यो के सम्बन्धों मे क्रान्तिकारी प्रगति आदि।



Appendix—C

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति के कुछ पहलुओं पर सोवियत दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति महाशक्तियों के दृष्टिकोण से निरन्तर प्रभावित होती रहती है। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर सोवियत संघ का अविकृत दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले निम्न लेख उद्धृत कर रहे हैं—

(A) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य उपादान (एन. सिमोनिया)
(B) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन—शान्ति और प्रगति के संघर्ष में स्वाभाविक मित्र (वी पोलेंविन)
(C) अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा विकासमान देश सोवियत दृष्टिकोण (के ब्रूतेन्त्स)
(D) मध्य पूर्व समस्या के निपटारे के बारे में सोवियत संघ के प्रस्ताव
(E) सोवियत नीति की अविचलता (निकोलाई आबोतोव)
(F) नवोदित राज्यों मित्र और शत्रु (व्सेवोलोद ओवचिन्निकोव)

(A) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य उपादान
—एन सिमोनिया (फरवरी, 1983)

इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक मुख्य उपादान बन चुका है। गुट-निरपेक्ष देशों में इस समय संयुक्त राष्ट्र के लगभग एक-तिहाई सदस्य सम्मिलित हैं तथा इनके समर्थन के बिना संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सकता।

विश्व में दर्जनों नवोदित स्वाधीन राज्यों के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप सातवें दशक के आरम्भ में इस आन्दोलन की शुरुआत होने के बाद से गुट निरपेक्ष आन्दोलन

में सम्मिलित देशों ने सम्मिलित प्रयासों से अपनी स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की रक्षा करने तथा साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नस्लवाद के विरुद्ध, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने के लिए संघर्ष में योग देने के अपने दृढ़ संकल्प को प्रदर्शित किया है।

आठवाँ दशक इस आन्दोलन में गुणात्मक परिवर्तनों की अवधि सिद्ध हुआ। प्रथमतः इन्हीं वर्षों में यह अपनी संरचना की दृष्टि से एक वास्तविक भू-मण्डलव्यापी आन्दोलन बना, जबकि लुसाका (सितम्बर, 1970) में गुट-निरपेक्ष देशों के राज्याध्यक्षों और शासनाध्यक्षों के तृतीय सम्मेलन में 54 देशों के प्रतिनिधियों और नौ प्रेक्षकों ने भाग लिया था, तब हवाना (सितम्बर, 1979) में छठे सम्मेलन में इस आन्दोलन के सहभागियों की संख्या बढ़ कर 94 हो गई। इस सम्मेलन में 20 देशों, अन्तर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठनों के प्रतिनिधियों ने भी प्रेक्षकों के रूप में तथा 10 देशों और संगठनों के प्रतिनिधियों ने अतिथियों के रूप में भाग लिया था। इस आन्दोलन में लगभग सभी महाद्वीप सम्मिलित हैं।

द्वितीयत, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की साम्राज्यवाद-विरोधी प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट हो गई है। चौथे सम्मेलन (अल्जीयर्स, 1973) से शुरू करके यह आन्दोलन आर्थिक क्षेत्र में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष पर जोर दे रहा है और इसने एक 'नई विश्व आर्थिक व्यवस्था' की स्थापना के बारे में संघर्ष का कार्यक्रम तैयार कर लिया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जो माँगें पेश की गई हैं वे मुख्यतया विकासमान देशों द्वारा उन विकसित पूँजीवादी देशों के प्रति सम्बोधित हैं जो अपने वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों में नव-उपनिवेशवादी तरीकों का इस्तेमाल कर रही हैं।

तृतीयत, आन्दोलन की संगठनात्मक संरचना में सुधार है। पहले केवल सम्मेलनों के दौरान और सम्मेलनों की तैयारी की अवधियों के दौरान ही यह एक संगठित शक्ति के रूप में काम करता था। आठवें दशक में आन्दोलन के सदस्य देशों की गतिविधि, जिसमें संयुक्त राष्ट्र सम्बन्धी गतिविधि भी सम्मिलित है, के समन्वयन के लिए एक समन्वय ब्यूरो स्थापित किया गया, जिसका मुख्यालय संयुक्त राष्ट्र में ही स्थित है।

इस आन्दोलन के विकास का और साथ ही उसके गम्भीर परीक्षण का एक महत्वपूर्ण मार्गचिह्न था 1979 का हवाना सम्मेलन। इस सम्मेलन में इस आन्दोलन ने अपने मुख्य सिद्धान्तों की पुनः पुष्टि की तथा अपनी साम्राज्यवाद-विरोधी रुझान को काफी गहरा और सघन बना लिया। इस सम्मेलन द्वारा स्वीकृत अन्तिम दस्तावेज के राजनीतिक अनुभाग में जोर दिया गया है कि गुट-निरपेक्ष नीति के मूल सिद्धान्तों और मुख्य चरित्र के अनुसार इसका सारतत्व है साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद, रंगभेद और नस्लवाद तथा जियनवाद के विरुद्ध संघर्ष तथा तथा आक्रमण, आधिपत्य, प्रभुत्व, हस्तक्षेप या अधिनायकता के सभी रूपों के विरुद्ध और महाशक्तिवादी एवं गुटवादी नीतियों के विरुद्ध संघर्ष। अन्तिम दस्तावेज के आर्थिक अनुभाग में विकासशील देशों के अपने प्राकृतिक संसाधनों पर, विशेष

रूप से इनके खनन, निर्माण, मूल्य-निर्धारण और बिक्री सम्बन्धी उनके अनन्य अधिकार की पुनः पुष्टि की गई। घोषणा-पत्र में साम्राज्यवाद द्वारा विकासमान देशों के प्राकृतिक ससाधनों की निर्मम लूट की जोरदार ढंग से भर्त्सना की गई तथा इस बात को दोहराया गया कि इन देशों को अपने ससाधनों पर नियन्त्रण रखने और इनकी हिफाजत करने का पूरा अधिकार है जिसमें बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के उद्यमों का राष्ट्रीयकरण करने तथा उनके साथ हुए अनुबन्धों को रद्द करने का अधिकार सम्मिलित है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की पचमेल सरचना को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता जो इसके विकास के कुछ चरणों में कठिनाइयों और बाधाओं का कारण भी बन जाती है। बात यह है कि इस आन्दोलन के सदस्य देशों में भिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों वाले राज्य सम्मिलित हैं, जिनमें समाजवादी जनतन्त्रों से लेकर पूर्ण राजतन्त्र तक शामिल हैं। इस आन्दोलन के विकास का गतिविज्ञान ही ऐसा है कि यह जितना ही व्यापक होता जाता है, उतने ही विविध प्रकार के सामाजिक दृष्टिकोणों का इसमें प्रतिनिधित्व बढ़ता जाता है। इन स्पष्ट कठिनाइयों और विरोधाभासों का लाभ उठाकर समाम्राज्यवादियों द्वारा इसे आन्दोलन की नीतियों में भीतरघात करने तथा इसके साम्राज्यवाद-विरोधी स्वरूप को कम करने की भरसक कोशिशें की जा रही हैं। ऐसे सिद्धान्त पेश किए जाते हैं जिनमें सोवियत सघ और अमेरिका से 'समान दूरी' बनाए रखने की बात की जाती है, तथा इस आन्दोलन को एक ऐसी तृतीय शक्ति का रूप दे देने के उद्देश्य से विचारों का प्रचार किया जाता है जिससे साम्राज्यवादी प्रचार समाजवाद और साम्राज्यवाद दोनों का ही समान रूप में विरोधी बताने की कोशिश करता है। साम्राज्यवादी और समाजवादी राज्यों को एक समान बताने की ये कोशिशें गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की आधारभूत अवधारणाओं तथा इसके दस्तावेजों की भावना और उनके मूल स्वरूप के ही विपरीत हैं।

वास्तविकता यह है कि सच्ची साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों के लिए 'समान दूरी' बनाए रखने का तात्पर्य होगा समाजवादी समुदायों के देशों से दूर हट जाना और सघर्ष में अपने सहयोगियों के साथ सम्बन्धों को कमजोर बना देना और यह नव-उपनिवेशवाद के हितों के पूर्णत अनुकूल सिद्ध होगा। जहाँ तक उन रूढ़िवादी ताकतों का प्रश्न है जो लम्बे समय से ऐसा समझती आ रही हैं कि उनके हित और विकसित पूँजीवादी देशों के सत्ताधारी अंचलों के हित समान हैं, लेकिन जो यह महसूस करती हैं कि वे अभी इन देशों का 'समान साझीदार' बन सकने के लिए पर्याप्त मात्रा में मजबूत नहीं हैं, उनके लिए गुट-निरपेक्षता के आधार पर 'समान दूरी' वाला सिद्धान्त एक सुविधापूर्ण कार्यनीति के समान है तथा उनके अपने लिए एक प्रकार के 'प्रति-सन्तुलन' को हासिल करने का एक साधन है।

'नकारात्मक तटस्थता' की धारणा, अर्थात् हथियारों की होड़ के विरुद्ध, निरस्त्रीकरण और तनाव में कमी के लिए सघर्ष के समान विश्वव्यापी महत्व की

समस्याओं के समाधान मे सहभागी बनने से इन्कार करने की धारणाओं मे भी वह 'समान दूरी' वाला सिद्धान्त एक विशिष्ट रूप मे प्रतिबिम्बित होता है। इसे सही सिद्ध करने के लिए इस आशय की दलीलें दी जाती हैं जैसे 'पहले विकास की जरूरत है और निरस्त्रीकरण से बाद मे निपटा जा सकता है', या 'निरस्त्रीकरण से विकासमान देशों का शायद ही कोई लाभ होगा', अथवा 'यह तो महाशक्तियों का मामला है' आदि। लेकिन विकास और निरस्त्रीकरण का अन्त सम्बन्ध ऐसा है कि निरस्त्रीकरण के बिना विकास अपने ऐतिहासिक अर्थ को ही खो देता है। हथियारों की होड़ को खत्म किए बिना और निरस्त्रीकरण के बिना विकास की कोई सम्भावना नही है क्योकि ताप-नाभिकीय विश्व-युद्ध होने पर विकास के परिणामों का लाभ उठाने के लिए कोई बाकी नही बचा रह सकेगा। इसलिए निरस्त्रीकरण का समस्त मानवजाति से सम्बन्ध है, और किसी भी राष्ट्र को इसका अधिकार नही है कि वह इस समस्या के समाधान से अपने आप को अलग-थलग बनाए रखे।

भारत की भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने एक वक्तव्य मे निरस्त्रीकरण और विकास के अन्त सम्बन्ध पर जोर दिया था। उन्होंने सितम्बर, 1982 मे सोवियत सघ की अपनी यात्रा के ठीक पहले एक सोवियत सवाददाता के साथ भेंट-वार्ता के दौरान कहा था कि "मेरे विचार मे हर एक को इसमे सहमत होना चाहिए कि ससार के लिए शान्ति परमावश्यक है, और केवल एक उच्च आदर्श के रूप मे नही बल्कि इस व्यावहारिक कारण से भी हम सभी विकास मे लगे हुए हैं और यह बात हम विकासशील देशो पर ज्यादा लागू होती है। बल्कि मैं तो समझती हूँ कि औद्योगीकृत देशो के लिए भी यही सही है। युद्ध हमेशा ही एक बड़ा भयानक मामला होता है, और अब जब कि नाभिकीय और अन्य शक्तिशाली हथियारो का आविष्कार किया जा चुका है, इसमें मानवजाति का ही अन्त हो सकता है। इसलिए शान्ति और तनाव-शैथिल्य भी, जो शान्ति की प्राप्ति मे सहायक होता है, हमारे लिए परमावश्यक है।"

निरस्त्रीकरण और विकास के अन्त सम्बन्ध के प्रश्न का एक अन्य महत्त्वपूर्ण हालांकि अधिक सीमित पक्ष भी है। वह यह कि विकास के लिए वित्तीय और आर्थिक साधनों और समाधनों तथा अतिरिक्त तकनीकी सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त हो जाता है बशर्ते कि निरस्त्रीकरण की दिशा मे सारतत्व का कदम आगे बढ़ाया जाए। यह निस्सन्देह उन सभी राज्यो के, जो हथियारों की होड़ का मुख्य भार उठा रहे है तथा उन विकासमान देशो के हित मे है, जिन्हे सहायता के नए ससाधनों तथा सहयोग के नए स्वरूपों की बहुत ज्यादा जरूरत है। उपलब्ध आँकड़ो से एक नई और खासी चिन्तनीय प्रवृत्ति स्पष्ट होती है विश्व के सैनिक व्यय मे विकासमान देशों के अश मे होने वाली तीव्र वृद्धि—1955 के 3 3 प्रतिशत से 1970 के 7 2 प्रतिशत तथा 1980 के 16 1 प्रतिशत तक।

वास्तव मे विश्व के सैनिक व्यय का 16 प्रतिशत अपने आप मे एक विशाल

राशि है। यहाँ यह भी उल्लेख किया जाना चाहिए कि विकासमान देशों के लिए, जो पिछड़ेपन और गरीबी से पीड़ित हैं और जिनके लाखों-करोड़ों लोग भूखों मर रहे हैं, तथा जहाँ भौतिक और वित्तीय समाधनों का अभाव है, विश्व के सैनिक व्यय का एक प्रतिशत भी किसी भी हालत में अत्यधिक विकसित देशों के बराबर नहीं हो सकता। इसके अलावा यह एक तथ्य है कि ढाई दशकों से इस व्यय में विकासशील देशों का अंश बराबर बढ़ता ही जा रहा है और 1981-82 के आँकड़ों को देखते हुए यह प्रवृत्ति अब भी बराबर जारी है। विकासमान देश अब विश्व बाजार में हथियारों के मुख्य खरीददार बन गए हैं, उनकी नियमित सशस्त्र सेनाओं में सैनिकों की संख्या संसार के सैनिकों की संख्या का 38 प्रतिशत है। 1980 में उनका सैनिक व्यय 73 अरब डॉलर से भी ज्यादा था। इन तथा अन्य आँकड़ों से जाहिर है कि हथियारों की यह 'छोटे पैमाने पर होड़' विकासमान देशों के लिए बहुत खर्चीली सिद्ध हो रही है तथा उनके सामाजिक और आर्थिक विकास को बहुत हानि पहुँच रही है।

यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि हथियारों की होड़ के परिसीमन और तदन्तर निरस्त्रीकरण से न केवल भौतिक और मानव-शक्ति सम्बन्धी ससाधनमुक्त हो सकेंगे बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की सम्भावनाएँ भी बहुत अधिक बढ़ सकेंगी जिससे विकासमान देश भी लाभान्वित होंगे। यही नहीं, इससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति में परिवर्तन की सम्भावनाएँ भी बढ़ेंगी।

सोवियत संघ और समाजवादी समुदाय के अन्य देश भिन्न समाज व्यवस्थाओं वाले राज्यों के शान्तिपूर्ण सहजीवन के तथा इनके मध्य न्यायोचित और समुचित आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की स्थापना के प्रबल समर्थक हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की माँग को समाजवादी संसार की पूरी सद्भावना प्राप्त है। इसके साथ ही जैसा कि सोवियत सरकार के 3 अक्तूबर, 1976 के उस वक्तव्य में जिसे संयुक्त राष्ट्र महासभा के 31वें अधिवेशन में आधिकारिक दस्तावेज के रूप में वितरित किया गया था, कहा गया है, विकसित पूँजीवादी राज्यों के प्रति विकासमान देशों द्वारा जो दावे पेश किए जाते हैं वैसे ही दावे सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों के प्रति पेश करना सही नहीं है। इन दावों को सर्वोपरि उस क्षति की पूर्ति के रूप में जो भूतपूर्व शासक देशों द्वारा औपनिवेशिक शोषण के जरिए अफ्रीकी-एशियाई और लेटिन अमेरिकी देशों को पहुँचाई गई है, तथा विकासमान देशों की उस क्षति की पूर्ति के रूप में ही माना जाना चाहिए जो असमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के फलस्वरूप और बहुराष्ट्रीय निगमों की हरकतों के फलस्वरूप हुई है।

सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देश दर्जनों विकासमान देशों को आधारभूत सहायता प्रदान कर रहे हैं, और इस प्रकार उनके स्वाधीन राष्ट्रीय अर्थतन्त्रों के सुदृढ़ीकरण को बढ़ावा दे रहे हैं तथा मुख्य सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान में उनकी मदद कर रहे हैं।

सोवियत संघ गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य उपादान मानता है तथा विश्व राजनीति में गुट निरपेक्ष देशों की बढ़ती हुई भूमिका और उनके कार्यकलाप का स्वागत करता है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के 22 नवम्बर, 1982 के पूर्णाधिवेशन में बोलते हुए पार्टी की केन्द्रीय समिति के महासचिव यूरी आन्द्रोपोव ने कहा था— 'राज्यों के उस समूह का जिसने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को शुरू किया था, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इनमें अनेक के साथ सोवियत संघ के चौमुखी मैत्री सम्बन्ध कायम हैं जो दोनों ही पक्षों के लिए लाभप्रद हैं और संसार में स्थायित्व को और अधिक दृढ़ कर रहे हैं। इसका एक उदाहरण है भारत के साथ सोवियत संघ का सम्बन्ध। उन राज्यों के साथ जिन्होंने औपनिवेशिक उत्पीड़न से मुक्ति हासिल कर ली है, उन लोगों के साथ जो अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर रहे हैं, एकजुटता सोवियत विदेश नीति का एक आधारभूत सिद्धान्त रहा है और आज भी बरकरार है।"

(B) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन : शान्ति और प्रगति के संघर्ष में स्वाभाविक मित्र —वी शेलेपिन (फरवरी, 1983)

आज गुट-निरपेक्ष आन्दोलन विश्व में एक सबसे बड़ी और प्रभावशाली शक्तियों में है जिसमें लगभग 100 देश और संगठन शामिल हैं जिनकी आबादी डेढ़ अरब से अधिक है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का, विश्व की परिस्थिति को स्थिर रखने और साम्राज्यवादियों के अधिनायकत्व की तथा विद्यमान जगत् सहित विभिन्न क्षेत्रों में साम्राज्यवादी जोर-जबरदस्ती लादने की योजनाओं के कार्यान्वयन को नाकाम करने का महत्त्वपूर्ण कारक बन चुका है। आज गुट-निरपेक्ष आन्दोलन साम्राज्यवादियों द्वारा तेज की जा रही हथियारों की होड़ के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण कारक है, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए संघर्ष का एक कारक है।

गुट-निरपेक्ष देश उन ताकतों के षड्यन्त्रों का अधिकाधिक दृढ़ता के साथ मुँहतोड़ जवाब देते हैं जो विश्व को ताप-नाभिकीय युद्ध की खाई में धकेल रहे हैं। फरवरी, 1981 में नई दिल्ली में आयोजित गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन का उद्देश्य नाभिकीय हथियारों की होड़ को रोकने के आन्दोलन के प्रयासों को समन्वित करना और अन्ततः राज्यों के शस्त्रागारों से नाभिकीय हथियारों का पूरी तरह हटाया जाना सुनिश्चित करना था। संयुक्त राष्ट्र महासभा के 37वें अधिवेशन में गुट-निरपेक्ष देशों ने ठीक यही रुख अपनाया। सोवियत संघ, भारत आदि देशों की पहल का समर्थन गुट-निरपेक्ष देशों ने किया पर अमेरिका और नाटो के दूसरे सदस्यों ने उसके प्रति उदासीन रुख अपनाया।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना को सर्वोच्च महत्त्व देता है। दृढ़तापूर्वक मांग करता है कि बहुराष्ट्रीय इजारेदारियों के मनमाने शासन पर रोक लगाई जाए जो नवोदित राज्यों के प्राकृतिक ससाधनों को लूट रहे हैं और उनकी जनता का निर्ममतापूर्वक शोषण करते है। इन ममलों का सर्वांगीण रूप मे विश्लेषण मार्च, 1981 में हवाना में आयोजित आन्दोलन के समन्वित ब्यूरो के सम्मेलन में किया गया। अन्तिम दस्तावेजों में न केवल विकासमान देशों में इजारेदारी पूंजी की खतरनाक घुसपैठ का उल्लेख किया गया है, बल्कि विकासमान देशों के बीच आर्थिक सम्पर्क के बहुमुखी सवर्द्धन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। जहाँ तक सोवियत सघ और दूसरे सभी समाजवादी देशों का सम्बन्ध है तो इजारेदारियों की जोर-जबर्दस्ती के विरुद्ध सघर्ष में विकासमान देशों का साथ देते रहे हैं और आज भी दे रहे हैं। इसके अलावा इसका भी बारम्बार उल्लेख किया गया है कि वे अपनी प्रतिष्ठा और सहायता से ऐसी स्थितियाँ निर्मित करते है जिनमें नवोदित राज्यों के लिए पश्चिमी देशों से पारस्परिक विनिमय की अधिक अच्छी शर्तें पाना आसान हो जाता है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की स्थितियों के राजनीतिक और आर्थिक विश्लेषण से यह पता चलता है कि समकालिक समस्याओं पर गुट-निरपेक्ष देशों और समाजवादी देशों के रुखों के बीच व्यापक एकरूपता या सदृश्यता है। वास्तव में विश्व के एक मच पर यह महत्त्वपूर्ण हितों की सर्वतोमुखी एकरूपता है।

साम्राज्यवाद इस प्रकार की दोस्ती को पसन्द नहीं करता है जो गुट-निरपेक्ष देशों और समाजवादी देशों की स्थिति को अत्यधिक मजबूत कर देती है। इसलिए यह न केवल गुट निरपेक्ष आन्दोलन को बल्कि प्रथमतया शान्ति, राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक प्रगति की शक्तियों की दोस्ती को तोड़ने की कोशिश कर रहा है जो अन्तर्राष्ट्रीय मच पर उभर आई है। इस दोस्ती को खत्म करने के लिए आर्थिक दबाव, राजनीतिक धौंस-पट्टी और परिष्कृत विचारधारात्मक कार्रवाई के तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है।

सोवियत सघ और दूसरे समाजवादी देश गुट-निरपेक्षता के विचार का समर्थन करते हैं। समाजवादी देशों ने सैनिक, राजनीतिक गठबन्धन को एक साथ खत्म करने का प्रस्ताव बार-बार पेश किया है। इस दिशा में पहले कदम के रूप में उन लोगों ने सुझाव दिया है कि मौजूदा गुटों में नए सदस्य नहीं भर्ती किए जाएँ और न उनके कार्यक्षेत्र विस्तृत किए जाएँ। लेकिन साम्राज्यवादी इस रचनात्मक प्रस्ताव के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया दिखलाने के विपरीत नाटो के नए सदस्य शामिल करने, उत्तरी अतलांतिक से बहुत दूर तक उसका कार्य-क्षेत्र फैलाने, और नाटो जैसे नए फौजी-राजनीतिक समूह स्थापित करने (दक्षिण अतलांतिक सन्धि सगठन) के लिए कदम उठा चुके है। इसने नए रूप में सीएटो और सेन्टो जैसे गठबन्धनों को पुनरुज्जीवित किया है जो मृतप्राय हो चुके थे।

ईरान-ईराक झगड़े, अफगानिस्तान में सम्पन्न अप्रैल-क्रान्ति और उसे सोवियत

संघ द्वारा दी गई अन्तर्राष्ट्रीयतावादी सहायता के साथ ही कम्पूचिया की घटना के प्रति सदस्य देशों के अलग-अलग दृष्टिकोण तथा आन्दोलन की सामाजिक विविधता का इस्तेमाल करते हुए गुट निरपेक्ष आन्दोलन के शत्रु पुन: उसमें फूट डालने और उसे खत्म करने की कोशिश कर रहे हैं। वे आन्दोलनों के अन्दर विभिन्न रुझानों में मतभेद और असहमति को बढ़ावा देने की योजना तैयार करते हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसके विघटन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पर ये आंकलन भ्रमपूर्ण हैं। इस आन्दोलन के अनेकानेक निर्णयों में एकता के लिए सैन्यवाद का सामूहिक रूप से मुँहतोड़ जवाब देने और युद्ध को टालने के लिए प्रयत्नों की अभिव्यक्ति हुई और प्रथमतया दिल्ली में शिखर सम्मेलन आयोजित करने के सर्वसम्मत निर्णय में उसकी अभिव्यक्ति हुई है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा कि कुछ उन समस्याओं पर सर्वसम्मति हासिल की जा सकती है जो आन्दोलन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और "हम लोग विश्व-शान्ति कायम रखने के पक्षधर हैं।"

इस दृष्टिकोण का सोवियत संघ ने पूरा समर्थन किया है। सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महासचिव यूरी आन्द्रोपोव ने नवम्बर, 1982 में आयोजित सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के पूर्णाधिवेशन में कहा, "जिन राज्यों के समूह ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को जन्म दिया उनकी महत्ता अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में बढ़ती जा रही है। उनमें बहुत-से देशों के साथ सोवियत संघ के चहुँमुखी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं जिससे दोनों पक्षों को लाभ होता है तथा विश्व में और ज्यादा स्थिरता आती है। इसका एक उदाहरण भारत के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध हैं। जिन राज्यों ने औपनिवेशिक उत्पीड़न से आजादी हासिल की है, उस जनगण के साथ जो अपनी स्वाधीनता को कायम रखे हुए है, एकजुटता सोवियत विदेश नीति का एक मूलभूत सिद्धान्त रहा है और आज भी है।"

(C) अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा विकासमान देश : सोवियत दृष्टिकोण
—प्रो. के. ब्रूतेन्त्स (अक्तूबर, 1983)

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के जून में आयोजित पूर्णाधिवेशन तथा सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के अधिवेशन ने पुन: यह दिखला दिया कि सोकसपा और सोवियत सरकार शान्ति की सुरक्षा को वर्तमान समय में तथा निकट भविष्य में मानव-जाति की महत्त्वपूर्ण समस्या मानती है। इन प्रस्तावों का अत्यधिक महत्त्व न केवल सोवियत कम्युनिस्टों और समग्र रूप में सोवियत जनता के लिए है बल्कि विश्व की जनता के लिए तथा तमाम देशों की सरकारों और जनगण के लिए है जिसमें विकासमान देश भी शामिल हैं। जहाँ तक युद्ध और शान्ति की सार्वभौमिक समस्या का सम्बन्ध है, विकासमान देशों की स्थिति का आज उस समय बहुत महत्त्व है जब विश्व में दो प्रकार की नीतियों—शान्ति की

सुरक्षित रखने और सुदृढ करने की नीति तथा वह नीति जिसका उद्देश्य शान्ति की नींव को कमजोर करना है—के बीच टकराव हो रहा है।

केन्द्रीय समिति के पूर्णाधिवेशन को सम्बोधित करते हुए यूरी आन्द्रोपोव ने कहा कि वर्तमान विश्व की एक बुनियादी विशेषता यह है कि एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देश जिन्होंने औपनिवेशिक या अर्द्ध-औपनिवेशिक दासता से अपने को मुक्त कर लिया है, अधिकाधिक बढती हुई भूमिका अदा कर रहे है। इन देशो में जो प्रक्रियाएँ चल रही है वे पेचीदा और बहुरूपीय है।

सोवियत संघ और भूतपूर्व औपनिवेशिक देशो के बीच मे जो समाजवाद की ओर सम्मुखता की नीति का अनुसरण कर रहे है, विशेष रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है। साम्राज्यवादी ताकते प्रभुत्व और जोर-जबर्दस्ती की जिस आक्रामक नीति का अनुसरण कर रही है, वह उन नव-स्वतन्त्र देशों के भी हितो के विपरीत है जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था कायम हो चुकी है। चूँकि ये देश चाहते है कि उनका आर्थिक पिछडापन दूर हो अत उन्हें न्यायपूर्ण सहयोग और स्थायी शान्ति की आवश्यकता है। इनमे अनेक देश समाजवादी देशो के साथ अपने सम्बन्धों को अपनी स्वाधीनता के दृढीकरण के साधन के रूप मे मानते है। विकाससमान देशो के साथ अपने सम्बन्धो मे सोवियत संघ ऐसी नीति का अनुसरण करता है जिसका उद्देश्य उनकी प्रभुसत्ता के लिए पूर्ण सम्मान और उनके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप के आधार पर परस्पर लाभदायक सहयोग सवर्धित करना है।

साम्राज्यवादी राज्य भिन्न नीति का अनुसरण करते है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे मुठभेड की अपनी सामान्य रणनीति के अनुरूप अमेरिका ने विकासमान देशों के प्रति अपनी नीति सख्त बना ली है। वास्तव मे इसने शक्ति प्रदर्शन की अपनी नीति को पुनरुज्जीवित कर दिया है।

विकासमान देशो पर और उनकी स्वाधीनता पर दबाव बढता जा रहा है।

अपने समग्र नीति मार्ग के अनुरूप अमेरिका विकासमान देशों के साथ अपने सम्बन्धो के सैनिक और राजनीतिक पक्ष को तीव्र कर रहा है। इस क्षेत्र में अमेरिका की वर्तमान नीति का उद्देश्य सैन्यीकरण और अधिकाधिक अमेरिकी सैनिक उपस्थिति है।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बिगडने से नवोद्भूत देशों की आर्थिक सम्भावनाओ मे गम्भीर रूप से गिरावट आई है। हथियारो की होड मे अविपुल राशि व्यय की जाती है, जिसके एक अश का उपयोग महत्त्वपूर्ण समस्याओ के सुलझाने मे फलप्रद रूप मे किया जा सकता है। किन्तु साम्राज्यवादी राज्य ऐसी स्थितियाँ अपनाते है जिससे सुविदित सोवियत प्रस्तावो के क्रियान्वयन मे बाधा पडती है जो हथियारो की होड सीमित करने के फलस्वरूप बची हुई राशि के एक अश का विकासमान देशो की जरूरतो को पूरा करने के लिए इस्तेमाल करने से सम्बन्धित है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद जिस नीति का अनुसरण करता है उससे विकासमान देश हथियारो की होड मे शामिल होने है। अंकटाड सचिवालय के अनुसार

1971-81 के दौरान विकासमान देशों का सैनिक व्यय लगभग ढाई गुना बढ़ गया और विश्व के सैनिक व्यय में इनका भाग 10% से बढ़कर 19% हो गया है।

निस्सन्देह बहुत-से मामलों में विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान परिस्थिति की विशिष्टताओं में खास तौर से कुछ हुकूमतों की अपनी जनता के विरुद्ध इस्तेमाल करने के लिए हथियार खरीदने की इच्छा में, अपने पड़ोसियों के विरुद्ध वे जो नायकत्ववादी मनूबे रखते हैं, उनमें तथा प्रथमतया राष्ट्रीयतावादी आधार पर नवोदित राज्यों में उभरी मुठभेड़ों और प्रतिद्वन्द्विताओं में भी जिन्हें साम्राज्यवादी कारगर ढंग से बढ़ावा देते हैं, इस घटना की जड़ें जमी हुई है किन्तु अधिकांश मामलों में साम्राज्यवादी नीति से सम्बन्धित कारक मुख्य भूमिका अदा करते हैं। विस्तृत होते हुए भी सैनिक औद्योगिक समुच्चय को-खास तौर से आजकल जबकि आधुनातन शस्त्रों की कीमतें आसमान छू रही हैं—अधिकाधिक वृहत्तर एवं अधिक लाभप्रद बाजारों की आवश्यकता होती है। साम्राज्यवादी आपूर्तिकर्ताओं के मसूबों के अनुसार हथियारों के निर्यात के कारण भी विकासमान राष्ट्रों की सैनिक साज-सामान के विनिर्माताओं पर सैनिक और प्राविधिक निर्भरता बढ़ती जा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति बिगड़ने की वर्तमान अमेरिकी नीति के अभिन्न अंग के रूप में विश्व के विभिन्न भागों-दक्षिण-पूर्व एशिया से मध्य अमेरिका तथा अफगानिस्तान से लेकर दक्षिणी अफ्रीका तक में तनाव कायम रखने और उसे तेज करने की रणनीति है और इस कारण विस्फोटक केन्द्र सुरक्षित रखे जाते हैं, जिनमें काफी केन्द्र विकासमान देशों के क्षेत्र में है। इसकी वजह से इन राज्यों में हथियारों की होड़ फलती है। उदाहरणार्थ, यह सभी जानते है कि मध्य-पूर्व उन क्षेत्रों में है जहाँ हथियारों का जमावड़ा सबसे अधिक है। यह भी ज्ञात है कि यह मुख्यतया इजरायल की विस्तारवादी नीति के कारण हुआ जिसका अमेरिका समर्थन और पृष्ठपोषण करता है।

पिछले अनेक वर्षों से मध्य-पूर्व विवाद के न्यायपूर्ण और सर्वांगीण समाधान के उद्देश्य से की गई सभी राजनीतिक पेशकदमियों को अमेरिका ठुकराता आ रहा है। इसने सोवियत संघ के उस प्रस्ताव के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रिया दिखलाई जिसमें इस क्षेत्र में हथियारों की होड़ खत्म करने की समस्या के समाधान की तलाश करने की बात निस्सन्देह मध्य-पूर्व की सभी समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित थी। इतना ही नहीं अमेरिका उदारतापूर्वक आक्रमणकारी को हथियारों की आपूर्ति कर रहा है। इसका सबसे ताजा उदाहरण उसके इस कदम की घोषणा है जो सैनिक रूप से महत्त्वपूर्ण है यानी 75 एफ-16 विमानों की डिलेवरी।

प्रश्न के सैनिक पक्ष पर जोर और विकासमान देशों को नाटो और वारसा सन्धि के बीच 'लड़ाई के क्षेत्र' के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिशों को एक और लक्ष्य की सिद्धि के लिए साम्राज्यवाद इस्तेमाल कर रहा है। भारी जोर-शराबा मचाकर तथा सोवियत-विरोधी लफ्फाजी कर व विकासमान देशों को साम्राज्यवादी राज्यों

से की गई इस अनवरत मांग की आवाज बन्द कर देना चाहते हैं कि उन्हे आर्थिक सम्बन्धो मे न्यायपूर्ण हिस्सा मिले। यह किसी भी प्रकार से सयोग की बात नही है कि वही अमेरिकी प्रशासन जिसने मुठभेड का रास्ता अपनाया है, नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने की मांग के प्रति नकारात्मक रूप मे, अ-सरचनात्मक रूप मे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान बिगडी हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति जो हथियारो की बेलगाम होड कायम रखने तथा तनाव बढाने की साम्राज्यवादी नीति के कारण उत्पन्न हुई है, अधिक निर्मम ढग से विकासमान देशों के उन बुनियादी हितो पर आघात करती है, जो, मानव-जाति के लिए एक समान है क्योकि उसमे विश्व-शान्ति कायम रखने तथा ताप-नाभिकीय युद्ध रोकने की बात शामिल है और जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की प्रणाली मे विशिष्ट रूप मे उनकी वस्तुगत स्थिति से भी उत्पन्न होती है क्योकि वे किसी जमाने मे साम्राज्यवाद के उपनिवेश और आश्रित देश रहे हैं।

हाल की अवधि मे विकासमान देशों की वैदेशिक नीति की स्थिति के विकास का विशिष्ट स्वरूप यह है कि बहुसख्यक देशो की जनता और सरकारो मे यह जागरूकता बढती जा रही है कि साम्राज्यवाद की आक्रामक नीति नव-स्वतन्त्र राज्यो के विरुद्ध भी निर्देशित है।

हाल मे आयोजित सातवे गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की इस केन्द्रीय समस्या पर सर्वप्रथम शान्ति और तनाव-शैथिल्य की रक्षा तथा हथियारो की होड पर लगाम लगाने पर ध्यान केन्द्रित किया तथा यह निर्धारित किया कि इन उद्देश्यो की सिद्धि के लिए सघर्ष गुट-निरपेक्ष देशो की वैदेशिक नीति का बुनियादी लक्ष्य है।

गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन ने दिखला दिया कि राष्ट्र साम्राज्यवाद की आक्रामक और सैन्यवादी नीति का विरोध अधिकाधिक कर रहे है। अन्तिम घोषणा मे दिल्ली मे जमा होने वाले राज्यो और सरकारो के प्रधानो ने साम्राज्यवादी राज्यो को मध्य पूर्व, मध्य अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, हिन्द महासागर आदि मे तनाव के स्रोत के सृजन के लिए जिम्मेदार ठहराया। अमेरिका द्वारा सैन्य श्रेष्ठता हासिल करने के प्रयत्न, 'शक्ति द्वारा प्रतिकार' और 'सीमित' नाभिकीय युद्ध के अमेरिका सिद्धान्त और वाशिगटन की विशिष्ट सैनिक-राजनीतिक जिम्मेदारियो की प्रत्यक्ष रूप मे या परोक्ष रूप मे निन्दा की गई।

गुट-निरपेक्ष देशो की इस राजनीतिक लाइन की पुनर्पुष्टि ब्यूनोस आयर्स मे आयोजित ग्रुप 77 की पाँचवी बैठक मे, अप्रेल के मध्य मे भारतीय सशस्त्र सेनाओ के अधिकारियो की बैठक मे भारत की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के भाषण मे तथा मोजाम्बिक लोक जनतन्त्र के राष्ट्रपति समारो माचेल और अगोला लोक जनतन्त्र के राष्ट्रपति जोसे एदुआदो दोस सान्तोस की समाजवादी देशो की यात्राओ के दौरान हुई।

साम्राज्यवादी राज्य विकासमान देशों को शांति और तनाव-शैथिल्य के लिए होने वाले संघर्ष में भाग लेने से रोकने के लिए तुले बैठे हैं। वे उन्हें यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि सोवियत विरोधी उद्देश्यों का अनुसरण करते हुए उनकी आक्रामक कार्रवाई विकासमान राष्ट्रों को प्रभावित नहीं करती। इन मनूबों को नाकाम करना स्वयं विकासमान राष्ट्रों के हितों में है, और हर चीज यह दिखलाती है कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूक दर्शक बनाने की जो कोशिशें हो रही हैं, उन्हें बर्दाश्त करने का इरादा वे नहीं रखते। शान्ति के ध्येय की हिफाजत करने, हथियारों की होड़ के विरुद्ध, साम्राज्यवाद की आक्रामक नीति के विरुद्ध संघर्ष गहन करने में विकासमान देशों का योगदान बढ़ाने में उनकी क्षमता के सम्बन्ध में शायद ही किसी को सन्देह हो सकता है। पश्चिम यूरोप में अमेरिकी पर्शिंग-2 और क्रूज क्षेप्यास्त्रों की प्रस्तावित तैनाती जैसे मूलभूत मसले के बारे में भी यही बात सच है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह समस्या विकासमान देशों से भौगोलिक और राजनीतिक दोनों ही रूपों में बहुत अलग है। किन्तु वास्तव में इसका उन पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। वस्तुतः इन क्षेप्यास्त्रों की कार्रवाई के क्षेत्र के अन्तर्गत अफ्रीकी राज्यों का एक पूरा समूह आता है।

किन्तु मुख्य बात यह है कि यूरोप में अमेरिकी योजना के कार्यान्वियन से युद्ध का खतरा तेजी से बढ़ जाएगा, यह सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को पूरी तरह जहरीला बना देगा और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देगा जिसमें विकासमान देशों के महत्त्वपूर्ण हितों की रक्षा और अधिक कठिन हो जाएगी।

सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी भूमिका बढ़ाना सुगम बनाता है। यूरी आन्द्रोपोव ने बताया, "संक्षेप में, हमारे युग में समाजवाद ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वस्थ तत्वों का सबसे अडिग रक्षक है, तनाव-शैथिल्य और शान्ति के हितों का, प्रत्येक जनगण और सम्पूर्ण मानव-जाति के हितों का रक्षक है।"

जोर-जबरदस्ती और गुलाम बनाने की साम्राज्यवादी नीति के मुकाबले सोवियत संघ विकासमान देशों के साथ सच्ची समानता, मित्रता और सहयोग की नीति प्रस्तुत करता है।

(D) मध्य-पूर्व समस्या के निपटारे के बारे में सोवियत संघ के प्रस्ताव

मध्य-पूर्व में मौजूदा विस्फोटक स्थिति पर चिन्तित होते हुए सोवियत संघ इस बात के प्रति गहन रूप से आश्वस्त हो गया है कि इस क्षेत्र के जनगण के महत्वपूर्ण हित तथा इसी प्रकार सर्वोपरि, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के हित मध्य-पूर्व समस्या के यथाशीघ्र विस्तृत न्यायपूर्ण तथा स्थायी निपटारे की आवश्यकता की ओर इंगित करते हैं।

इसी तरह यह इस बात के प्रति आश्वस्त है कि सभी सम्बन्धित पक्षों की सहभागिता सहित सामूहिक प्रयासों के जरिए ही विस्तृत, सच्चे अर्थों में न्यायपूर्ण तथा वास्तव में स्थायी निपटारे की रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है और इसे क्रियान्वित किया जा सकता है।

इस बात को ध्यान में रखकर मध्यपूर्व में शान्ति की स्थापना में अंशदान करने की इच्छा के साथ यह मध्यपूर्व की समस्या के निपटारे में सम्बन्धित सिद्धान्तों एवं इसकी ओर अग्रसर होने के तरीकों के बारे में निम्न प्रस्ताव रखता है—

मध्य पूर्व समस्या के निपटारे से सम्बन्धित सिद्धान्त

1 आक्रमण के जरिए विदेशी धरती पर अधिकार करने की अस्वीकार्यता के सिद्धान्त का कड़ाईपूर्वक पालन करना चाहिए। तदनुरूप, इजराइल द्वारा 1967 से हथियाए गए समस्त क्षेत्रों—गोलान हाइट्स जोर्डन नदी का पश्चिमी तट तथा गाजा क्षेत्र लेबनान की धरती—को तुरन्त अरब जन को लौटा देना चाहिए। इजराइल द्वारा अरब क्षेत्रों में 1967 के बाद स्थापित की गई बस्तियों को समाप्त कर देना चाहिए। इजराइल तथा इसके अरब पडौसियों के बीच सीमाओं को अलंघ्य घोषित करना चाहिए।

2 फिलिस्तीनी जन के, फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन जिनका एकमात्र वैध प्रतिनिधि है आत्म-निर्णय के, फिलिस्तीनी धरती, जिसे इजराइली कब्जे से मुक्त कराया जाएगा, जोर्डन नदी के पश्चिमी तट पर तथा गाजा क्षेत्र में, अपने स्वयं के स्वतन्त्र राज्य का सृजन करने के अविच्छिन्न अधिकार के व्यवहार रूप में क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना चाहिए। जैसी कि फेज में आयोजित शिखर-स्तरीय अरब बैठक के निर्णय में परिकल्पना की गई है तथा स्वयं फिलिस्तीनियों की सहमति से, जोर्डन नदी के पश्चिमी तट तथा गाजा क्षेत्र को इजराइल द्वारा संक्षिप्त संक्रमण-काल के दौरान—जो कुछ महीनों से ज्यादा की अवधि नहीं होगी—संयुक्त राष्ट्र-संगठन के नियन्त्रण के अन्तर्गत हस्तान्तरित किया जा सकता है।

स्वतन्त्र फिलिस्तीनी राज्य के सृजन के बाद यह स्वाभाविक ही, स्वयं प्रत्येक में अन्तर्निहित सम्प्रभु अधिकारों के तहत, पडौसी देशों के साथ अपने सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारित करेगा जिसमें परिसंघ का गठन करना भी शामिल है।

फिलिस्तीनी शरणार्थियों के लिए अपने घरों को लौटने का या उसके द्वारा पीछे छोड़ी गई सम्पत्ति के लिए समुचित मुआवजा पाने का अधिकार स्वीकृत करना चाहिए जैसी कि संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों में व्यवस्था है।

3 यरूशलम का पूर्वी भाग, जिस पर 1967 में इजरायल ने अधिकार कर लिया था और जहाँ मुसलमानों का एक पवित्र तीर्थ-स्थल मौजूद है, अरब जन को लौटा देना चाहिए। इसे फिलिस्तीनी राज्य का अविच्छिन्न अंग बन जाना चाहिए। सम्पूर्ण यरूशलम में तीनों धर्मों के पवित्र तीर्थ-स्थलों तक धर्मावलम्बियों की पहुँच की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करना चाहिए।

4 इस क्षेत्र में प्रत्येक राज्य के सुरक्षित रहने के तथा स्वतन्त्र अस्तित्व व विकास के अधिकार को वास्तव में, निश्चय ही, पूर्ण पारस्परिकता के पालन के अनुसार, सुनिश्चित बनाना चाहिए, क्योंकि कुछ जनगण की वास्तविक सुरक्षा को दूसरों की सुरक्षा की अवहेलना के जरिए सुनिश्चित नहीं किया जा सकता।

5 अरब राज्यों व इजरायल के बीच युद्ध की स्थिति को समाप्त करना

चाहिए तथा शान्ति स्थापित करनी चाहिए। इसका अर्थ है कि इजरायल व फिलिस्तीनी राज्य समेत संघर्ष से सम्बन्धित सभी पक्षों को एक-दूसरे की सम्प्रभुता स्वतन्त्रता व क्षेत्रीय अखण्डता का परस्पर सम्मान करने के लिए, मतभेदों को शांतिपूर्ण तरीकों से, बातचीत के जरिये तय करने की वचनबद्धता ग्रहण करनी चाहिए।

6 निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियों की व्यवस्था करनी चाहिए तथा इन्हें स्वीकृत करना चाहिए। गारण्टीदाता की भूमिका, मिसाल के तौर पर, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के स्थाई सदस्यों अथवा पूरी सुरक्षा परिषद् द्वारा निभाई जानी चाहिए। सोवियत संघ इस प्रकार की गारण्टियों में सहभागिता करने के लिए तैयार है।

समझौते का मार्ग

अनुभव से अरब जन पर इजरायल के साथ अलग-अलग समझौते करने के लिए दबाव डालने के जरिए मध्यपूर्व समस्या को हल करने की निरर्थकता तथा साथ ही इसमें निहित खतरा अत्यन्त सन्तोषजनक ढंग से प्रदर्शित हो गया है।

समस्त सम्बन्धित पक्षों के सामूहिक प्रयास, दूसरे शब्दों में, इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विशेष रूप से आयोजित मध्यपूर्व के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की संरचना के तहत बातचीत मध्यपूर्व समस्या के आमूल समाधान को सुनिश्चित करने का एकमात्र उचित तथा प्रभावशाली तरीका है। सोवियत संघ की राय में ऐसे सम्मेलन का आयोजन करने के लिए निम्न व्यवस्थाओं से निर्देशित होना आवश्यक है।

सम्मेलन का उद्देश्य

मध्य-पूर्व समस्या के समस्त पहलुओं का हल खोजना इस सम्मेलन का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।

सम्मेलन की परिणति सन्धि या सन्धियों पर हस्ताक्षरों के रूप में होनी चाहिए जिनमें समझौते से सम्बन्धित निम्न तत्त्व शामिल होने चाहिए—1967 से अधिकृत समस्त अरब प्रदेशों से इजरायली सैनिकों को हटाना, फिलिस्तीनी अरब जन के अपने स्वयं के राज्य का सृजन करने के अधिकार सहित वैध राष्ट्रीय अधिकारों का क्रियान्वयन, शान्तिपूर्ण स्थिति की स्थापना तथा समस्त राज्यों की सुरक्षा एवं उनके स्वतन्त्र विकास को सुनिश्चित बनाना। इसके साथ ही, ऐसे समझौते की शर्तों के परिपालन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियाँ दी जानी चाहिए। सम्मेलन में होने वाले समस्त समझौतों को इसके समस्त सहभागियों द्वारा एकीकृत रूप में स्वीकार करना चाहिए।

सहभागियों की संरचना

उन समस्त राज्यों को, जिनकी इजरायल के साथ सीमाएँ लगती हैं, अर्थात् सीरिया, जोर्डन, मिस्र, लेबनान तथा स्वयं इजरायल को सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए।

फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन को फिलिस्तीनी जन के एकमात्र वैध प्रतिनिधि के रूप मे सम्मेलन मे समान रूप से भाग लेना चाहिए। यह सैद्धान्तिक महत्त्व का प्रश्न है क्योंकि फिलिस्तीनी समस्या को हल किए बिना मध्य-पूर्व समस्या का निपटारा नही हो सकता और इसे फि स की सहभागिता के बिना हल नही किया जा सकता।

सोवियत सघ तथा अमेरिका को भी सम्मेलन मे भी भाग लेना चाहिए क्योंकि परिस्थितियो से विवश होकर ये मध्यपूर्व सम्बन्धी मामलो मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है तथा ये मध्यपूर्व सम्बन्धी पहले सम्मेलन के सह-अध्यक्ष थे।

मध्य-पूर्व के तथा इसके निकटवर्ती क्षेत्रो के कुछ अन्य राज्यो को, जो मध्य-पूर्व समस्या के समाधान मे सकारात्मक अशदान करने मे सक्षम है, सामान्य सहमति से सम्मेलन के सहभागियो मे शामिल किया जा सकता है।

सम्मेलन की कार्य-पद्धति

पिछले सम्मेलन की भांति, मध्य-पूर्व-विषयक सम्मेलन सयुक्त राष्ट्र सगठन के तत्त्वाधान मे आयोजित किया जाना चाहिए।

निपटारे के प्रमुख मुद्दो की जाँच करने के लिए (इजरायली सैनिको की वापसी तथा सीमा रेखा, फिलिस्तीनी समस्या, यरूशलम का प्रश्न, युद्ध-स्थिति की समाप्ति तथा शान्ति की स्थापना, उन राज्यो की सुरक्षा की समस्या जिन्होंने इस सघर्ष मे भाग लिया, समझौते के लिए अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियाँ, इत्यादि) सम्मेलन मे भाग लेने वाले सभी राज्यो के प्रतिनिधियो के बीच से कार्य-टोलियो (आयोगो) का गठन सम्मेलन के कार्य का मुख्य आधार हो सकता है।

आवश्यकता पडने पर केवल इन दो देशो से सम्बन्धित समझौते का ब्योरा तैयार करने के लिए द्विपक्षीय टोलियाँ गठित की जा सकती हैं।

सम्मेलन के कार्य के प्रारम्भिक चरण मे, इसमे भाग लेने वाले राज्य का प्रतिनिधित्व विदेश मन्त्रियो द्वारा तथा आगे चलकर विशेष रूप से नियुक्त प्रतिनिधियो द्वारा किया जा सकता है, आवश्यक होने पर मन्त्रिगण समय-समय पर सम्मेलन की कार्यवाइयो मे भाग ले सकते हैं।

मध्य पूर्व मे न्यायपूर्ण एव स्थायी शान्ति की स्थापना तथा इस क्षेत्र मे विस्फोटक स्थिति समाप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर सोवियत सघ इस सघर्ष मे सम्बन्धित समस्त पक्षो से एक-दूसरे के वैध अधिकारो व हितो का विवेकपूर्ण मूल्यांकन करते हुए आगे कदम बढाने की अपील करता है, जबकि अन्य सभी राज्यो को इस समस्या के समाधान के मार्ग मे बाधा उत्पन्न नही करनी चाहिए, बल्कि ऐसे समाधान के लिए किए जा रहे प्रयास मे अशदान करना चाहिए

(E) सोवियत नीति की अविचलता

निकोलाई ओवोतोव (मार्च, 1985)

11 मार्च, 1985 को आयोजित सोसकपा की केन्द्रीय समिति के विशेष

पूर्णाधिवेशन मे निर्वाचित महासचिव मिखाइल गोर्बाच्योव ने जैसा कहा विदेश नीति के क्षेत्र मे सोवियत संघ का मार्ग स्पष्ट और सुसगत है। यह शान्ति और प्रगति का मार्ग है।

इन शब्दो ने पुन विश्वसनीय रूप से शान्तिपूर्ण सहजीवन के लिए सबसे बड़े समाजवादी राज्य की नीति की अविचलता की पुष्टि कर दी। इसका वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति मे और भी ज्यादा महत्त्व है, क्योंकि अमेरिका के सैन्यवादी क्षेत्रों द्वारा जानबूझ कर की गई गलत कार्यवाई के कारण वह परिस्थिति बिगड़ गई है।

वास्तव मे उन अमेरिकी क्षेत्रों के अलावा दूसरे लोगो ने हथियारों की होड़ जारी रखने और गहन करने, एशिया, अफ्रीका एव लातीनी अमरिका के अनेक स्वतन्त्र देशो के विरुद्ध राज्य द्वारा सचालित आतंकवाद की नीति का अनुसरण करने और उस नीति को जारी रखने तथा स्थानीय मुठभेड़ भड़काते रहने तथा आग सुलगाते रहने का काम नही किया है।

उदाहरणार्थ, गुटनिरपेक्ष अफगानिस्तान के विरुद्ध आरोपित युद्ध मे हिन्द महासागर मे अमेरिकी सैन्य उपस्थिति मे सब प्रकार से वृद्धि इसका एक सबूत है। एशिया और अफ्रीका के अनेक देश इसमे अपनी स्वाधीनता के लिए सीधा खतरा समझते हैं जो उचित ही है।

वास्तव मे, हिन्द महासागर मे अमेरिका ने सैनिक अड्डो और केन्द्रों की शृंखला स्थापित की है और नाभिकीय शस्त्र तैनात किए हैं जिनकी मार की परिधि मे सोवियत संघ और उसके मित्र देशो के भू-भाग ही नही आते है। एशिया मे ही वाशिंगटन पुन सैन्यवादी गठबन्धन और गुट कायम करने की कोशिश कर रहा है जैसे कि वाशिंगटन, टोकियो सियोल गुट जिसका आक्रामक रुख आज भी एशियाई देशो मे चिन्ता पैदा कर रहा है।

सामान्यतया विश्व की और विशेष रूप मे एशिया की परिस्थिति ने मास्को को आशकित कर दिया था और आज भी आशकित कर रही है। किन्तु वह इस परिस्थिति को अटल नही मानता है, इसके विपरीत यह परिस्थिति ऐसी जटिल हो गई है जो सोवियत नेताओं को राय मे लोगो को शान्ति एव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नीति के अनुपालन करने मे दूना प्रयास करने के लिए बाध्य करती है।

सोवियत संघ मे इस बात का दृढ विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को सुधारना, *हथियारों की होड़ रोकना, नाभिकीय युद्ध के खतरा और फिर उस* पूरी तरह खत्म करना सम्भव है। जहाँ तक एशयाई महाद्वीप का सम्बन्ध है, मास्को का विश्वास है कि उसके बारे मे भी शान्तिपूर्ण हल निकाला जा सकता है। इस सम्बन्ध मे सोवियत संघ भारत तथा दूसरे शान्ति का भी एशियाई देशो की प्रगतिशील विदेश नीति की अत्यधिक सराहना करता है।

एशिया की समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने का यथार्थवादी आधार मौजूद है। शान्तिपूर्ण और अच्छे पड़ोसी के सम्बन्ध कायम करने के, बल प्रयोग

का परित्याग करने, विवादग्रस्त मसलो और टकरावो को शान्तिपूर्ण ढग से हल करने, समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तो का पालन करने, प्रभुसत्ता और सीमाओ की अनुल्लघनीयता का सम्मान करने और आन्तरिक मामले मे हस्तक्षेप न करने की इच्छा मौजूद है। अन्तिम बात यह है कि समस्या के हल का यह आधार परस्पर लाभदायक आर्थिक और अन्य सहयोग का विकास तथा सामाजिक प्रगति के मार्ग का स्वतन्त्र व मनपसन्द चुनाव हो सकता है।

सोवियत सघ की विदेश नीति सम्बन्धी सभी कार्यकलाप इन्ही उदात्त लक्ष्यो को प्राप्त करने की दिशा मे पहले भी और आज भी उन्मुख है। सोमकपा की केन्द्रीय समिति के महासचिव मिखाइल गोर्बाच्योव ने कहा, "हम लोग दृढता-पूर्वक शान्ति और शान्तिपूर्ण सहजीवन के लेनिनवादी मार्ग का अनुसरण करेंगे। सोवियत सघ सद्भावना के बदले सद्भावना और विश्वास के बदले विश्वास देगा।" निश्चय ही इस मार्ग की अविच्छिन्नता की पुष्टि के रूप मे कोई भी व्यक्ति उनके कथन से यह अर्थ निकाल सकता है कि सोवियत सघ आठवें दशक मे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे कमी करने मे हासिल सफलताओ को मूल्यवान मानता है और वह समानता, पारस्परिक सम्मान और आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त के आधार पर राज्यो के बीच शान्तिपूर्ण, परस्पर लाभदायक सहयोग स्थापित करने की प्रक्रिया को आगे बढाने मे भाग लेने के लिए तैयार है।

मास्को ने हमेशा उन जनगण के साथ एकजुटता को अपनी विदेश नीति का बुनियादी सिद्धान्त माना है जिन्होंने औपनिवेशिक दासता के जुए को उतार फेंका है और जो स्वाधीन विकास के मार्ग पर बढ चले है। विशेष रूप से उनके साथ जिन्हे साम्राज्यवाद की आक्रामक शक्तियो के हमले को नाकाम करना पडा है। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा दृढ करने के ध्येय मे सोवियत सघ विश्व मे शान्ति की सभी शक्तियों के साथ सहयोग करता है। जैसा कि सोवियत नेताओ ने ज़ोर देकर कहा कि जनगण के अधिकार और मानव जाति का शान्तिपूर्ण भविष्य सुनिश्चित करने के प्रयास मे सोवियत सघ विकासमान देशो को अपना सहज मित्र और साझीदार मानता है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की युद्ध-विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोधी और उपनिवेशवादी विरोधी उन्मुखता की, जिसकी पुष्टि नई दिल्ली मे दो वर्ष पहले आयोजित गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर-सम्मेलन मे हुई थी, सोवियत जनता अत्यधिक सराहना करती है। सोवियत सघ मे इस बात का विश्वास किया जाता है और जैसा कि स्वय नव-स्वाधीन देशो के सम्बन्ध मे हुआ, पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता पाना, राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का विकास और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो मे जनवादी पुनर्संरचना सुनिश्चित करना तभी सम्भव है जब इन लक्ष्यो को हथियारो की होड और युद्ध के खतरे के विरुद्ध सघर्ष के साथ घनिष्ठ रूप से जोडने के प्रयास किए जाएँ।

कोई भी व्यक्ति पूरे विश्वास के साथ कह सकता है कि सोवियत राज्य की इस सिद्धान्तनिष्ठ विदेश नीति को जो सोमकपा की बीसवीं और सोमकपा की

केन्द्रीय समिति के पूर्णाधिवेशनों में, सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के अधिवेशनों और सोवियत नेताओं के भाषणों में सूत्रबद्ध हैं, आगे जारी रखा जाएगा। इसका स्पष्ट प्रमाण सोसकपा की केन्द्रीय समिति के महासचिव द्वारा कही गई बातों में है।

मिखाइल गोर्वाच्योव ने कहा है, "सोवियत संघ ने औपनिवेशिक उत्पीडन से मुक्ति के लिए जनगण के संघर्ष का सर्वदा समर्थन किया है और आज हमारी सहानुभूति एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के देशों के प्रति है जो अपनी स्वाधीनता मजबूत करने तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। हमारे लिए वे स्थायी शान्ति के संघर्ष में, जनगण के बीच बेहतर और न्यायपूर्ण सम्बन्धों के संघर्ष में मित्र और साझीदार है।"

(F) नवोदित राज्यों के मित्र और शत्रु
—व्सेवोलोद ओवचिन्निकोव (जनवरी, 1983)

सोसकपा की 26वीं कांग्रेस के तुरन्त बाद सोवियत संघ ने एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के नव-स्वतन्त्र देशों के साथ अपने सम्बन्ध कायम रखने में पाँच मूलभूत सिद्धान्त सूत्रबद्ध किए। इस 'आचार संहिता' का पालन सोवियत संघ अविचल रूप से करता है और अमेरिका का आह्वान करता है कि वह भी इस प्रकार काम करे। वर्तमान परिस्थिति में 'आचार संहिता' का तात्पर्य निम्नलिखित बातों से है—

हर जनता को अपने आन्तरिक मामले का प्रबन्ध बिना बाहरी हस्तक्षेप के स्वयं करने के अधिकार की मान्यता, उनके ऊपर प्रभुत्व या अधिनायकत्व स्थापित करने अथवा उन्हें किसी शक्ति के 'हितों के प्रभाव क्षेत्र' में शामिल करने की कोशिशों का परित्याग,

इन देशों की क्षेत्रीय अखण्डता तथा उनकी सीमाओं की अनुल्लंघनीयता का सम्मान, इन देशों को विभाजित करने के उद्देश्य से चलाए जाने वाले किसी अलगाववादी आन्दोलन का बाहर से समर्थन नहीं करना,

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के हर एक राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के समान अधिकार के साथ सहभागी होने के तथा किसी देश के साथ सम्बन्ध विकसित करने के अधिकार को बिना शर्त मान्यता,

अपने प्राकृतिक संसाधनों पर इन राज्यों की प्रभुसत्ता की पूर्ण और बिना शर्त मान्यता तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में उनकी पूर्ण समानता की भी यथार्थ मान्यता संयुक्त राष्ट्र के सुविदित प्रस्तावों के अनुसार उपनिवेशवाद के अवशेषों को खत्म करने तथा नस्लवाद और पृथग्वासन का उन्मूलन करने के उद्देश्य से किए गए उनके प्रयासों का समर्थन करना,

अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमेरिका के अधिकांश देशों द्वारा स्वीकार की गई गुट-निरपेक्षता की हैसियत का सम्मान करना।

सोवियत-भारत सम्बन्ध इन सिद्धान्तों के पालन में किए जाने के स्पष्ट उदाहरण का काम करते हैं। वे यह दिखलाते हैं कि भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं

वाले राज्यों के बीच यह सहयोग कितना फलप्रद हो सकता है बशर्ते कि वे सद्भावना और एक-दूसरे के हितों के सच्चे सम्मान पर आधारित हो।

हमारे आर्थिक सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण ढंग से समानता और पारस्परिक लाभ के सिद्धान्तों पर भारत को भारी उद्योग की नींव का निर्माण करने तथा देश की ईंधन और ऊर्जा क्षमता को मजबूत बनाने जैसी उसकी कुछ प्रमुख आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता करने के साथ सम्बद्ध करते हैं।

इसके अलावा, भारत इस तथ्य से अच्छी तरह अवगत है कि सोवियत संघ ने कभी इन सम्बन्धों का इस्तेमाल लाभ हासिल करने या राजनीतिक दबाव और जोर-दबर्दस्ती के औजार के रूप में नहीं किया है। इस बात को नोट करना चाहिए कि सोवियत संघ और भारत के बीच मित्रता और सहयोग का विकास किसी दूसरे देश के हितों को या उसकी सुरक्षा को नुकसान नहीं पहुँचाता है। वास्तव में यह एशिया और समग्र रूप में विश्व में परिस्थिति पर अनुकूल प्रभाव डालता है।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में गुट निरपेक्ष आन्दोलन की भूमिका बढ़ रही है, जिसका भारत एक संस्थापक और मान्यता प्राप्त नेता है। अधिकांश राज्यों द्वारा गुट-निरपेक्ष हैसियत अपनाने के कारण उसके प्रति अपना सम्मान फिर से दुहराते हुए सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव किया कि नाटो और वारसा सन्धि के अग्रणी निकाय ऐसा वक्तव्य दें कि वे इन गठबन्धनों का कार्यक्षेत्र एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका तक नहीं फैलाएँगे। सोवियत प्रस्ताव का दूसरे समाजवादी देशों ने वारसा सन्धि के विदेश मन्त्रियों की समिति के अधिवेशन में समर्थन किया।

सोवियत संघ ने शान्ति सम्बन्धी जो दूसरी पेशकदमी की है, वह भी नव-स्वाधीन देशों के महत्वपूर्ण हितों में है, जो पूर्व-पश्चिम सैनिक मुठभेड़ का मंच नहीं बनना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, सोवियत संघ ने सागरों और महासागरों के बड़े भाग में विश्वास-निर्माण सम्बन्धी पगों को विस्तृत करने की जो अपील की है, वे हिन्द महासागरीय देशों के उन प्रयासों के अनुरूप है जो इस क्षेत्र को शान्ति के क्षेत्र में बदलना चाहते हैं। इस प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव के कार्यान्वयन रोकने की कुछ शक्तियों की, विशेष रूप में अमेरिका की कोशिश के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन को जिससे इस विशाल क्षेत्र को ठोस लाभ मिलते, अब तक आयोजित नहीं किया जा सका जो बहुत पहले आयोजित हो गया होता।

यहाँ तक कि आज भी सम्मेलन के आयोजन का इन्तजार किए बिना सोवियत संघ ने उन तमाम राज्यों से अपील की है जिनके पोत हिन्द महासागर के जल का इस्तेमाल करते रहे हैं कि वे ऐसा कोई कदम नहीं उठाएँ जिससे इस क्षेत्र की परिस्थिति पेचीदा बन जाए। इसका यह अर्थ होता है कि वे उसमें जल-सेना की बड़ी इकाइयाँ नहीं भेजे, वहाँ सैन्य प्रशिक्षण अभ्यास संचालित नहीं करें, और वे गैर-तटवर्ती राज्य जिनके हिन्द महासागर के क्षेत्र में ऐसे अड्डे हैं, अपने युद्ध के अड्डों का विस्तार नहीं करें और न उनका आधुनिकीकरण करें।

लगभग दो वर्ष पहले सोवियत संघ ने फारस की खाड़ी के क्षेत्र मे तनाव खत्म करने के लिए प्रस्ताव रखा। वहाँ जल-सेना और वायु-सेना के नए दस्ते, सेना और हथियार तैनात करने के बदले मे जैसा कि नाटो की अग्रणी शक्तियाँ, विशेष रूप से अमेरिका कर रहा है, सोवियत संघ ने उस क्षेत्र के राज्यो के सम्प्रभु अधिकारो की तथा इसे दुनिया के शेष भागो से सम्बद्ध करने वाले सागरीय और सचार मार्गों की सुरक्षा की गारण्टी करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता सम्पन्न करने का प्रस्ताव किया है।

जीवन के भूमध्यसागर में शान्ति का क्षेत्र स्थापित करने के उद्देश्य से की गई सोवियत पहल की समयोचितता की पुष्टि कर दी है। परिस्थिति और भी भयावह हो जाएगी यदि अमेरिका के नए मध्यम-परास वाले नाभिकीय शस्त्रों को इटली तथा दूसरे पश्चिम-यूरोपीय देशो में तैनात किया गया, क्योंकि इन प्रक्षेप्यास्त्रो का रुख न केवल पूर्व की ओर रखा जा सकता है बल्कि इन्हें दक्षिण की ओर भी उन्मुख किया जा सकता है और अफ्रीका के भूमध्यसागरीय राज्यों तथा मध्य-पूर्व के लिए भी नाभिकीय जोर-जबर्दस्ती के औजार बन सकते है। सोवियत प्रस्ताव में उन विश्वास निर्माण सम्बन्धी पगो को प्रसारित करने की परिकल्पना है जिनमे वहाँ सहमति के आधार पर हथियारबन्द सेनाओ में कटौती करने तथा भूमध्य सागर के गैर-नाभिकीय राज्यो के भू-भाग पर नाभिकीय शस्त्र तैनात नही करने और भूमध्यसागर में नाभिकीय शस्त्र ढोने वाले पोत हटाने की बात कही गई है।

मध्य-पूर्वीय समस्याओ को हल करने के लिए सोवियत योजना की अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है। सोवियत संघ की राय मे मध्य-पूर्व में सच्चा स्थायी, उचित और सर्वांगीण शान्तिपूर्ण समाधान यह अपेक्षा करता है कि 1967 से जितने अरब भू-भाग पर इजरायली सेना ने कब्जा कर रखा है वहाँ से पूरी तरह हट जाए जिसमें यरूशलम का पूर्वी भाग शामिल है, इस क्षेत्र के तमाम राज्यों के अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित रखने के अधिकार की हिफाजत हो, अरब राज्य और इजरायल के बीच युद्ध की स्थिति समाप्त हो तथा शान्ति स्थापित हो, ऐसे समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियों को निरूपित किया जाए तथा उसे स्वीकृति दी जाए।

दक्षिण-पूर्व एशिया की परिस्थिति में सुधार करना दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामला है। सोवियत संघ इस क्षेत्र को शान्ति के क्षेत्र मे बदलने की दिशा में निर्देशित प्रयासों का समर्थन करता है। जैसा कि वियतनाम, लाओस और कम्पूचिया ने प्रस्तावित किया है, दक्षिण-पूर्व एशिया के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन वहाँ विद्यमान परिस्थिति पर विचार-विमर्श करने तथा परस्पर स्वीकार्य निर्णय पर पहुँचने का उपयुक्त मंच हो सकता है। उससे उनके तथा एशियान राष्ट्रों के बीच फलप्रद वार्ता करने का और समग्र रूप में परिस्थिति को सामान्य बनाने की सम्भावनाएँ उन्मुक्त होती हैं।

समाजवादी देश पूरे एशिया के पैमाने पर सुरक्षा दृढ करने मे नेतृत्व करते है। मगोलियाई लोक जनतन्त्र के एशिया और प्रशान्त महासागर के राज्यों के बीच सम्बन्धो मे शक्ति का इस्तेमाल नही करने तथा परस्पर जनाक्रमण सम्बन्धी सम्मेलन सम्पन्न करने के प्रस्ताव का यही उद्देश्य है। सोवियत सघ इस प्रश्न पर चीन लोक जनतन्त्र और जापान के साथ ठोस बातचीत करने के लिए तैयार है।

सोवियत सघ की एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के नवोदित राज्यों के सम्बन्ध मे जो नीति है, वह दृढ और सुसगत है। सोवियत सघ उन देशों और जनगण के साथ एकजुटता और सहयोग विकसित करता रहेगा जिन्होने औपनिवेशिक उत्पीडन का जुआ उतार फेंका है और जो अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता और सामाजिक प्रगति के लिए प्रयत्न कर रहे है।



Appendix—D

हिन्द महासागर में सोवियत सैन्य उपस्थिति[1]

सोवियत संघ हिन्द महासागर में सीमित सैन्य उपस्थिति बरकरार रखने के लिए कृत संकल्प दिखाई देता है। इस सामुद्रिक परिप्रेक्ष्य में सोवियत संघ का उद्देश्य राजनैतिक, आर्थिक एवं व्यापारिक अधिक है, सैनिक कम। सोवियत नौ-सेनाओं का उद्देश्य सैन्य न होकर मात्र अपना प्रभाव दर्ज रखना है। 1970 के पूर्वार्द्ध से अब तक सोवियत समर नीति अमेरीकी कार्यवाहियों की प्रक्रिया स्वरूप निर्धारित होती आई है। सोवियत नौ-सेना विगत दो दशकों के दौरान एक तटवर्ती बेड़े से बढ़कर एक ऐसी नौ-सेना के रूप में परिवर्तित हो चुकी है जो दूर समुद्रों में कहीं भी युद्ध-संचालन में सक्षम है। पश्चिमी समर विद्या विशारदों का मानना है कि मास्को की कोशिश है कि सही अर्थों में एक सन्तुलित बेड़े का निर्माण किया जाए जो अमरीकी तथा अन्य बड़ी ताकतों की सामुद्रिक श्रेष्ठता को विश्व में कहीं भी चुनौती देने में सक्षम हो और 1960 से प्रारम्भ करके अब सोवियत नौ-सेना विश्व की दूसरी सर्वाधिक ताकतवार नौ-सेना बन चुकी है। फिर भी संचालन सम्बन्धी सम्भारण क्षमता के सीमित होने के कारण सोवियत नौ-सेना अब भी अपने तटवर्ती बन्दरगाहों से बहुत दूर गहरे समुद्रों में कार्य करने में एक सीमा तक ही सक्षम है।

हिन्द महासागर में सोवियत नौ-सेना के बढ़ते कदमों ने प. शक्तियों को 1960 में ही चिन्तित करना शुरू कर दिया था। पश्चिमी शक्तियों का मानना है कि रूस की बढ़ती हुई ताकत अन्तर्राष्ट्रीय गलियारों, संचार व्यवस्थाओं और सामुद्रिक मार्गों के लिए खतरा बन सकती है। सोवियत संघ की अपनी नौ-सेना को सातों समुद्रों में प्रबल ताकत के रूप में उभारने की आकांक्षा को पश्चिमी शक्तियों ने अपने लिए चुनौती समझा और पश्चिमी रक्षा विशेषज्ञों ने तर्क देना शुरू किया कि सोवियत द्वारा पश्चिमी प्रभाव-क्षेत्र में घुसपैठ की चुनौती को स्वीकार न

1 प्रगति मंजूषा (नवम्बर 1987) में श्री प्रमोद तिवारी का लेख

करना पश्चिमी राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए खतरा बन सकता है। 28 जुलाई, 1974 को मास्को में नौ-सेना दिवस के अवसर पर बोलते हुए सोवियत नौ-सेना के कमाण्डर इन चीफ एडमिरल सरगेई गोर्शकोव ने कहा—हमारी नौ-सेना न तो किसी के हितों के लिए खतरा है और न ही किसी के हितों को मिटाने जा रही है। सोवियत संघ के 'राज्य-हितों' को सुरक्षित रखना और सामुद्रिक सीमाओं की रक्षा करना तथा विश्व-शान्ति को स्थायित्व प्रदान करना हमारे राष्ट्र के प्रमुख हितों में से एक है। विदेशी बन्दरगाहों पर सौहार्द्र-वृद्धि हेतु की गयी कार्यवाहियों से हमारे राष्ट्र और सम्बन्धित राष्ट्र के बीच भाई-चारा तथा विश्व-बन्धुत्व का भाव दृढ़ होता है। अतएव प्रकारान्तर से सोवियत संघ नौ-सेना शान्ति दूत का ही कार्य करती है। "इसके पहले भी सोवियत नौ-सैनिक स्टॉफ के चीफ एडमिरल ब्लादीमीर एलक्सीव ने 19 फरवरी, 1971 को दिए गए साक्षात्कार में कहा था कि—सोवियत नौ-सेना की कोई योजना किसी को हानि पहुँचाने की नहीं है। पर सोवियत संघ सातों समुद्रों में घूमने की अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहेगा।" उन्होंने यह आरोप लगाया कि आक्रामक साम्राज्यवादी ताकतें सोवियत खतरे का गलत हौवा खड़ा कर रही हैं जबकि असलियत यह है कि अमरीकी सामुद्रिक ताकत सोवियत हितों के लिए सदा से ही एक खतरा रही है।

सोवियत संघ का हिन्द महासागर में प्रवेश

सोवियत संघ की हिन्द महासागर में उपस्थिति मार्च, 1968 में उस समय शुरू हुई जब ग्रेट ब्रिटेन ने 1967 में स्वेज के पूर्व से अपनी सभी सेनाओं को हटाने का निर्णय लिया। सोवियत नौ-सेना 4 या 5 जहाजों की एक स्वाड्रन हिन्द महासागर में बराबर बनाए रखती है जिसमें मुख्यता 1 क्रूजर, 1 या 2 डिस्ट्रायर तथा सहायता देने वाली वेसेल्स रहती है जो प्रायः मित्र एशियायी तथा अफ्रीकी बन्दरगाहों पर सौजन्य प्रदर्शन हेतु ब्लाडीवोस्टक स्थित प्रशान्त बेड़े से आती-जाती रहती है। कभी-कभी कुछ जहाज काला सागर से भी आ जाते हैं। सोवियत नौ-सैन्य उपस्थिति क्षेत्रीय संघर्षों से घटने-बढ़ने के साथ प्रतिस्पर्धा बढ़ जाने से आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिए सोवियत उपस्थिति 1971, 1974, 1981 के दौरान अमरीकी नौ-सेना की ताकत के बढ़ने पर उसके प्रतिकार स्वरूप कुछ पनडुब्बियों और थल आघ्त वायुयानों के द्वारा बढ़ा दी गई थी।

सोवियत संघ की पहली 5 जहाजों वाली स्वाड्रन मद्रास बन्दरगाह पर 28 मार्च, 1968 को आयी थी जिनका नेतृत्व दिमित्री पोर्झास्की नामक (16,000–19,200 dwt) क्रूजर कर रहा था। इन जहाजों में एक गाइडेड मिसाइल डिस्ट्रायर, 1 सब-मेरीन चेन्जर और 1 आयल टैंकर सम्मिलित था। इसके बाद 1969 में एडमिरल फोकिन नामक मिसाइल क्रूजर के नेतृत्व में, जिसकी स्वाड्रन में दिमित्र पोर्झास्की क्रूजर भी सोवियत संघ ने सिंगापुर, मद्रास, कोलम्बो, बम्बई, कराची, बन्दर अब्बास, बसरा, उमकस्त्र, अदन, हुदैदा, स्वेज, पोर्ट सूडान, बेवेरा, मोगादिशू, मोम्बासा और पोर्ट लुइस की सौजन्य यात्राओं पर अपनी नौ-सेनाओं को

भेजा। मालागासी और मोजाम्बीक के स्वतन्त्र हो जाने के बाद सोवियत नौ-सेना मोजाम्बिकचैनल के बन्दरगाहों तक भी जाने लगी आस्ट्रेलियन इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर के डायरेक्टर टी. बी. मिलर के अनुसार 30 जहाजों का एक बेड़ा 1970 के पूर्वार्द्ध में हिन्द महासागर में तैनात था, जिसका एक-तिहाई युद्धक जहाज, एक-तिहाई पनडुब्बी और बाकी इंटेलीजेन्स और संचार जहाज, ग्रावजीलरीज तथा सालवेज जहाज थी। यद्यपि सी आई ए. डायरेक्टर विलियम के. सी. ने 11 जुलाई 1974 को कहा था कि सोवियत संघ के सिर्फ 6 सरफेस जहाज उपस्थित हैं जिसमें से प्रत्येक में 1 क्रूजर, 2 डिस्ट्रायर, 3 छोटी नौकाएँ, 1 पनडुब्बी और कुछ सहायक वेसेल्स हैं। अप्रेल 1972 में बांगला देश की सरकार के अनुरोध पर सोवियत नौ-सेना ने चटगाँव के बन्दरगाह को सुरंगों और डूबी हुई नौकाओं से खाली करने का काम 20 सालवेज नौकाओं और माइन स्वीपर्स के द्वारा अपने हाथ में लिया। राष्ट्रसंघ की सहायता, जिसका अर्थ अमीरीकी सहायता होता, इसीलिए नहीं ली गई क्योंकि अमरीका फिर इसके सहारे अपने राजनीतिक उद्देश्यों को पूरा करने की कोशिश करता। भारतीय नौ-सेना ने पहले ही काफी सीमा तक सुरंगें खोजकर नष्ट करने का काम पूरा कर लिया था। 1974 में स्वेज की खाड़ी में 6 सोवियत माइन स्वीपर और 5 सालवेज वेसेल्स टूटी और डूबी हुई नौकाओं को ढूंढने के कार्य म लगे रहे। स्वेजनहर के दक्षिणी हिस्से की सफाई का काम सोवियत हेलीकाप्टर क्रूजर (15000–18000 dwt) जिस पर 18 हैलीकाप्टर तैनात थे, ने किया। अगस्त, 1984 में लाल सागर के दक्षिणी किनारे पर इस्लामी जेहाद सगठनों द्वारा लगाई गई बारूदी सुरंगों को खोजने का काम दो सोवियत सेना की नौकाओं ने किया। इसके पहले जुलाई में एक सोवियत जहाज इन बारूदी सुरंगों की मार से फट गया था। सोवियत संघ की कुछ नौकाएँ, जहाज अन्टार्कटिक सागर तथा हिन्द-महासागर में मछली मारने के कार्य में भी लगी हुई हैं। एक या दो जहाज आसनोग्राफिक तथा हाइड्रोग्राफिक शोध कार्य में भी संलग्न हैं। कुछ जहाज अन्तरिक्ष यात्रा पर गए उन अन्तरिक्ष कैप्सूलों को खोजने का कार्य करते हैं जो समुद्रों में गिर जाते हैं। ऐसा ही कार्य 1968 में ZOND–6 और ZOND–8 की खोज करके किया गया।

1970 के दशक में सोवियत अड्डे एवं सैन्य सुविधाएँ

पेंटागन अधिकारियों का मानना है कि सोवियत नौ-सेना के पास अदन, उम्मकस्र (इराक) और बरबेरा (सोमालिया) जैसे भारी पैमाने पर कार्यकारी अड्डे मौजूद हैं जबकि सोवियत संघ हिन्द महासागर में इस प्रकार के किसी भी अड्डे की उपस्थिति से इन्कार करता है। 7 मार्च, 1972 को भारत की अपनी सौजन्य यात्रा पर आए हुए सोवियत नौ-सेना के कमाण्डर इन चीफ एडमिरल गोर्शकोव ने कहा था कि—"सोवियत संघ ने हिन्द महासागर के किसी भी तटवर्ती राष्ट्र में न तो कोई अड्डा बनाया और न ही कोई बनाने की योजना रखता है।" यद्यपि सोवियत नौ-सेना ने हिन्द महासागर की तटवर्ती परिधि में और अन्तर्राष्ट्रीय जल के समीप स्थित द्वीपों में सोकोत्रा के आसपास मारीशस, मालागासी तथा

कारगोडोस द्वीप समूह और सिमली तथा दियेगोगार्सिया एटाल के समीप लगर सुविधाएँ या तो ली हैं या मूरिंग बायोस स्थापित किए हैं। सोवियत संघ ने अफ्रीकी तट पर ऐसे छोटे-छोटे बायोस स्थापित किए हैं साथ ही डरबन के लगभग दक्षिणी किनारे तक मोजम्बिक चैनल में मूरिंग बायोस की शृंखला सी स्थापित कर रखी है जिससे निरन्तर बढ रहे सोवियत सामुद्रिक व्यापार को सरलता से चलाया जा सके। इस दूर दराज इलाके में स्थापित लगर की यह सुविधाएँ सोवियत सघ के उन जहाजो के लिए प्राण वायु साबित हो सकती हैं जो टूटे-फूटे भागो की मरम्मत करवाना चाहती हैं, क्योंकि सोवियत सघ के पास इस क्षेत्र में कोई स्थिर अड्डा नहीं है जिसकी वजह से वहाँ उसके यातायात की सम्भारात्मक समस्या हमेशा मुंह बाये खडी रहती है। दूसरी तरफ अमरीका और इसके सहयोगी मित्र राष्ट्रों के पास इस क्षेत्र में संचार स्टेशन, ट्रांजिट आउट पोस्ट अड्डे उपलब्ध हैं। फरवरी, 1972 में सोवियत रक्षा मन्त्री की मोगादिशू यात्रा के बाद सोमालिया के बरबेरा बन्दरगाह और हवाई अड्डे को परिष्कृत करने हेतु एक समझौता किया गया तब अमरीकियों द्वारा यह चिन्ता व्यक्त की गई कि सोवियत सघ इस अड्डे द्वारा क्षेत्र में अपने प्रभाव का जाल फैला सकता है। 1975 में मामला उभरकर तब सामने आया जब 10 जून, 1975 को सैन्य समिति के सामने गवाही देते हुए अमरीका रक्षा सचिव जेम्स स्कलेसिंगर ने नाटकीय ढग से उद्घाटित किया कि सोवियत सघ ने बारबेरा में एक मिसाइल अड्डा बना लिया है तथा दूरपरसा का एक रिसीवर ट्रांसमीटर स्थापित कर दिया है जो अमरीकी जहाजो और वायुयानो के लिए खतरा हो सकता है। सोमालिया और सोवियत सघ दोनो ने ही इस प्रकार की किसी भी सुविधा से इन्कार किया। सोमालिया के रेड स्टार नामक अखबार ने लिखा है कि इनका उद्देश्य राष्ट्रीय रक्षा आवश्यकताओं को पूरा करना मात्र है न कि सोवियत सघ के साथ मिलकर किसी आक्रामक कार्यवाही में सलग्न होना। बारबेरा में सोवियत सघ को जो भी सुविधा उपलब्ध रही हो, हार्न आफ अफ्रीका में छिड़े 'ओगादन' के युद्ध के बाद से सोमालिया और सोवियत सघ के सम्बन्धो में तनाव आ जाने के कारण नवम्बर, 1977 में सोवियत सघ को अपना सब कुछ समेट लेना पड़ा। इस आशय की खबरें पश्चिमी समाचार जगत् में छपती रही हैं कि सोवियत सघ सोकोत्रा द्वीप समूह, दक्षिण यमन के पास अड्डो की सुविधा पाने की कोशिश करता आया है। दक्षिण यमन की सरकार ने इसे यहूदी प्रोपेगण्डा मात्र कहा है।

1980 के दशक में उपलब्ध सुविधाएँ

पश्चिमी रक्षा विशेषज्ञों के अनुसार उत्तरी प हिन्दी महासागर में 1980 के दशक में सोवियत नौ-सेना तीन आधार स्तम्भों को सजोने में जुटी रही है ये है— "लाल सागर में दहलक दीप समूह अदन की खाडी सोकोत्रा के पास लगर डालने की सुविधा और अदन में सैन्य अड्डा।" अदन, जो 1967 तक ब्रिटिश नौ सैनिक एव वायु सैनिक अड्डा था। सोवियत जहाजो के लिए सौजन्य बन्दरगाह बना हुआ है। सोवियत सघ के एण्टी सब मैरीन वार फेयर और टोह लगाने वाले वायुयान

अदन के हवाई अड्डे तथा अल अलाण्ड की उडान पट्टी का इस्तेमाल करते है। अमेरिकी सूत्रो के अनुसार 1 अगस्त, 1980 तक अदन मे सोवियत सघ की 5 हवाई स्वाड्रने मौजूद थी। यद्यपि दक्षिण यमन के रक्षा मन्त्री कर्नल सलीह उवायद ने फरवरी, 1987 मे इस प्रकार की किसी सुविधा को काल्पनिक बताया। पेंटागन के अनुसार सोवियत स्वाड्रन दहलक द्वीप समूह का उपयोग लाल सागर मे रख-रखाव और यातायात सम्भारण हेतु करती है। इस द्वीप मे 8,500 टन की तैरने वाली शुष्क गोदी उड़न पट्टियाँ, ईंधन और पानी की सुविधाएँ, आपूर्ति डिपो, पनडुब्बी शरण-स्थलो एव मरम्मत की सुविधा उपलब्ध है। सोवियत सघ ने 1975 से लेकर अब तक इथोपिया को 3 खरब की सैनिक सहायता दी है। मिस्री मे भी नौ-सैनिक और वायु-सैनिक सुविधाएँ पाने की कोशिश सोवियत सघ करता आया है। 1979 से चीन-वियतनाम सीमा सघर्ष के बाद वियतनाम के साथ सोवियत सम्बन्ध प्रगाढतर होते गए और सोवियत सघ को पूर्व अमेरिकी अड्डो कामरान्त बे नौ-सैनिक अड्डा तथा डा नांग वायु अड्डे पर सुविधाएँ मिली। वारसा सन्धि देशो के बाहर 'कामराह्न बे' को सोवियत सेना का सबसे बडा माना जाता है। यह सोवियत सघ के लिए हिन्द महासागर के साथ ही प्रशान्त महासागर मे घुमने के लिए महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। अमेरिका रक्षा सचिव कैस्पर वाइन बर्गर के अनुसार कामराह्न बे अड्डा सोवियत आक्रामक क्षमता मे महत्त्वपूर्ण कारक साबित होगा। डा नांग-वायु अड्डा सोवियत सघ के टोहक वायुयानो के लिए अड्डा सोवियत सघ के टोहक वायुयानो के लिए उडन-स्थली है। वियतनाम मे एक इलैक्ट्रॉनिक स्टेशन को भी स्थापित किया गया है। सोवियत स्ट्रेटजिक रॉकेट फोर्सेज द्वारा सचालित एक भू-स्थापित उपग्रह स्टेशन भी हनोई मे है। कम्पूचिया मे कम्पोंग सोम मे सोवियत सघ अपने नौ-सैनिक अड्डे को बडी जहाजो के लिए बृहत्तर कर रहा है।

यह स्मरणीय है कि सोवियत सघ ने हिन्द महासागर के अनेक तटवर्ती राष्ट्रों को आर्थिक और सैन्य सहायता दी है जिनमे मिस्र, भारत, वियतनाम, इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान, मोजाम्बीक, दक्षिणी यमन, ईराक, सोमालिया प्रमुख है। सोवियत सघ के कुछ सैन्य विशेषज्ञ कुछ देशो मे विद्यमान हैं जैसे इथोपिया मे दहलक द्वीप और असमारा मे 1,500, द यमन मे अदन और सोकोत्रा मे 500, ईराक मे 600, मोजाम्बीक मे 300, वियतनाम मे सोवियत नौ सैनिक 7,000 हैं और वायु सैनिको की सख्या 2,500 है (स्रोत मिलिट्री बैलेन्स 1986-87) 1970 के दशक मे मिस्र सूडान और सोमालिया मे काफी सख्या मे सोवियत सलाहकार विद्यमान थे परन्तु बाद मे इन देशो के साथ सोवियत सघ के सम्बन्ध बिगड जाने के कारण सोवियत सघ को अपने सलाहकारो को वापस बुलाना पडा।

सोवियत हित एव उद्देश्य

1 सोवियत सघ द्वारा अफ्रीकी-एशियाई बाजार मे व्यापार और सैनिक साज-सामान की खपत मे वृद्धि करना।

2 हिन्द महासागर सोवियत सघ के यूरोपीय भाग और एशिया तथा इन्डोचाइना के पूर्वी बन्दरगाहो के बीच एक पुल सदृढ है। सोवियत सघ के लिए यह आवश्यक है कि सारे जल-डमरू-मध्य और सामुद्रिक गलियारे निर्बाध गति से सर्वदा खुले रहे।

3 तृतीय विश्व मे सोवियत सघ के प्रभाव मे वृद्धि हो रही है, इस हेतु सोवियत सघ मुक्ति आन्दोलन को समर्थन देता है और आवश्यकता पडने पर मित्र देशो को हर प्रकार की सहायता पहुँचाने की कोशिश करता है। इसकी उपस्थिति पश्चिमी राष्ट्रो या क्षेत्रो म उनके पिट्ठुओ को किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप अथवा मयादोहन को रोकनी है।

4 अपने दक्षिणी हिस्से की सुरक्षा—सोवियत सघ तुर्की, पाकिस्तान, ईराक, ईरान, सीरिया, अफगानिस्तान, से जुडे दक्षिणी सीमा भाग को कभी भी असुरक्षित नही छोड सकता। विशेषकर तब जब कि इनमे से कुछ राष्ट्रो के साथ अमेरिका और उसके मित्र देशो के घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा जिसके सहारे अमेरिका क्षेत्र मे यदा-कदा हस्तक्षेप करता रहता है।

5 सार्वजनिक महत्वपूर्ण उद्देश्य हिन्द महासागर मे बैठायी गई अमेरिकी पनडुब्बियो पर लगी मिसाइलो की प्रभाविता को कम करना है। सोवियत सघ का कमजोर पेट समझा जाने वाला हिन्द महासागरीय भू-भाग सम्प्रति अमेरिकी SLBM की मारक क्षमता के भीतर है। कुछ मिसाइले तो ऐसी हैं जो हिन्द महासागर से परिचालित किए जाने पर समस्त सोवियत शहरो को विनष्ट कर सकती है। उदाहरणार्थ—पोसीडान और ट्राइडेन्ट मिसाइले।

एक और दूसरा सम्बन्धित कारक अमेरिका द्वारा हिन्द महासागर का नक्षत्र युद्ध परियोजना मे सम्भावित प्रयोग है। सोवियत सघ के आरोप के अनुसार नक्षत्र युद्ध मे प्रयुक्त किया जाने वाला स्पेश ट्रैक हिस्सा दियागोगार्सिया मे बनाया जा रहा है। अमेरिका ने 1987 के प्रारम्भ मे ही उपग्रह टोह स्टेशन का निर्माण कार्य पूरा कर लिया। सोवियत सघ द्वारा अमेरिका नक्षत्र युद्ध परियोजना के खिलाफ प्रतिकारात्मक शस्त्र प्रणाली के विकास का दावा अब भी अमेरिकी वैज्ञानिको एव युद्ध विद्या विशारदो को झूठ प्रतीत होता है।

6 मत्स्य उद्योग का विकास, सामुद्रिक सर्वे, अन्तरिक्ष अनुसन्धान सम्बन्धी गतिविधियाँ, अन्टार्कटिका अभियान और अन्य खोजबीन कार्यक्रमो को सफलतापूर्वक चलाने हेतु भी सोवियत सघ के लिए हिन्द महासागर महत्वपूर्ण है।

7 एक विश्वजनीन महाशक्ति के रूप मे अपनी नौ-सैनिक क्षमता को प्रदर्शित करने हेतु हिन्द महासागर मे अपने नौसैनिक बेडे को बरकरार रखना जरूरी है।

अमेरिकी दृष्टिकोण

दूसरी तरफ सोवियत उद्देश्यो पर टिप्पणी करते हुए अमेरिका रक्षा विभाग ने सोवियत मिलिटरी पावर नामक अपने एक प्रकाशन के माध्यम से कहा है—

"सोवियत संघ का उद्देश्य पश्चिमी तथा चीनी प्रभाव को खत्म करके अपना राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक प्रभाव बढ़ाना है। सोवियत संघ अपने पिट्ठू देशों में नामरिक सुविधाएँ मुहैया रखना चाहता है तथा पश्चिम-विरोधी ताकतों को सत्तासीन होते देखना चाहता है, इसलिए वह अपने को विश्व-मुक्ति अन्दोलनों के सैद्धान्तिक मसीहा के रूप में पेश करता है। सोवियत सलाहकार शस्त्र और अन्य उपकरणों के सहारे अन्त में सत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत करते जा रहे हैं। सोवियत संघ को विगत दिनों तृतीय विश्व के देशों में मात्र अपनी थोड़ी-सी आर्थिक स्थिति के बल पर भरपूर प्रभाव जमाने का मौका मिला। असवान बाँध, बोकारो स्टील मिल, दजला-फरात बाँध जैसे कुछ निर्माण करके सोवियत संघ काफी कुछ हासिल कर गया। सोवियत संघ अपनी अर्थ सहायता को राजनीतिक उद्देश्यों की अभिपूर्ति के लिए हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है। मित्र सेनाओं को अपनी शक्ति के रूप में कई जगह भुनाया है। उदाहरण के लिए क्यूबा और पूर्वी जर्मनी। अपने इन पिट्ठू राष्ट्रों के सहारे सोवियत संघ अपना राजनीतिक उद्देश्य भी पूरा कर लेता है और खतरे में प्रत्यक्ष नहीं उलझता।"

इसके साथ ही सोवियत संघ ने कम विकसित देशों के साथ 1971 से लेकर अब तक कई मैत्री और सहयोग सन्धियाँ की हैं, जैसे—"अफगानिस्तान, भारत, हनोई, अंगोला, इथोपिया, कांगो, सीरिया, ईराक, तन्जानिया और मोजाम्बीक सम्बन्धित हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों को रूस आर्थिक और सैनिक सहायता देता है तथा 'इन सन्धियों के माध्यम से एक वैधानिक हथियार पाकर अपना राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव बढ़ाना है।" नेशनल सिक्योरिटी स्ट्रेटजी ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स' नामक प्रकाशित एक लेख में अमेरिकन सरकार मानती है कि 'मार्क्सवादी लेनिनवादी' सिद्धान्तों का मुखौटा ओढ़ कर सोवियत संघ वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदलकर अपने राष्ट्र का प्रभाव समूचे विश्व पर फैलाना चाहता है।

रूसी-अमेरिकी क्रिया-प्रतिक्रिया

सोवियत संघ का तर्क है कि उनकी नौसैनिक उपस्थिति रक्षात्मक है। सोवियत जहाज, जहाज तटवर्ती राष्ट्रों के खिलाफ कार्य करने की क्षमता नहीं रखते और न ही उन्हें स्थायी तौर पर वहाँ रखा जाता है। उनकी संख्या घटती-बढ़ती भी रहती है। भौगोलिक आवश्यकताओं तथा राजनीतिक जरूरतों के अनुसार अमरिकी शक्ति सामर्थ्य को ध्यान में रखकर ही सोवियत संघ अपने जहाजों को हिन्द महासागर भेजता है। 1971 के बांगलादेश युद्ध में अमेरिका द्वारा अपने वायुयानग्राही आणुविक पोत इन्टरप्राइज के नेतृत्व में सातवें बेड़े के 10 से अधिक जहाजों को भेजने की कार्यवाही के प्रतिकार स्वरूप ही सोवियत संघ ने 17 दिसम्बर, 1971 को अपने प्रशान्त महासागरीय बेड़े से 2 क्रूजर, 3 पनडुब्बियाँ जिसमें 1 पनडुब्बी अणुशक्ति चालित थी, भेज दी ताकि अमेरिका पाकिस्तान के पक्ष में हस्तक्षेप करने की हिमाकत न करे। स्थिति में एक परिवर्तन 9 अगस्त, 1971 को हस्ताक्षरित भारत-सोवियत शान्ति एवं मैत्री सन्धि में आया। वास्तव में सन्धि

सन्तुलनात्मक दृष्टि से की गई 'अग्रिम-कार्यवाही' थी क्योंकि अमेरिकी-पाकिस्तानी चीनी धुरी का निर्माण हो चुका था। इसी सन्धि के चलते भारत अपनी शक्ति-सामर्थ्य का भरपूर उपयोग पाकिस्तान के खिलाफ कर सका और न तो चीन ने और न ही अमेरिका ने पाकिस्तान के पक्ष में हस्तक्षेप किया।

इसी प्रकार का प्रतिकारात्मक कदम सोवियत संघ ने 1973 में अरब-इजरायल युद्ध के दौरान किया था। उस समय अक्तूबर, 1973 में अमेरिका ने अपने विमानवाही पोत हेनकाक के नेतृत्व में 7 जहाजों का बेड़ा भेज दिया था जिसकी काट हेतु सोवियत संघ भी 10 सरफेस कम्बेटेन्ट्स और 4 पनडुब्बी लेकर उतर आया। तब से अब तक अमेरिकी और सोवियत नौ-सेना में हर घटना को लेकर शक्ति प्रदर्शन की होड़-सी बनी हुई है। 1975-79 के दौरान लाल सागर और अदन की खाड़ी में महत्वपूर्ण भू-स्त्रातजिक परिवर्तन हुए। पेन्टागन अधिकारियों और अमेरिकी कमाण्डरों ने चिन्ता व्यक्त की थी कि स्वेज नहर के जून, 1975 में खुल जाने के बाद सोवियत नौ-सैनिक सामर्थ्य बन जाएगी क्योंकि तब सोवियत संघ हिन्द महासागर में अत्यअल्प समय में ही काला सागर के बन्दरगाहों में से अपनी नौ-सेना को उतार दिया करेगा पर इसके बाद भी सोवियत संघ ने अपनी उपस्थिति ज्यादा नहीं बढ़ायी। अमेरिका का छठा बेड़ा मात्र तीन या चार दिन में ही अपने भूमध्य-सागरीय अड्डों तथा मित्र राष्ट्रों के बन्दरगाहों के सहारे अरब सागर में अपनी टास्क फोर्स आसानी से उतार सकता है। साथ ही अमेरिकी नौ-सेना को फ्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन का भी सहयोग मिलेगा। 1979 में उत्तरी तथा दक्षिणी यमन के बीच हुए सीमा संघर्ष में अमेरिका तथा सऊदी अरबिया ने उत्तरी यमन को सहायता दी और सोवियत संघ ने दक्षिण यमन को। इसी प्रकार इथोपिया के इरीट्रिया प्रान्त के विद्रोहियों को सूडान तथा कुछ अन्य अमेरिका परास्त अरब राष्ट्र सहयोग कर रहे हैं। जबकि इथोपिया के साथ सोवियत संघ जुटा हुआ है। अमेरिका के साथ नए रिश्ते बनाकर मिश्र के भूतपूर्व राष्ट्रपति अनवर सादात ने सोवियत मैत्री सन्धि को मार्च, 1976 में भंग कर दिया। हार्न, आफ अफ्रीका में हुआ 'ओगाडन युद्ध' इस मायने में अति विचित्र रहा कि इथोपिया सोवियत संघ का मित्र बन गया और सोमालिया अमेरिका का जबकि इसके पूर्व स्थिति ठीक उल्टी थी। इथोपिया की मार्क्सवादी सरकार ने पाँचों अमेरिकी सैन्य स्थलों को बन्द कर दिया तथा असमारा के निकट स्थित कागन्यू में स्थापित सामरिक सचार स्टेशन और ममावा की नौ-सैनिक सुविधाओं को 23 अप्रैल, 1977 में सोमालिया की सरकार ने सोवियत संघ के साथ अपने आठ वर्षीय विशिष्ट रिश्ते को खत्म कर अमेरिका के साथ मैत्री जोड़ ली। मिस्र और सोमालिया में सोवियत संघ ने जो कुछ खोया था उसे उसने इथोपिया, दक्षिण यमन, मालागासी और मोजाम्बीक के रूप में पा लिया।

स्त्रातजिया प्रतिक्रिया

ईरानी समस्या, अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप, चीन वियतनाम सीमा-

सम्पर्ष आदि ऐसी घटनाएँ हैं कि महाशक्तियो के बीच तनाव पुन बढने लगा। 1970 के दशक का 'देतां युग' इतिहास की गाथा बनकर रह गया प्रतीत होता है सम्प्रति फारस की खाडी तनाव का ज्वलन्त स्थल बनी हुई है। अमेरिका ने 25 जहाजो के दो बेडे तैनात कर रखे हैं। 1983 मे अमेरिका ने एक नई अमेरिकी सेन्ट्रल कमाण्ड स्थापित की। सोवियत सघ ने भी अपनी क्षमता मे वृद्धि की है। सोवियत सघ ने भी अपनी क्षमता मे वृद्धि की है। जनवरी, 1980 मे सोवियत सघ का गायडेड मिसाइल क्रूजर पेट्रोपेव्लोवस्की (8,200-10,000 dwt) 5 सोवियत जहाजो का नेतृत्व करता आया जिसके साथ बेरेज़ीना नामक रीप्लेनिशमेंट जहाज भी था (40,000 dwt.) साथ ही मार्च, 1980 मे इवान रोगोव जिस पर 400 नौ-सेना के इन्फेन्ट्री जवान थे तथा जिसके साथ 2 डिस्ट्रायर लगे थे, खाड़ी मे आ पहुँचा। पश्चिमी स्रोतों के अनुसार सोवियत सघ की 25-30 जहाज खाडी मे मौजूद थे जिसमे 10-11 लडाकू जहाजे थी। सोवियत सघ का कहना है कि सोवियत सैन्य उपस्थिति मात्र 1 विमानवाही पोत के 40% टनेज के स्तर का है। निश्चित रूप से सामुद्रिक वायु शक्ति और नौ-सैन्य क्षमता की दृष्टि से अमेरिका सोवियत सघ के पास डियागोगार्सिया जैसा सामुद्रिक अड्डा है और न ही बीच समुद्र मे अपनी जहाजो की सम्भारात्मक सहायता प्रदान करने की क्षमता। सोवियत सघ क्षेत्र के साथ लगी अपनी सीमा के तहत पर ही पश्चिमी राष्ट्रों की नौ-सैनिक क्षमता का मुकाबला कर सकता है।

पूर्वी छोर पर पश्चिमी स्रोतों के अनुसार सोवियत सघ के 20–25 जहाज हैं जिनमे 3–4 पनडुब्बियां तथा 12 कम्बेट वैसेल्स है जो प्राय दक्षिणी चीन सागर मे कामरान्ह नौ-सैनिक अड्डे के इर्द-गिर्द तैनात रहती हैं। इन्ही मे से कुछ यदा-कदा हिन्द महासागर मे उतर जाते हैं। दूसरी तरफ अमरीका का ताकतवर सातवाँ बेडा फिलीपीन्स के सुबिक बे नौ-सैनिक अड्डे पर मौजूद रहता है। हिन्द महासागर मे आने वाले अधिकांश टास्क फोर्स इसी बेडे से निकाले जाते हैं। यद्यपि अमरीकी रक्षा विशेषज्ञ सोवियत सघ की उपस्थिति का हौवा प्रायः खडा करने की कोशिश करते हैं पर अमरीकी-सामर्थ्य के मुकाबले सोवियत सामर्थ्य कहीं अधिक नहीं ठहरती। भले ही विगत दो दशकों म सोवियत सघ अमरीका की ही तरह का सही मायने मे विश्व-शक्ति बन गया हो। सोवियत सघ ने 1962 के क्यूबाई मिसाइल सकट के तत्काल बाद से ही अपने अपमानजनक ढग से पीछे हटने की घटना को राष्ट्रीय अपमान मानकर अपनी नौ सैनिक सामर्थ्य को उत्थापनात्मक स्तर पर लाने हेतु जो राष्ट्रीय सकल्प लिया था, वह 1980 के दशक मे आकर लगभग पूरा हो गया है। फिर भी यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसी नौ-सैन्य क्षमता पर अमरीकी नौ-सेना अब भी सशक्त साबित होगी।

अफगान हस्तक्षेप एव खाडी युद्ध

हिन्द महासागरीय शक्ति वियोजन का विश्लेषण तब तक अधूरा रह जाता है जब तक अफगान-समस्या और खाडी युद्ध को एक साथ सम्बद्ध करके न देखा

जाए। अफगानिस्तान मे सोवियत उलझाव तथा चीन-अमरीका पाक धुरी द्वारा सोवियत सघ को अफगानिस्तान मे रक्त-विहीन कर देने की कूटयोजनात्मक चालें यदि रूस के लिए भयकर सिरदर्द बनी हुई हैं तो ईरान द्वारा ईराक के साथ चल रहे सघर्ष मे विश्व तेल आपूर्ति व्यवस्था मे व्यवधान डालने की धमकी से अमरीका के लिए एक स्थायी सिरदर्द बना हुआ है। अमरीका खाडी क्षेत्र मे अपनी तमाम शक्ति को स्थापित करने के बावजूद ईरान को एक निश्चित सीमा तक ही डरा-धमका सकता है क्योंकि सोवियत सघ यह कभी नहीं चाहेगा कि अमरीका उसकी द प सीमा पर स्थित ईरान को पूर्णतया पराभूत करके वहाँ पर पश्चिमोन्मुखी शासन सत्ता स्थापित कर दे। अतएव सोवियत सघ ईरान पर आने वाले किसी भी सम्भावित अमरीकी आक्रमणात्मक वियोजन के प्रतिकार हेतु निश्चित ही अपनी नौ-सेना के माध्यम से और यदि आवश्यकता पडी तो अफगानिस्तान के रास्ते या फिर सीधे अजर बैजान प्रान्त के रास्ते लाल सेना की ब्रिग्रेडो को ईरान मे उतार देने से नहीं हिचकेगा। इस दृष्टि से देखने पर दो तथ्य सामने आते हैं—

1 अमरीका हिन्द महासागर मे अपनी सैन्य प्रभाविता को यथाशक्ति बरकरार रखने तथा उसकी वृद्धि हेतु हर सम्भव कदम उठाने के लिए दत्त चित्त रहेगा।

2 सोवियत सघ अफगानिस्तान के माध्यम से हिन्द महागार मे निरापद रूप से शीघ्रातिशीघ्र उतरने का लोभ कभी नही छोड पाएगा। इस प्रकार वह अफगानिस्तान से कभी पलायन नही करेगा क्योंकि अब तक अमरीका-चीन-पाक धुरी अफगान मुजाहिदो के माध्यम से सोवियत सघ को इतना नुकसान नही पहुँचा पायी है वह उसे सहन करने मे असमर्थ हो।

अमरीका अफगानिस्तान को लाख चाहने के बावजूद रूस के लिए दूसरा वियतनाम नही बना पाया वही दूसरी ओर यदि अमरीका ईरान मे सशस्त्र हस्तक्षेप करने की हिमाकत करता है तो सोवियत सघ को ईरान को अमरीका के लिए दूसरा वियतनाम बनाने के लिए किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं उठानी पडेगी। यह भी सम्भव है कि ईरान मे उतर आये अमरीकी और रूसी सैनिक तृतीय विश्व-युद्ध की रणभेरी बजा दें।

हिन्द महासागर मे सोवियत सामर्थ्य की सीमाएँ

अंतिम विश्लेषण के तौर पर कहा जा सकता है कि सोवियत सैन्य उपस्थिति कई कारणो से आक्रमणात्मक भूमिका निभाने मे असमर्थ हैं—

1 इसका आकार अमरीकी नौ-सेना के आकार से छोटा है।

2 इसके पास पर्याप्त सम्भारात्मक सहायता उपलब्ध नहीं है।

3 हिन्द महासागर मे उतरने वाले सभी गलियारो पर सोवियत विरोधी ताकतो का प्रभुत्व है। उदाहरण के लिए भूमध्य सागर से होकर हिन्द महासागर मे अवतरण करने से पहले सोवियत सघ को ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, टर्की तथा

अन्ततः अमरीका से उलझना पड़ेगा। प्रशान्त बेड़े में आने वाली किसी भी वियोजित नौ-सेना को ब्लाडी वोस्टक के आगे जापानी बेड़ा, चीन सागर में चीनी समुद्री शक्ति और मलक्का प्रायद्वीप के आसपास आस्ट्रेलियायी, इण्डोनेशियायी और समग्र अमरीकी सैन्य शक्ति के अवरोध को हटाना पड़ेगा।

स्पष्टत सोवियत सघ का हिन्द महासागर मे उतरने वाला हर गलियारा पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नियन्त्रित रहेगा, दूसरी तरफ अमरीका, चीन, नाटो और अपने अन्य मित्र राष्ट्रो के सहारे सोवियत सघ को सामुद्रिक युद्ध करने के पूर्व ही उसके बेड़ों को नष्ट करने मे सक्षम हो सकेगा। इस प्रकार हिन्द महासागर मे सोवियत नौ-सेना उपस्थिति को मात्र प्रतिकारी सेना के रूप मे समझा जाना चाहिए क्योंकि यह किसी भी स्तर पर पाश्चात्य शक्तियों की मिली-जुली सामर्थ्य का प्रतिकार करने मे सक्षम नही है। अपनी इस मजबूरी को समझते हुए भी सोवियत सघ अब तक हिन्द महासागर को शान्ति-क्षेत्र घोषित करने तथा बाह्य शक्तियो के हिन्द महासागर से दूर रहने के तटवर्ती राष्ट्रों के प्रस्तावो को राष्ट्रसघ मे अपना समर्थन देता आया है।



Appendix–E

ब्रिटिश विदेश नीति : राष्ट्रीय पृष्ठभूमि; राजनीतिक अनुभव; नीति-निर्माण की प्रक्रिया; विदेश नीति पर गृह नीति का प्रभाव; राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध; साँस्कृतिक एवं विचारधारागत बन्धन

(British Foreign Policy : National Background; Political Experience; Policy-making Process; Impact of Domestic Policy on Foreign Policy; Commonwealth Relations; Cultural and Ideological Ties)

राष्ट्रीय पृष्ठभूमि
(National Background)

प्रत्येक देश की विदेश नीति उस देश के भूगोल, सामाजिक और आर्थिक सरचना एव राजनीतिक अनुभवो से प्रभावित होती है। यह सभी तत्व विदेश नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण निर्णय लेने तथा समय-समय पर उनमे परिवर्तन करने की दृष्टि से निर्णायक प्रभाव डालते है। ब्रिटेन की विदेश नीति के सन्दर्भ मे इन तत्वो का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ग्रेट ब्रिटेन मे विदेश नीति की रचना प्रक्रिया एव उसमे भाग लेने वाले सरकारी तथा गैर-सरकारी अभिकरणो पर विचार करने से पूर्व, यहाँ हम उसकी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि (National Background) के रूप मे ग्रेट ब्रिटेन के भूगोल, सामाजिक और आर्थिक सरचना एव राजनीतिक अनुभव का सक्षेप मे अध्ययन करेंगे।

1. भौगोलिक स्थिति
(The Geographical Situation)

ग्रेट ब्रिटेन का क्षेत्रफल लगभग 94307 वर्ग मील है जो समूचे ससार के स्थलीय क्षेत्र का 0 2% है। यह फ्रांस का दो पाँचवां, अमेरिका का 30वां तथा सोवियत रूस का 80वां भाग है। 1947 तक ग्रेट ब्रिटेन का विश्वव्यापी साम्राज्य था। यह इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी था कि इसमें सूर्य नहीं छिपता था।

लगभग डेढ़ करोड़ वर्गमील के भू-भाग पर इसका अधिकार था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ब्रिटेन के ये उपनिवेश क्रमशः स्वतन्त्र हो गए तथा इस देश का भौगोलिक आकार केवल इसकी सीमाओं में सिमट कर रह गया। अपनी वर्तमान भौगोलिक स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन एक छोटा-सा द्वीप है जिसकी लम्बाई लगभग 750 मील तथा चौड़ाई किसी भी स्थान पर 300 मील से अधिक नहीं है। यह यूरोप के उत्तर-पश्चिमी कोने में स्थित है तथा लगभग 20 मील चौड़े इंगलिश चैनल द्वारा इसे यूरोप महाद्वीप से अलग कर दिया गया है। इस चैनल का ब्रिटेन की विदेश नीति में प्रारम्भ से ही विशेष महत्त्व रहा है। इसके माध्यम से यह देश 17वीं और 18वीं शताब्दियों में बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सका है। इसके अतिरिक्त प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों में भी देश की रक्षा की दृष्टि से इस चैनल का विशेष योगदान रहा है। इंगलिश चैनल द्वारा यूरोप से अलग होने के कारण यूरोप के विभिन्न देशों में घटने वाली विभिन्न क्रान्तियों का इस देश पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका। यहाँ की राजनीति एवं विदेश नीति में क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का प्रभाव होने की अपेक्षा विकासवादी तथा सांविधानिक दृष्टिकोण का प्रभाव अधिक रहा है। भौगोलिक दृष्टि से केन्द्रीय स्थिति प्राप्त होने के कारण ग्रेट ब्रिटेन विदेश व्यापार का केन्द्र बना रहा है।

मध्यकाल से ही ब्रिटिश विदेश नीति के मुख्यतः दो लक्ष्य रहे हैं—प्रथम, अपनी शक्तिशाली नौ-सेना द्वारा समुद्रों पर स्वामित्व बनाए रखना तथा द्वितीय, यूरोप महाद्वीप में शक्ति-सन्तुलन की स्थापना करना। इसके लिए वह किसी एक देश की सैनिक शक्ति को सर्वोच्च न होने देने तथा ऐसा हो जाने पर उसके विरुद्ध अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर गुटबन्दी करने की नीति अपनाता रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ब्रिटिश नीति के दो परम लक्ष्य मुख्यतः उसकी भौगोलिक स्थिति के परिणाम थे। ब्रिटेन चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है इसलिए आत्म-रक्षा तथा शक्तिवर्द्धन दोनों दृष्टियों से यहाँ के शासकों ने ऐसी नीतियाँ अपनाईं ताकि ब्रिटेन समुद्र की लहरों पर शासन कर सके। अतीत काल में ग्रेट ब्रिटेन की नौ-सेना को जिस देश द्वारा भी चुनौती दी गई है वही उसका शत्रु बन गया है। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व जर्मनी ने शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण किया तो ग्रेट ब्रिटेन विलियम कैसर द्वितीय का विरोधी बन गया। शक्ति-सन्तुलन की नीति भी उसके विशाल साम्राज्य का परिणाम थी। ग्रेट ब्रिटेन यह नहीं चाहता था कि यूरोप में कोई एक राज्य शक्तिशाली बन कर उसके साम्राज्य के लिए संकट उत्पन्न कर दे। यदि कोई राज्य शक्तिशाली बनता भी था तो ग्रेट ब्रिटेन उसके विरुद्ध अन्य राज्यों के साथ गुटबन्दी करके शक्ति-सन्तुलन स्थापित कर देता था। लुई 14वें तथा नेपोलियन बोनापार्ट के समय फ्राँस तथा हिटलर के समय जर्मनी जब शक्तिशाली हो गए तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसी प्रकार की नीति का अनुशीलन किया। इस नीति के अनुसार ब्रिटेन ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता एवं शत्रुता के सम्बन्ध गतिशील बनाए रखे। यह कहा जाता है कि इंगलैण्ड का कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं है, केवल

स्थायी स्वार्थ एवं उद्देश्य है। इनसे अनुकूलता रखने वाले राज्य उसके मित्र बन जाते हैं तथा प्रतिकूलता रखने वाले शत्रु बन जाते हैं।

भौगोलिक स्थिति का प्रभाव ब्रिटेन की विदेश नीति के लक्ष्य निर्धारित करने पर भी रहा है। इसने समुद्रों की स्वतन्त्रता, इगलिश चैनल के सामने वाले यूरोपीय प्रदेशो मे किसी शक्ति को प्रभावशाली न होने देना, इस प्रदेश के बेल्जियम, हॉलैण्ड आदि देशो को तटस्थ बनाए रखना आदि अपनी विदेश नीति के गौण लक्ष्य स्वीकार किए थे जो सम्भवत भौगोलिक कारणो से ही प्रेरित थे। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही ब्रिटेन द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण सागरो तथा उनके तटवर्ती प्रदेशो पर अपनी प्रभुता बनाए रखने की चेष्टा करता रहा।

II सामाजिक-आर्थिक सरचना

(Socio-Economic Structure)

ग्रेट ब्रिटेन प्रजातान्त्रिक मूल्यो के जनक के रूप मे स्वतन्त्रता एव समानता के प्रति गहरी आस्था रखते हुए भी आर्थिक एव धार्मिक आधार पर सामाजिक भेदभाव के दोषो से मुक्त नही रहा है। ब्रिटिश समाज को श्रेष्टता के सिद्धान्त एव पारिवारिक व्यवस्था ने ब्रिटिश राजनीतिक जीवन को काफी प्रभावित किया है। नार्मन विजय के बाद श्रेष्ठता का सिद्धान्त स्थापित हुआ जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश समाज मे एक कुलीन वर्ग का जन्म हुआ। राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के समय यह सामाजिक असमानता पर्याप्त प्रभावी थी। राजपरिवार से सम्बन्धित तथा धनी-मानी एव कुलीन लोग समाज के शेष सदस्यो की अपेक्षा अधिक उच्च स्थिति रखते थे तथा राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो पर उनका निर्णायक प्रभाव रहता था। धीरे-धीरे प्रजातान्त्रिक परम्पराओं के विकसित होने तथा श्रमिक दल की सरकार द्वारा प्रगतिशील नीतियाँ अपनाने के कारण ग्रेट ब्रिटेन के जन-जीवन मे सामाजिक असमानता की मात्रा मे क्रमश कमी आई है। इतने पर भी यहाँ की राजनीति समानता-असमानता के प्रश्नो से अभी तक मुक्त नही हो सकी है। यहाँ आर्थिक दृष्टि से असमानता है। राष्ट्रीय आय का 25% भाग यहाँ केवल 10% जनसख्या को ही मिल पाता है। राष्ट्र की कुल सम्पत्ति के 80% भाग पर केवल 9% जनसख्या का ही अधिकार है। यह तथ्य यहाँ की आर्थिक असमानता की स्थिति को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। इस असमानता के कारण यहाँ के राजनीतिक व्यवहार पर वर्गीय तत्त्वो का प्रभाव पडता है। राजनीतिक दलो का गठन, दबाव समूहो की कार्य प्रक्रिया, निर्वाचनो मे प्रत्याशियो का चयन, मतदाता का निर्णय, बहुमत प्राप्त दल की रीति-नीति आदि सभी बातें वर्गीय दृष्टिकोण से प्रभावित होती है। ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति भी यहाँ की सामाजिक सरचना एव वर्गीय असमानता से प्रभावित होती है। सम्पन्न वर्ग अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए एक विशेष प्रकार की विदेश नीति अपनाने के लिए सरकार पर दबाव डालता है। जब सरकार मजदूर दल की बनती है तो समाजवादी राज्यो के साथ ग्रेट ब्रिटेन के

सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हो जाते हैं तथा रूढ़िवादी दल की सरकार बनने पर ये सम्बन्ध कम हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं एवं प्रश्नों पर ग्रेट ब्रिटेन का दृष्टिकोण वहाँ की सामाजिक संरचना से प्रभावित होता है। वहाँ की सरकार जनमत के प्रति पर्याप्त संवेदनशील है अतः यह प्रभाव निश्चित रूप से होता है।

आर्थिक संरचना की दृष्टि से उल्लेखनीय है कि ग्रेट ब्रिटेन एक औद्योगिक देश है। पुनर्जागरण के युग में औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश वस्तुतः इसी देश में हुआ था। औद्योगीकरण की अपेक्षाओं ने यहाँ की विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। ग्रेट ब्रिटेन प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एक अभावग्रस्त देश है। यहाँ लोहा तथा कोयला तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है किन्तु रबर, तेल, लकड़ी तथा औद्योगिक एवं खाद्य कृषि उत्पादनों की दृष्टि से इसे अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। कच्चे माल की प्राप्ति के लिए ब्रिटिश पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों ने यहाँ की सरकार को साम्राज्यवादी विदेश नीति अपनाने को प्रेरित किया। ब्रिटिश कारखानों में बने माल को बेचने के लिए बाजार खोलने हेतु भी एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के देशों में ब्रिटेन ने साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी नीति अपनाई। सम्भवतः ब्रिटेन के उदाहरण को ध्यान में रख कर ही लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का अगला कदम माना था। विश्व में विशाल साम्राज्य की स्थापना ब्रिटेन ने आर्थिक कारणों से की थी तथा आर्थिक कारणों से ही वह इसे छोड़ने को आसानी से सहमत हो गया। अभी भी ब्रिटेन की विदेश नीति अन्य तत्वों के साथ ही मुख्य आर्थिक हितों से प्रभावित होती है।

औद्योगीकरण के साथ ही ब्रिटेन की आर्थिक संरचना में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। इन परिवर्तनों ने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया। ब्रिटेन में 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में मध्यम वर्ग का प्रभाव रहा है तथा इस वर्ग के प्रभाव में वहाँ की राजनीति में उदारवादी दल का जन्म हुआ। जब औद्योगीकरण के कारण वहाँ बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे लग गए तथा पूँजी संचय एवं पूँजी के एकाधिकार को प्रोत्साहन मिला तो पूँजीपति वर्ग प्रभावशाली बन गया तथा मध्यम वर्ग का प्रभाव घट गया। इसके बाद आर्थिक आधार पर समाज में ध्रुवीकरण की प्रवृत्तियाँ पनपीं। तदनुसार यहाँ की राजनीति का भी ध्रुवीकरण हो गया—रूढ़िवादी दल (Conservative Party) तथा श्रमिक दल (Labour Party) के रूप में। इनमें से प्रथम को पूँजीपति वर्ग का तथा द्वितीय को *श्रमिक वर्ग का समर्थन प्राप्त है।*

पिछले दो दशकों में ब्रिटेन की सामाजिक आर्थिक संरचना में पुनः परिवर्तन आ रहा है। इसका कारण यह है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगतियों के परिणामस्वरूप ब्रिटिश उद्योगों में स्वचालन (Automation) की अभिवृद्धि हुई है तथा इसके फलस्वरूप वहाँ का श्रमिक अब अधिक कुशल, तकनीकी विशेषज्ञ एवं सफेद कालर वाला हो गया है। फलतः वहाँ मध्यम वर्ग का प्रभाव बढ़ा है। इसके

अतिरिक्त श्रमिक दल की सरकार द्वारा द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद किए गए राष्ट्रीयकरण एवं अन्य आर्थिक सुधारों के माध्यम से पूँजीपति वर्ग का प्रभाव घटा है तथा श्रमिकों के प्रभाव में वृद्धि हुई है। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अनुसार राज्य द्वारा समाज के निम्न वर्गों को दी गई सामाजिक सेवाओं के कारण उनका स्तर भी ऊँचा उठा है तथा श्रमिक संगठनों की संख्या एवं प्रभाव बढ़ा है। आर्थिक संरचना में आने वाले इन परिवर्तनों ने ब्रिटेन की विदेश नीति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है।

III राजनीतिक अनुभव
(Political Experience)

ग्रेट ब्रिटेन का वर्तमान राजनीतिक रूप एवं व्यवहार एक क्रमिक विकास तथा अनुभव का परिणाम है। इसके वर्तमान राजनीतिक रूप में इंग्लैण्ड तथा वेल्स, स्कॉटलैण्ड तथा उत्तरी आयरलैण्ड शामिल है। 1707 में Act of Union द्वारा इंग्लैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड को संयुक्त किया गया तथा एक ही संसद् द्वारा दोनों के लिए कानून का निर्माण किया जाने लगा। उत्तरी आयरलैण्ड में अभी भी एक पृथक् संसद् तथा कार्यपालिका है जो कुछ आन्तरिक विषयों पर क्षेत्राधिकार रखती है। ब्रिटिश संसद् में उत्तरी आयरलैण्ड से 12 सदस्य निर्वाचित होकर जाते हैं। ब्रिटिश संसद् ही यहाँ के प्रतिरक्षा विदेशी मामले, समुद्रपारीय व्यापार, सिक्के, डाक सेवाएँ, कराधान आदि महत्त्वपूर्ण मामलों पर विधि निर्माण करती है।

ब्रिटेन के राजनीतिक अनुभवों की प्रचुरता एवं श्रेष्ठता के सम्बन्ध में मुनरो का यह कथन उल्लेखनीय है—"पूर्व ने सभ्य मानव जाति को आध्यात्मिक दर्शन प्रदान किया है, मिस्र ने वर्णमाला प्रदान की है, मूर ने बीजगणित तथा यूनान ने मूर्तिकला की शिक्षा दी है और रोम ने विश्व को कानून के आधार प्रदान किए हैं, ब्रिटेन ने विश्व को राजनीतिक विचार तथा सांविधानिक पद्धति प्रदान की है।"

ब्रिटिश राजनीतिक अनुभव में हमें तीन प्रमुख विचारधाराओं का समन्वय मिलता है—रूढ़िवाद, उदारवाद एवं समाजवाद। ब्रिटेन के निवासी यद्यपि रूढ़िवादी, परम्परागत संस्थाओं और सिद्धान्तों के पोषक हैं तथापि उन्होंने आवश्यक परिवर्तनों को सदैव स्वीकार किया है। नवीन परिस्थितियों के साथ समझौता करने की प्रवृत्ति ब्रिटिश सांविधानिक विकास और व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण देन है। औद्योगीकरण के बाद ब्रिटेन का समाज पूँजीपति एवं श्रमिक वर्गों में बँट गया है। देश का दलीय ढाँचा इसी विभाजन पर आधारित है। रूढ़िवादी दल पूँजीपतियों एवं उच्च मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तथा श्रमिक दल कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों, कर्मचारियों एवं दुकानदारों की एक बड़ी संख्या का प्रतिनिधित्व करता है। ब्रिटेन का जनमानस स्वभाव से ही परम्परावादी होने के कारण एकदम आकस्मिक परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। फलतः यहाँ की राजनीतिक संस्थाएँ एवं शासन-प्रणाली सदियों के अनवरत परिश्रम का परिणाम है। ब्रिटिश जनता की प्रकृति

समझौतावादी है। यह सैद्धान्तिक झगडो मे न पड़ कर केवल व्यावहारिक पहलू को ही विशेष रूप से ध्यान मे रखती है।

परम्परावादी स्वभाव के कारण ब्रिटेन के पूर्वजो का राजनीतिक आचरण एक बडी सीमा तक यहाँ के वर्तमान आचरण को निश्चित करता है। प्रारम्भ मे ब्रिटेन की शासन-शक्ति एव उत्तरदायित्व राजतन्त्र एव कुलीनतन्त्र के हाथो मे केन्द्रित थे किन्तु धीरे-धीरे ये जनता के हाथो मे आ गए तथा प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना हो गई। ब्रिटेन मे राजनीतिक सत्ता का यह हस्तान्तरण आकस्मिक अथवा क्रान्तिकारी रूप से नही हुआ वरन् क्रमिक विकास द्वारा हुआ है। कुलीनतन्त्र ने समयानुकूल अपना रग बदला तथा प्रजातन्त्र से सामजस्य कर लिया। यह कभी प्रजातन्त्र के मार्ग मे बाधक नही बना है वरन् इसके विपरीत इसने प्रजातन्त्र को गति एव नेतृत्व प्रदान किया है। ग्रेट ब्रिटेन के राजनीतिक अनुभव की इस कृति को हृदयगम करने के लिए सक्षेप मे इसके राजनीतिक इतिहास का अवलोकन वाछनीय रहेगा।

ग्रेट ब्रिटेन की वर्तमान राजनीति क्रमिक ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। इसकी जडे सदियो पुराने इतिहास म जमी हुई हैं। ब्रिटेन का लिपिबद्ध इतिहास केल्ट जाति के समय से प्रारम्भ होता है जिसने ईसा से 600 वर्ष पूर्व आक्रमण करके अपना आधिपत्य स्थापित किया था। केल्ट जाति के बाद ब्रिटेन रोमन साम्राज्य के चगुल मे फँस गया तथा पाँचवी शताब्दी उत्तरार्द्ध मे एग्लो-सैक्सन जाति ने उस पर अधिकार कर लिया। ऑग तथा जिक के मतानुसार ब्रिटेन की राजनीतिक सस्थाओ के विकास का यह प्रथम काल था।[1] राजपद एव स्थानीय स्वशासन ये दो सस्थाएँ इस युग की बहुत बडी देन है।

ब्रिटेन पर एग्लो-सैक्सन जाति का प्रभाव 1066 तक रहा जबकि नार्मन देश के विलियम ऑफ नारमण्डी ने आक्रमण करके यहाँ नार्मन राज्य की स्थापना की। नार्मन काल मे सामन्तशाही की स्थापना हुई। विलियम ने एक Great Council अथवा Magnum Councilism की स्थापना की। इसकी एक अन्तरिम समिति Curia Regis नाम से स्थापित की गई। कालान्तर म यह एक उपयोगी सस्था बन गई तथा इसमे से एक लघुतर समिति Privy Council के नाम से गठित हो गई। बाद मे इसने Council of Ministers तथा Cabinet का विकास हुआ। Great Council से धीरे-धीरे ससद के द्वितीय सदन लार्ड सभा का विकास हुआ। हेनरी द्वितीय ने नार्मन-कालीन शासन-व्यवस्था मे परिष्कार किया। 1199 से 1216 तक ब्रिटेन का राजा जॉन था। इसके अत्याचारो का सभी सामन्तो ने व्यापक रूप से विरोध किया तथा अन्त म जॉन को मैग्नाकार्टा (1215) के रूप म स्वय की शक्तियो को सीमित करके कुछ जनाधिकार स्वीकार करने पडे। ऑग तथा जिन्क के कथनानुसार ' इसके द्वारा सामन्तो ने राजा पर यह प्रतिबन्ध लगाकर

1 *Ogg & Zink* Modern Foreign Governments, p 4

कि वह अमुक कार्य न करे, देश की निरकुशवाद की ओर प्रवाहित होती हुई धारा को जनतन्त्र की दशा मे मोड दिया।"

ब्रिटिश ससद् का विकास भी क्रमिक प्रयास तथा अनुभवो के माध्यम से हुआ है। हेनरी तृतीय के समय 'महान् परिषद्' को आधुनिक ससदीय व्यवस्था की दिशा मे आगे बढने का अवसर मिला। एडवर्ड प्रथम के समय 1275 मे ससद् ने वेस्टमिस्टर की प्रथम सविधि पारित की। 1295 मे एडवर्ड प्रथम ने मॉडल ससद् आमन्त्रित की तथा इसके बाद धीरे-धीरे इस सस्था मे जन प्रतिनिधियो की सख्या बढती गई। बाद के दस वर्षो के विकास मे यह एक सदनीय ससद् द्विसदनीय बन गई। प्लानटेगनेट वश के शासन काल (1154 से 1399) मे ससद् की शक्तियाँ काफी बढ गई। इसने 1327 मे एडवर्ड द्वितीय को सिहासन से उतार दिया। रिचार्ड द्वितीय को इसके सामने झुकना पडा तथा लकास्ट्रीयन वश के राजा हेनरी को राजा बना दिया गया। इस वश के शासन काल (1399 से 1485) मे ससद् को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हुए। ट्यूडर काल (1485 से 1603) मे राजाओ की निरकुश सत्ता स्थापित हो गई तथा ससद् की शक्तियो को आघात लगा। इस काल मे राजकीय शक्ति पोप के नियन्त्रण से मुक्त हो गई। स्टुअर्टकाल मे राजा तथा ससद् एक-दूसरे के विरोधी रहे। 1688 मे यहाँ गौरवपूर्ण क्रान्ति हुई। अब राजा की निरकुशता समाप्त हो गई तथा अनेक अधिनियमो के माध्यम से ससद् की प्रभुता स्थापित हो गई। 1714 मे हैनोवर वश के जॉर्ज प्रथम को राजा बनाया गया। उसके बाद मे ब्रिटेन मे सदैव के लिए ससद् की सर्वोच्चता स्थापित हो गई।

हैनोवर वश के राजा अग्रेजी नही जानते थे अत उन्होने ससद् तथा मन्त्रिमण्डल को स्वेच्छानुसार व्यवहार करने के लिए छोड दिया। फलत कैबिनेट व्यवस्था का विकास हुआ। ससद् ने 1714 के बाद अनेक सुधार अधिनियमो के माध्यम से अपनी शक्ति एव मताधिकार का विस्तार किया है। 1969 मे एक जनप्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा मताधिकार की न्यूनतम आयु 18 वर्ष कर दी गई है।

ब्रिटिश राजनीतिक अनुभव के इस सक्षिप्त इतिहास के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन की वर्तमान राजनीति एक लम्बे ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। इसके विकास का यह क्रम अभी रुका नही है तथा निरन्तर गतिशील है। जिस प्रकार ब्रिटेन की राष्ट्रीय राजनीति मे हलचले रही हैं उनसे उसके विदेश सम्बन्धो पर भी प्रभाव पडा है। न केवल स्वेच्छाचारी राजाओ ने अपनी शक्ति के विस्तार के लिए वरन् ससद् जैसी प्रजातान्त्रिक सस्थाओ ने भी औद्योगीकरण के हितो को ध्यान मे रखकर साम्राज्यवादी नीति का अनुशीलन किया है। ब्रिटिश नाविको एव उद्यमियो ने जनशून्य प्रदेशो पर उपनिवेश बसाए तथा एशिया, अफ्रीका एव लेटिन अमेरिका के देशो मे साम्राज्य का विस्तार किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ तक ग्रेट ब्रिटेन अपने विशाल साम्राज्य, औद्योगिक शक्ति एव शक्तिशाली नौसेना के कारण विश्व की महाशक्ति था किन्तु द्वितीय

विश्वयुद्ध के घटनाचक्रों ने उसकी स्थिति को बदल दिया। उसका साम्राज्य समाप्त प्राय हो गया तथा उद्योग धन्धों को भारी धक्का लगा।

नीति-निर्माण प्रक्रिया सरकारी और गैर-सरकारी अधिकरण तथा विदेश नीति पर गृह नीति का प्रभाव
(The Policy-Making Process : Government and Non-Government Agencies and Impact of Domestic Policy on Foreign Policy)

किसी भी देश की भाँति ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति की रचना पर उसके राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का निर्णायक प्रभाव रहता है। एक राज्य चाहे कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो और उसके बाह्य वातावरण के सम्बन्ध मे उसके पास चाहे कितनी ही सूचनाएँ क्यों न हो किन्तु वह सम्प्रभुता की सीमाओं के बाहर विशेष प्रभाव नही रखता। एक शक्ति सम्पन्न और सामर्थ्यवान राज्य भी अपनी विश्वव्यापी राजनयिक एवं गुप्तचर सेवाओं के माध्यम से अन्य राज्यो के सम्बन्ध मे सभी बातें नही जान पाता। इसके अतिरिक्त देश के अन्य राजनीतिक तत्त्व वहाँ की राजनीति पर निर्णायक प्रभाव डालते है जैसे राज्य की कृषि, विज्ञान, उद्योग, राष्ट्रीय स्वास्थ्य, अपराध-दर, शिक्षा की स्थिति आदि सभी चीजें वहाँ की राजनीति को प्रभावित करती हैं और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नीति रचना को प्रभावित करती हैं। प्रत्येक राष्ट्रीय पहलू का उसकी सम्पन्नता एवं सैनिक क्षमता पर प्रभाव होता है।

विदेश नीति रचना की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व देश के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक उद्देश्य का निर्धारण करना है। वास्तव में इसी अर्थ मे एक देश की विदेश नीति की दृष्टि से वहाँ की राष्ट्रीय राजनीति को महत्त्व दिया जाता है। जब हम किसी देश की विदेश नीति की रचना प्रक्रिया का अध्ययन करते है तो मुख्यत विदेशी मामलो में उस राज्य के प्रमुख उद्देश्यो को परिभाषित और पुन परिभाषित करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करते हैं।

आदर्श रूप मे एक विदेश नीति निर्माता का कार्य बाह्य एवं आन्तरिक हितों के बीच समझौता स्थापित करना है। यह विभिन्न मूल्यांकनों और व्याख्याओं के बीच चयन करता है तथा प्रशासनिक यन्त्र के लिए उद्देश्यो का निर्धारण करता है। डेविड वाइटल (David Vital) के कथनानुसार एक पूर्ण विदेश नीति निर्माता यन्त्र की तुलना एक कम्प्यूटर से की जा सकती है।[1] यह यन्त्र अपने बाह्य परिवेश अथवा वातावरण से प्रभावित होता है।

ब्रिटिश विदेश नीति का बाह्य वातावरण
(The External Environment of British Foreign Policy)

ग्रेट ब्रिटेन वर्तमान काल मे जिन बाह्य परिस्थितियों और परिवेशात्मक

1 *David Vital*, The Making of British Foreign Policy, p. 20.

तत्वो मे प्रभावित है वे यहाँ की विदेश नीति के स्वरूप, रचना-प्रक्रिया एव कार्यान्विति को प्रभावित करते हैं। अतीतकाल में ब्रिटेन का विशाल साम्राज्य था और उस साम्राज्य की रक्षा के लिए उसकी शक्तिशाली जन-सेना थी। आज यद्यपि ब्रिटेन की विदेश नीति का वाह्य वातावरण अतीतकाल की भाँति सम्पन्न, प्रभावशाली और व्यापक तो नही है किन्तु फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य है। सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से विश्व के विभिन्न राज्यो के साथ की गई सैनिक सन्धियो और मजबूत सैनिक व्यवस्था के कारण यह देश अपनी रक्षा मे पूर्णत समर्थ है। यह सयुक्त राष्ट्रसघ की सुरक्षा परिषद् का निषेधाधिकार प्राप्त सदस्य है। विश्व के अनेक भागो मे कभी भी इसका प्रादेशिक एव सैनिक प्रभाव है। यह राष्ट्रमण्डल का मुख्य सदस्य है। यह अनेक देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखता है तथा पाँचो महाद्वीपो के अनेक राष्ट्रो के साथ इसके आर्थिक, तकनीकी, सैनिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध है। यह विभिन्न राज्यो का बैंकर, पूँजी का आपूर्ति-कर्त्ता, व्यापारिक सहभागी तथा सैनिक हथियारो आदि की व्यवस्था करने वाला राज्य है। ब्रिटेन की वाह्य परिस्थितियों की दृष्टि से उपलब्धियाँ उल्लेखनीय है। उदाहरण के लिए निकट अतीत मे इसकी महानता और वैज्ञानिक तकनीकी एव सांस्कृतिक दृष्टि से उपलब्धियाँ, स्थाई घरेलू समाज एक सम्मानजनक राजनयिक सेवा आदि। वर्तमान ब्रिटिश विदेश नीति के वाह्य वातावरण की दृष्टि से कुछ बातें निम्नलिखित हैं—

(i) ब्रिटेन की शक्ति स्थिति—ग्रेट ब्रिटेन जनसख्या की दृष्टि से विश्व मे 11वाँ राष्ट्र है किन्तु उत्पादन और शक्ति के उपभोग की दृष्टि से वह तीसरा राज्य है। व्यापारी जहाजो की दृष्टि मे यह प्रथम, कोयला उत्पादन मे तृतीय, भवन निर्माण की दृष्टि से द्वितीय, लोहा एव इस्पात की दृष्टि से पाँचवाँ, सीमेंट उत्पादन मे सातवाँ, स्वचालितों के उत्पादन मे पाँचवाँ तथा रेडियो एव टेलीविजन के उत्पादन मे पाँचवाँ राज्य है। यह विश्व का द्वितीय महान् व्यापारिक राष्ट्र है। यदि यहाँ के लोगों के रहन-सहन के स्तर की दृष्टि मे देखा जाए तो ब्रिटेन का सातवाँ स्थान है। द्वितीय विश्व युद्ध के वाद ब्रिटेन की शक्ति स्थिति मे अन्तर आया है किन्तु इससे पूर्व यह विश्व की महाशक्ति था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों में ग्रेट ब्रिटेन अन्य बडे औद्योगिक राज्यों जैसे जापान, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस और इटली की अपेक्षा पिछड गया। आज उसका राजनीतिक और सैनिक प्रभाव विश्वव्यापी नही है।

(ii) राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या—ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कोई तात्कालिक खतरा नही है। उसकी भौगोलिक स्थिति उसे अन्य देशो के साथ तनाव से मुक्त करती है। कोई महाशक्ति उसके विरोधी पडौसी के रूप मे नही है और विशेष गम्भीर समस्याएँ भी उसके सामने नही है। विश्व के विभिन्न सैनिक सघर्ष ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय सीमाओं से पर्याप्त दूर हैं। शीत युद्ध के समय सोवियत सघ की चुनौती का सामना करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने अमरिका के साथ सैनिक सन्धि करके अपनी सुरक्षा व्यवस्था कर ली है।

(iii) संरचनात्मक समस्याएँ—ग्रेट ब्रिटेन की प्रमुख संरचनात्मक कमजोरियाँ और कठिनाइयाँ अन्य प्रकार की हैं। मुख्य समस्या यह है कि ग्रेट ब्रिटेन का आकार छोटा है तथा इसकी जनसंख्या बिखरी हुई है। इसे प्रकृति से प्राप्त उपहार संख्या और गुण की दृष्टि से पर्याप्त सीमित हैं। यहाँ की कृषि योग्य भूमि केवल आधी जनसंख्या का ही भरण-पोषण करने योग्य है। पेट्रोल को प्राथमिकता देने वाले इस युग में शक्ति के साधनों की दृष्टि से ब्रिटेन में केवल कोयला उपलब्ध होता है। प्राकृतिक गैस और अणु शक्ति के साधनों का क्रमश विकास हो रहा है। यहाँ लोहे का कुछ भण्डार है किन्तु अन्य महत्त्वपूर्ण खनिज मुश्किल से प्राप्त हो पाते हैं। इन कमियों के परिणामस्वरूप इस देश की आर्थिक सम्पन्नता के लिए विदेश व्यापार का उल्लेखनीय महत्त्व है। यही कारण है कि आर्थिक एवं वित्तीय मामलों से सम्बन्धित मन्त्री और अधिकारी ब्रिटिश विदेश नीति पर उल्लेखनीय प्रभाव रखते हैं।

(iv) विदेश नीति के दो संवेदनशील क्षेत्र—ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति में कम से कम दो क्षेत्र ऐसे हैं जो उसकी मूलभूत परिस्थितियों से निर्णायक रूप से प्रभावित होते हैं। नीति निर्माताओं को इन क्षेत्रों में वातावरण के प्रमुख तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेने होते हैं। ये दो क्षेत्र हैं—राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक कल्याण की देखभाल। प्रथम की दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन नाटो सन्धि संगठन का सदस्य बना और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ इसने विशेष सम्बन्ध स्थापित किए। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों, समस्याओं, कठिनाइयों और संघर्षों के सम्बन्ध जो दृष्टिकोण अपनाया गया उस पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन के बाह्य वातावरण ने उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं हितों पर गम्भीर रूप से प्रभाव डाला है। बाह्य वातावरण के प्रभाव में ग्रेट ब्रिटेन विश्व की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में स्वयं भागीदार बनता है। यह भागीदारी पुन. उसके आन्तरिक साधन स्रोतों से मर्यादित होती है।

(v) विश्व शक्ति न होना—आज ग्रेट ब्रिटेन विश्व शक्ति बनने का न तो संकल्प रखता है और न इसके लिए इसके पास साधन स्रोत है। 1947 में भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य के अस्त होने की जो कहानी प्रारम्भ हुई थी वह अब तक कुछ पूरी हो चुकी है। जहाँ-तहाँ ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ अवशेष उसकी उपलब्धि अथवा सम्पन्नता के प्रतीक न रहकर उसके लिए समस्या बने हुए हैं।

अतीत काल में ब्रिटेन का विश्व शक्ति का स्तर मुख्यत उसके साम्राज्य का प्रभाव था। इस काल में वह साम्राज्यवादी व्यवस्था के सम्प्रभु सदस्यों पर अपने राजनीतिक नेतृत्व के लिए आवश्यक शक्ति अपने साम्राज्य से ही प्राप्त करता था। 1947 में ब्रिटिश शक्ति का वह स्रोत समाप्त हो गया। भारत को स्वतन्त्रता देने के साथ ही ब्रिटेन अपने असहनीय दायित्वों से मुक्त हो गया, किन्तु हिन्द महासागर और उसके परे के अपने शेष मित्रों एवं आश्रितों की सुरक्षा की शक्ति भी अब ब्रिटेन

मे नही रही । आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड की प्रादेशिक सुरक्षा की गारण्टी देने मे अक्षम होने के कारण इन राज्यो के साथ ब्रिटेन के सम्बन्ध मौलिक रूप से बदल गए । इस प्रकार के अनेक परिवर्तनो के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ग्रेट ब्रिटेन की राजनीतिक और सैनिक शक्ति गम्भीर रूप मे घट गई ।

(ii) अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध—राष्ट्रीय सुरक्षा एव राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण की दृष्टि से ब्रिटेन सरकार पर पडने वाले दबावो ने उसे अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रेरित किया । इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ब्रिटिश विदेश नीति मे समय-समय पर असमरसता एव असगतियाँ भी दिखाई दी है। असगति का एक उदाहरण यह है कि एक ओर यह सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ यथा सम्भव घनिष्ठ, राजनीतिक और सैनिक सम्बन्ध रखता है तथा दूसरी ओर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्यो के साथ इसके घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ ब्रिटेन के विशेष सम्बन्धो की एक विशेषता यह है कि ये सम्बन्ध अत्यन्त दीर्घकालीन है । दूसरे, ब्रिटेन की दृष्टि से इन सम्बन्धो का मूल्य सैनिक प्रकृति का है और तीसरे, यह इस प्रकार के सम्बन्ध हैं कि दोनो ही पक्ष इनका अर्थ अपनी दृष्टि से लगाते है । 19वी शताब्दी के अन्त मे जब अमेरिका की शक्ति बढी तभी से उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्त बन गए और सयुक्त राज्य के साथ सघर्ष को हर कीमत पर रोकने की चेष्टा की गई । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जर्मनी के विरुद्ध अमेरिका से सन्धि तथा विश्वयुद्ध के बाद विकसित सोवियत सघ के साथ सघर्ष आदि की स्थिति मे यह स्पष्ट हो गया था कि अमेरिका और ब्रिटेन के बीच सन्धि सम्भव और आवश्यक है । ब्रिटेन अमेरिका के साथ बहुपक्षीय नाटो सन्धि सगठन मे शामिल हो गया और उसके बाद व्यापारिक, आर्थिक एव अणुशक्ति की दृष्टि से दोनो राज्यो के बीच निरन्तर सम्बन्धो का विस्तार हुआ । ब्रिटेन के साथ सहयोग मे अमेरिका की रुचि व्यवहारवादी रही है ।

ब्रिटेन के राजनयिक और सैनिक क्षेत्रो मे अमेरिका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य रहा है । इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप के राज्यो के साथ ब्रिटेन के घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने मे ब्रिटिश अधिकारियो की रुचि रही है । यूरोपीय आर्थिक समुदाय मे शामिल होने के लिए प्रथम औपचारिक प्रस्ताव 1961 मे रूढिवादी सरकार द्वारा प्रस्तुत किया गया । पुन: 1967 मे मजदूर दल के प्रभावशाली नेताओ ने इस प्रस्ताव को आगे बढाया । अन्त मे अपने आर्थिक हितो को ध्यान मे रखते हुए ब्रिटेन यूरोपीय आर्थिक समुदाय मे शामिल हो गया । ब्रिटिश नीति के व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि ब्रिटेन के राजनय और सुरक्षा पर आर्थिक एव वित्तीय तत्त्वो ने उल्लेखनीय प्रभाव डाला है और तद्नुसार आर्थिक एव वित्तीय प्रशासन सम्बन्धित राजकोष एव अन्य सस्थानो का विदेश नीति की रचना पर प्रभाव रहता है ।

नीति-निर्माता : सरकारी एवं गैर-सरकारी अभिकरण तथा विदेश नीति पर गृह नीति का प्रभाव
(The Policy Makers Governmental & Non-Governmental Agencies & Impact of Domestic Policy on Foreign Policy)

विदेश नीति के निर्माता केवल कुछ व्यक्ति नहीं होते अथवा कुछ अपवाद स्वरूप परिस्थितियों को छोड़कर अकेले कार्य करने वाले छोटे समूह भी नहीं होते। यह हो सकता है कि कोई विशेष निर्णय अथवा नीति सम्बन्धी कोई विशेष क्षेत्र कुछ थोड़े से व्यक्तियों द्वारा प्रबन्धित किया जाए किन्तु ये लोग भी अपनी नीति के आधार के रूप में आवश्यक सूचनाओं की उपलब्धि के लिए दूसरों पर निर्भर रहते हैं। इसके अतिरिक्त लिए गए निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए भी उन्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। घरेलू नीतियों की भाँति विदेश नीति की दृष्टि से भी स्पष्ट और अन्तिम निर्णय लेना असम्भव होता है। अनेक छोटे-छोटे निर्णयों द्वारा नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जाते हैं। परिस्थितियों के प्रति समायोजन और विभिन्न अवस्थाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं के कारण विदेश नीति का रूप निर्धारित होता है। विलियम वालास के कथनानुसार "अन्य बड़े औद्योगिक राज्यों की भाँति ब्रिटेन में विदेश नीति एक संगठनात्मक रूप-रचना में विकसित होती है जिसके अन्तर्गत उत्तरदायी व्यक्तियों का व्यक्तित्व, कार्य, लक्ष्य, घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दबाव आदि सभी बातें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती है।"

नीति निर्माण एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इसमें अन्तिम निर्णय हमेशा छोटे-छोटे निर्णयों और अनिर्णयों के अवसरों का योग मात्र होता है। अन्तिम निर्णय भी छोटे निर्णयों की भावी शृंखला की प्रथम कड़ी होता है। निर्णयों की इस शृंखला में अनेक सरकारी और गैर-सरकारी अभिकरण अपना योगदान करते हैं। इन नीति निर्माताओं पर बाहरी दुनिया के तत्त्वों और स्वयं नीति निर्माताओं की प्रशासनिक और मानसिक दुनिया के आन्तरिक तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ होती हैं। उल्लेखनीय है कि यदि हम विदेश नीति की रचना प्रक्रिया को जानना चाहते हैं तो इसके लिए सबसे पहला कदम यह होगा कि व्यक्तियों के उस समूह को पहचाना जाए जो नीति रचना के कार्य में भाग लेते हैं। इन अधिकारियों की सम्पूर्ण राज्य प्रशासन में गतिविधियों को परिभाषित करना भी आवश्यक है। यह कार्य निश्चय ही अत्यन्त जटिल है। इस दृष्टि से प्रत्येक देश के लिए और प्रत्येक समय के लिए कोई एक सार्वभौमिक समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। विदेश मन्त्री और विदेश मन्त्रालय के अन्य कर्मचारी जिन्हें औपचारिक रूप से यह कार्य सौंपा जाता है, विदेश नीति की प्रक्रिया के सच्चे सूचकांक प्रस्तुत नहीं कर पाते। इनके अतिरिक्त सुरक्षा मन्त्री, वित्त मन्त्री एवं उनके अन्य अधीनस्थ अधिकारी भी नीति के विकास पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं। नीति रचना के विकास का उल्लेख करना निश्चय ही कठिन है फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि एक विदेश नीति

के प्रारम्भिक जीवाणु, दूरस्थ राजदूतो, विधायको, पत्रकारो एव शिक्षा शास्त्रियो के विचारो मे निहित रहते हैं। यद्यपि इनमे से कोई भी नीति-निर्माताम्रो की औपचारिक सूची में शामिल नही होता किन्तु फिर भी सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने के लिए इनको ध्यान मे रखना आवश्यक है।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि विदेश नीति रचना की प्रभावपूर्ण सत्ता हो सकता है कि औपचारिक सरकारी यन्त्र से बाहर कही निहित हो। उदाहरण के लिए स्टालिन कालीन रूस मे यह स्थिति थी। अत केवल औपचारिक सरकारी यन्त्र के अध्ययन मात्र से ही हम विदेश नीति की रचना-प्रक्रिया के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इसके अतिरिक्त सरकारी यन्त्र मे भी वरिष्ठ अधिकारियो एव कनिष्ठ कर्मचारियो के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। विदेश नीति की रचना मे सरकार के कनिष्ठ अधिकारी, विदेशी पदो पर कार्य करने वाले राजनयज्ञ, सशस्त्र सेनाओ के वरिष्ठ अधिकारी, सरकारी पदसोपान के निम्नस्तरीय अधिकारी, हित समूहो एव लॉबीज के प्रवक्ता, पत्रकार, अपने सरकारी एव गैर-सरकारी प्रवक्ताओ के माध्यम से विदेशी सरकारें तथा प्रभावशाली सत्ता एव दायित्व रखने वाले निर्णय-निर्माता आदि सभी भाग लेते हैं।

विदेश नीति के निर्माताओ सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि छोटे एव महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के अनुसार नीति-निर्माता भी बदल जाते है। छोटे विषयो पर निर्णय पद-सोपान के निम्न स्तर पर ही अपेक्षाकृत छोटे समूह मे विचार-विमर्श करने के बाद ले लिया जाता है जबकि प्रमुख प्रश्नो पर निर्णय से पूर्व उस पर प्रत्येक लोगो के बीच अधिक सावधानीपूर्वक विचार-विमर्श किया जाता है। अनेक निर्णय बौद्धिक तर्क-वितर्क की अपेक्षा अन्तरात्मा एव अनुभूति के आधार पर लिए जाते हैं। अधीनस्थ कर्मचारी जब यह अनुभव करता है कि अमुक निर्णय को उसके उच्च अधिकारी द्वारा स्वीकार कर लिया जाएगा तो वह निर्णय ले लिया जाता है। ऐसी स्थिति मे वास्तविक नीति-निर्माता अधीनस्थ अधिकारी बन जाता है। इन सभी सामान्य तथ्यो का उल्लेख यहाँ हम कर रहे है ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति के निर्माता केवल औपचारिक सरकारी अभिकरण भी हैं।

ब्रिटिश विदेश नीति के आचरण का औपचारिक दायित्व विदेश मन्त्री Secretary of State for Foreign Affairs) तथा उसके अधीन विदेश एव राष्ट्रमण्डल कार्यालय (Foreign and Commonwealth Office) का होना है। ब्रिटिश सविधान की परम्पराओ के अनुसार विदेश मन्त्री के कार्यो पर मन्त्रिमण्डल तथा उसके माध्यम से प्रधानमन्त्री की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। जहाँ विदेश नीति सम्बन्धी विषयो का राज्य के अन्य विभागो से सम्बन्ध रहता है वहाँ विदेश मन्त्री तथा उसका कार्यालय उन विभागो के साथ मिलकर नीति रचना करते हैं। इस प्रकार निर्मित विदेश नीति को विदेश एव राष्ट्रमण्डल कार्यालय द्वारा प्रत्यक्ष

रूप से अथवा विदेशो मे स्थित ब्रिटिश दूतावासो एवं मिशनों के माध्यम से कार्यान्वित किया जाता है।

ब्रिटेन मे विदेश नीति रचना की वास्तविक प्रक्रिया उच्च स्तर की अपेक्षा निम्न स्तरो पर औपचारिक संरचना का अधिक अनुगमन करती है। कनिष्ठ अधिकारी एवं पद-सोपान द्वारा निर्णय लेते समय औपचारिक नियमो का अधिक ध्यान रखा जाता है तथा केवल गम्भीर एवं शीघ्रतापूर्ण लिए जाने वाले निर्णय उच्च अधिकारियो पर छोड़े जाते हैं। उच्च स्तरो पर औपचारिकताओं का निर्वाह कम होता है। यहाँ जिन लोगो को विदेश नीति रचना का दायित्व सौंपा जाता है उनके व्यक्तिगत सम्बन्धो, दुराग्रहो एवं हितो का सचार के अनौपचारिक माध्यमों की रचना एवं नीति के प्रतिफल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहता है। गम्भीर सकट के अलावा अन्य अवसरो पर निर्णयो की स्वीकृति कम से कम औपचारिक तरीकों से होती है यद्यपि उन्हे लिया अनौपचारिक रूप मे जाता है।

विदेश नीति रचना के औपचारिक अभिकरणो मे प्रधानमन्त्री, विदेश मन्त्री, अन्य मन्त्री, विदेश एवं राष्ट्रमण्डल कार्यालय, मन्त्रिमण्डल सचिवालय आदि मुख्य है तथा अनौपचारिक अभिकरणों मे जनमत, ससद, राजनीतिक दल, प्रशासनिक व्यवस्था, नौकरशाही, दबाव समूह, निजी संस्थाओ आदि का नाम लिया जा सकता है। यहाँ ब्रिटिश विदेश नीति के निर्माता इन सभी औपचारिक एवं अनौपचारिक तथा सरकारी एवं गैर-सरकारी अभिकरणो का सक्षेप मे परिचय प्राप्त करेंगे।

(1) प्रशासनिक यन्त्र—ब्रिटिश विदेश नीति की रचना जिस सरकारी यन्त्र द्वारा की जाती है उसमें केन्द्रीय एवं अन्तःसम्बन्धित सरकारी प्राधिकारी उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। मन्त्रिमण्डल, विदेश कार्यालय एवं राजनयिक सेवा, विदेश नीति की रचना और उसकी कार्यान्विति मे सक्रिय भूमिका अदा करते है। ब्रिटिश राजकोष का प्रभाव भी पर्याप्त व्यापक और निर्णायक रहता है। ब्रिटेन की प्रशासनिक व्यवस्था मे नीति सम्बन्धी प्रत्येक पहलू पर परस्पर विचार-विमर्श किया जाता है और उसके आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक तथा अन्य पहलुओं की दृष्टि से विचार होता है। सामूहिक विचार-विमर्श की स्थिति मे विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय व्यक्तिगत दबाव और प्रभाव का परिणाम नही है। ब्रिटिश राजनयिक इतिहास मे केवल दो उदाहरण ऐसे है जबकि शान्तिकालीन विदेश नीति की रचना पर भी एक दो प्रमुख व्यक्तियों का प्रभाव रहा है। उदाहरण के लिए, हिटलर के समय चेम्बरलेन एवं ईडन दोनो व्यक्तियो ने ब्रिटेन की विदेश नीति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है।

ग्रेट-ब्रिटेन मे विदेश नीति रचना का कार्य एक सामूहिक गतिविधि है और इसके लिए प्रभावशाली समूह मे राजनीतिज्ञ एवं नागरिक सेवक दोनो ही होते हैं। राजनीतिज्ञ राजमुकुट के मन्त्रियो के रूप मे अपनी सांविधानिक सत्ता का प्रयोग करते है और नागरिक सेवक मन्त्रियो के सूचनादाता एवं प्रशासनिक यन्त्र के नियन्त्रणकर्त्ता के रूप मे कार्य करते है। राजनीतिज्ञ प्रशासनिक अधिकारियो को आदेश देने की

शक्ति रखते है, किन्तु उनके आदेश की सीमा यह है कि वे मूलत प्रशासनिक अधिकारियों पर आश्रित रहते है। वे अपना पद प्राप्त करने के बाद भी अपने पूर्ववर्ती के *सरकारी कागजातो से अपरिचित रहने के कारण वस्तुस्थिति का पूरा* ज्ञान नही रखते। उनका वर्तमान का ज्ञान भी विशेष नही होता। गैर-विशेपज्ञ होने के कारण मन्त्रीगण लोक-सेवको पर निर्भर रहते हैं। लोक-सेवको का ज्ञान और अनुभव एव सेवा की सरचना उन्हे विदेश नीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण बना देती है।

विदेशी मामलो से प्रत्यक्षत सम्बन्धित मन्त्रियो एव अधिकारियों पर कार्यभार अत्यन्त व्यापक रहता है। विदेश कार्यालय मे आने वाले विभिन्न प्रतिवेदनो की मात्रा से इस कार्यभार की गुरुता का अनुमान लगाया जा सकता है। 1962 मे इस कार्यालय को परम्परागत प्रकार के 14500 औपचारिक राजदूतो पत्र, 75000 *तार और 25000 पत्र प्राप्त हुए थे। इस व्यापक सचार से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय* सम्बन्धो में भारी परिवर्तन आ गया है। इसका कारण यह है कि नए राज्यो की सख्या मे वृद्धि हुई है, सरकारो तथा व्यापारिक, वैज्ञानिक एव सौस्कृतिक सम्बन्धों जैसे गैर-राजनीतिक कार्यों के प्रति ध्यान दिया जाने लगा है, अन्तर्राष्ट्रीय सकटो की *सख्या मे वृद्धि हुई है जिस पर एक साथ विचार किया जाना आवश्यक है।* विदेश नीति के रचनाकार इन सभी नए विकासो से प्रभावित होते हैं। विदेश मन्त्री को अपने सभी दायित्वो का निर्वाह स्वय करना होता है क्योकि जब तक वह विश्व मे घटने वाली प्रत्येक घटना का ज्ञान नही रखता तब तक स्वागत मे वह कुछ भी नही कर सकता।

विदेश नीति रचना मे राजनीतिज्ञो एव प्रशासको के कार्यभार के कारण जो परिणाम फलित होते है वे इस प्रकार है—(1) अधिकांश विषयो पर उनका ज्ञान ऊपरी तथा साधारण प्रकार का होता है। यदि कोई समस्या उनके राजनीतिक भविष्य पर प्रभाव डालती है तो वे अन्य पहलुओ को अनदेखा कर देते है। (2) नौकरशाही द्वारा स्थायित्व अथवा यथास्थिति को विशेष महत्त्व दिया जाता है। (3) विदेश सम्बन्धों के नौकरशाही कृत प्रशासन मे समरसतापूर्ण विदेश नीति की रचना कठिन बन जाती है। (4) सामूहिक निर्णय होने के कारण विदेश नीति सम्बन्धी विभिन्न निर्णयो के लिए कोई विशेष अधिकारी उत्तरदायी नही *बन* पाता।

(ii) मन्त्रिमण्डल—विलियम वालास ने लिखा है कि विदेश नीति के आचरण का अन्तिम उत्तरदायित्व सम्पूर्ण सरकारी नीति की भाँति मन्त्रिमण्डल का होता है।[1] मन्त्रिमण्डल मे लगभग 20 सदस्य होते हैं। इनमे विदेश मन्त्री, *सुरक्षा मन्त्री, व्यापार-मण्डल का अध्यक्ष, चाँसलर ऑफ एक्सचेकर तथा प्रधानमन्त्री* महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी है। मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय नीति की रचना सम्बन्धी अपने

1 "The ultimate responsibility for the conduct of overseas policy, as for the whole range of government policy, rests with the cabinet."

—*William Wallace* : The Foreign Policy Process in Britain, 1977, p. 45

मुख्य दायित्व को सम्पन्न करने के अतिरिक्त अनेक मन्त्रालयों के कार्यों तथा नीतियों के मध्य समन्वय स्थापित करता है ताकि सरकार अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। मन्त्रिमण्डल की विभिन्न समितियाँ सम्बन्धित मन्त्रालयों की गतिविधियों के बीच समन्वय स्थापित करती है। इनमे सुरक्षा समिति तथा नीति समिति का नाम उल्लेखनीय है।

मन्त्रिमण्डल की साप्ताहिक बैठकों में विदेशी मामलों को प्राय सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है। कभी-कभी सम्पूर्ण बैठक मे केवल समझौता वार्ताओं की प्रगति के प्रतिवेदनों और अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सामान्य स्थिति को ही विचारणीय विषय बनाया जाता है। इसकी बैठकों मे विदेश मन्त्री अपने निर्णयों एव कार्यक्रमों पर मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की राय जानता है और उनका समर्थन प्राप्त करता है। दूसरे देशों के साथ कोई द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय सन्धि करने से पूर्व मन्त्रिमण्डल की बैठक में विचार कर लिया जाता है। यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के ससद् मे आने का अन्देशा होता है तो मन्त्रिमण्डल म उस पर पहले से ही विचार कर लिया जाता है।

मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण सभी कूटनीतिक कागजों को मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के बीच वितरित कर दिया जाता है। यहाँ मन्त्रिमण्डल केवल परामर्शदाता की भूमिका नहीं निभाता वरन् यह एक निर्णयकारी निकाय है और इसके लिए सभी सदस्यों के पास समुचित सूचना पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है। डेविड वाइटल के कथनानुसार, कार्यपालिका यन्त्र मे मन्त्रिमण्ल सर्वोच्च सत्ता है तथा इसकी सर्वोच्चता पूर्ण एव अन्तिम प्रकृति की है।[1] मन्त्रिमण्डल किसी भी विभाग के दिन-प्रतिदिन के कार्यों मे प्रत्यक्ष रूप से कोई रुचि नहीं लेता वरन् सम्बन्धित मन्त्री को ही ये कार्य सौप देता है। इस प्रकार विदेश मन्त्री ही विदेश नीति की दृष्टि से निर्णायक भूमिका निभाता है। मन्त्रिमण्डल का अभिमत एव विचार-विमर्श विदेश नीति का स्वरूप तय करने मे प्रभाव अवश्य रखता है। विदेश नीति के विभिन्न पहलुओं पर विदेश मन्त्री के अतिरिक्त दूसरे मन्त्री प्रभाव डालते है और इस प्रकार वित्त मन्त्री, वाणिज्य मन्त्री, यातायात मन्त्री आदि सभी मन्त्रियों का किसी न किसी अर्थ मे विदेश नीति पर प्रभाव रहता है। ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति रचना मे मन्त्रिमण्डल एकीकृत दृष्टिकोण से कार्य करता है। ब्रिटिश सरकार एव प्रशासन की यह एक मूलभूत विशेषता है कि यहाँ एक व्यक्ति द्वारा निर्णय कदाचित् ही लिए जाते हैं और ऐसे निर्णय भी कम होते हैं जिनमे सभी हितों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

1 ' In this sense the Cabinet is the supreme authority within the executive machine and its paramountcy within the executive domain as of an absolute and final character "

—*David Vital* The Making of British Foreign Policy, 1968, p 51.

(iii) प्रधानमन्त्री एवं अन्य मन्त्री—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री वहाँ की सरकार और मन्त्रिमण्डल का नेता होता है। अत विदेश नीति की रचना एव कार्यान्विति के लिए वह अन्तिम रूप से उत्तरदायी है। कुछ ब्रिटिश प्रधानमन्त्रियो ने अपनी इस भूमिका को इतने प्रभावशाली तरीके से निभाया है कि उनका नाम व्यक्तिगत कूटनीति के लिए चिरस्मरणीय बन गया है। इनमे पामर्सटन, लॉयड जॉर्ज, चर्चिल तथा मैकमिलन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विदेश नीति सम्बन्धी प्रत्येक निर्णय के लिए प्रधानमन्त्री का उत्तरदायित्व इतना अन्तिम और मौलिक है कि विदेश नीति के प्रत्येक बिन्दु की आलोचना एक नेता के रूप मे उसके सम्मान एव प्रभाव को धूमिल कर देती है।

मन्त्रिमण्डल के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री का सम्बन्ध पर्याप्त उल्लेखनीय होता है। ईडन के बाद प्राय सभी प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्री के रूप मे अनुभव प्राप्त कर चुके थे। हीथ का अनुभव मुख्यत यूरोपीय आर्थिक समुदाय की वार्ताओ तथा विल्सन का विदेशी वाणिज्यिक सम्बन्धो तक ही रहा है। विदेश नीति की रचना मे प्रधानमन्त्री का योगदान नया नही है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लॉयड जॉर्ज ने बहुत कुछ अपनी विदेश नीति को सचालित किया। चेम्बरलेन ने विदेश कार्यालय एव विदेश मन्त्री दोनो की अवहेलना करते हुए विदेश नीति का सचालन किया था। विदेशी मामलो के प्रति विभिन्न प्रधानमन्त्रियो का आकर्षण रहा है और इसलिए वे अपने महत्त्वपूर्ण कार्यो को छोडकर भी शिखर सम्मेलनो एव विदेशी यात्राओ मे भाग लेते रहे हैं।[1] उदाहरण के लिए जुलाई, 1966 के आर्थिक सकट के समय विल्सन मास्को चले गए थे तथा उनके लौटने पर ही सकट निवारण के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जा सके। यदि आज कोई प्रधानमन्त्री विश्व के दूसरे देशो मे कम रुचि ले तो भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनय एव अन्य देशो के व्यवहार के कारण यह सम्भव नही रहा है। राजनयिक परम्पराओ के कारण राष्ट्रपति डिगॉल से समझौता-वार्ता करने के लिए विदेश मन्त्री की अपेक्षा स्वय प्रधानमन्त्री मैकमिलन को जाना पडा था। इसी प्रकार मि. हीथ ने राष्ट्रपति निक्सन से भेंट की। शिखर सम्मेलनो की राजनीति और दूसरे देशो के प्रधानमन्त्रियो एव राष्ट्रपतियो की विशेष राजनीतिक रुचि के कारण ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व भी चाहे-अनचाहे रूप मे बढ जाते हैं। अपनी विदेश यात्राओ के कारण तथा अन्य देशो के राज्य एव सरकार के अध्यक्षो का स्वागत करने मे प्रधानमन्त्री का बहुत-सा समय व्यय हो जाता है।

मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से सर्वोच्च है किन्तु प्रधानमन्त्री व्यक्तिगत रूप मे उस पर प्रभुता रखता है। प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रिमण्डल का चयन किया जाता है और वही विभिन्न मन्त्रियो को काम बाँटता है। प्रधानमन्त्री की इच्छा-पर्यन्त ही वे अपने पद पर कार्य करते है। दलीय नेता के रूप मे उसकी सार्वजनिक स्थिति अद्वितीय रहती है। प्रचार और प्रसार के साधनो पर नियन्त्रण होने के कारण वह

1 *Mackintosh* The British Cabinet, p. ...

प्रयत्न लोकप्रिय बन जाता है। मन्त्रिमण्डलीय कार्य व्यापार, मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय, सुरक्षा सेवायें एवं उच्च सरकारी पदों पर नियन्त्रण के कारण वह प्रशासनिक यंत्र पर उल्लेखनीय शक्ति रखता है। विदेश सम्बन्धों के प्रबन्ध में प्रत्यक्ष योगदान करता है तथा विदेश नीति की रचना में उच्च स्तर पर उसका इतना प्रभाव रहता है कि वह सर्वाधिक शक्तिशाली अधिकारी बन जाता है। यद्यपि विदेश सम्बन्धों के संचालन का कार्यभार विदेश मंत्री को सौंपा जाता है किन्तु वास्तविक व्यवहार में प्रधानमंत्री की भूमिका किसी प्रकार कम नहीं होती। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि आजकल की परिस्थितियों में कोई भी विदेश मंत्री स्वयं विदेश सम्बन्धों का संचालन अकेला रह कर नहीं करता वरन् प्रधानमंत्री उसकी शक्तियों का भागीदार रहता है। मंत्रिमण्डल के सभापति और समस्त सरकारी कार्य व्यापार का अध्यक्ष होने के कारण प्रधानमन्त्री ही प्रमुख राजनयिक समस्याओं में व्यक्तिगत रूप से भूमिका अदा करता है। राजनयिक रिवाजों के अनुसार मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में स्वयं प्रधानमन्त्री ही भाग लेता है। यह अन्य राज्यों की राजधानियों के दौरे करता है, शिखर-सम्मेलनों में भाग लेता है, राजदूतों के साथ अन्य राज्यों के उच्च अधिकारियों से मिलता है। उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण ही वह डेविड वाइटल द्वारा उच्चतर विदेश मन्त्री कहा गया है।[1]

प्रधानमन्त्री ही यह निर्धारित करता है कि सरकार में किसे विदेश मन्त्री बनाया जाए, उसे क्या कार्य सौंपे जाएँ, निर्णय की दृष्टि से उसे कितनी स्वतन्त्रता दी जाए और सैनिक समस्याओं के समाधान में उसे प्रधानमन्त्री का कितना सहयोग दिया जाए। यहाँ अतीत का अनुभव और सम्बन्धित व्यक्ति के राजनीतिक और व्यक्तिगत निर्णय को पर्याप्त प्रभावित करते हैं। प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री के आपसी सम्बन्ध विदेशी मामलों के संचालन में अन्य दृष्टि से भी महत्त्व रखते हैं। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिस गति से विभिन्न कार्यकलाप हो रहे हैं उनके कारण द्रुतगामी निर्णय आवश्यक बन गए हैं। यह व्यवहार में सम्भव नहीं है कि अल्पकालीन सूचना के आधार पर पूरे मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलाई जाए। यदि यह तकनीकी रूप से सम्भव हो तो भी सदैव सार्थक नहीं होता। मन्त्रिमण्डल में विचारणीय समस्या पर विभिन्न पहलुओं से सोचने के लिए मन्त्रियों को कम से कम दो दिन का समय चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य मन्त्रिगण जिन्हें विदेशी मामलों का विशेष ज्ञान नहीं होता वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर समुचित विचार प्रकट नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में विदेश मन्त्री किसी विषय पर सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल में विचार करने की अपेक्षा केवल प्रधानमन्त्री के साथ विचार-विनिमय कर लेता है।

अकेले प्रधानमन्त्री से विचार-विमर्श करने तथा पूरे मन्त्रिमण्डल के साथ विचार करने के मध्य विदेश मन्त्री के सम्मुख एक तीसरा मार्ग विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय

1 "The Prime Minister is, and is likely to remain, a Super-Foreign Secretary"
—*David Vital* : The Making of British Foreign Policy, 1968, p 45.

समस्याओं पर मन्त्रिमण्डलीय समितियों में विचार-विमर्श करना है। यह मन्त्रिमण्डल की स्थायी समिति हो सकती है अथवा विशेष समस्या पर विचार के लिए तदर्थ समिति भी बनाई जा सकती है। ये तदर्थ समितियाँ निरन्तर विचार-विमर्श एवं निर्णय रचना का कार्य करती हैं। इन समितियों के सदस्य प्रधान मन्त्री द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि केवल विदेश मन्त्री ही ब्रिटेन के *अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के लिए उत्तरदायी विभाग का अध्यक्ष नहीं होता वरन् उसके* अतिरिक्त राष्ट्रमण्डलीय मन्त्री (Commonwealth Secretary) एवं समुद्रपारीय विकास के मन्त्री भी होते है। 1956 तक एक उपनिवेश मन्त्री (Colonial Secretary) तथा विदेशी मामलों में विशेष परिभाषित उद्देश्यों से युक्त विभिन्न मन्त्री भी रहे है। मैकमिलन के मन्त्रिमण्डल में केन्द्रीय अफ्रीकी मामलों से सम्बन्धित एक मन्त्री तथा साझा बाजार के साथ समझौता करने के लिए मन्त्री भी हुआ करते थे। ये दोनों मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे। प्रधान मन्त्री द्वारा मन्त्रिमण्डल समन्वय के रूप में विदेशी मामलों पर विशेष नियन्त्रण रखा जाता है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा मन्त्री और विदेश मन्त्री के कार्यक्षेत्र अतिशय पूर्ण होते है। अतः प्रधान मन्त्री उनकी सीमा निर्धारित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं।

विदेशमन्त्री मन्त्रिमण्डल में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। राजनीतिक सम्मान की दृष्टि से इसे उच्चतर के दो या तीन मन्त्रियों में गिना जाता है। उसके आचरण में स्वतन्त्रता का अनुपात कई बातों पर निर्भर करता है। जैसे उसका व्यक्तित्व, प्रधान मन्त्री के साथ उसके सम्बन्ध, जनता पर प्रभाव, अपने दल में स्थिति आदि। वह विदेशी कूटनीतिज्ञों से सम्बन्ध बनाए रखता है और शिखर सम्मेलनों में प्रधान मन्त्री की सहायता करता है।

(iv) **अन्तर्विभागीय समन्वय**—मन्त्रिमण्डल के विभिन्न विभाग जो विदेशी मामलों एवं विदेश नीति रचना में भाग लेते है, उनके बीच समन्वय स्थापित करना एक समस्या बन जाती है। इस समन्वय की समस्या का मूल कारण यह है कि कोई भी एक मन्त्रालय अथवा एक मन्त्री ब्रिटेन के विदेशी मामलों के लिए उत्तरदायी नहीं है। विदेश कार्यालय, राष्ट्रमण्डल कार्यालय, समुद्रपारीय विकास मन्त्रालय एवं सुरक्षा सेवाएँ सभी का यहाँ के विदेशी मामलों में योगदान रहता है। विदेश नीति की रचना की दृष्टि से ऐसे तीन बड़े क्षेत्र हैं जहाँ अन्तर्विभागीय समन्वय अपेक्षित होता है। ये निम्नलिखित है—

(क) विदेश नीति के समर्थन में आवंटित किए जाने वाले राष्ट्रीय साधनों की हिस्सेदारी की दृष्टि से समन्वय आवश्यक है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय साधन स्रोतों, कल्याण एवं सुरक्षा को दृष्टि से किए जाने वाले कार्यों में भी समन्वय अपेक्षित हैं—

(ख) यदि आन्तरिक एवं बाह्य के प्रश्नों को विभिन्न मन्त्रालयों द्वारा सामूहिक संघर्ष का विषय बना लिया जाए अथवा उन्हें कार्यान्वित करने के लिए पारस्परिक सहयोग अपेक्षित हो तब भी समन्वय की व्यवस्था की जाती है।

(ग) विदेशी मामलो के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी चार मन्त्रालयों नीतियो और गतिविधियो के बीच समायोजन एव समन्वय की आवश्यकता होती है क्योंकि विदेशी मामले मूल रूप से अविभाज्य प्रकृति के होते है और इसलिए अन्तर की रेखाओ एव उत्तरदायित्व के क्षेत्राधिकार मे अतिराव रहता है।

(घ) **विदेश एवं राष्ट्रमण्डल कार्यालय**—यह कार्यालय नवीन रूप मे 1968 मे गठित किया गया था। 1964 से 1974 तक ग्रेट ब्रिटेन के कार्यपालिका विभागो मे उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। यद्यपि 1968 मे विदेश एव राष्ट्रमण्डल कार्यालय का नामकरण हो चुका था किन्तु अभी तक इसे विदेश कार्यालय (Foreign Office) के नाम से पुकारा जाता था। 1970 मे व्यापार मण्डल और तकनीकी मन्त्रालय डी टी आई (D T. I) बन गया। यह 1974 मे पुन व्यापार विभाग एव उद्योग विभाग के रूप मे पुनर्गठित कर दिया। यहाँ उल्लेखनीय है कि समय-समय पर विभागीय सगठन एव उनके नामो मे जो परिवर्तन हुए उनके परिणाम स्वरूप वरिष्ठ अधिकारियो से नीचे स्तर पर नीति रचना के प्रशासनिक स्वरूप पर विशेष प्रभाव नही पडा।

विदेश एव राष्ट्रमण्डल कार्यालय के सदस्य कई दशाब्दियो तक परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के साथ समायोजन करते रहे। इसके फलस्वरूप प्रशासनिक पुनर्गठन, कार्य का निरन्तर दबाव एव स्थायी रूप मे मानव शक्ति की कमी आदि समस्याएँ बनी रही। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विदेश कार्यालय की इकाइयो का प्रसार हुआ, नव स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यो का उदय हुआ, व्यय पर राजकोष का निरन्तर दबाव बना रहा तथा समुद्र पार के मिशनो की सख्या निरन्तर बढती रही। इसके परिणाम स्वरूप उपलब्ध मानव शक्ति अपेक्षित मात्रा के अनुरूप नही हो सकी।

जो समुद्रपारीय विभाग इस कार्यालय मे विलय कर दिए गए उनके कार्यों मे वृद्धि हुई है तथा उनका पुनर्गठन किया गया है। विदेश कार्यालय के कार्य एव योगदान मे परिवर्तन काफी तीव्र गति से हुआ। ट्रेजरी की भाँति विदेश कार्यालय भी मुख्य रूप से एक नीति-परामर्शदाता एव नीति-निर्माता निकाय है जिसको अनेक कार्यपालिका कार्य भी सौंपे गए है जिन्हे इसकी ओर से सम्बद्ध अभिकरणो द्वारा सम्पन्न किया जाता है। विलियम वालास के शब्दो मे यह अपेक्षाकृत एक छोटा विभाग है किन्तु यह व्हाइट हॉल मे एक स्त्रातेजिक योगदान करता है।[1]

विदेश एव राष्ट्रमण्डलीय कार्यालय का मुख्य कार्य अभी भी अन्य देशो मे विकासो पर सूचनाओ का सग्रह करना और उनकी व्याख्या करना है। वह कार्यालय नीति सम्बन्धी प्रस्तावो एव परामर्श के स्रोत का कार्य करता है तथा सम्बन्धित मन्त्रियो को विदेश जाने की आवश्यक तैयारी करने मे सहयोगी होता है। यह समुद्र-

1 "It therefore remained a relatively small department but with a claim to play something of a strategic role in white hall."
—*William Wallace* op. cit., p. 24.

पारीय देशों का पर्याप्त एवं जीवन्त ज्ञान रखता है। इस ज्ञान का उपयोग निरन्तर गृह विभाग, ब्रिटिश उद्योग एवं वाणिज्य तथा सामान्य जनता द्वारा किया जाता है। इस कार्यालय की कार्यप्रणाली एवं आन्तरिक सगठन में पर्याप्त लोचशीलता है। इसमें विभिन्न विभागों के सदस्यों के बीच अनौपचारिक सम्पर्क के लिए अधिक प्रशासनिक कर्मचारी नहीं है। वरिष्ठ एवं कनिष्ठ अधिकारियों के बीच आसानी से सम्पर्क हो पाता है। इस कार्यालय में आवश्यकता के अनुसार विभागों की रचना, विभाजन विलय एवं समाप्ति की जाती है। विदेश नीति की रचना और प्रबन्ध के कार्य के अतिरिक्त यह कार्यालय ह्वाइट हॉल तथा समुद्रपारीय कार्यालयों के बीच संचार के प्रमुख माध्यम का कार्य करता है।

(vi) समुद्रपारीय मिशन—औपचारिक रूप में दूतावास एवं समुद्रपारीय मिशन विदेश कार्यालय के माध्यम से सम्पूर्ण ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रतिवेदन भेजते है। 'राजदूत' राजमुकुट का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यवहार में समुद्रपारीय मिशन विदेश एवं राष्ट्रमण्डलीय कार्यालय से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। प्रमुख ब्रिटिश दूतावास अनेक कार्य सम्पन्न करते हैं जैसे अन्त सरकारी सम्बन्धों का संचालन, विदेश नीति पर परामर्श का प्रावधान, ब्रिटिश प्रजा एवं ब्रिटिश कम्पनियों की सहायता, राजनीति प्रतिवेदन का कार्य, समुद्रपारीय मत को प्रभावित करना, ब्रिटेन की ओर सम्भावित यात्रियों को आकर्षित करना एवं स्व-प्रशासन आदि। इन कार्यों में से कुछ कार्य प्रत्यक्ष रूप से नीति रचना से सम्बन्ध रखते हैं।

समुद्रपारीय कार्यालयों में गैर-राजनयिक सेवा के बीच अनेक लोग सैनिक अधिकारियों के रूप में कार्य करते हैं। दो महायुद्धों के बीच दूतावासों में व्यापारिक कार्य एक पृथक्, व्यावसायिक, राजनयिक सेवा द्वारा सम्पन्न किए जाते थे। असैनिक अटैची इन समुद्रपारीय कार्यालयों में पहले कम हुआ करते थे किन्तु अन्त सरकारी सम्बन्धों के विकास और विशेष रूप से ब्रिटेन के यूरोपीय आर्थिक समुदाय में शामिल होने के बाद यह प्रवृत्ति बदल गई है। गृह विभागों तथा समुद्रपारीय मिशनों के बीच बढ़ते हुए सम्पर्क के कारण यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि पृथक् से राजनयिक सेवा की रचना की जाए।

(vii) गृह विभागों का योगदान—विदेश नीति की रचना के यन्त्रों में समुद्रपारीय मिशनों से विदेश नीति सम्बन्धी प्रस्ताव विदेश कार्यालय के माध्यम से आगे बढ़ते हैं तथा विदेश मन्त्री, प्रधानमन्त्री और शेष मन्त्रीमण्डल तक पहुँचते है। इनके अतिरिक्त विदेश नीति रचना की इस प्रक्रिया में अनेक विभागों द्वारा गम्भीर रूप से भाग लिया जाता है। इस समय ह्वाइट हॉल का कोई भी विभाग ऐसा नहीं है जो विदेशी सरकारों से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न रखता हो। विदेश नीति की रचना में भाग लेने वाले गृह विभागों में तीन मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—राजकोष (Treasury), व्यापार एवं उद्योग विभाग, कृषि, मत्स्यपालन एवं खाद्य

ब्रिटिश राजकोष का विदेश नीति की रचना मे योगदान काफी पुराना तथा प्रत्यक्ष है। सरकारी व्यय पर नियन्त्रण रखने वाले अभिकरण के रूप मे यह समुद्रपारीय नीति पर होने वाले व्यय पर नजर रखता है। राजकोष के तीन सम्भागो (Divisions) मे से एक वित्त समूह (Finance Group) है जिसका अध्यक्ष द्वितीय स्थायी अवर सचिव होता है तथा विदेश आर्थिक नीति की रचना एव कार्यान्विति जिसका मुख्य उत्तरदायित्व है। समुद्रपारीय वित्त की व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम राजकोष सम्भाग 1914 के अन्त मे बनाया गया था। इसके प्रथम अध्यक्ष मि जे एम कीन्स थे। वित्त समूह का आकार पर्याप्त छोटा होता है। इसमे कुल 50 से भी कम प्रशासनिक कर्मचारी होते हैं। राजकोष के सरकारी क्षेत्र एव राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था समूह उच्चस्तरीय नीति सम्बन्धी मामलो मे कदाचित् ही भाग लेते हैं किन्तु बढती हुई आर्थिक अन्तर्निर्भरता के कारण वे भी अब विदेश सम्बन्धो के क्षेत्र मे सक्रिय हो गए हैं। समुद्रपारीय वित्तीय सम्बन्धो का सचालन करते समय राजकोष बैंक ऑफ इग्लैण्ड के साथ सहभागी के रूप मे कार्य करता है। इन दोनो के मध्य सरकारी सम्बन्ध तो यह है कि राजकोष नीति बनाता है तथा बैंक उसके अभिकरण के रूप मे उस नीति को कार्यान्वित करता है। वास्तव मे बैंक द्वारा नीति रचना के समय राजकोष को सुझाव दिए जाते हैं। बैंक का गवर्नर पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है तथा प्रधानमन्त्री एव चाँसलर तक उसकी सीधी पहुँच होती है किन्तु विदेश मन्त्री के साथ इसका विशेष सम्पर्क नही रहता।

व्यापार एव उद्योग विभाग (Deptt. of Trade and Industry) विदेशी व्यापारिक नीति, निर्यात प्रोत्साहन, समुद्रपारीय व्यापार आदि के लिए उत्तरदायी है। अनेक ब्रिटिश उद्योगो का स्थापक विभाग होने के कारण यह समुद्रपारीय नीति पर विचार करते समय औद्योगिक हितो का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूसरे देशो मे कार्य करने वाली ब्रिटिश कम्पनियो के हितो की रक्षा करता है।

कुछ अन्य सरकारी विभाग भी विदेशी मामलो के सम्बन्ध मे कार्य करते हैं। इसके लिए इन विभागो मे पृथक् सम्भाग रहते है। उदाहरण के लिए कृषि, मत्स्यपालन एव खाद्य मन्त्रालय अनेक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतो तथा आयोगो मे ग्रेट ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व करता है। इस मन्त्रालय का स्तर राष्ट्रीय दृष्टि से अपेक्षाकृत नीचा होता है किन्तु इससे विदेश सम्बन्धो मे कार्य करने वाले सेवी वर्ग का स्तर पर्याप्त ऊँचा होता है। समझौता वार्ता करने की इनकी योग्यता का राजकोष एव विदेश कार्यालय दोनो के द्वारा सम्मान किया जाता है।

(viii) राजनीतिक दल—ग्रेट ब्रिटेन मे द्विदलीय व्यवस्था है। इन दोनो दलो के बीच विदेश नीति की दृष्टि मे कुछ विषयो मे समानता और एकरूपता है। दोनो ही दल साम्यवादी राज्यो को पश्चिमी प्रजातन्त्रो के लिए खतरनाक मानते हैं, दोनो ही अमेरिका से विशेष सम्बन्ध स्थापित करने के इच्छुक हैं, दोनो अस्त्र-शस्त्रो की दौड को कम करवा देना चाहते हैं, दोनो ही जर्मन समस्या के बारे मे कुछ-कुछ समान मत प्रकट करते हैं, दोनो का प्रयास यह है कि ब्रिटेन को उसका खोया हुआ

स्तर एवं सम्मान प्राप्त हो जाए। इतने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की दृष्टि से दोनो दलो की नीतियो मे उल्लेखनीय असमानताएँ है। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के कारणो के सम्बन्ध मे ब्रिटेन के दोनो राजनीतिक दल अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। श्रमिक दल की विदेश नीति फेबियनवादी समाजवादी विचारधारा पर आश्रित है। उसकी मान्यता है कि सर्वव्यापी कल्याण एव सामाजिक समानता की स्थापना द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष और तनाव कम किए जा सकते हैं। अपने इस दृष्टिकोण के कारण श्रमिक दल विकासशील देशो का स्तर ऊँचा उठाने की नीति पर जोर देता है। दूसरी ओर रूढिवादी दल शक्ति के लिए सघर्ष को मुख्य मानकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का मूल कारण मानता है। सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति दोनो दलो का दृष्टिकोण भिन्न है। श्रमिक दल इसे अपनी विदेश नीति के सचालन के लिए महत्त्वपूर्ण सस्था मानता है, किन्तु रूढिवादी दल इसकी उपयोगिता मे कम विश्वास रखता है। विकासशील देशो के प्रति दोनो दलो के दृष्टिकोण मे भिन्नता है। जहाँ तक राष्ट्रमण्डलीय देशो के साथ सम्बन्धो का प्रश्न है दोनो ही दल प्राय एक जैसे विचार रखते हैं। दोनो के बीच विरोध की अपेक्षा सहमति का क्षेत्र अधिक है।

ब्रिटेन मे राजनीतिक दलो के आपसी विरोध राष्ट्रीय स्तर पर अधिक प्रकट होते है किन्तु देशभक्ति और राष्ट्रवादी भावना के कारण राष्ट्रीय हित को दलीय हित से ऊपर माना जाता है।[1]

(iv) ससद्—*ग्रेट ब्रिटेन मे सिद्धान्तत ससद् को एक सम्प्रभु सस्था माना* जाता है। ससदीय मच पर सरकारी नीति की आलोचना एव औचित्य करने के लिए तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। औपचारिक रूप से ससद् के दोनो सदनो द्वारा नियमित तरीके से ऐसे अनेक कार्य किए जाते हैं जिनके फलस्वरूप सरकार की विदेश नीति पर उसका समुचित नियन्त्रण हो जाता है। कामन्स सभा की परम्परा के अनुसार सम्राट् के भाषण पर खुली बहस के प्रथम दिन विदेशी मामलो पर ही बहस की जाती है। वैसे प्रत्येक सत्र मे एक बार तो विदेशी मामलो पर बहस हो ही जाती है। इसके अतिरिक्त स्थगन प्रस्ताव या अन्य अवसरो पर ससद् विदेशी मामलो पर विचार करती है। प्रश्न काल मे ससद् के सदस्य विदेश मन्त्री अथवा अन्य मन्त्रियों से प्रश्न करते हैं तथा प्रधान मन्त्री द्वारा विदेश नीति के विभिन्न पहलुओं पर स्पष्टीकरण दिया जाता है। विभिन्न ससदीय समितियो के माध्यम से भी सदन के बाहर विदेश नीति पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

ससद् सरकार की नीतियो का समर्थन करने के लिए आवश्यक कानून बनाती है तथा उन नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करती है। युद्ध की घोषणा करने का अधिकार यद्यपि मन्त्रिमण्डल को है किन्तु इस विषयक अन्य आवश्यक कार्यवाही के लिए ससदीय कानून अपेक्षित होता है। ससद् एक ऐसा स्थान है जहाँ से विदेश नीति के कर्णधारो का चयन किया जाता है, जिसके द्वारा

1 "A rebel against foreign policy is, if any thing, in a more difficult situation than a rebel against domestic policy". —*David Vital*: op cit., p. 77.

सरकार की नीतियों एवं कार्यों की छान-बीन की जाती है, आलोचना एवं समर्थन किया जाता है, इन्हें जनता में प्रचारित किया जाता है और विदेश नीति की दृष्टि से सरकार को नियन्त्रित किया जाता है। प्रत्येक मन्त्रिमण्डल केवल तभी तक अपने निर्णयों को कार्यान्वित कर सकता है जब तक कि इसे संसद् में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त हो। सशक्त विरोधी दल की उपस्थिति के कारण छाया मन्त्रिमण्डल का भय सदैव सरकार के कार्यों को नियन्त्रित करता है। ग्रेट ब्रिटेन की यह स्वस्थ राजनीतिक परम्परा है कि विरोधी दल केवल विरोध के लिए विरोध नहीं करता वरन् अनेक अवसरों पर वह सरकारी नीति का समर्थन भी करता है। इसका कारण यह मान्यता है कि संकट के समय राजनीति को रुक जाना चाहिए।

(x) जनमत—विदेश नीति के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में संसदीय गतिविधियाँ एवं पत्र-पत्रिकाओं में लेख एवं समाचार देश के जनमत को सहभागी बनाते हैं। रुचिशील एवं विशेषतापूर्ण जनमत विदेश नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर बहस करता है। ग्रेट ब्रिटेन का शिक्षित एवं जागरूक जनमत केवल सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं वरन् व्यवहार में भी विदेश नीति की रचना और कार्यान्विति पर उल्लेखनीय प्रभाव डालता है। अतीतकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ब्रिटेन के जनमत ने गम्भीर वाद-विवाद द्वारा निर्णयों को प्रभावित किया है। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "सरकार को विदेश नीति का संचालन उन सहनीय परिसीमाओं में करना चाहिए जो कि जनता को स्वीकार्य हो।"[1] यदि किसी प्रश्न पर जनमत अस्पष्ट होता है अथवा असमंजस में होता है वहाँ सरकार द्वारा प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान करके निर्णय लिए जाते हैं। यदि किन्हीं अवसरों पर सरकार जनमत के विरुद्ध व्यवहार करती है तो या तो उसे जनमत को अपने अनुकूल करना पड़ेगा अथवा त्यागपत्र देना पड़ेगा।

विदेश नीति सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने वाला जनमत प्रायः सूचित प्रकृति का होता है जिसमें न केवल मुख्य संस्थानों एवं विश्वविद्यालय के विभागों के अधिकारी और गैर-अधिकारी अभिजन वर्ग के लोग ही होते हैं वरन् अनेक संगठित समूहों के प्रभावशाली सदस्य एवं कर्मचारी भी होते हैं। इनमें विदेशी पत्रकार, विदेशी शैक्षणिक विशेषज्ञ, शोधकर्त्ता आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। सेवा निवृत्त राजनयज्ञ भी विदेश नीति के प्रश्नों पर अपना अभिमत प्रकट करते हैं। विभिन्न शोध संस्थान विदेश सम्बन्धी के विशेष पहलुओं पर सम्मेलन तथा अध्ययन दल आयोजित करते हैं।

जनमत का प्रभाव असंगठित अथवा व्यक्तिगत विचार के रूप में भी हो सकता है और विभिन्न संगठित संस्थाओं के रूप में भी। ग्रेट ब्रिटेन में विदेश नीति सम्बन्धी प्रश्नों को प्रभावित करने वाले 300 से भी अधिक गैर-सरकारी संगठन हैं। इनमें जो सर्वाधिक सम्पन्नता प्राप्त समूह हैं वे किसी न किसी विशेष सरकारी

1 *Padelford and Lincoln*, op. cit., p. 260.

विभाग के साथ निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखते हैं। अनेक ऐच्छिक संगठन अपने विभागों से सहायता अनुदान प्राप्त करते हैं। इनमें से कुछ संगठन विदेशों में आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा अन्य विशुद्ध रूप से उन्नतिकामी, आदर्शवादी होते हैं। अनेक संगठन विदेशी संगठनों एवं सरकारों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं तथा उनसे आर्थिक सहायता भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विदेशी सरकारें और विदेशी गैर-सरकारी संगठन भी ब्रिटिश विदेश नीति के घरेलू सन्दर्भ को बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

ब्रिटिश विदेश नीति की रचना से पूर्व विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में सम्बन्धित हित समूह एवं विशेषज्ञों के बीच समुचित विचार-विनिमय किया जाता है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय तथा प्रभावशाली संस्था स्ट्रेटेजिक अध्ययनों के लिए संस्थान (Institute for Strategic Studies) है। यह संस्थान विदेश नीति एवं सुरक्षा सम्बन्धी विषयों का गहन अध्ययन करता है। इसकी तुलना संयुक्त राज्य अमेरिका की रेण्ड कार्पोरेशन तथा हडसन संस्थान से की जाती है। इस संस्थान में सदस्य एवं प्रशासकों के रूप में विदेशी नागरिकों का भी चयन किया जाता है। इसके सदस्य सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ होते हैं। इसमें प्राय सशस्त्र सेनाओं के सेवा निवृत्त अधिकारी, विदेश कार्यालय के वरिष्ठ अधिकारी और सुरक्षा मन्त्रालय एवं अन्य सम्बन्धित मन्त्रालयों के अधिकारी लिए जाते हैं। यह संस्थान विशेषज्ञता-पूर्ण अध्ययन को प्रोत्साहन देता है, इसका अपना पुस्तकालय है और यह नियमित रूप से विचार-विनिमय के लिए बैठकें आयोजित करता है। कुल मिलाकर यह संस्थान विदेश नीति रचना पर उल्लेखनीय प्रभाव डालता है।

अन्त में ब्रिटिश विदेश नीति की रचना प्रक्रिया की दृष्टि से निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इस कार्य में विभिन्न अन्त सम्बन्धित प्राधिकारी भाग लेते हैं। मन्त्रिमण्डल, विदेश कार्यालय, राजनयिक सेवा आदि को प्रमुख नीति की रचना एवं कार्यान्वित के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है। यह कार्य किसी एक व्यक्ति विशेष के अधिकार क्षेत्र का विषय नहीं है। अनेक व्यक्ति इस कार्य में सक्रिय भूमिका अदा करते हैं। विदेश नीति रचना एक सामूहिक गतिविधि है और इसके प्रभावशाली समूह में राजनीतिक एवं लोक सेवक दोनों रहते हैं। राजनीतिक दल, दबाव समूह, संगठित और असंगठित जनमत एवं स्वदेशी तथा विदेशी हित समूह सभी मिलकर विदेश नीति रचना की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

विदेश नीति का सार तत्त्व
(Substance of Foreign Policy)

किसी भी देश की विदेश नीति के सारभूत तत्त्व उसकी भौगोलिक परिस्थिति, आर्थिक साधन स्रोत, सैनिक स्थिति, जनता का मनोबल, ऐतिहासिक परम्पराएँ, सांस्कृतिक आदर्श आदि बातों से तय होते हैं। समय और परिस्थितियों के अनुसार सापेक्षिक तत्त्वों का प्रभाव कम या अधिक होता रहता है। यहाँ हम ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति के सन्दर्भ में उन कतिपय सारभूत तत्त्वों की विवेचना करने की चेष्टा

करेंगे जो प्रारम्भ से ही विदेश नीति सम्बन्धी निर्णयों और कार्यों को प्रभावित करते हैं।

(i) साम्राज्यवादी विचार—ग्रेट ब्रिटेन एक छोटा-सा देश है। इसकी भौगोलिक क्षमता एवं साधन-स्रोत इतने पर्याप्त नहीं हैं कि वे वहाँ के विभिन्न उद्योगों के कच्चे माल की पूर्ति कर सकें। इसके अतिरिक्त शक्ति के साधनों में ब्रिटेन में केवल कोयला उपलब्ध होता है। तेल के लिए उसको अन्य देशों के प्रति मुखापेक्षी बनना अनिवार्य है। औद्योगिक उत्पादन की खपत के लिए ग्रेट ब्रिटेन को अन्य देशों में बाजार ढूंढना अनिवार्य है। आर्थिक कारणों से ग्रेट ब्रिटेन ने विदेशों के साथ अपने सम्पर्क बढाए और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए ही उसने साम्राज्यवादी नीति अपनाई तथा एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के विभिन्न राज्यों की राजनीतिक सत्ता को अपने अधीन किया।

ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति में उसकी स्वयं की विचारधारा, जातीय श्रेष्ठता की भावना, असभ्य जातियों को सभ्य बनाने का संकल्प आदि बातों का भी योगदान रहा है। अपने देश की रक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन की स्थापना के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने महाशक्तियों के विरुद्ध अपना प्रादेशिक और सैनिक प्रभाव बढ़ाया। अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने की समस्या भी ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का एक कारण कही जा सकती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक ब्रिटेन का साम्राज्य इतना व्यापक हो चुका था कि उसमें कभी सूर्य नहीं छिपता था द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की शक्ति-स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। ग्रेट ब्रिटेन अब महाशक्ति के स्तर से द्वितीय अथवा तृतीय स्तर की शक्ति बन गया। अमेरिका और सोवियत संघ का महाशक्तियों के रूप में विश्व-राजनीति के मंच पर पदार्पण हुआ। ब्रिटेन का विशाल साम्राज्य क्रमशः छिन्न-भिन्न हो गया, अधिकांश उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और धीरे-धीरे एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के नवोदित राज्य तीसरी दुनिया के रूप में उभरने लगे। युद्ध में क्षत-विक्षत होने के कारण ग्रेट ब्रिटेन की क्षमता इतनी नहीं रह गई कि वह अपने विश्वव्यापी साम्राज्य की देखभाल कर सके और वहाँ साम्यवादी प्रसार को रोकने की दृष्टि से प्रभावशाली भूमिका निभा सके। ब्रिटेन द्वारा छोड़े गए रिक्त स्थान की पूर्ति जहाँ-तहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा की गई। इस समय यद्यपि ब्रिटेन का विश्वव्यापी साम्राज्य नहीं रहा है किन्तु उस काल की अनेक विरासतें नीति निर्माता संस्थाओं, प्रक्रियाओं एवं दृष्टिकोण के रूप में वर्तमान हैं।

(ii) शक्तिशाली नौसेना की स्थापना—ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर शक्तिशाली नौ-सेना द्वारा समुद्रों पर स्वामित्व बनाए रखने की नीति का अनुशीलन किया है। यह नीति न केवल उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से वरन् उसके व्यावसायिक हितों की रक्षा के लिए भी आवश्यक है। अतीतकाल में अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा हेतु ग्रेट ब्रिटेन नौसेना को शक्तिशाली बनाए रखने की नीति अपनाता रहा है। चारों ओर समुद्र से घिरा होने

के कारण यह नीति ब्रिटेन के लिए स्वाभाविक बन जाती है। जब किसी देश में नौ सेना की शक्ति बढ़ती है तो ग्रेट ब्रिटेन उसे चिन्तित दृष्टि से देखने लगता है। वह पारस्परिक सन्धियों और समझौतों के माध्यम से इस प्रकार की प्रवृत्ति को रोकने तथा अपनी नौ-सैनिक प्रभुता को बनाए रखने का प्रयास करता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद वाशिंगटन सम्मेलन (1921–22) में विभिन्न देशों की नौ-सैनिक शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए महत्त्वपूर्ण सन्धियाँ की गई। इस समय की गई सात सन्धियों में सबसे महत्त्वपूर्ण सन्धि पाँच शक्तियों द्वारा नौसेना के अस्त्रों को सीमित करने के लिए की जाने वाली सन्धि थी। इस सन्धि द्वारा प्रत्येक देश के लिए बड़े युद्धपोतों और वायुयान वाहक पोतों के कुल टनों की मात्रा मर्यादित की गई। सन्धि में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के बड़े युद्धपोतों का अनुपात 5 5 3 1 75 1 75 निश्चित किया गया। दस वर्ष तक नए युद्धपोतों का निर्माण बन्द कर दिया गया। इसके साथ ही एक सन्धि द्वारा पनडुब्बियों तथा विषैली गैसों का प्रयोग नियन्त्रित करने के लिए समझौता किया गया। इसके अतिरिक्त पनडुब्बियों का प्रयोग मर्यादित कर दिया गया। यह सन्धि ग्रेट ब्रिटेन की नौसैनिक प्रभुता को बनाए रखने की आशंका का स्पष्ट उदाहरण है। उस समय जर्मनी की नौसैनिक शक्ति प्रायः समाप्त कर दी गई थी। रूस और ऑस्ट्रिया की नौ-सेनाएँ प्रथम महायुद्ध के बाद नहीं के बराबर थी। केवल पाँच देशों के पास ही नौसेना थी। यद्यपि ब्रिटेन का जहाजी बेड़ा संख्या और टनों की दृष्टि से सबसे शक्तिशाली था किन्तु उस समय अमेरिका ने जहाजों के पुनर्निर्माण का ऐसा विशाल कार्यक्रम शुरू किया था कि कुछ ही वर्षों में अमेरिकी बेड़े के ब्रिटिश बेड़े से अधिक शक्तिशाली होने की पूरी सम्भावनाएँ थी। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार अपने बेड़े को विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली बनाए रखना चाहते थे। इसके लिए अमेरिका के साथ युद्धपोत आदि बनाने में जो प्रतिस्पर्धा आवश्यक थी उसके लिए ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति अनुकूल नहीं थी। फलत. इस सन्धि द्वारा प्रतिस्पर्द्धा को रोकने का प्रयास किया गया। 21 जनवरी, 1930 को प्रारम्भ होने वाले लन्दन के नौ-सैनिक सम्मेलन में भी ग्रेट ब्रिटेन की यही नीति उजागर होती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्यवादी दायित्व समाप्त हो जाने और आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाने के कारण उसकी नौ सेना इतनी प्रबल नहीं रही और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ की नौ-सेना का प्रभाव बढ़ रहा है फिर भी ब्रिटेन की विदेश नीति नौ-सैनिक शक्ति की दृष्टि से पर्याप्त प्रभावित होती है।

(iii) राष्ट्रीय स्वार्थ की नीति—राष्ट्रीय स्वार्थ की रक्षा करना प्रत्येक देश की विदेश नीति का मुख्य तत्त्व होता है। ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति भी विदेशों में अपने विभिन्न राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है। सी. एम. वुडहाउस के कथनानुसार, "ब्रिटिश विदेश नीति का उद्देश्य विदेशों में

ब्रिटिश हितों की रक्षा करना है।"[1] विदेशों में ब्रिटेन के हित उसकी घरेलू परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं। तदनुसार ब्रिटेन एक भीड़ भरा छोटा सा द्वीप है जो अपने ही साधन स्रोतों से आधी से अधिक जनसंख्या का भरण-पोषण नहीं कर सकता। कोयले के अलावा इसके पास कोई महत्वपूर्ण औद्योगिक कच्चा माल नहीं है। यह किसी भी आणविक आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करने में असमर्थ है। इन परिस्थितियों में ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति के दो मूल तत्त्व बन जाते हैं व्यापार और सुरक्षा और विशेष रूप से व्यापारी की सुरक्षा। इसका यह भी अर्थ होता है कि ब्रिटिश सन्दर्भ में विदेश नीति और नीति के अन्य पक्षों जैसे घरेलू, आर्थिक, वैज्ञानिक उपनिवेशवादी के बीच कोई कठोर विभाजक रेखा नहीं है। इनको वर्णन की दृष्टि से पृथक् किया जा सकता है किन्तु वास्तव में ये सब एक ही नीति के विविध पक्ष हैं।

प्रत्येक परिस्थिति में ब्रिटेन की प्रत्येक सरकार का लक्ष्य उसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं प्रोत्साहन रहा है। ब्रिटेन के सन्दर्भ में ही यह कहा गया है कि इसका न कोई स्थायी शत्रु है और न स्थायी मित्र है वरन् इसके स्थायी स्वार्थ हैं। यह कथन प्रायः सभी देशों की विदेश नीति पर लागू होता है। समय और परिस्थिति के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन के राष्ट्रीय स्वार्थों के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। तदनुसार दूसरे देशों से इसके सम्बन्धों का रूप निर्धारित होता है।

(iv) विश्व-शक्ति का व्यक्तित्व—ग्रेट ब्रिटेन अपनी राजनयिक कुशलता, सैनिक शक्ति, विशाल साम्राज्य, उच्च नैतिक चरित्र आदि के कारण विश्व की महाशक्ति रहा है। इस रूप में उसके अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य एवं दायित्व विश्व राजनीति के परिवेश पर निर्भर करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यद्यपि वह विश्व की महाशक्ति नहीं रहा है किन्तु आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्र में उसकी प्रभावशाली भूमिका एक निर्विवाद तथ्य है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन शक्ति सन्तुलनकारी की भूमिका निभाता रहा है किन्तु बाद में दो गुटों-राजनीति और सामूहिक सुरक्षा का प्रभाव बढ़ने पर, उसका यह कार्य गौण बन गया। वर्तमान परिस्थितियों में ब्रिटेन अपने मित्र राज्यों एवं तटस्थ राज्यों की इच्छा और प्रतिक्रियाओं के अनुकूल व्यवहार करता है। ब्रिटेन की विदेश नीति स्वेच्छाचारी रूप में निर्धारित नहीं होती वरन् दूसरे राज्यों के हितों एवं आकांक्षाओं का ध्यान में रखते हुए सचालित की जाती है। एक शत्रु राज्य द्वारा किए गए कार्य के प्रति अपना व्यवहार निर्धारित करने में पूर्व मित्रों एवं तटस्थ राज्यों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है और शत्रु राज्य की प्रतिक्रिया के प्रति सजग रहना पड़ता है।

(v) स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का आधार—ग्रेट ब्रिटेन में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की परम्पराएँ पर्याप्त गहरी हैं। दोनों महायुद्धों में शामिल होने समय

1 C. M. Woodhouse : British Foreign Policy since the Second World War, 1961, p. 7.

ब्रिटिश राजनयज्ञो का यही नारा था कि वे स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए युद्ध मे शामिल हो रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद साम्यवादी शक्तियों का विरोध करने मे अमेरिका के सहयोग की भूमिका अदा करते समय ब्रिटेन ने इन्ही परम्पराओ को ध्यान मे रखा। सयुक्त राष्ट्रसघ, कोरिया, जर्मनी एव अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे अमेरिका के अनुकूल दृष्टिकोण अपनाते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन के सम्बन्ध साम्यवादी पक्ष से अधिक कटु नही रहे। उसने अपने हितो की रक्षा करते हुए स्वय को शीत युद्ध की कटुता के आघात से बचाए रखा।

उक्त सभी राजनीतिक एव अराजनीतिक तत्वों से प्रभावित रहने के अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति मानवतावादी एव नैतिक अभिप्रेरणाओं से भी प्रभावित होती है। सी एम वुडहाउस के कथनानुसार ब्रिटिश नीतियां पूर्णत आत्महित से कभी प्रभावित नही रही। यहाँ तक कि उस समय भी नही जबकि इसका आत्म-हित दूसरों का पारस्परिक हित बन गया। यहाँ की विदेश नीति मे भावना के स्थान पर सजग चिन्तन का प्रभाव परिलक्षित होता है। यही कारण है कि नाटो सन्धि सगठन का सदस्य होते हुए तथा अमेरिका के सहयोगी की भूमिका निभाते हुए भी इसने चीन को मान्यता दी और अनेक बार अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का परिचय दिया।

राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध सांस्कृतिक एवं वैचारिक बन्धन
(Commonwealth Relations : Cultural and Ideological Ties)

अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर होने वाले निरन्तर युद्धो की पृष्ठभूमि मे मानवतावादी और विश्वशान्ति के समर्थक विचारको ने समय-समय पर चिन्तन किया है ताकि विश्व युद्धो का निराकरण किया जा सके और एक शान्ति और सहयोगपूर्ण विश्व समाज की स्थापना की जा सके। विश्व सरकार और एकीकृत राष्ट्रमण्डल का विचार एक ऐसा ही प्रयास है। विश्व के सभी राष्ट्र राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से एक इकाई के रूप मे राष्ट्रमण्डल की तरह काम कर सकें यह अनेक आदर्शवादियो का स्वप्न रहा है। इस स्वप्न की साकार अनुभूति एक ही ससद् के अधीन कार्य करने वाली साम्राज्यवादी परिसघ के रूप मे हुई। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल इसी का परिचायक है।

राष्ट्रमण्डल की भौतिक रूप-रचना
(Physical Structure of Commonwealth)

विश्व के मानचित्र पर यदि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की इकाइयो को देखा जाए तो ज्ञात होता है कि ये इकाइयां सारी धरती पर फैली हुई हैं। इसका सबसे प्राचीन सदस्य और वास्तव मे इसका केन्द्र ग्रेट ब्रिटेन है जिसमे इग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड, वेल्स और उत्तरी आयरलैण्ड शामिल हैं। आयरलैण्ड की स्थिति विशेष है। वहाँ के लोगो को ब्रिटिश नागरिकता के अनेक अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु प्रादेशिक दृष्टि से यह स्थान राष्ट्रमण्डल के बाहर है। राष्ट्रमण्डल मे शामिल यूरोप के महत्व

पूर्ण राज्य ये है—ग्रेट ब्रिटेन, जिब्राल्टर, माल्टा, साइप्रस, । अफ्रीका के हैं—सूडान, ब्रिटिश सोमालीलैण्ड, केन्या, युगाण्डा, टाँगानिका, जजीबार, न्यासालैण्ड, उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया, दक्षिणी अफ्रीका सघ, उच्चायुक्त के प्रदेश, नाइजीरिया, गोल्डकोस्ट, सीरालियोन, जाम्बिया । दक्षिणी प्रदेश के राष्ट्रमण्डल के देश हैं—आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, गिल्बर्ट तथा एलिस द्वीप, सोलोमन, टाँगा, न्यूहेब्रीड्स, पापुआ और न्यूगिनी, पश्चिमी समोआ आदि । इनमे अधिराज्यो (Dominions) का स्तर छ: देशो को प्राप्त है । ये है—कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका सघ, पाकिस्तान, श्रीलका । भारत, पाकिस्तान और घाना, तीनो देश गणराज्य है । *एशिया में राष्ट्रमण्डलीय देश है—मलाया, भारत, श्रीलका आदि ।* फिजी के निष्कासन के बाद अक्तूबर, 1987 मे वेंकूवर मे राष्ट्रमण्डल सम्मेलन म सदस्य देशो की सख्या 48 थी ।

राष्ट्रमण्डल की विभिन्न इकाइयो की प्रादेशिक स्थिति को देखना सरल है किन्तु इस प्रजातान्त्रिक सस्था के अग इन विभिन्न देशो की प्रकृति और पारस्परिक सम्बन्धो को समझना इतना सरल नही है । प्रारम्भ मे राष्ट्रमण्डल को कई प्रकार की इकाइयो के रूप मे विभाजित किया जाता था, जैसे अधिराज्य (Dominions) उपनिवेश, सरक्षित राज्य (Protectorates) एव मेन्डेट प्रदेश । आजकल इन्हे दो भागो मे वर्गीकृत किया जाता है । वे आश्रित प्रदेश कनिष्ठ भागीदार माने जाते है और दूसरी ओर सक्षम स्वायत्तशासी इकाइयाँ हैं । आजकल यह विभाजन बहुत कुछ अवास्तविक बन चुका है ।

विभिन्नता मे एकता
(Unity within Diversity)

राष्ट्रमण्डलीय देशो का जिस प्रकार भौगोलिक विभाजन हुआ है उसे देखते हुए इसे *समग्र विश्व का एक सक्षिप्त रूप (Microcosm of the whole world)* कहा जा सकता है । ऐसी कोई प्रजाति, रग, धर्म तथा जलवायु नही है जिसका राष्ट्रमण्डल की परिधियो मे प्रतिनिधित्व नही होता हो । इसमे हमको सभी प्रकार के इन्सान तथा विश्व के सभी लोगों के प्रतिनिधि मिल जाते है । ऐसा प्रतीत होता है कि इतनी सारी विभिन्नताओ के रहते हुए राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच सामान्य सिद्धान्तों या लक्ष्यो को प्राप्त करना सर्वथा कठिन है । यहाँ के लोगो के दृष्टिकोण, परम्परा, भाषा एव रीति-रिवाजो के बीच अनेक भिन्नताएँ हैं । इन सभी भिन्नताओं के रहते हुए राष्ट्रमण्डल का एक इकाई के रूप मे अस्तित्व निश्चय ही आश्चर्य का विषय है । *यह एक बुद्धिपूर्ण जिज्ञासा है कि इतनी सारी विभिन्नताओ के रहते हुए* ऐसा क्या है जो इस सघ के सदस्यो को जोडने का कार्य करता है । निश्चय ही यह राजनीतिक बन्धन तो नही है । राष्ट्रमण्डल की सभी इकाइयाँ राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटेन की पराधीन नही हैं । 1914 मे ब्रिटिश सम्राट ने सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य की ओर से युद्ध की घोषणा की थी । 1939 मे सम्राट ने ग्रेट ब्रिटेन, भारतीय साम्राज्य तथा अपने उपनिवेशो की ओर से युद्ध की घोषणा की थी, किन्तु कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका म से प्रत्येक ने अपनी ओर से युद्ध की

घोषणा की तथा आयरलैण्ड गणराज्य तटस्थ बना रहा। किसी भी भावी युद्ध के समय ब्रिटिश महारानी द्वारा केवल ग्रेट ब्रिटेन की ओर से ही युद्ध की घोषणा की जाएगी तथा राष्ट्रमण्डल के अन्य सभी राज्य स्वय ही निर्णय लेंगे। यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मूल तत्त्व है।

यह सत्य है कि औपचारिक रूप से ब्रिटिश महारानी को सभी सदस्य इकाइयों द्वारा राष्ट्रमण्डल का सांविधानिक अध्यक्ष माना जाता है। यहाँ तक कि भारत ने उसे ब्रिटिश सम्प्रभु के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि उसे भारत की साम्राज्ञी स्वीकार नही किया गया है। इकाइयो के बीच एकरूपता का आधार उनकी राजनीतिक प्रणाली में खोजा जा सकता है। जनतान्त्रिक जीवन शैली पर आधारित ससदीय संस्थाओं से युक्त शासन प्रणाली प्राय सभी इकाइयो मे स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त सभी ने विधि के शासन को सामान्य रूप से स्वीकार किया है। सभी राज्य की राजधानियो एव प्रान्तीय स्तरो पर ससदीय सदनो का अस्तित्व उनके बीच एकरूपता स्थापित करता है। राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यो मे ससदीय शासन प्रणाली का अस्तित्व ग्रेट ब्रिटेन के प्रभाव का परिणाम है। इन राज्यो के नेताओ ने समुद्र पार कर इन सस्थाओ का व्यावहारिक रूप देखा था और उनसे प्रभावित होकर अपने देश मे भी इनको स्थापित कर लिया। उदाहरण के लिए कनाडा का नाम लिया जा सकता है। यह देश भौगोलिक दृष्टि से संयुक्त राज्य के निकट है तथा उसके व्यापारिक एव सांस्कृतिक प्रभाव का विषय है। फिर भी यहाँ सघीय एव प्रान्तीय स्तरो पर कार्यरत ससदीय संस्था ग्रेट ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डल के अन्य देशो से अधिक अनुरूपता रखती है तथा संयुक्तराज्य अमेरिका से भिन्न है। यह स्थिति कनाडा को राष्ट्रमण्डल मे बनाए रखने मे सहायता करती है। अन्य सदस्य राज्यो मे भी यही स्थिति है। वहाँ उत्तरदायी सरकार एव ससदीय परम्पराओ की स्थापना के कारण एक सामान्य दृष्टिकोण पनपता है।

साम्राज्य की राष्ट्रमण्डल मे परिणति
(Empire into Commonwealth)

1887 मे ब्रिटेन तथा उपनिवेशो के प्रमुख नेताओ की पहली बैठक उपनिवेशवादी सम्मेलन मे हुई। इसका नाम 1907 से इम्पीरियल सम्मेलन रख दिया गया। इसमे भाग लेने वाले ग्रेट ब्रिटेन, स्वशासित उपनिवेश तथा डोमीनियन थे। इम्पीरियल सम्मेलनो ने विशेषत: व्यापार, सुरक्षा एव सचार स सम्बन्धित सामान्य हित के प्रश्नो पर विचार-विमर्श किया। इसके प्रस्ताव बाध्यकारी नही थे वरन् परामर्शदात्री थे। इनको लेते समय किसी जोर-जबर्दस्ती का प्रयोग नही किया जाता था वरन पूर्णतः स्वतन्त्र इच्छा एव सद्इच्छा के साथ निर्णय लिए जाते थे। इस प्रकार इम्पीरियल सम्मेलन एक ऐसे यत्र के रूप मे पनपा जिसने स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए एकता स्थापित की। ड्रमण्ड शील्स ने लिखा है कि इस प्रकार

साम्राज्य बराबर वालों में स्वामिभक्तिपूर्ण सहयोग की दिशा में विकसित हो गया जिसे बाद में ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल कहा गया।[1]

1914–18 के प्रथम महायुद्ध में राष्ट्रमण्डल के विचार को रूप एवं परिभाषा मिली। इस महायुद्ध में विभिन्न उपनिवेशों ने ब्रिटेन के साथ मिलकर युद्ध जीतने के लिए जीवन और जन का पूरा बलिदान किया और युद्ध के बाद अधिराज्यों ने शान्ति सन्धियों पर स्वतन्त्र राज्यों के रूप में हस्ताक्षर किए। बाद में आयोजित इम्पीरियल सम्मेलनों में स्वतन्त्र और सहयोग की क्रमिक वृद्धि होती गई। 1926 की घोषणा और 1931 में ब्रिटिश संसद् द्वारा पारित संविधि के बाद राष्ट्रमण्डल की रचना के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह गया। राष्ट्रमण्डल का अग्रिम विकास भारत आदि देशों को पूर्ण स्तर प्रदान करने की दिशा में था। राष्ट्रमण्डल के माध्यम से विभिन्न राष्ट्रों के बीच सहयोगपूर्ण जीवन-दर्शन का विकास हुआ है जिसके भविष्य में परिसीमित होने के अवसर नहीं हैं।

राजनीतिक भिन्नरूपता
(The Different Political Patterns)

राष्ट्रमण्डलीय देशों द्वारा महारानी को अध्यक्ष स्वीकारा जाता है। इनके परिणामस्वरूप राष्ट्रमण्डल की इकाइयों की राजनीतिक भिन्नरूपता किसी प्रकार कम नहीं हो जाती। महारानी ब्रिटेन के अतिरिक्त कुछ देशों की महारानी है, किन्तु सभी की नहीं है। राष्ट्रमण्डल में भारत, पाकिस्तान और घाना जैसे गणराज्य हैं और अन्य कुछ राज्य हैं जिन्होंने स्वयं को गणराज्य के रूप में संगठित करने की इच्छा प्रकट की है। इसमें मलाया की भाँति निर्वाचित राजतन्त्र है। इसमें ऐसे देश भी शामिल हैं जिन्होंने ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्थापित परम्पराओं से भिन्न राजनीतिक व्यवहार को स्वीकार किया है। ब्रिटिश राजनीतिक परम्पराओं में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार एवं दल व्यवस्था पर आधारित संसदीय प्रजातन्त्र मुख्य है। यह व्यवस्था सभी राष्ट्रमण्डलीय देशों में स्वीकार नहीं की गई है। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार कभी नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि उस देश के मूल अफ्रीकी निवासियों को मताधिकार ही नहीं दिया गया है। केन्द्रीय अफ्रीकी संघ में केवल कुछ अल्पसंख्यकों को यह अधिकार प्राप्त है। इस भेदभाव की जड़ में जातिवाद की समस्याएँ निहित हैं। दूसरी ओर वेस्ट इण्डीज के संघ में बहुजातीय समाज होते हुए भी मताधिकार की दृष्टि से कोई असमानता नहीं है। न्यूजीलैंड में यहाँ की पूर्व-यूरोपीय जनसंख्या मावरी (Maoris) को न केवल पूर्णतः वयस्क मताधिकार प्राप्त है वरन् संसद् में उनके लिए चार स्थान भी सुरक्षित हैं।

राष्ट्रमण्डलीय देशों के अनुभव से ज्ञात होता है कि राजनीतिक व्यवस्थाएँ दूसरे देशों से तैयार हालत में आयात नहीं की जा सकती वरन् वे अपने ही वातावरण

1 *Sir Drummond Shiels* The British Commonwealth, A Family of Peoples, p. 39

मे विकसित होती है। यद्यपि राष्ट्रमण्डल के अधिकांश देशो ने स्वतन्त्रता के बाद ससदीय प्रजातन्त्र की ब्रिटिश व्यवस्था को अपनाया था, किन्तु इनमे से अधिकांश ब्रिटिश मॉडल से हट गए। पाकिस्तान मे 1958 की क्रान्ति द्वारा सविधान को समाप्त कर दिया गया। यहाँ जनता सरकार के ब्रिटिश रूप की अपेक्षा अमेरिकी रूप को अपनाना अधिक पसन्द करती है। स्वतन्त्रता के बाद से केवल अल्पकाल के लिए ही यहाँ जनतान्त्रिक सस्थाओ ने कार्य किया अन्यथा तानाशाही और सैनिक शासन ही इस देश की नियति रहा है। अन्य देशो मे ग्रेट ब्रिटेन जैसी द्विदलीय व्यवस्था विकसित नही हो सकी। भारत और घाना मे लम्बे समय तक एक दल की प्रभुता रही है। इन देशो मे वास्तविक विरोधी दल नही पनप सका और यदि विरोधी दल नाम की कोई चीज है तो वह दल के अन्तर्गत ही है। विरोधी दल के अभाव मे पाकिस्तान की भाँति तानाशाही व्यवस्था भी जन्म लेती है अथवा राजनीतिक दलो का विकास सिद्धान्तो की अपेक्षा व्यक्तियो के आधार पर होने लगता है।

उक्त तथ्यो के होते हुए वर्तमान राष्ट्रमण्डल मे राजनीतिक एकता देखने का प्रयास करना निरर्थक है। इस दृष्टि से केवल यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रमण्डलीय देशो की कतिपय सामान्य आकांक्षाएँ हैं जो उनके राजनीतिक स्वभाव मे एकरूपता की व्यवस्था करती हैं। उदाहरण के लिए विधि का शासन, वयस्क मताधिकार, ससदीय व्यवस्था इत्यादि। राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रमण्डल को परिभाषित करते हुए सी एम वुडहाउस ने लिखा है कि यह देशो का ऐसा समूह है जिसके साथ ग्रेट ब्रिटेन अपने सम्बन्धो का सचालन विदेश कार्यालय के स्थान पर राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध कार्यालय के माध्यम से करता है।[1] इस परिभाषा द्वारा राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध कार्यालय के महत्त्व और मूल्य स्तर पर विशेष जोर दिया गया है किन्तु यह असन्तोषजनक है क्योकि आयरलैण्ड यद्यपि राष्ट्रमण्डल का सदस्य नही है फिर भी ब्रिटेन इसके साथ सम्बन्धो का सचालन राष्ट्रमण्डल कार्यालय के माध्यम मे ही करता है। इस कार्यालय के अस्तित्व का मुख्य आधार यह है कि अन्य किसी देश मे इसका समकक्ष नही है और इसके कारण ब्रिटेन को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त हो जाती है। ब्रिटेन मे प्राय इस विषय पर बहस होती रहती है कि केवल ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के प्रत्येक देश के बीच ही सम्बन्ध नही होना चाहिए वरन् सभी राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच सम्बन्ध रहना चाहिए। इतने पर भी तथ्य यह है कि सभी राज्यो के लिए राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्धो का अर्थ ब्रिटेन के साथ इनके सम्बन्धो से है न कि उनके पारस्परिक सम्बन्धो से। अब क्योकि ग्रेट ब्रिटेन साम्राज्यवादी शक्ति रहा है इसलिए यह स्थिति राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच एकता स्थापित करने मे सहयोगी नही बनती। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच एकता और पारस्परिक लगाव के लिए कोई अन्य आधार खोजना वांछनीय बन जाता है।

1 *C. M. Woodhouse* : British Foreign Policy since the Second World War, 1961, p. 227.

राष्ट्रमण्डल की अभी तक कोई कानूनी परिभाषा नहीं है। इसके विभिन्न सदस्यो द्वारा सामान्य रूप से मान्य सिद्धान्तो सम्बन्धी वक्तव्य जनवरी, 1971 मे घोषित किया गया था। इसके कार्य करने का मुख्य तरीका अन्त सरकारी सम्पर्क है। यह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न सरकारो के बीच पत्र-व्यवहार के माध्यम से और समय-समय पर राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्राध्यक्षों की बैठकों के माध्यम से किया जाता है। राष्ट्रमण्डल के कुछ सदस्य विदेश नीति और सुरक्षा जैसे राजनीतिक विषयों पर विचार के लिए किसी औपचारिक यन्त्र की स्थापना के विरुद्ध थे, किन्तु 1964 मे राज्याध्यक्षो की बैठक मे एक औपचारिक यन्त्र का समर्थन किया गया था जो इन राज्यों की सरकारो के बीच समुचित सम्बन्ध कायम कर सके। इस विषय पर अधिकारियों के प्रतिवेदन के बाद जून, 1965 मे इस उद्देश्य के लिए राष्ट्रमण्डल सचिवालय बनाने के प्रश्न पर राज्याध्यक्ष सहमत हो गए। इसका मुख्य कार्यालय लन्दन म मालबोरो हाउस म है तथा इसका मुख्य अधिकारी राष्ट्रमण्डलीय महासचिव है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रमण्डलीय देशों के राज्याध्यक्षो द्वारा की जाती है। यह सचिवालय राष्ट्रमण्डल के सभी राष्ट्रों की सेवा करता है। इसके मुख्य कार्य ये है—सदस्य सरकारो के बीच बहुपक्षीय सम्पर्क को बढावा देना, राज्याध्यक्षो एव वित्त मन्त्रियो की बैठके आयोजित करना तथा सामान्य रुचि के विभिन्न विषयो पर सम्बन्धित सरकारो को सूचनाएँ उपलब्ध कराना। इस सचिवालय के कर्मचारी सदस्य देशो से लिए जाते हैं और इसकी वित्त-व्यवस्था सदस्य सरकारों के योगदान द्वारा होती है।

ग्रेट ब्रिटेन में सरकारी सगठन
(Governmental Organisation in Great Britain)

राष्ट्रमण्डलीय देशों की सरकारो के साथ ब्रिटेन के सम्बन्ध मे ससद् के प्रति सांविधानिक उत्तरदायित्व अक्तूबर, 1968 तक राष्ट्रमण्डलीय मामलो के मन्त्री का होता था। यही ग्रेट ब्रिटेन के अधीनस्थ प्रदेशों के प्रशासन के लिए भी उत्तरदायी था। 15 मार्च, 1968 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा की कि राष्ट्रमण्डलीय कार्यालय को विदेश कार्यालय के साथ मिला दिया जाए। 17 अक्तूबर, 1968 को ये दोनों कार्यालय मिलाकर विदेश एव राष्ट्रमण्डलीय कार्यालय के नाम से गठित कर दिए गए।

अन्य राष्ट्रों के देशो मे भी इस प्रकार के सरकारी विभाग है। इनके विभिन्न दायित्वों मे राष्ट्रमण्डल सम्बन्धी दायित्व भी शामिल है और अपनी भूमि पर रहने वाले उच्चायुक्तों मे सम्पर्क स्थापित करते हैं किन्तु ब्रिटिश सरकार और अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों की सरकारो के बीच सम्पर्क का सामान्य मार्ग लन्दन का विदेश एव राष्ट्रमण्डलीय कार्यालय और अन्य देशों मे राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्धों के लिए उत्तरदायी सरकारी विभागों के बीच सम्पर्क की स्थापना है।

राष्ट्रमण्डलीय सचिवालय
(The Commonwealth Secretariat)

राष्ट्रमण्डलीय सरकारो के प्रधानों द्वारा सचिवालय की स्थापना 1965 म

की गई। यह सचिवालय सामूहिक रूप से राष्ट्रमण्डलीय सरकारों के प्रति उत्तरदायी होता है। यह उनके बीच बहुपक्षीय प्रचार का मुख्य अभिकरण है। यह अनेक राष्ट्रमण्डलीय गतिविधियाँ सम्पन्न करता है तथा इन देशों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए विशेषज्ञ तकनीकी सहायता प्रदान करता है। इसका प्रथम महासचिव कनाडा की राजनयिक सेना का एक वरिष्ठ अधिकारी आरनोल्ड स्मिथ बना।

सचिवालय का व्यय राष्ट्रमण्डलीय सरकारों की सहमति से उन्हीं के द्वारा उठाया जाता है। इनका अंशदान इनके भुगतान करने की क्षमता पर निर्भर है जो उनकी जनसंख्या और राष्ट्रीय आय के आधार पर तय की जाती है। सबसे बड़ा योगदान (लगभग 30 प्रतिशत) ग्रेट ब्रिटेन का है और इसके बाद कनाडा, भारत, आस्ट्रेलिया आदि का है।

सचिवालय का सर्वोच्च अधिकारी महासचिव होता है जो वरिष्ठ उच्च आयुक्त के पद का होता है। इसकी नियुक्ति सामूहिक रूप से राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्राध्यक्ष करते हैं। इसका मुख्य कार्य सदस्य-देशों के दौरे करना है। उसकी सहायता के लिए व्यापक कर्मचारी संगठन है। सचिवालय द्वारा राष्ट्रमण्डलीय सरकारों की बैठकें, सम्मेलन, विचार गोष्ठी, आदि आयोजित किए जाते हैं।

सचिवालय विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय कार्य सम्पन्न करता है। यह सदस्य राज्यों की आर्थिक समस्याएँ सुलझाने, विकास सहायता देने, शिक्षा का प्रसार करने, विभिन्न युवा कार्यक्रम आयोजित करने, स्वास्थ्य की देख-रेख करने तथा संचार-व्यवस्था को सक्रिय बनाने का कार्य करता है।

राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच अन्य कड़ियाँ

(Other Links between the Commonwealth Countries)

राष्ट्रमण्डल का कोई पूर्ण एवं व्यापक संगठन नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन की भाँति इसका कोई लिखित संविधान नहीं है वरन् सब-कुछ अभिसमयों के आधार पर चल रहा है। यद्यपि कुछ संविधियाँ अवश्य हैं जो ब्रिटेन तथा अन्य राज्यों के बीच समान स्तर की व्यवस्था करती हैं। राष्ट्रमण्डल की भिन्नतापूर्ण शासन प्रणालियों एवं राजनीतिक इकाइयों के मध्य कोई समन्वयकारी अथवा एकीकरणकर्त्ता यन्त्र नहीं है। इतने पर भी राष्ट्रमण्डल का अस्तित्व है तथा यह कार्यरत है। यह एक आश्चर्य का विषय है।

राष्ट्रमण्डल की विभिन्न इकाइयों तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच समय-समय पर विचार-विमर्श होता रहता है। पहले इस सामयिक सम्पर्क को इम्पीरियल कॉन्फ्रेंस कहा जाता था जो लन्दन में आयोजित की जाती थी। यद्यपि इनको अन्य स्थानों पर आयोजित करने के बारे में भी सुझाव दिए जाते थे। इन सम्मेलनों के कार्य-व्यापार को सार्वजनिक रूप से घोषित अथवा प्रतिवेदित नहीं किया जाता था। यहाँ राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्यों के लिए सामान्य हित के विचारों पर विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों, व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार-विनिमय किया जाता था।

ग्रेट-ब्रिटेन मे एक सरकारी विभाग है जिसका नाम राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध कार्यालय है। इसी प्रकार के विभाग दूसरे अधिराज्यो मे भी मिलते हैं। ये विभाग एक-दूसरे राज्यो को सम्पर्क मे बनाए रखते हैं और ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा राष्ट्रमण्डलीय प्रतिदिन के मामलो का सचालन किया जाता है। अधिक महत्त्वपूर्ण मामले राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन अथवा विभिन्न राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियो के मध्य विचार-विमर्श के लिए छोड दिए जाते हैं। राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच एकता की स्थापना म कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ भी काम करती हैं। इनमे से उल्लेखनीय निम्नलिखित है—

(1) आर्थिक कड़ियाँ (Economic Links)—राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच राजनीतिक कड़ियाँ कमजोर बनी हैं किन्तु दूसरी ओर आर्थिक कड़ियाँ सशक्त हुई है। यह होना स्वाभाविक भी था क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य को राष्ट्रमण्डल के रूप मे परिणत करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि विभिन्न सदस्य राज्यो के बीच व्यापार तभी चलता है जबकि उसका चलना स्वाभाविक हो अथवा कृत्रिम रूप से उस पर रोक न लगाई-गई हो। तथ्य यह है कि ग्रेट ब्रिटेन अभी भी राष्ट्रमण्डल के अधिकांश देशो का सर्वश्रेष्ठ ग्राहक है। इम्पीरियल प्राथमिकता का अस्तित्व तथा स्टर्लिंग क्षेत्र व्यवस्था यह सिद्ध करती है कि राष्ट्रमण्डल की नीव ठोस तथा पारस्परिक आर्थिक हितों पर आधारित है।

राष्ट्रमण्डल की इन आर्थिक कड़ियो का अन्य पहलू यह है कि ये महत्त्वपूर्ण तो हैं किन्तु पर्याप्त नही हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इम्पीरियल कॉन्फ्रेंस का उपयोग राष्ट्रमण्डल के विभिन्न देशों द्वारा नही किया गया। जहाँ तक स्टर्लिंग क्षेत्र का सम्बन्ध है, उल्लेखनीय है कि यदि केवल आर्थिक आधार पर ही राष्ट्रमण्डल टिका होता तो केवल वही देश इसमे शामिल रह पाते जिनके लिए ऐसा करना लाभदायक था। स्टर्लिंग क्षेत्र म कुछ गैर-सदस्य राज्य शामिल है और कनाडा इस क्षेत्र के बाहर है तथा दक्षिण-अफ्रीका आधा अन्दर और आधा बाहर है। अन्य राष्ट्रमण्डलीय देश स्टर्लिंग क्षेत्र से कितना लाभ उठाते है इस सम्बन्ध मे पर्याप्त भिन्नरूपता है। इसके नए सदस्य स्टर्लिंग क्षेत्र की उपयोगिता के प्रति सन्देह प्रकट करते है। उदाहरण के लिए इस क्षेत्र के सदस्यो का एक लाभ यह बताया जाता है कि वे लन्दन के मुद्रा बाजार मे प्रवेश पा सकते है और वहाँ से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत भारत का यह कहना है कि व्यवहार मे यह लाभ राष्ट्र-मण्डल के पुराने सदस्यों, विशेष रूप से आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका द्वारा उठाया जाता है।

स्टर्लिंग सन्तुलन के समुच्चय मे भी राष्ट्रमण्डल के नए राज्यो की अपेक्षा व्यवस्था के पुराने राज्यों का लाभ दिखाई देता है। युद्धोत्तर काल मे स्टर्लिंग क्षेत्र के मुख्य डालर कमाने वाले राज्य प्राय उपनिवेश थे। इनके अतिरेक को अनिवार्य रूप से ब्रिटेन द्वारा उधार लिया जाता था। यदि इन उपनिवेशों को स्वतन्त्र निर्णय का अवसर दिया जाता तो सम्भवत ये अपने अतिरेक को लन्दन को

उधार देने की अपेक्षा अपने आयातों पर व्यय करने को प्राथमिकता देते। इन उपनिवेशो मे मुख्यतः मलाया, घाना और नाइजीरिया ये तीनो युद्ध के बाद स्वतन्त्र हुए और स्टर्लिंग एरिया के बाहर रहने मे इन्हे आर्थिक लाभ प्रतीत हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद स्टर्लिंग एरिया अथवा राष्ट्रमण्डल को पूर्णत. आर्थिक सघ बनाना ब्रिटिश नीति का लक्ष्य नही था। सक्षेप मे इसी कारण राष्ट्रमण्डल को साझा बाजार मे एक इकाई के रूप मे लाना सम्भव नही हो सकता। यदि यह सम्भव हो पाता तो इसके फलस्वरूप अपने नए राष्ट्रमण्डलीय देशो के औद्योगीकरण को आघात पहुँचता तथा वे यूरोपीय विकसित देशो के स्थाई रूप से शिकार बन जाते। राष्ट्रमण्डल के सभी देशो के स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाले देशो के साथ व्यापारिक स्वार्थ सलग्न है। 1958 मे मॉन्ट्रियल मे आयोजित राष्ट्रमण्डलीय आर्थिक सम्मेलन मे ब्रिटेन ने यह इच्छा प्रकट की थी कि राष्ट्रमण्डल को एक आर्थिक इकाई के रूप मे कार्य करना चाहिए। इस दृष्टि से सी एम वुडहाउस का यह कथन उल्लेखनीय है कि "आर्थिक सन्दर्भ मे राष्ट्रमण्डल पारस्परिक सम्बन्धो और एक विश्वव्यापी व्यवस्था मे आर्थिक लाभो की एक जटिल व्यवस्था है। यह केवल तभी कार्य करती है जब तक कि इसके सदस्यो को लाभ दिखाई देता है। यदि उन्हे लाभ दिखाई न दे तो भी आर्थिक तत्त्व उनको साथ मिलाकर रखने मे समर्थ नही हो सकता।"

(2) सुरक्षा नीति की कड़ियाँ (The Links of Defence Policy)—आर्थिक सन्दर्भ मे जो सत्य है वही बात रणनीति के सन्दर्भ मे भी सत्य है। राष्ट्रमण्डलीय देशो को साथ मिलाए रखने वाली नीति सुरक्षा सम्बन्धी नही है। सर्वप्रथम देखने पर यह बात सही प्रतीत नही होती क्योकि अतीत काल मे ब्रिटिश साम्राज्य की रचना मे रणकौशल ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। आज भी ब्रिटिश सेना का अध्यक्ष इम्पीरियल जनरल स्टॉफ का अध्यक्ष कहा जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रसार मे आर्थिक अभिप्रेरणाओ ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है किन्तु अनेक प्रदेश ऐसे भी थे जिनका केवल रणकौशल की दृष्टि से महत्त्व था। जब साम्राज्य के विभिन्न दशो को स्वतन्त्रता दी गई तो रणकौशल के तत्त्व को विशेष महत्त्व नही दिया गया। राष्ट्रमण्डल मे सदस्य राज्यो को अपनी सुरक्षा की गारण्टी नही है और किसी भी भावी युद्ध मे यह एक सुरक्षा इकाई के रूप मे नही लडेगा।

कुछ उदाहरणो द्वारा सुरक्षात्मक कडी का अस्तित्व भी प्रकट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मलाया मे आस्ट्रेलिया की सेनाओ का अस्तित्व सुरक्षा के लिए सयुक्त उत्तरदायित्व का एक उदाहरण है। नए देशो की सेनाओ मे ब्रिटिश अधिकारी वरिष्ठ पदो पर कार्य करते है। राष्ट्रमण्डलीय देश अपने अधिकारियो को ब्रिटेन के सैनिक तथा स्टॉफ प्रशिक्षण महाविद्यालय मे भेजते हैं। जब तक इस प्रकार का आपसी लेन-देन चलता है तब तक राष्ट्रमण्डल की सशस्त्र सेनाओ मे सामान्य परम्पराएँ और सिद्धान्त कार्यरत रहेगे। यह वस्तु स्थिति युद्ध की अपेक्षा अन्य रूपो मे मूल्यवान है। सम्भवत राष्ट्रमण्डलीय देशो के पारस्परिक युद्धो को रोकने म इसन

भूमिका अदा की है किन्तु इसके कारण सम्पूर्ण राष्ट्रमण्डल के लिए सुरक्षा नीति की बाध्यकारी कड़ी नहीं बन पाती।

(3) *सांस्कृतिक कड़ियाँ (Cultural Links)*—राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच राजनीतिक, आर्थिक और सुरक्षा की दृष्टि से वास्तविक एवं गहरी कड़ियाँ न होने के कारण संस्कृति के क्षेत्र में नवीन कड़ियाँ तलाश करने की अभिप्रेरणा प्राप्त होती है। जब ब्रिटेन जैसी महाशक्ति ने अन्य देशों से अपने साम्राज्यवादी सम्बन्ध तोड़े तो स्वाभाविक रूप से अपना सांस्कृतिक प्रभाव इन राज्यों पर छोड़ दिया। यह सांस्कृतिक प्रभाव भाषा, साहित्य, शिक्षा, विचार, पहनावा आदि अनेक क्षेत्रों में था। अंग्रेजी भाषा इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थी। अंग्रेजी केवल ग्रेट-ब्रिटेन अथवा राष्ट्रमण्डल की ही भाषा नहीं है वरन् यह विश्व की भाषा है। उच्च शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय संचार एवं केन्द्रीय प्रशासन की भाषा होने के कारण अंग्रेजी भाषा ने सम्बन्धित देशों में ब्रिटिश विचार एवं व्यवहार आरोपित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन इस समूची व्यवस्था के केन्द्रबिन्दु हैं। इनका संचालन निश्चय ही अनुवादकों के माध्यम से नहीं किया जाता। यह सच है कि राष्ट्रमण्डलीय देशों में प्राय विश्व की सभी भाषाएँ प्रयुक्त की जाती हैं किन्तु अंग्रेजी का प्रयोग सामान्य रूप से सभी राज्यों में किया जाता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन के समय अंग्रेजी भाषा को अपनाया क्योंकि केवल मात्र यही भाषा ऐसी थी जिसे विभिन्न प्रान्तों से आने वाले सभी प्रतिनिधि समझने में सक्षम थे। अंग्रेजी भाषा और साहित्य में विभिन्न कहानियाँ और लेखों का अध्ययन करने पर राष्ट्रमण्डलीय देशों की जनता स्वतन्त्रता और स्वसरकार का महत्त्व समझने लगी और इन देशों में स्वसरकार के लिए आन्दोलन छेड़े गए। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा ने राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अंग्रेजी भाषा उच्च शिक्षा का माध्यम होने के कारण राष्ट्रमण्डलीय देशों में ब्रिटिश शिक्षा के प्रसार का भी माध्यम बनी। अनेक राष्ट्रमण्डलीय मन्त्रियों को ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त हुई। इसके परिणाम भी महत्त्वपूर्ण हुए। निम्न स्तरों पर भी ब्रिटिश व्यवहार ने राष्ट्रमण्डलीय देशों में कुछ मानक निर्धारित किए। जलवायु का अन्तर होते हुए भी इन देशों में विश्वविद्यालय की उपाधि, व्यावसायिक योग्यता और यहाँ तक कि शैक्षणिक स्तरों पर भी ब्रिटिश परम्पराओं का प्रभाव पड़ा। वकीलों, पत्रकारों, सांसदों एवं अन्य व्यावसायिक लोगों के माध्यम से राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण कड़ी स्थापित हुई। अंग्रेजी साहित्य भी राष्ट्रमण्डलीय देशों में लोकप्रिय रहा है। विभिन्न सम्मेलनों में गैर-ब्रिटिश वक्ताओं द्वारा अंग्रेजी साहित्य के उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रेस तथा रेडियो प्रसारण का भी इस दृष्टि से महत्त्व रहा है, अतः राष्ट्रमण्डलीय संचार व्यवस्था जैसे डाक-तार व्यवस्था एवं विभिन्न समाचार एजेन्सियाँ आपसी सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाने में योगदान करती हैं। ये सभी तत्त्व राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच ऐसा

सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करते है जिसके कारण राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य सम्पर्क सूत्र न होते हुए भी राष्ट्रमण्डलीय देश परस्पर सम्बन्धित रहते है। राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच अनेक सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएँ कार्य करती हैं। इनमे से अनेक संस्थाएँ सामाजिक मामलो एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी मामलो पर विचार करती है। इनके अतिरिक्त राष्ट्रमण्डलीय संसदीय संस्था का भी उल्लेखनीय प्रभाव है। यह संस्था मित्रता एवं विचार-विमर्श के लिए सांसदो की एक गैर-सरकारी संस्था है। राष्ट्रमण्डलीय देशो की प्रत्येक संसद् मे इसकी शाखाएँ है। इसके अतिरिक्त एक समन्वयकारी सामान्य परिषद् भी है। इसकी ग्रेट-ब्रिटेन की शाखा के कक्षो और पुस्तकालयों मे राष्ट्रमण्डल के दूसरे देशो के दर्शक आते रहते है। राष्ट्रमण्डल के राजधानी नगरो मे से किसी एक मे इस संस्था के सामयिक सम्मेलन होते रहते है। इसमे प्रतिनिधि प्रत्येक शाखा से नियुक्त किए जाते है। इस प्रकार के संगठन और समूह राष्ट्रमण्डीय देशो के नेताओ के बीच सद्भावना और भाईचारे की भावना प्रोत्साहित करते है। इन सम्मेलनो को प्रमुख नेताओ द्वारा सम्बोधित किया जाता है और इनमे राष्ट्रमण्डल की सुरक्षा से लेकर दिन-प्रतिदिन की संसदीय प्रक्रिया तक के मामलो पर विचार किया जाता है।

लन्दन की रॉयल एम्पायर सोसायटी, विक्टोरिया लीग एवं ओवरसीज लीग आदि संस्थाएँ अधिराज्यो एवं उपनिवेशो के ब्रिटेन मे पढने वाले विद्यार्थियो मे रुचि लेती है। इन संस्थाओ ने महायुद्धो के समय मित्र राज्यो के सैनिको का भरपूर मनोरंजन किया था। विभिन्न राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच सुविधाजनक यात्रा की व्यवस्था भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसके फलस्वरूप ज्ञान की परिधियाँ टूटती है और पारस्परिक जानकारी बढती है।

स्पष्ट है कि राष्ट्रमण्डलीय राज्यो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली मुख्य कड़ियाँ सांस्कृतिक है। यद्यपि राजनीतिक एकरूपता, आर्थिक हित, प्रशासनिक मूल्य, सामान्य राजनीतिक आदर्श आदि के द्वारा इनके आपसी सम्बन्धो को घनिष्ठ बनाने मे योगदान किया जाता है किन्तु भाषा, संस्कृति, शिक्षा, विचार, रहन-सहन, आपसी सम्पर्क आदि बातो के कारण इनके बीच विशेष रूप से घनिष्ठता स्थापित होती है तथा अपनेपन की भावना के प्रभाव से ये एक सामूहिक इकाई बन जाते है।



Appendix--F

राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन

(अक्टूबर, 1987)

वैंकूवर मे 13 अक्टूबर, 1987 को राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन आरम्भ हुआ। सम्मेलन मे दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति व फिजी की ताजा घटनाओं के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक मुद्दों पर विचार किया गया। दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध बाध्यकारी प्रतिबन्धों के प्रश्न पर ब्रिटेन का पूर्ववत् रवैया रहा। श्रीमती थ्रैचर ने कहा कि वे इनके खिलाफ हैं, तथापि उनकी सरकार सीमान्त राज्यो को आर्थिक सहायता देने के विचार का समर्थन करती है। फिजी के प्रश्न पर भी ब्रिटेन ने यद्यपि घटनाक्रम पर दु.ख प्रकट किया, तथापि यह बात स्पष्ट कर दी कि वह किसी भी प्रकार की सीधी कार्यवाही के विरुद्ध है।

आर्थिक घोषणा-पत्र

16 अक्टूबर को राष्ट्रकुल शासनाध्यक्षो ने एक आर्थिक दस्तावेज पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाई। इसमे मांग की गई कि विकसित देश आयात के बारे म जो संकीर्ण नीति अपनाते हैं, उससे बचाव के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे स्थाई और सक्षम व्यवस्था होनी चाहिए। विश्व-व्यापार मे सरक्षणवाद की बढती हुई प्रवृत्ति पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की गई। इसका मतलब है कि व्यापार एव तटकर के आम समझौते (GATT) को अधिक मजबूत, विश्वसनीय और व्यापारिक बनाया जाना चाहिए, जो कि सरक्षणवादी दबावो के प्रतिकार मे उपयोग हो सके।

घोषणा-पत्र मे भारत के कई सुझाव स्वीकार किए गए है। विकासशील देशो को रियायती दर पर अधिक सहायता विशेषकर विश्व बैंक की पूंजी को दुगुना करना और अफ्रीका तथा अन्य महाद्वीपो के गरीब देशो को आर्थिक सहायता आदि भारत के प्रमुख सुझाव थे।

राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन मे कहा गया कि विदेशी मुद्रा की दरो मे उतार-चढाव के कारण विकासशील देशो को जो परेशानी होती है, उसका समाधान आवश्यक है। कनाडा और जापान जैसे समृद्ध देशो से अपील की गयी कि वे विकासशील देशो की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उदारता से धन दे।

राजनीतिक प्रस्ताव

18 अक्टूबर, 1987 को सम्मेलन की समाप्ति पर एक सयुक्त विज्ञप्ति जारी की गयी. इसमे निम्नलिखित बातो का उल्लेख है—

1. विज्ञप्ति म भारत-श्रीलंका समझौते को दोनो देशो की सूझ-बूझ का परिचायक बताया गया। यह समझौता 29 जुलाई, 1987 को कोलम्बो मे हुआ

था। इस प्रस्ताव को पारित कराने मे भारतीय प्रतिनिधिमण्डल ने काफी प्रयास किया था।

2 राष्ट्रमण्डल ने हर सम्भव तरीके से आतकवाद से सघर्ष करने तथा आतंकवाद के सभी रूपो से निपटने एव इसे रोकने के लिए अनौपचारिक सहयोग बढाने की अपनी प्रतिबद्धता दोहराई। राष्ट्रमण्डल ने आतकवादी गुटो तथा मादक पदार्थों के तस्करी के बीच बढते हुए घृणित गठजोड का विशेष उल्लेख किया।

3. राष्ट्रमण्डल ने ईरान तथा ईराक से अपील की कि वे सात वर्षों से जारी युद्ध को सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के सर्वसम्मत प्रस्ताव के तहत बन्द करे।

4 विज्ञप्ति मे छोटे देशो की सुरक्षा के बारे मे चिन्ता व्यक्त करते हुए इन देशो की सुरक्षा तथा स्थायित्व की दिशा मे घरेलू तथा विश्व स्तर पर एक पर्यावरण महिता बनाने की कोशिश जारी रखने पर बल दिया गया।

5 राष्ट्रमण्डल देशो ने अमरीकी राष्ट्रपति रीगन तथा सोवियत नेता गोर्बाचोव से शास्त्र नियन्त्रण तथा निरस्त्रीकरण की लगातार प्रगति के लिए प्रतिबद्धतापूर्वक कार्य करने की अपील की।

6 शिखर सम्मेलन ने एकमत से विश्व बैंक की पूँजी दो गुनी करने, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सरचना-समायोजन सुविधा मे तीन गुनी वृद्धि करने तथा विकासशील देशों के लिए अतिरिक्त कोष उपलब्ध कराने की अपील की।

7 फिजी को औपचारिक रूप से राष्ट्रकुल से निकाल दिया गया। इससे राष्ट्रकुल देशो की सख्या 49 से 48 रह गई है। राष्ट्रकुल सम्मेलन मे 45 देशो ने भाग लिया। इनमें से 37 देशो का प्रतिनिधित्व वहां के शासनाध्यक्षो ने किया।

8 शिखर सम्मेलन दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध नए बाध्यकारी प्रतिबन्धो के के बारे में कोई फैसला नही ले सका। यह ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती थ्रैचर की विजय थी। श्रीमती थ्रैचर ने कहा कि आर्थिक बहिष्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। लन्दन तथा नसाओ सम्मेलनों से वैंकूवर सम्मेलन उनके लिए सरल रहा।

9 अगला राष्ट्रमण्डल सम्मेलन 1989 मे क्वालालम्पुर मे होना निश्चित हुआ। मलेशिया सरकार ने इसका प्रस्ताव रखा जो स्वीकार कर लिया गया।

Appendix–G

भारत-चीन सम्बन्ध और चीन की सामरिक नीति

अथवा

चीन की दबाव-राजनीति एवं भारतीय रक्षा विकल्प

भारत चीन सम्बन्धो का एक वस्तुपरक मूल्यांकन करते हुए प्रबुद्ध लेखक श्री अशोक तिवारी ने चीन की दबाव राजनीति और सामरिक नीति को उजागर करते हुए यह ठीक ही चेतावनी दी है कि चीन को हम अपनी सैनिक सामर्थ्य बढा कर ही समझौते की दिशा मे अग्रसर कर सकते है—श्री तिवारी का विश्लेषण उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार है—

चीन और भारत दोनो द्वारा अपनी सीमाओ पर पिछले सप्ताहो के दौरान सैन्य वियोजन करने से भारतीय सुरक्षा विशेषज्ञो तथा राजनीति विज्ञानियो के मन म आशका के बादल घिर आए है । अधिकाश टिप्पणीकारो ने चीन द्वारा धौस की राजनीति को खतरे की 1962 जैसी पूर्व चेतावनी का अग मान दलीले देना प्रारम्भ किया है कि भारत अपनी सेनाओ को यदि अग्रगामी स्थलो से पीछे नही हटा लेता तो पुन एक राउण्ड हो सकता है । कुछ हमारे ही टिप्पणीकार यह मानकर चल रहे हैं कि भारत द्वारा सेनाओ को अग्रगामी स्थलो पर लगा देने से ही चीन उत्तेजित हुआ और भारत सरकार का यह निर्णय सैनिक दृष्टि से न होकर घरेलू राजनीतिक घटनाओ से प्रेरित है । हमारे ऐसे तथाकथित टिप्पणीकार आपरेशन ब्रास टैक्स को भी इसी तरह की भडकाऊ योजना मानते रहे हैं जिसके चलते पाकिस्तान को अपनी सेनाओ को पुनः भारतीय सीमा पर लगाना पडा जबकि विश्व के सभी रक्षा विशेषज्ञ इस बात को स्वीकार करते है कि भारत के द्वारा किया गया आपरेशन ब्रास टैक्स भारतीय सीमा मे 105 से 200 किलोमीटर के भीतर था और इसका कोई इतना बडा महत्त्व नही था जिसे लेकर पाकिस्तान बावेला मचाता । इसके पूर्व किए गए आपरेशन दिग्विजय (1984) का आकार आपरेशन ब्रास टैक्स से कोई बहुत कम तो नही था ।

हममे से अधिकांश सोचते हैं कि यदि हम नाभिक शक्ति से सम्पन्न चीन के साथ पिछले बीस वर्षो से रहते चले आए तो पाकिस्तान के अणु शक्तिधारी हो जान

से हम अनायास वशे चिन्तित हो रहे हैं। इन्ही रक्षा विशेषज्ञो का यह भी मानना है कि हम यदि चीनी सीमा पर पिछले 25 वर्ष से सेना का बिना जमाव किए रह सकते थे तो वैसी ही नीति अब क्यो नही अपना रहे है ? यह एक आश्चर्यजनक प्रस्ताव है इसमे से ऐसी ध्वनि निकलती है कि हमने सामन्तवाद, अल्प-विकास, धार्मिक तनाव, चेचक, अल्पायु मृत्यु जैसी विभीषिकायें वर्षों सही है उन्हे हमे सर्वदा के लिए सहन करते रहना चाहिए। चीन लोग ऐसी भावना को ही कायरता कहते हैं। ऐसी कायरता जो डर से उपजी हो। चिन्तन का यह स्वरूप हमारी राष्ट्रीय *मनस्थिति के पलायनवादी दृष्टिकोण का परिचायक है एव इससे भयभीत मानसिकता* का ऐसी कमजोरी भार स्वरूप उभरती है जिसे भी ताक्तवार राष्ट्र चाहे तो शोषण कर सकता है।

जो बात अनदेखी की जा रही है वह है चीनी नीति मे 1985 मे आया महत्वपूर्ण परिवर्तन। चीनी लोग और उनके कुछ हिमायती चीन के लिए अक्साई चिन मार्ग के सामरिक महत्व की बात करते फिर रहे हैं और तर्क दे रहे है कि 1962 मे भारत की नीति आक्रामक थी। उस समय चीन ने ऐसा प्रदर्शित किया था कि वह अरुणाचल प्रदेश को भारत का हिस्सा मानने को तैयार है। प्रधानमन्त्री चाऊ इन लाई ने वर्मा के सम्बन्ध मे मैकमोहन रेखा को स्वीकार किया है और भारत के साथ भी स्वीकार करने को तैयार थे। यदि भारत भी चीन द्वारा 1959 मे पेश की गई लद्दाख क्षेत्र पर उसकी सम्प्रभुता की बात को स्वीकार कर लेता। ध्यान देने की बात है चीन का 1995 का प्रस्ताव 1956 मे उनके द्वारा किए गए प्रस्ताव से अधिक विस्तृत था और 1962 मे वह उतनी जमीन नही हथिया पाया जितनी कि उसने 1959 के अपने प्रस्ताव मे अभीप्सा की थी। यद्यपि चीनी लोग 1962 में कामेग डिवीजन तक उतर आए थे फिर भी बाद मे उसे खाली करके उन्होंने अरुणाचल प्रदेश पर भारत की सम्प्रभुता को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया किन्तु एकाएक 1985 मे चीनियो ने यह घोषणा की कि भारत और चीन के बीच मुख्य विवाद पूर्वी सेक्टर को लेकर है और कहा यदि भारत पश्चिमी सेक्टर में नियन्त्रण रेखा मे किसी परिवर्तन की अपेक्षा रखता है तो उसे पूर्वी सेक्टर मे इसके एवज मे कुछ भू-भाग छोडना होगा। चीनियो ने यह भी सकेत दिया कि तवांग उनकी दृष्टि मे समझौते का भू-भाग बन सकता है।

अब तक जो सात वार्ताएँ चीनो और भारतीय अधिकारियो के बीच हुई हैं उनमें चीन ने इस सिद्धान्त को मानने से इन्कार किया है कि सीमांकन हेतु गैर आवासीय भू-भाग तथा भौगोलिक कारको को मुख्य आधार बनाया जाए। यद्यपि चीन ने सोवियत सघ के साथ आमूर और उत्तरी नदियो के सीमांकन मे यही नीति अपनाई है। प्राकृतिक भौगोलिक कारको का सिद्धान्त (मैक मोहन रेखा) चीन ने वर्मा के साथ जुडी अपनी सीमा के सम्बन्ध में स्वीकार किया है। चीन के सुमदुराग चू घाटी मे उतरने की घटना को इन्ही वृहत्तर पैमानो पर देखा जाना चाहिए। चीन तथा उसके कुछ पक्षधर टिप्पणीकार यह तर्क देते हैं कि सुम दुराग चू

विवादग्रस्त भू-भाग है और मैक मोहन रेखा का यहाँ पर कोई स्पष्ट अंकन नही है। भारतीय पक्ष ने सातवी वार्ता के दौरान इस बात की कोशिश की कि वास्तविक नियन्त्रण रेखा के बारे मे चीन का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से क्या है ? यह पूर्णतया विवेक सम्मत बात है कि यदि एक-दूसरे के भू-भाग मे घुसपैठ तथा सैनिको के प्रवेश की अनचाही घटनाओ को टालना है अथवा यदि दोनो पक्षो द्वारा 20 कि मी तक एक-दूसरे से दूर अपनी-अपनी सीमाओ मे बने रहने की नीति पूरी करना है तो वास्तविक नियन्त्रण रेखा के बारे मे एक पारस्परिक सहमति अवश्य निकलनी चाहिए। चीनियो ने उस वार्ता के दौरान भी वास्तविक रेखा को परिभाषित करने से टालमटोल की और अब भी कर रहे है।

पूर्वी सीमा

इन परिस्थितियो मे तथ्यो का सत्यासत्य विश्लेषण यह निकर्ष निकालने को बाध्य कर रहा है कि पश्चिम मे अपने इच्छित भू-भाग पर आधिपत्य जमा लेने के बाद चीनियो ने अब पूर्वी सीमा पर ध्यान देना शुरू किया है। जैसा कि विगत मे वे पश्चिमी सीमा पर अपना ध्यान केन्द्रित करते आए थे वैसा ही वे इस समय कर रहे हैं। ध्यान देने की बात है कि उस समय चीनी लोग पूर्वी सैक्टर के बारे मे अलग-अलग समयो मे अलग-अलग माँगें पेश करते रहे और भारत को दिग्भ्रमित करने का प्रयास करते रहे कि उनके लिए अक्साई चिन क्षेत्र ज्यादा महत्वपूर्ण है। पूर्वी क्षेत्र उतना नही जिस तरह चीनियो ने भारत द्वारा चौकसी चौकियो के निर्माण की नीतियो को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कर भारत की इमेज को नुकसान पहुँचाया। उस तरह जब वे भारतीय नेताओ द्वारा पूर्वी सावधानी हेतु उठाए गए कदमो को भी पेश कर रहे हैं ताकि भारत को झगडो की शुरूआत करने वाला सिद्ध करके 1960–62 जैसा लाभ उठा सके।

अक्साई चिन क्षेत्र मे चीनियो ने भू-भागीय फायदा भरपूर उठाया और अब वे अरुणाचल प्रदेश मे भी वैसा ही फायदा उठाने की सोच रहे हैं। चीनियो का यह प्रस्ताव कि दोनो ही पक्ष सीमा से एक निश्चित दूरी तक पीछे हट जाए सामान्य आदमी को आकर्षक तथा विवेकपूर्ण प्रस्ताव लग सकता है। वास्तविकता यह है कि चीनी लोग एक सपाट पठारीय भू-भाग पर है और उनके पास हमारी सीमा के *बिल्कुल पास पहुँचने की सडको का एक जबरदस्त जाल सा बिछा हुआ है।* हमारी तरफ हमारी अपनी ही अति सावधानीपूर्ण नीतियो के नाते हमारी सडकें सीमा से दसियो मील दूर हैं यद्यपि 1962 का युद्ध हुए एक लम्बा समय गुजर गया। यदि दोनो पक्ष पीछे हटते हैं तो चीनी लोग तो अपनी यातायात व्यवस्था के सहारे पुन बडी आसानी से एव अत्यल्प समय मे सीमा पर पहुँचने मे कामयाब हो जाएँगे जबकि हमारे सामने यातायात की समस्या विकराल मुँह बाये खडी रहेगी।

इसलिए एक न्यायोचित हल यह होगा कि चीन और भारत दोनो ही बराबर दूरी पर अपनी-अपनी सीमाओ मे अपनी सेनाएँ स्थापित करें न कि सिर्फ सेनाओं को उनके वर्तमान स्थान से हटाया जाए। तनाव कम करने का यही सर्वोत्कृष्ट

तरीका होगा। इसके साथ ही यदि किसी भी भविष्यगत गलतफहमी से बचना है तो चीनियों को वास्तविक नियन्त्रण रेखा के बारे में अपने स्पष्ट विचार रखने चाहिए। 1962 का युद्ध यह बताता है कि एक बार यदि अग्रगामी चौकियाँ हाथ से फिसली तो तवाँग पूर्णतया अरक्षित है और अगली रक्षा रेखा सीमा पर है। अतएव चीनी लोग जब हमें पीछे हटने को कहते हैं तो उनके दिमाग में यह भाव रहता है कि चीन को अरक्षित तवाँग मिल जाए। अब, जबकि चीनियों ने तवाँग को अपना भू-भाग कहना शुरू किया है और तिब्बत में अपनी सेनाएँ 14 डिवीजन तक बढ़ा दी हैं, तवाँग को अरक्षित छोड़ना भारतीय नेतृत्व के लिए आत्मघात सदृश होगा।

भारत ने मैक मोहन रेखा के उत्तर में किसी भी क्षेत्र पर अपना अधिकार नहीं जताया जबकि चीन ने अरुणाचल प्रदेश में ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त चीन ने मैक मोहन रेखा के दक्षिण में आकर 1962 में भारतीय क्षेत्र पर आक्रमण तक किया। चीन सेनाएँ तिब्बत के पठारों पर तैनात हैं और उनके पास भारत से बेहतर यातायात संवहनात्मक सुविधाएँ उपलब्ध हैं जबकि भारत के पास ढलवाँ भू-भाग है और हमारी संवहनात्मक सुविधाएँ उतनी सशक्त नहीं हैं। चीनी हमेशा धमकियाँ देते रहते हैं भारतीय ऐसा कभी नहीं करते। अतएव तनाव शैथिल्य के पूर्व चीन द्वारा वास्तविक नियन्त्रण रेखा को परिभाषित किया जाना नितान्त आवश्यक है और चीन को यह भी आश्वासन देना होगा कि सीमा सम्बन्धी वार्ताओं के दौरान यह तवाँग को खतरा नहीं पैदा करेगा और जब तक सीमा सम्बन्धी समझौता नहीं हो जाता वह वास्तविक नियन्त्रण रेखा को मनमाने ढंग से पार नहीं करेगा। भारत को भी चीन को ऐसा आश्वासन देना चाहिए।

दुर्भाग्य से भारत सरकार ने अपनी स्थिति को जनता के सामने नहीं रखा, यद्यपि कुछ दुरभि सन्धियाँ इस आशय की समाचार-पत्रों के माध्यम से फैलाई गईं कि सेना ने अरुणाचल प्रदेश में अपनी तरफ से पूर्व सावधानी कदम उठाये हैं और सेना ने ऐसा बिना राजनीतिक नेतृत्व को विश्वास में लिए किया। यह सेना और राजनीतिक नेतृत्व के बीच गलतफहमी भी पैदा करने की चाल है क्योंकि शान्तिकाल में भारत का चीफ स्टॉफ बिना राजनीतिक नेतृत्व की आज्ञा के सेनाओं को नियोजित नहीं कर सकता। पाकिस्तान ने ऐसी ही चाल आपरेशन ब्रास टैक्स के दौरान चली थी और उसमें वे असफल रहे। वैसी ही चाल पुनः चली जा रही है। एक राष्ट्र के रूप में हममें राष्ट्रीय गौरव विद्यमान ही नहीं है अन्यथा हमारे राजा गण ब्रिटेन की छोटी-छोटी फौजों के सामने जिनमें अधिकांशतया भारतीय सैनिक ही थे आसानी से पराजय न स्वीकार कर लेते और महत्त्व की बात तो यह कि ब्रिटेन के लिए भारतीयों ने ही अपना खून बहाकर इस देश को ब्रिटेन के अधीन करवाया। स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलन और 40 वर्षों की स्वतन्त्रता से भी हमारी यह कमजोरी दूर नहीं हुई। इस देश में कोई भी ऐसा गम्भीर मस्तिष्क का व्यक्ति नहीं होगा जो इस तथ्य से इन्कार करे कि चीन के साथ शान्तिपूर्ण समझौता करके सीमा विवाद हल किया जाए। यह भी पूर्णतया स्पष्ट है कि इस तरह का कोई भी समझौता

एक राजनीतिक लेने-देन के आधार पर ही हो सकता है। भारत को कुछ ऐसी रियायतें और संशोधन स्वीकारने होंगे जिसके चलते भारतीय संसद ने 14 नवम्बर, 1962 को एक प्रस्ताव पारित किया था। मैक मोहन रेखा न तो नितान्त ही पवित्र है और न ब्रिटेन द्वारा खींची जाने के कारण अपवित्र। यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादी थे तो तिब्बत पर चीन का आधिपत्य भी साम्राज्यवादी विजय पर आधृत है और चीनी लोग तिब्बत को वैसी भी स्वायत्तता नहीं देना चाहते जैसी स्वायत्तता भारत ने अरुणाचल प्रदेश को दे रखी है। यह भी शायद एक कारण है कि चीनी लोग अरुणाचल प्रदेश को राज्य का दर्जा दिए जाने का विरोध कर रहे हैं इसलिए हमारे लिए जरूरी है कि हम सीमा विवाद पर नए दृष्टिकोण से विचार करें जो दोनों पक्षों के लिए हितकारी हो और जिसमें दोनों के मन्य हितों को अनदेखा न किया जाए।

चीनियों का आक्साई चिन में सामरिक हित निहित है क्योंकि यह तिब्बत और जिनयांग प्रान्तों को जोड़ता है। भारत का सामरिक हित यह है कि हिमालय की चोटियाँ इसकी सीमा बनी रहें। चीन ने इस सिद्धान्त को बर्मा के सीमांकन के साथ स्वीकार किया था। प्रधानमन्त्री चाऊ इन लाई इस बात को 1961 में स्वीकार कर रहे थे कि ऐसा समझौता किया जाय जो पश्चिमी सेक्टर में चीन के आधिपत्य को मान्यता दे दे और पूर्वी सेक्टर में भारत के आधिपत्य को। इसके पहले 50 के दशक में पंडित जवाहर लाल नेहरू भी इस पक्ष में थे कि ऐसी जगह जहाँ घास-पात तक न उगती हो के लिए खून बहाना निरर्थक है। अतएव यह समझा जा सकता है कि प्रधानमन्त्री ने लेन-देन का प्रस्ताव क्यों रखा था। इस प्रस्ताव के तहत राजनीतिक वास्तविकता भी सन्निहित है। भारत ने आक्साई चिन क्षेत्र में तीन दशकों से अपनी सम्प्रभुता का उपयोग नहीं किया और चीन ने भी अरुणाचल प्रदेश में उस समय से अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग नहीं किया जब से तिब्बत स्वायत्तशासी रहा है। परन्तु प्रधानमन्त्री चाऊ इन लाई का लेन देन का प्रस्ताव देंग सियाओ पिंग के प्रस्ताव से भिन्न था। मुख्य अन्तर यह है कि चीन द्वारा 1962 के युद्ध में वही भू-भाग हथियाया गया जिसको प्रधानमन्त्री चाऊ चीनी भू-भाग कहते थे। हमें इस समस्या पर भी खुला दिमाग रखना चाहिए। चूँकि भारत और चीन की सीमा ऐसे भू-भाग से गुजरती है जहाँ आबादी नितान्त ही कम है या फिर निर्जन है और जिसका बटवारा प्राकृतिक स्तर पर ही हो सकता है। एक बात और महत्वपूर्ण है कि चीनियों के लिए अपने भू-भाग की चौकसी करना आसान है जबकि भारत के लिये यह नितान्त ही कठिन है। इसलिये सीमांकन हेतु प्राकृतिक भौगोलिक कारकों जैसे पहाड़ की चोटियों या जल स्रोत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। दोनों ही देशों का यह उद्देश्य होना चाहिए कि ऐसी शान्ति सन्धि हो जो दोनों को दूरगामी मैत्री की गाँठ में बाँध दे और इसके लिये जरूरी है कि सीमांकन किसी सैनिक आधिपत्य से न प्रभावित हो और गैर बराबरी की कोई सन्धि न की जाय। 1959 न जा बात थी वह अब नहीं है क्योंकि सन् 1962 में चीनियों

ने भारत मे घुसकर भारतीय भू-भाग पर कब्जा कर लिया है। अरुणाचल प्रदेश पर भारत का आधिपत्य ऐसी किसी सैन्य कार्यवाही का अंग नही है और यही बात पश्चिमी सैक्टर मे होने वाले किसी भी हल को पूर्वी सैक्टर की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बना देता है। यद्यपि भारतीय सेनाओ को 1962 के युद्ध के दौरान सेला बोमडिला क्षेत्र मे भारी पराजय मिली थी परन्तु चीनियो ने पूरा कामेंग डिवीजन खाली कर दिया था। जबकि पश्चिमी सैक्टर मे वे उस जमीन पर अब भी जमे हुए है जिसे उन्होने 1962 के युद्ध मे जबरदस्ती हथियाया था। वार्ता शुरू करने के लिये यह जरूरी है कि हम यह भूल जायें कि मैक मोहन रेखा का कोई ब्रिटेन से सम्बन्ध भी है क्योकि चीनियो ने चीनी वर्मा सीमा पर मैक मोहन की वैधता की चुनौती नही दी। पश्चिमी सैक्टर से भी दोनो देशो को ऐसा समझौता करना चाहिए जो 1959 के चीनी दावे के अनुरूप हो ताकि अक्साई चिन मार्ग सम्बन्धी चीनी सामरिक हितो को खतरा न उपस्थित हो। चीनियो द्वारा प्राय इस बात की शिकायत की जाती रही कि भारतीय दृष्टिकोण नितान्त ही गैर-लचीला है और भारत ने कोई प्रति प्रस्ताव अब तक नही किया जबकि चीन ने कई प्रस्ताव रखे हैं। वार्ताओ को पुन शुरू करने के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि सीमा पर कोई गम्भीर तनाव न पैदा होने दिया जाय।

वर्तमान तनाव चीन की उस नीति से जुडा है जिसके तहत उन्होने विवाद का बिन्दु पश्चिमी सैक्टर से हटाकर पूर्वी सेक्टर कर लिया है। चीनियो का तर्क है कि यदि अब भारत को पश्चिमी सैक्टर मे कोई रियायत पानी है तो पूर्वी सैक्टर में कुछ रियायत देना भी होगा। चीनियो ने वास्तविक नियन्त्रण रेखा को परिभाषित न करके भी स्थिति को तनावग्रस्त बनाया है जबकि भारत ने वास्तविक नियन्त्रण रेखा सम्बन्धी अपना मत स्पष्ट शब्दो में दिया है। चीन 1962 में आक्रामक रहा है जबकि भारत ने तिब्बत के किसी भी भू-भाग पर अपना अधिकार नही बताया। चीन भारतीय मूल भाग पर प्राय दावे पेश करता रहा है अतएव यदि भारत कुछ पूर्व सावधानी से कदम उठाता है तो इसे अनौचित्य पूर्ण नही कहा जा सकता।

यदि इस समय भारतीय सेनाओ को अग्रगामी स्थलो से हटा लिया जाता है तो चीन के दिमाग मे यह बात बैठ जाएगी कि भारत को सैनिक दबाव से झुकाया जा सकता है तथा भारत का राष्ट्रीय नेतृत्व पलायनवादी दृष्टिकोण का है जिससे मनचाही रियायत ली जा सकती है। 1965 में लाल बहादुर शास्त्री चीनी अल्टीमेटम के सम्मुख नही झुके। 1967 में भारतीय सेना ने चीनियों को सिक्किम के त्रिदिवसीय युद्ध मे सशक्त क्षति पहुँचा कर उन्हे एक इंच नही बढने दिया। 1971 में इन्दिरा गाँधी न चीन की धमकी को गीदडधमकी मान उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। ऐसा कोई कारण नही दिखता कि भारत अब चीन के सैनिक दबाव में पीछे हट जाय। चीन सिर्फ सैनिक ताकत की भाषा समझता है हमें उसे उसी भाषा मे उत्तर देना होगा।

Appendix—H

सार्क--उद्देश्य तथा उपयोगिता

आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास को तीव्र करने एवं एक-दूसरे की प्रभुसत्ता और अखण्डता का सम्मान करते हुए आपसी सहयोग से सामूहिक आत्म-निर्भरता के लिए 7, 8 दिसम्बर, 1985 को ढाका में सम्पन्न प्रथम शिखर सम्मेलन में 'सार्क' (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ) एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में स्थापित किया गया।

क्षेत्रीय सहयोग की विचारधारा का मुख्य रूप से द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त उत्पन्न शीत युद्ध के फलस्वरूप राष्ट्रों में निरन्तर बढ़ती असुरक्षा की भावना एवं युद्ध काल में नष्ट अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता को देखते हुए हुआ है। असुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रों ने सैनिक संगठनों का गठन किया, जिसमें नाटो, सीटो, सेन्टो, एनजस तथा वारसा पैक्ट प्रमुख है। अर्थ-व्यवस्था के सुधार हेतु ऐसे सकारात्मक क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण किया, जिससे वे क्षेत्रीय संसाधनों का संयुक्त रूप से पूर्ण रूपेण दोहन एवं वितरण कर सकें। इसके अन्तर्गत ई ई सी. ई सी एस सी, कोमेकोन, ई- एफ टी ए, यूरेटम, ओपेक, ई एस आर ओ आई ए टी ए तथा एसियन है। स्वतन्त्रता तथा समानता के आधार पर अफ्रीकी देशों के विकास के लिए ओ ए यू है। इन्हीं संगठनों की प्रेरणा से आकर्षित होकर दक्षिण एशियाई राष्ट्रों ने 'सार्क' का गठन किया है। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का अनुच्छेद 52 क्षेत्रीय सहयोग के संगठनों को अनुमति देता है। 'सार्क' कोई राजनीतिक व प्रतिरक्षा संगठन नहीं है, अपितु आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग का संगठन है।

'सार्क' की निर्माण प्रक्रिया का प्रारम्भ 1980 में बांग्ला देश के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री जिया उर रहमान के व्यापक क्षेत्रीय सहयोग के प्रस्ताव के साथ हुआ, जो 'बांग्लादेश पेपर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्री जिया अपने इस प्रस्ताव के माध्यम से दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग को अतिशीघ्र एक सम्यागत स्वरूप प्रदान करना चाहते थे, किन्तु अन्य देशों के नेता इस संगठन को मूर्त रूप देने से पूर्व एक सुनिश्चित एवं सुनियोजित आधार चाहते थे, जिस पर शक्तिशाली संगठन का निर्माण हो। अतः इस परिप्रेक्ष्य में देशों के सचिव स्तर की क्रमशः चार वार्तायें हुईं, प्रथम वार्ता अप्रैल, 1981 में कोलम्बो में, द्वितीय वार्ता नवम्बर, 1981 में काठमाण्डू में, तृतीय वार्ता अगस्त, 1982 में इस्लामाबाद में तथा चतुर्थ वार्ता मार्च, 1983 ढाका में सम्पन्न हुई। इस क्रम

में सबसे महत्त्वपूर्ण सम्मेलन अगस्त, 1983 में नयी दिल्ली में आयोजित विदेशमन्त्री स्तरीय प्रथम बैठक थी, जिसमें सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों की व्यापक समीक्षा की गयी तथा यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में प्रतिवर्ष कम से कम एक बार मन्त्री स्तरीय सम्मेलन अवश्य होगा। इसी क्रम में जुलाई, 1984 में बिलिगली (मालदीव) में व मई, 1985 में थिम्पू (भूटान) में सम्मेलन हुआ। ढाका शिखर सम्मेलन के आयोजन का निर्णय थिम्पू वार्ता में ही लिया गया था।

ढाका शिखर सम्मेलन

दक्षिण एशिया के सातों देशों के शासनाध्यक्षों ने अपने-अपने हस्ताक्षर से एक संयुक्त घोषणा-पत्र जारी किया जिसमें सदस्य देशों की समान समस्याओं, हितों जन-आकांक्षाओं का उल्लेख किया गया तथा कहा गया कि इस क्षेत्र में शान्ति, स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय और आर्थिक सम्पन्नता के लक्ष्यों की प्राप्ति, आपसी समझ-बूझ बढ़ाने, आपसी सम्बन्ध बेहतर बनाने तथा सार्थक सहयोग से ही हो सकती है। सदस्य देशों के सम्बन्धों को ऐतिहासिक व सांस्कृतिक बताया गया। घोषणा-पत्र में विदेश मन्त्रियों की एक मन्त्रिपरिषद् व सचिवालय की स्थापना की व्यवस्था की गयी। घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि सात देशों के नेता 'सार्क' की स्थापना की स्वीकृति देते हैं, जिसमें इसके प्रारूप एवं व्यवस्थाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया।

सार्क के उद्देश्य

1 दक्षिण एशिया के सातों देशों हेतु कल्याणकारी कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करना और गरीबी व अज्ञानता को दूर कर जन-जीवन स्तर को सुधारना।

2. अन्तर्राष्ट्रीय हित के सभी मामलों में आपसी सहयोग करना, ताकि संघ मजबूत बने।

3 आपसी व्यापार को उच्च प्राथमिकता देना, संघ के देशों में सहयोग की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं।

4. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना और तट–कर तथा व्यापार समझौते के द्वारा विश्व–व्यापार असन्तुलन को दूर करने के लिए आपसी सहयोग को बढ़ावा देना, तथा

5 महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय समस्याओं पर विचार हेतु वर्ष में एक बार शिखर सम्मेलन का आयोजन करना।

यह संगठन निम्नलिखित सिद्धान्तों पर कार्य करेगा—

1 सहयोग, सार्वभौम, समानता, राजनीतिक स्वतन्त्रता व अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अहस्तक्षेप को आधार मानकर सहयोग करना।

2 सहयोग—यह सहयोग उभयपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग के बदले में नहीं होगा, किन्तु उसकी पूर्ति करेगा।

3 सहयोग उभयपक्षीय और बहुपक्षीय आधारों से असम्बद्ध नहीं होगा।

ढाका घोषणा-पत्र में यह भी व्यवस्था की गई है कि सदस्य देशों के शासनाध्यक्ष प्रति वर्ष एक बार अवश्य मिलेंगे। जिसके क्रम में द्वितीय सम्मेलन का आयोजन स्थल (भारत-बंगलौर) को चुना गया। *ढाका शिखर सम्मेलन की अध्यक्षता* बांग्लादेश के राष्ट्रपति श्री एच. एम. इरशाद ने की। इस सम्मेलन में क्षेत्रीय सहयोग की दस तकनीकी समितियों का गठन हुआ।

बंगलौर शिखर सम्मेलन

'सार्क' का द्वितीय शिखर सम्मेलन बंगलौर (भारत) में 17 नवम्बर, 1986 को सम्पन्न हुआ, जिसमें भारत के प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी ने संघ के अध्यक्ष पद का भार श्री इरशाद से ग्रहण किया। इस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि 'सार्क' का सचिवालय काठमाण्डू (नेपाल) में स्थापित होगा, जिसके प्रथम महासचिव श्री अब्दुल हसन होंगे। यह सचिवालय 16 जनवरी, 1987 से कार्य प्रारम्भ कर चुका है। सचिवालय के चार अन्य निदेशक हैं—भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, नेपाल। ढाका शिखर सम्मेलन में गठित दस तकनीकी समितियों के अतिरिक्त इस सम्मेलन में महिला व बाल-कल्याण कार्यक्रमों के अध्ययन एवं सुझाव हेतु एक और समिति भी गठित की गयी। सहयोग के क्षेत्र में नशीले पदार्थों की तस्करी रोकने, पर्यटन के विकास, रेडियो, दूरदर्शन प्रसारण कार्यक्रम, विपदा प्रबन्ध पर अध्ययन सम्मिलित किए गए और क्रियान्वयन हेतु समयबद्ध कार्यक्रम की घोषणा की गई। समापन पर 'सार्क' के संयुक्त घोषणा-पत्र में विश्व-शान्ति, निरस्त्रीकरण, सभी राष्ट्रों की सम्प्रभुता, अहस्तक्षेप सह-अस्तित्व और गुट-*निरपेक्षता का समर्थन किया गया। यह भी निश्चित किया गया कि अगला शिखर* सम्मेलन 1987 में काठमाण्डू (नेपाल), 1988 में कोलम्बो (श्रीलंका) में 1989 में थिम्पू (भूटान) तथा 1990 में इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में होंगे।

उपयोगिता

'सार्क' की उपयोगिता पर विचार करने से पूर्व, सदस्य देशों के भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, प्रणालियों एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का संक्षिप्त विश्लेषण समीचीन प्रतीत होता है।

दक्षिण एशिया में सात देश आते हैं, जो पश्चिम में पाकिस्तान से पूर्व में नेपाल तक और उत्तर में भारत से दक्षिण में मालदीप तक विश्व की पाँच प्रतिशत भूमि पर विश्व की बीस प्रतिशत जनसंख्या को समेटे हुए हैं। ये देश हैं—भारत, पाकिस्तान बांग्लादेश, भूटान, नेपाल, श्रीलंका एवं मालदीव।

ऐतिहासिक व राजनीतिक दृष्टि से इन देशों में परस्पर काफी साम्य है। राजनीतिक रूप से नेपाल, भूटान, को छोड़कर शेष सभी देशों के पास ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध सामूहिक संघर्ष का समान अनुभव रहा है। सांस्कृतिक रूप से भी ये एक-दूसरे के समीप रहे हैं।

यदि हम इस क्षेत्र की आर्थिक क्षेत्र में सहयोग व समस्याओं पर दृष्टिपात करें तो इनमें आपसी व्यापार नहीं के बराबर पाते हैं। बांग्लादेश और भारत जूट

के निर्यात में एक-दूसरे की होड़ करते हैं, वहीं श्रीलंका चाय के निर्यात में भारत का प्रतिस्पर्द्धी है। उधर भारत व पाकिस्तान की प्रतिद्वन्द्विता सर्वविदित है। ऐसी विषम परिस्थितियों में परस्पर व्यापार बढ़ाने के लिए एक साझा बाजार की स्थापना आवश्यक है।

जहाँ तक सचार और परिवहन का प्रश्न है, इस विषय में कुछ भी कहे, कम ही है क्योंकि दिल्ली, इस्लामाबाद, कोलम्बो, माले, थिम्पू के मध्य आपस में कोई हवाई सम्पर्क नहीं है। इतना ही नहीं इस्लामाबाद से किसी भी दक्षिण एशियाई देश की राजधानी को सीधी विमान सेवा तक उपलब्ध नहीं है। क्या यह सार्क देशों के क्षेत्रीय सहयोग पर कटु टिप्पणी नहीं है? किन्तु एक कठोर सत्य है, वही स्थिति डाक, सचार की भी है, यदि नई दिल्ली में ढाका के साथ टेलीफोन या टेलेक्स पर सम्पर्क स्थापित करना है तो वह हांगकांग के माध्यम से ही सम्भव है। साधारण पत्र अमेरिका, यूरोप से शीघ्र आ जाते हैं, किन्तु दक्षिण एशियाई देशों से आने में काफी विलम्ब होता है, जिसका कारण है कि आपसी अविश्वास व सेन्सरशिप। इन देशों की परस्पर यात्रा की अपेक्षा अमेरीका, यूरोप आदि जाना सरल है।

इस प्रकार हम देखते है कि सार्क सदस्य देश भौगोलिक रूप से समीप होते हुए भी इतने दूर हैं कि इनसे शीघ्र कोई महान् उपलब्धि प्राप्त करना एक दुष्कर कार्य है। इनके मूल में कुछ निम्नलिखित कारण है—

1 अंग्रेजों की 'बाटो और राज्य करो' की कुटिल नीति ने इनके बीच, जो कलह के बीज का वपन किया है, उसके समाधान में आज भी ये परस्पर अविश्वास और सन्देह के काले बादलों में उलझे हैं।

2. राजनीतिक बेमेल इन राज्यों में तानाशाही, राजतन्त्र लोकतन्त्र है, वहीं धार्मिक व सांस्कृतिक भिन्नता है जैसे इनमें तीन इस्लामी, दो बौद्ध एक हिन्दू व धर्म-निरपेक्ष देश है।

किन्तु इन सबके बावजूद 'सार्क' का गठन, अब तक की गतिविधियों व नेताओं के वक्तव्य व्यावहारिक स्तर पर भले ही कम महत्त्वपूर्ण हो लेकिन इसके भावनात्मक प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सार्क' का गठन किसी महाशक्ति के सकेत पर न होकर, क्षेत्रीय आवश्यकताओं के कारण हुआ है, साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि दक्षिण एशिया 'गुटनिरपेक्ष' जैसे महान् आन्दोलन के जनकों में से एक रहा है। अतः यह आशा की जाती है कि दक्षिण एशियाई देशों का यह विशाल सगठन इक्कीसवीं सदी की शान्ति, सद्भाव एवं शोषणमुक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

भारत-अमेरिका सम्बन्ध
परस्पर विरोधी छवि की राजनीति

भारत अमेरिका सम्बन्धो का विश्लेषण दो मूल परन्तु परस्पर संघर्षकारी विवशताओं के बीच गतिशील अन्तःक्रिया के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए। भारतीय इच्छा कि उसे विश्वपरक राजनीति मे एक सुनिश्चित स्थान दिया जाय और अमेरीकी इच्छा के विश्व के अन्य राष्ट्रों की भांति भारत भी अमेरिका के विश्वपरक हितो की पूर्ति मे सहायक हो-यह निष्कर्षात्मक मूल्यांकन श्री नन्दलाल ने अपने विद्वतापूर्ण लेख में किया है। उनका निबन्ध भारत-अमेरीका सम्बन्धो का एक वस्तु-परक विश्लेषण प्रस्तुत करता है—

चार्ल्स हेमसथ और सुरजीत मानसिह ने भारत के कूटनीतिक इतिहास पर लिखी अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक में लिखा कि भारत अमेरीका सम्बन्ध कभी भी योजनाबद्ध नही रहे और इन सम्बन्धो को एक सुनिश्चित दायरे में परिभाषित करना एक दुष्कर कार्य है। विश्व के इन दो विशालतम प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं के मध्य टेडे-मेडे रास्तों पर आधारित है। कभी इनमें यथेष्ट गर्माहट रही हैं कभी वे बर्फ से भी ज्यादा ठण्डे रहे हैं। यहाँ तक कि ये सकटपूर्ण भी रहे है। कारण यह रहा है कि दोनों देशो के एक-दूसरे के प्रति दृष्टिकोण वैभिन्नकारी रहे हैं। द्वितीय युद्ध के बाद के भारत अमेरिका सम्बन्धो के इतिहास ने उपरोक्तलिखित विद्वानो के मत को सही सिद्ध कर दिया है। कई दशको तक, भारत अमेरिका सम्बन्ध उन मतभेदो से प्रभावित होते रहे है जिनका आधार एक-दूसरे की परस्पर विभिन्न छवि और हित रहे है। एम ए जफर शाह की दृष्टि मे भारत-अमेरिका सम्बन्धो का विश्लेषण दो मूल परन्तु परस्पर संघर्षकारी विवशताओ के बीच गतिशील अन्तःक्रिया है परिप्रेक्ष्य म किया जाना चाहिए। भारतीय इच्छा कि उसे विश्वपरक राजनीति में एक सुनिश्चित स्थान दिया जाय और अमेरिकी इच्छा कि विश्व के अन्य राष्ट्रो की भांति भारत भी अमेरिका के विश्वपरक हितो की पूर्ति मे सहायक हो।

छठवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे अमेरीकी विदेश सचिव जॉन फॉस्टर डलस ने अमेरीकी गठबन्धन व्यवस्था (Alliance System), को चीन सोवियत क्षेत्र के दक्षिण क्षेत्र से प्रसारित करने का प्रयास किया। यह वह समय था जब भारत के दोनो साम्यवादी राष्ट्रो से मधुर सम्बन्ध थे। इसी कारण से पाकिस्तान अपने को असुरक्षित महसूस करने लगा और सुरक्षा की इस मनोवृत्ति से इस्लामाबाद ने वाशिंगटन के गठबन्धन और सैनिक सहायता के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अमेरीकी नीति नियामक का उद्देश्य सैनिक गठबन्धनो के माध्यम से साम्यवादी प्रसार के खतरे का मुकाबला करना था। दूसरी ओर भारत इस तथ्य के प्रति पर्याप्त संवेदनशील था कि पश्चिमी शक्तियाँ पिछले दरवाजे से एशिया मे घुसने का प्रयास कर रही हैं। इसी संवेदनशीलता के कारण भारत ने गुटनिरपेक्ष नीति का अनुसरण करते हुए उन्हें एशिया की राजनीति से विलग रखने का प्रयास किया। चीन में माओ के नेतृत्व मे साम्यवादी सरकार की स्थापना से पूर्व अमेरिका ने चीन

को एशिया मे एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप मे उभरने का प्रयास किया ताकि वह साम्यवाद का प्रतिरोध करते हुए एशिया मे अमेरीकी हितों की पूर्ति मे सहायक हो सके। जब चीन लाल हो गया तो इस सम्भावना पर गम्भीरता से विचार किया गया कि क्यों न चीन का स्थान भारत को प्रदान कर दिया जाए। लेकिन प. जवाहर लाल नेहरू ने स्पष्ट स्वर मे सैनिक गठबन्धन और विशिष्ट सम्बन्धो का विरोध किया। अब अमेरीकी नीति नियामको के पास एशिया मे अपना किंचित मात्र भी प्रभाव बनाए रखने का मात्र एक विकल्प शेष रहा वह यह कि वाशिंगटन एशिया के छोटे राष्ट्रों के प्रति आकृष्ट हो जिसमे से कुछ चीन के प्रति परम्परागत भय और सन्देह के प्रति (जैसे कि पाकिस्तान)। 1954 मे जब सीटो (SEATO) की स्थापना हुई और पाकिस्तान ने उसकी सदस्यता ग्रहण की तो प. नेहरू ने इसकी स्पष्ट शब्दो म आलोचना की। उन्होन अमेरिका पर टर्की से फिलिपिन्स तक तथाकथित शक्ति-शून्यता की स्थिति (Power Vacuum) का पश्चिमपरस्त शक्तियों से भरने का आरोप लगाया। उन्होन अमेरिका पर यह भी आरोप लगाया कि वह अयुद्ध क्षेत्र की अखण्डता को नष्ट करन का प्रयास कर रहा है। उन्होंने कहा कि यदि पाकिस्तान को अमेरिका सैनिक सहायता प्राप्त होती है तो स्पष्ट है कि पाकिस्तान इस क्षेत्र से बाहर हो जाएगा जिसका आशय होगा कि शीतयुद्ध का आगमन पाकिस्तान अर्थात भारत की सीमा तक हो गया है। इस प्रकार भारत की गुटनिरपेक्ष 'तीसरी शक्ति' शीतयुद्ध विशेषत सैनिक गठबन्धनो के विरोध मे अधिक सक्रिय हो गई।

दिसम्बर, 1961 मे भारत ने गोवा को स्वतन्त्र कराया। इस घटना से भारत-अमेरिका सम्बन्धो मे गिरावट आई। संयुक्त राष्ट्र मे अमेरिका के तत्कालीन प्रतिनिधि ए. ई. स्टीवेंसन ने भारत के कार्य को संयुक्त राष्ट्र के अन्त की शुरूआत कहकर निन्दा की। उन्होन भारत पर आक्रमण का आरोप लगाया जिसकी "नेहरू ने हमेशा जोरदार शब्दो मे निन्दा की।"

भारत-अमेरिका सम्बन्धो मे एक और व्यतिक्रम कश्मीर की समस्या को लेकर पैदा होता रहा है। कश्मीर की समस्या ने भी पाकिस्तान को अमेरिका की ओर उन्मुख किया है। यद्यपि अमेरिका ने कश्मीर के भारत मे सम्मिलित होने की वैधता का प्रश्न कभी नही उठाया है। फिर भी अपने मित्र पाकिस्तान के कहने पर वह कश्मीर के प्रश्न को बराबर संयुक्त राष्ट्र और अन्य विश्व मचो पर उठाता रहा है। इससे भी भारत अमेरिका सम्बन्ध मे गिरावट आई है। 1971 मे बंगलादेश संकट ने भी भारत अमेरिका सम्बन्धो मे विपरीत प्रभाव डाला। अमेरिका कांग्रेस को प्रेषित अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे रीगन ने कहा कि वर्ष 1971 के दौरान अमेरिका ने दक्षिणी एशिया मे युद्ध को रोकने और राजनीतिक समाधान की दिशा मे सतत् प्रयास किया किन्तु हम सफल नही हुए। इसका उत्तर इस तथ्य मे है कि अमेरिका ने युद्ध रोकने का तो प्रयास किया परन्तु समस्या के राजनीतिक समाधान का नहीं जिसके द्वारा युद्ध को रोका जा सकता था। भारत ने पाकिस्तान को अमरीका सैनिक सहायता विशेष रूप से परमाणु पोत (ENTERPRISE) के प्रेषण मे अपनी सुरक्षा के लिए खतरा महसूस किया। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण घटनाक्रम के किसी भी स्तर पर अमेरिका ने पाक गतिविधियो की निन्दा नहीं की जबकि ब्रिटेन ने ऐसा किया। बजाय इसके अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता म और वृद्धि कर दी।

1971 के बंगलादेश संकट के बाद क्षेत्रीय शक्ति ढाँचा इतना परिवर्तित हो गया कि अमरीकी नीति नियामक यह स्वीकार करने के लिए विवश हो गए कि भारत अब क्षेत्र का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र है। इसे महसूस करते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने 1972 में कांग्रेस को प्रेषित अपने वार्षिक प्रतिवेदन में भारत से गम्भीर वार्ता की इच्छा व्यक्त की। परन्तु इसी के साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि अमेरिका यह चाहता है कि भारत किसी ऐसे राष्ट्र के साथ ऐसे गठबन्धन में आबद्ध हो जो अमेरिका अथवा उसके किसी मित्र राष्ट्र के विरुद्ध उन्मुख हो। संकेत किसी सम्भावित भारत सोवियत गठबन्धन की ओर था जो पाकिस्तान अथवा चीन के विरुद्ध उन्मुख हो क्योंकि निक्सन और किसिंजर का सैन्यकरण की राजनीति के चलते उस समय तक अमेरिका और चीन के सम्बन्धों में यथेष्ठ मधुरता आ चुकी थी।

परमाणु ईंधन की आपूर्ति का प्रश्न भी दोनों देशों के मध्य सम्बन्ध में गिरावट आने का एक कारण रहा है। 1963 में दोनों देशों के मध्य एक समझौता हुआ था जिसके अन्तर्गत अमेरिका द्वारा 1994 तक तारापुर संयत्र के लिए समवर्धित यूरेनियम की आपूर्ति की जानी थी। समझौते में यह भी व्यवस्था थी कि अमेरिका प्रयुक्त ईंधन को पुनःशोधन के लिए वापस ले लेगा। परन्तु अमेरिका परमाणु नियामक आयोग ने इस आधार पर भारत को 7.6 टन सम्वर्धित यूरेनियम की आपूर्ति करने से इन्कार कर दिया कि भारत ने परमाणु अ-प्रसार सन्धि (N. P. T.) पर न तो हस्ताक्षर किए हैं और न ही अन्तर्राष्ट्रीय अणु ऊर्जा एजेन्सी के समग्र निरीक्षण अधिकार को ही स्वीकार किया है। बाद में यद्यपि कांग्रेस ने आपूर्ति को मन्जूरी दे दी और समस्या को भारत, अमरीका तथा फ्रांस के मध्य त्रिपक्षीय समझौते द्वारा सुलझाया गया (जिसके तहत् यूरेनियम की आपूर्ति अमेरिका के स्थान पर फ्रांस द्वारा की जायेगी) फिर भी दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों में इस घटनाक्रम से पर्याप्त कड़वाहट भर गई।

दिसम्बर, 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप के बाद, अमरीका ने 1981–87 के समयकाल में पाकिस्तान को 3.2 बिलियन डॉलर की सैनिक सहायता प्रदान की। इससे भारतीय नीति नियामकों में अमरीकी इरादों के प्रति पर्याप्त सन्देह भर गया क्योंकि पाकिस्तान द्वारा चीन के विरुद्ध इन हथियारों के प्रयोग का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि चीन और पाकिस्तान में प्रगाढ़ मित्रता है, दूसरी ओर पाकिस्तान सोवियत संघ के विरुद्ध इन हथियारों के प्रयोग की सोच भी नहीं सकता क्योंकि इनका अर्थ होगा पाकिस्तान का सर्वनाश। इतिहास इस बात का गवाह है कि पाकिस्तान के पास जब-जब हथियारों का जमाव हुआ है, उसने इसका प्रयोग भारत के ही विरुद्ध किया है। अब पुनः रीगन प्रशासन आगामी 6 वर्षों में पाकिस्तान को 4.02 बिलियन डॉलर की सैनिक सहायता देने के लिए कृतसंकल्प है। इस निश्चित सूचना के बावजूद कि पाकिस्तान ने परमाणु क्षमता का विकास कर लिया है, बहुचर्चित सिमिंगटन संशोधन को नहीं लागू किया जा रहा है।

अमरीकी नीति-नियामकों द्वारा प्रायः यह कहा जाता रहा है कि यदि अमरीका पाकिस्तान को सैनिक साज-सामान की आपूर्ति कर रहा है तो इससे भारत को क्या परेशानी है ? यदि भारत चाहे तो अमरीका भारत को भी हथियारों की आपूर्ति

कर सकता है परन्तु तीन ऐसे ठोस कारण हैं जिनके चलते भारत अमरीका से हथियार लेना पसन्द नहीं करेगा—

(1) पाकिस्तान के विपरीत भारत, अमरीका को विश्वपरक सुरक्षा व्यवस्था का हिस्सा बनाने को तैयार नहीं है।

(2) ऐसा नहीं है कि भूतकाल में भारत ने अमरीका से सैनिक साज-सामान खरीदने की पेशकश नहीं की, परन्तु अमरीकियों ने इसमें कोई विशेष रुचि नहीं प्रदर्शित की। 1964 में भारत ने सोवियत संघ से सैनिक साज सामान खरीदने के पूर्व अमरीका से इनकी आपूर्ति का आग्रह किया था किन्तु अमरीका ने इसे अस्वीकृत कर दिया। इसी प्रकार जनता शासन के दौरान सैनिक सामग्री खरीदने का एक बड़ा आदेश अमरीकी द्वारा निरस्त कर दिया गया। इसी प्रकार 1980 में अमरीका ने भारत को TOW प्रक्षेपास्त्र बेचने से इन्कार कर दिया यद्यपि इसका अपेक्षाकृत आधुनिक प्रकार 1985 में बेचा गया।

(3) अमरीका उन शर्तों को मानने को तैयार नहीं जो भारत किसी भी स्रोत से सैनिक सामग्री खरीदते समय रखता है समय की पाबन्दी, पुर्जों के त्वरित आपूर्ति की गारण्टी तथा सह-उत्पादन आदि।

जून, 1985 में राजीव गांधी ने अमरीकी की 5 दिवसीय (11–15 जून, 1985) यात्रा की लेकिन कमोबेश रूप में यह यात्रा जन सम्पर्क ही सिद्ध हुई। दोनों देशों में विभिन्न राजनीतिक मुद्दों पर मतभेद पूर्ववत् विद्यमान है। यात्रा की समाप्ति पर जारी संयुक्त विज्ञप्ति में उन मुद्दों का कोई जिक्र नहीं किया गया जिन पर भारतीय और अमरीकी दृष्टिकोण में मतभेद हैं जैसे कि पाकिस्तान को अमरीकी हथियारों की आपूर्ति या पाकिस्तान का परमाणु कार्यक्रम आदि। इसी प्रकार अफगानिस्तान की भी विज्ञप्ति में कोई उल्लेख नहीं किया गया। यद्यपि इन सभी मुद्दों पर वार्ता में विचार किया गया था। 'टाइम' को दिए गए एक साक्षात्कार में राजीव गांधी ने कहा कि, "··· हमारे सम्बन्धों में सुधार आ रहा है। मेरी जून यात्रा के सकारात्मक और पहचान योग्य परिणाम निकले हैं, विशेष रूप से तकनीकी हस्तान्तरण के क्षेत्र में। हमारे राजनीतिक मतभेदों ने हमारे आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित नहीं किया है।" राजनीतिक सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि अमरीका अप्रजातान्त्रिक तरीके से अपने मित्रों से बहुत आशा करता रहा है। लेकिन राजीव गांधी की उपरोक्त धारणा कि तकनीक हस्तान्तरण के क्षेत्र में अमरीका भारत के प्रति बहुत उदार रहा है, गलत सिद्ध हुई है। अमरीका और भारत में सुपर कम्प्यूटर की बिक्री पर पिछले दो वर्षों से वार्ता चल रही थी। 1986 के अन्त में भारत को अमरीका CRAY-XMP-24 सुपर कम्प्यूटर बेचने के लिए सहमत हो गया था परन्तु अप्रैल, 1987 में अमरीका अपने वायदे से मुकर गया। अब अमरीका भारत को उपरोक्त कम्प्यूटर के स्थान पर CRAY-XMP-14 देने के लिए ही सहमत है। तर्क यह दिया जा रहा है कि XMP–24 में दो समानान्तर प्रोसेसर (Processor) हैं। इस कारण इसको परमाणु उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है जबकि XMP–14 में ऐसी कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि इसमें एक ही 'प्रोसेसर' है। यही नहीं अमरीकी प्रतिनिधि सभा की वैदेशिक सम्बन्ध समिति (Foreign Relations Committee) ने वर्ष 1987-88 के लिए भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता की राशि को 50 मिलियन डालर से घटाकर 35 मिलियन डालर करने की संस्तुति की है।

हमारा यह मन्तव्य नही है कि अमरीका और भारत के मध्य मात्र मतभेद ही हैं। परन्तु दो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध को उनके बीच विद्यमान मतभेद के परिप्रेक्ष्य मे अधिक अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है क्योंकि तब हम इन मतभेदो को दूर करने की सम्भावनाओं पर भी विचार कर सकते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोनों राष्ट्रों मे एक-दूसरे की विशिष्ट छवि है। प्रो भवानी सेन गुप्त के विचार मे अमरीकी नीति-निर्मातायों के मस्तिष्क मे भारत की त्रि-पक्षीय छवि है भारत, सोवियत संघ के मित्र के रूप में, भारत, दक्षिण एशिया की सबसे शक्तिशाली शक्ति के रूप में और भारत, विश्व के निर्धनतम राष्ट्रों मे से एक के रूप मे । अमरीका भारत की पहली और दूसरी छवि से चिन्तित है जबकि तीसरी छवि से वह सन्तुष्ट है। अमरीका भारत को वह स्थान प्रदान करने मे असमर्थ तो है ही बल्कि अनिच्छुक भी है जो भारत की शक्ति और उपलब्धियों को प्रकाशित करते हुए उसके अहं को सन्तुष्ट कर सके। भारत, अमरीका से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने का इच्छुक है परन्तु दक्षिण एशिया की एक सशक्त शक्ति के रूप में, मानवता के 1/7 भाग के भाग्य-विधाता के रूप मे, और उभरती हुई मध्यम श्रेणी की शक्ति के रूप में जिसका विश्व राजनीति मे अपना स्थान और महत्त्व है। कमोवेश रूप में अमरीका की यह शिकायत तो रही ही है कि भारत, सोवियत संघ पर आवश्यकता से अधिक निर्भर है, यह भी शिकायत रही है कि भारत विश्व के उन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में भी जहाँ इसके अपने आर्थिक या कूटनीतिक हित नहीं के बराबर हैं, उन शक्तियों के साथ अपने को आबद्ध करता रहा है जो अमरीकी हितों के विरुद्ध क्रियाशील हैं। भारत की शिकायत यह है कि बाह्य परिस्थितियों के दबाव में या जानबूझ कर अमरीका भारत के हितों के प्रतिकूल व्यवहार करता रहा है।

निकट भविष्य के इन सम्बन्धो मे सुधार आने की कोई सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। रीगन प्रशासन की यह अवधारणा है कि भारत, अमरीकी हितों के विरुद्ध सक्रिय है और इसके लिए उसे दण्डित किया जाना चाहिए। वैदेशिक सम्बन्ध समिति द्वारा भारत को दी जाने वाली सहायता की राशि मे कटौती की संस्तुति इस बात का संकेत है कि आने वाले समय मे अमेरिका भारत के प्रति और कठोर नीति अपनाएगा। इसी के साथ अमरीका की सामाजिक अथवा सामरिक योजना (Strategic Planning) मे पाकिस्तान का महत्त्व बढ़ गया है। आगामी 6 वर्षों में पाकिस्तान को 4 बिलियन डालर अधिक राशि की अमेरिकी सैनिक सहायता मिलना है, यह लगभग निश्चित है। व्यवहार मे पाकिस्तान का परमाणु कार्यक्रम इसमें कोई बाधा नहीं बनेगा। इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे मुद्दे हैं जो दोनो देशों के मध्य अच्छे सम्बन्धों की स्थापना मे बाधक हैं। भारत द्वारा अपने परमाणु कार्यक्रम के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय अणु ऊर्जा आयोग के निर्देशों को न मानना, हिन्द महासागर मे अमरीकी नौसैनिक गतिविधियाँ, नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के प्रति दोनों देशों का परस्पर विरोधी नजरिया आदि। रीगन पाकिस्तान को सैनिक दृष्टि से भारत के समकक्ष बनाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। इस पर कोई समझौता करने को वे तैयार नहीं है। जब तक रीगन अमरीका के राष्ट्रपति हैं, भारत मूल रूप मे सोवियत संघ का मित्र और सहयोगी है अतः भारत-अमरीका सम्बन्धों मे सुधार का कोई प्रश्न ही नहीं है।